CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रिटिश कालीन भारत

का

इतिहास

—पी० ई० राबर्ट्स

G1
118

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No.

Book No.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

G4/118

954.03

State Museum,
LUCKNOW.

The British Book Depot,
84, Hazratganj,
LUCKNOW.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

954.08

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

The British Book Depot
84, Hazratganj
LUCKNOW.

भारत साम्राज्य
और श्रीलंका

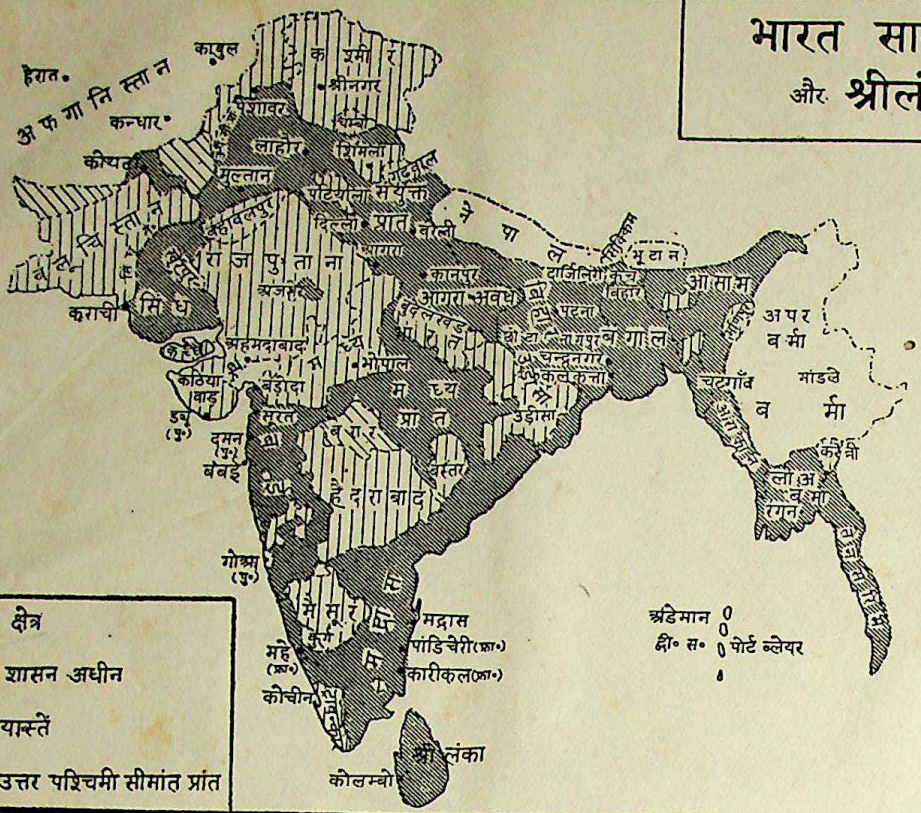

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ब्रिटिश कालीन भारत

का

इतिहास

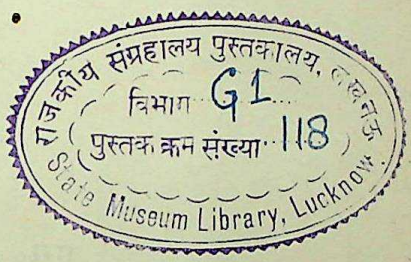

लेखक
पी० ई० राबर्ट्स
(फैलो ऑफ वॉरसैस्टर कॉलेज, ऑक्सफोर्ड)

१९५५

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली : जालन्धर : लखनऊ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Translated and Published in India by arrangement with the OXFORD University Press, Bombay

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

फव्वारा	दिल्ली
माई हीरागेट	जालंधर
जयहिन्द सिनेमा बिल्डिंग	लखनऊ

954.08

मूल्य : ८॥)

प्रकाशक : एस० चन्द एण्ड कम्पनी, फव्वारा दिल्ली।
मुद्रक : क्रॉनिकल प्रेस, मोरीगेट, दिल्ली–६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय सूची

प्रथम भाग

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	प्राकृतिक तथा भौगोलिक विशेषताएं	१
२.	अंग्रेजों के भारत में आने तक भारतीय राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा	५
३.	यूरोप और भारत का व्यापार-सम्बन्ध	१०
४.	लन्दन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जन्म	१६
५.	'पूर्व' में अंग्रेज, डच और पुर्तगाल	२२
६.	भारत में पहली व्यापारिक बस्तियाँ	२७
७.	नयी ईस्ट इण्डिया कम्पनी	३७
८.	व्यापारिक बस्तियों का विकास (१७०८ से १७४६) आस्टेन्ड कम्पनी	४८
९.	'पूर्व' में अंग्रेजों की जीवन चर्या	६०
१०.	भारत में अंग्रेज और फ्रांसीसी--एलाशपल की सन्धि तक	७४
११.	कोरो मण्डल-तट पर अंग्रेज और फ्रांसीसी (डूप्ले के वापिस बुलाए जाने तक)	८५
१२.	भारत में अंग्रेज और फ्रांसीसी--पेरिस-सन्धि तक फ्रांसीसियों की पराजय के कारण	९७
१३.	बंगाल में विद्रोह–प्लासी की लड़ाई और क्लाइव का पहली बार बंगाल का गवर्नर बनना	१०४
१४.	बंगाल के कुशासन: सुधार और क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर बनना	११९
१५.	वारेन हेस्टिंग्स का शासन--रुहेला युद्ध के अन्त तक	१३३
१६.	वारेन हेस्टिंग्स--रेग्यूलेटिंग एक्ट और नन्दकुमार का मुकदमा	१४३
१७.	वारेन हेस्टिंग्स--पश्चिमी दक्षिणी भारत में युद्ध	१५३
१८.	चेतसिंह और अवध की बेगमें, वारेन हेस्टिंग्स पर मुकदमा	१६१
१९.	आन्तरिक सुधार--भूमि-प्रबन्ध--लार्ड कार्नवलिस और सर जानशोर	१७६
२०.	सीमा-विस्तार–लार्ड वेलेजली सहायक गठ-बन्धन और संयोजन	१९४
२१.	हस्तगत करने की नीति की प्रतिक्रिया--लार्ड कार्नवालिस, सरजार्ज बारलो लार्ड मिन्टो	२०८
२२.	मराठा संघ की अन्तिम पराजय, लार्ड हेस्टिंग्स	२१७
२३.	ब्रह्मा का प्रथम युद्ध , लार्ड एमहर्स्ट	२२७
२४.	लार्ड विलियम बैन्टिक और आन्तरिक सुधार	२३२
२५.	प्रथम अफगान युद्ध, लार्ड आकलैण्ड और लार्ड एलिनबरो	२३९
२६.	लार्ड एलिनबरो के आधीन सिन्ध को ब्रिटिश राज्य में मिलाना	२४९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२७. प्रथम और द्वितीय सिख-युद्ध और पंजाब विजय : लार्ड हार्डिंग और लार्ड डलहौजी २५५
२८. द्वितीय बर्मी युद्ध, लार्ड डलहौजी, कालात्यय का सिद्धान्त २६४
२९. विद्रोह के कारण। लार्ड कैनिंग २७३
३०. विद्रोह २८०
३१. ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त २८७

भाग २

१. ताज के अधीन भारत। प्रबन्ध और सुव्यवस्था। लार्ड कैनिंग के शासन का अन्त २९४
२. लार्ड एल्गिन और लार्ड लारैन्स। अफगानिस्तान से हमारे सम्बन्ध ३०१
३. लार्ड मेयो। शेरअली से सम्बन्ध। वित्तीय सुधार ३११
४. लार्ड नार्थबुक। अफगान संघर्ष ३१५
५. युद्ध आरम्भ होने तक अफगानिस्तान में लार्ड लिटन की नीति ३२२
६. द्वितीय अफगान युद्ध ३२९
७. लार्ड लिटन के अधीन आभ्यन्तरिक शासन-प्रबन्ध ३३६
८. लार्ड रिपन और वैधानिक सुधारों का युग ३४३
९. लार्ड डफरिन, इंग्लैण्ड, रूस और अफगानिस्तान, उत्तरीय बर्मा की विजय ३४८
१०. लार्ड लैन्सडाऊन का शासन काल, अग्रगामी नीति ३५५
११. १८८५–९२ तक सामाजिक और शासन सम्बन्धी सुधारों के उपाय। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ३६२
१२. अकाल, प्लेग और सीमान्त युद्ध, लार्ड एल्गिन का शासन-प्रबन्ध ३६७
१३. उत्तर-पश्चिम, अफगानिस्तान और ईरान में लार्ड कर्जन की विदेश नीति ३७५
१४. तिब्बत पर अभियान, १९०४ ३८२
१५. लार्ड कर्जन के अधीन आन्तरिक शासन-प्रबन्ध ३९१
१६. मार्ले-मिण्टो सुधार, आँग्ल रूसी सम्मेलन ४०३
१७. राज्याभिषेक का दरबार, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार ४१३
१८. द्वैध शासन और असहयोग ४२१
१९. साइमन कमीशन और गोलमेज सम्मेलन ४२९
२०. विदेश-सम्बन्ध, १९१७–३७ ४३६
२१. १९३५ का अधिनियम और उसके पश्चात् ४३९
२२. भारत और युद्ध, १९३९–४५ ४५१
२३. स्वतन्त्रता और विभाजन ४६१
२४. आर्थिक और सांस्कृतिक विकास ४६६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : १ :

प्राकृतिक तथा भौगोलिक विशेषताएं

भारत के भूगोल का विस्तृत अध्ययन हम एक अलग पुस्तक में करेंगे। इस अध्याय में तो भूगोल से सम्बन्ध रखने वाली केवल उन मुख्य बातों पर दृष्टि डाली जायगी जिनकी जानकारी इतिहास के समुचित अध्ययन के लिए अत्यावश्यक है।

भारत की प्राकृतिक सीमाएं पर्वतों और समुद्रों द्वारा निर्धारित हैं और उसके इतिहास पर इस सत्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। पश्चिम में सिन्धु नदी के मुहाने से लेकर पूर्व में गंगा के डेल्टे तक अरब सागर और हिन्द महासागर का पानी मध्य और दक्षिण भारत के विशाल त्रिभुजाकार प्रायद्वीप के किनारे पखारता है। दूर-दूर तक फैले हुए पर्वतों की कहीं-कहीं से खंडित और टेढ़ी-मेढ़ी अर्द्ध-वृत्ताकार शृंखला सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित एक स्थान से आरम्भ होकर अराकान के तटों तक फैली है। 'अराकान' बंगाल की खाड़ी के पूर्वी मोड़ पर बसे एक देश का नाम है। यदि हम पश्चिम से पूर्व की ओर इस विशाल प्राचीर का फैलाव देखें तो विदित होगा कि इसका आरम्भ सिन्धु के बन्दरगाह, कराची, से उत्तर की ओर जाती हुई किर्थ पर्वतमाला से होता है। क्वेटा के समीप यह शृंखला कुछ दूर तक पूर्व की ओर मुड़ती है फिर सुलेमान पर्वत-श्रेणियों के साथ उत्तर की ओर बढ़ जाती है। पूर्व की ओर अत्यन्त ऊँची चोटियों सहित हिन्दुकुश और कराकोरम पर्वत फैले हुए हैं। इनमें से कुछ चोटियां तो २८,००० फुट तक ऊँची हैं। इससे आगे हिमालय का सुदृढ़ परकोटा है। संसार का सबसे ऊंचा पर्वत-शिखर माउंट एवरेस्ट इसी भाग में है। हिमालय की यह पर्वत-शृंखला एक बड़ी महराब की भांति दक्षिण-पूर्व की ओर तनिक बल खाती हुई आसाम की उत्तरी सीमा तक जा पहुंचती है। मध्य हिमालय की तलहटी में मलेरिया से आक्रान्त तराई का जंगल है। इस जंगल में चीते भी प्रायः दिखाई दे जाते हैं। इस घने जंगल के नीचे उन पुराने नगरों के खंडहर दबे पड़े हैं जो बौद्ध इतिहास में प्रसिद्ध हैं। हिमालय के पूर्वी कोण से समकोणों पर, हिमालय से नीची परन्तु पर्याप्त ऊँची वे पहाड़ियां हैं जो दक्षिण की ओर अराकान के समुद्र-तट तक चली गई हैं। इस प्रकार प्रकृति ने भारत को भली प्रकार सुरक्षित कर दिया है। तिब्बत के बंजर पहाड़ी प्रदेश की ओर ले जाने वाले हिमालय के सबसे निचले पहाड़ी प्रदेश भी १७,००० फुट ऊँचे हैं। साधारण ढंग के व्यापार के अलावा ये और किसी भी काम के नहीं। भारत में स्थल-मार्ग से आने वाली विदेशी सेनाएं केवल इस पर्वतीय परकोटे के पश्चिमी अथवा उत्तर-पश्चिमी भाग की ओर से ही आ सकती हैं। यहां खैबर, कुर्रम और बोलान के दर्रे हैं। इन दर्रों द्वारा ईरान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पठार के पूर्वी किनारे से पंजाब के विस्तृत मैदानों तक पहुंचा जा सकता है। इन्हीं दर्रों की भयंकर घाटियों में से होकर क्रमशः आर्य, हूण, अफगान, फारसवासी और मुगल आक्रांताओं के दल 'हिन्दुस्तान' पर विजय पाने अथवा इसे लूटने के लिए आते रहे।

अब हमें उस भू-भाग की ओर ध्यान देना है जो समुद्र और पर्वतों की इन सीमाओं से घिरा है। भारत मुख्य रूप से दो प्राकृतिक भागों में बँटा है: १. 'हिन्दुस्तान', जिसमें हिमालय की पर्वत-श्रेणियां; उत्तर के विशाल नदियों के बहाव से बने हुए, मैदान और मालवा तथा बुन्देलखण्ड का टूटा हुआ मध्यवर्तीय पठार सम्मिलित हैं, और २. 'दक्खिन' अर्थात् दक्षिण का त्रिभुजाकार प्रायद्वीप।[1] पहाड़ियों की एक चौड़ी करधनी, जंगल और दो नदियों की धाराएं भारत के इन दो भागों को अलग करती हैं। कैम्बे की खाड़ी से पूर्व की ओर सतपुड़ा पर्वतमाला फैली है। सतपुड़ा तथा विंध्याचल के बीच की गहरी खाई में लगभग ८०० मील तक पश्चिम की ओर बहकर नर्बदा नदी अरब सागर में विलीन हो जाती है। महानदी, नर्बदा से विपरीत दिशा में, पूर्व की ओर कुछ अधिक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से बहकर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है। 'हिन्दुस्तान' और 'दक्खिन' को अलग करने वाली यह प्राचीर सदा से ही अत्यन्त स्पष्ट रही है। अंग्रेजों के शासन-काल से पहले इसने पूरे भारत में एक ही अखंड साम्राज्य की स्थापना होने में सदा बाधा डाली है।

भारत के सब बड़े मैदान 'हिन्दुस्तान' में हैं। हिमालय के दक्षिणी भाग से आरम्भ होकर ये मैदान पश्चिम में काठियावाड़ और पूर्व में बंगाल की खाड़ी के उत्तरीय समुद्र-तट तक फैले हैं। लगभग ये पूरे मैदान दो बड़ी नदियों, सिन्धु और गंगा, द्वारा पहाड़ों पर से लायी गयी मिट्टी से बने हैं। सिन्धु नदी, जो १८०० मील लम्बी है, हिमालय के उत्तरी भाग से निकल कर उस पर्वत-शृंखला के पीछे-पीछे लगभग ५०० मील तक बहने के बाद पर्वत को बींध कर दक्षिण की ओर बहने लगती है। इसके उपरान्त, पंजाब की चार अन्य नदियों का पानी अपने में मिला कर, यह एक विशालकाय किन्तु धीमी चाल वाली नदी के रूप में आगे बढ़ती है। सिन्ध प्रदेश में से होती हुई यह अनेक धाराओं में बंटकर अरब सागर में मिल जाती है। गंगा अपनी मुख्य सहायक यमुना, घाघरा और गंडक का पानी लेकर लगभग १५०० मील तक उत्तरी भारत में हिमालय

---

१. संयोगवश 'हिन्दुस्तान' और 'दक्खिन' शब्दों का प्रयोग दो अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। इनमें से एक अर्थ विस्तृत है, दूसरा संकीर्ण। विस्तृत अर्थ में 'हिन्दुस्तान' में वह सारा प्रदेश सम्मिलित किया जाता है जो विंध्याचल के उत्तर में स्थित है। संकीर्ण अर्थ में 'हिन्दुस्तान' गंगा के ऊपरी मैदान का द्योतक है। इसी प्रकार 'दक्खिन' का प्रयोग कभी तो भारत के उस पूरे भाग के लिए किया जाता है जो नर्बदा के दक्षिण में है और कभी केवल उस प्रदेश के लिए जो कृष्णा और नर्बदा नदियों के बीच में है। इसके अतिरिक्त, कुछ आधुनिक लेखक 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग पूरे भारत के लिए भी करते हैं।

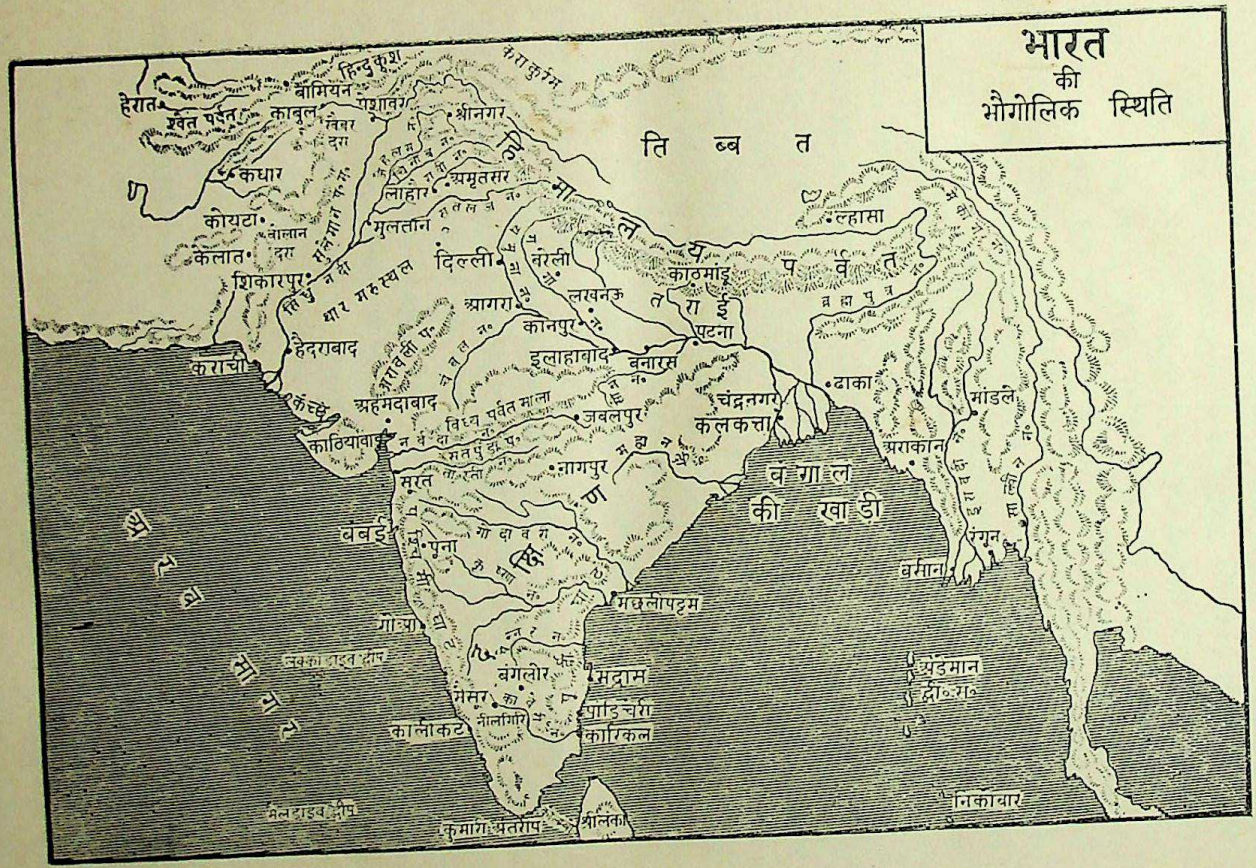

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लगभग समानान्तर बहती है। यह नदी देश के एक बहुत बड़े भाग को सींचती हुई अनेक मुहानों के रूप में बंगाल की खाड़ी में समा जाती है। समुद्र में मिलने के कुछ ही पहले गौलुंडो नामक स्थान पर इसमें ब्रह्मपुत्र नदी मिल जाती है। ब्रह्मपुत्र का तिब्बती नाम सांपो (Tsanpo) है। यह हिमालय के उत्तर में सिन्धु नदी के मूल स्रोत से कुछ मील दूर से ही आरम्भ होती है। यह सिन्धु नदी से ठीक विपरीत दिशा में एक हज़ार मील से अधिक दूरी तक बहती हुई हिमालय-पर्वत-माला के पूर्वी छोर के साथ-साथ एक लम्बा चक्कर काटकर पहले पश्चिम और फिर दक्षिण की ओर बहती हुई आसाम की घाटियों में से होकर बंगाल के निचले भाग के मैदानों तक जा पहुंचती है। ये दो महान् नदियां अपने साथ इतने अधिक परिमाण में पानी बहाकर लाती हैं कि दोनों के सम्मिलित डेल्टे में, जिसका क्षेत्रफल लगभग ५०,००० वर्ग मील है, असंख्य जल-धाराओं का जाल-सा बिछा है। अरावली की पर्वत-श्रेणियां, राजपूताने में से होती हुई उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ती हैं। वे इन दो नदियों की महान् जल-धाराओं को एक दूसरे से अलग करती हैं। इस पर्वत-माला के पश्चिम में, सिंचाई के लिए जल नहीं पहुंच पाता। यहीं 'थार' या भारतीय मरुस्थल है। इसे तो मानो बलपूर्वक इन नदियों की घाटियों के बीच में ठूंस दिया गया है। अत्यन्त प्राचीन काल में यहां एक विस्तृत समुद्र हिलोरें लेता था। इस उपेक्षित भू-भाग का अधिकतर भाग पहले हाकरा नामक एक नदी द्वारा सींचा जाता था। वह अब लुप्त हो गयी है। वह नदी लगभग सिन्धु के समानान्तर बहती थी। कहा जाता है कि हाकरा नदी अठारहवीं शताब्दी में ही पूरी तरह विलुप्त हो गई थी।

सिन्धु नदी की घाटी की जलवायु अधिकतर गरम और खुश्क है। नदी के निचले भागों में नदी-तट से कुछ मील की दूरी तक ही खेती-बाड़ी होती है। इसके विपरीत, गंगा के मैदान का वातावरण आर्द्र है। इसके अंचल में चावल से लदे खेत और वनस्पतियों से लहलहाते मैदान छिपे हैं। गंगा का मैदान संसार के अत्यधिक उपजाऊ और घनी आबादी वाले प्रदेशों में से एक है। इस पवित्र नदी और इसकी सहायक, यमुना के तटों पर ही भारत के सुन्दरतम और प्रसिद्ध नगर बसे हुए हैं। यहीं पुरातन सभ्यताओं के केन्द्र थे, प्राचीन राज्यों की राजधानियां थीं और पुराने राजवंशों के मुख्य वासस्थान थे।

'दक्खिन', जो अपने विस्तृत तथा पुराने अर्थों में विन्ध्य के दक्षिण में स्थित पूरे भारत का द्योतक है, बहुत ऊंचा उठा हुआ पठार है। इसका ढलान निश्चित रूप से पश्चिम से पूर्व की ओर है। इसीलिए 'दक्खिन' की उत्तरी सीमा पर बहने वाली नर्बदा और ताप्ती नदियों के अतिरिक्त दक्षिणी भारत की सब मुख्य नदियां—महानदी, गोदावरी, कृष्णा तथा उसकी सहायक तुंगभद्रा और कावेरी— पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं (यद्यपि इनमें से अधिकतर पश्चिमी समुद्र-तट से पचास मील के भीतर ही आरम्भ होती हैं)। मलाबार-तट की ऊंची ढालू दीवार पश्चिमी घाटों की पर्वत-माला का रूप धारण कर लेती है और कोरोमंडल-तट पर खड़ी अपेक्षाकृत नीची चट्टानें पूर्वी घाटों की पर्वत-माला का। इन घाटों के निचले भागों और समुद्र के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीच उपजाऊ और समतल मैदानों की वे पट्टियां हैं जिन पर समुद्र के रास्ते भारत आने वाले यूरोपवासी सबसे पहले उतरे। यहीं उन्होंने अपने पुराने ढंग के कारखाने और अड्डे स्थापित किये। बम्बई की ओर यह समतल पट्टी बहुत ही संकरी हो गयी है क्योंकि यहां पर्वत समुद्र-तट से प्रायः चालीस मील से अधिक दूर नहीं हटे हैं। मद्रास की ओर इसकी चौड़ाई अधिक है। इसलिए यहां दक्खिनी नदियों की घाटियां पर्वतों में अधिक भीतर तक चली गयी हैं। बिलकुल दक्षिण-पूर्वी भाग में मदुरा और तिन्नेवली का अपेक्षाकृत चौड़ा मैदान है। कुमारी अन्तरीप से लगभग २०० मील की दूरी पर पूर्वी घाट पश्चिम की ओर मुड़ कर सामने से आती हुई नीलगिरि की पर्वत-शृंखला द्वारा पश्चिमी घाटों से मिल जाते हैं।

भारत का समुद्र-तट, जो लगभग ३००० मील लम्बा है, बहुत ही कम कटा-फटा है। यहां की नदियों के डेल्टों में भी जहाज चलाना कठिन है। पश्चिमी तट पर (जो यूरोप से आने वालों के लिए सबसे उपयुक्त दिशा है) केवल बम्बई अच्छा और प्राकृतिक बन्दरगाह है। संसार के सर्वश्रेष्ठ बन्दरगाहों में से एक होने पर भी बम्बई नगर और इसका भीतरी भाग पश्चिमी घाटों द्वारा (जो नर्बदा से कुमारी अन्तरीप तक फैले हैं और जिनकी शृंखला केवल पालघाट पर टूटी है) इतना भिंच-सा गया है कि रेलों के पूरे विकास से पहले यह वितरण का बहुत ही साधारण केन्द्र था। 'दक्खिन' का पूर्वी किनारा खोखला और लहरों से पिटा हुआ है। मद्रास का आधुनिक बन्दरगाह बन जाने से पहले इस ओर से केवल छोटी-छोटी नौकाओं द्वारा ही भूमि पर आया जा सकता था। इसीलिए इतने वर्ष तक कलकत्ता बंदरगाह के रूप में अपनी निर्विघ्न श्रेष्ठता बनाए रहा। भारत के प्राकृतिक मान-चित्र पर दृष्टि डालने से अनुमान होता है कि सिन्धु नदी की घाटी यूरोप से आने वालों के लिए अधिक सम्भावित मार्ग हो सकती थी। उस जल-मार्ग पर अंग्रेजों का अधिकार देर में हुआ और कराची को तो प्रयत्न द्वारा ही एक काम-चलाऊ बन्दरगाह बनाया जा सका है। अस्तु, हुगली की रेत से भरी जलधारा को साफ करने की कठिनाई और इसमें जहाज चलाना संकटपूर्ण होने पर भी वर्तमान काल तक गंगा का डेल्टा ही जल-मार्ग द्वारा आने वालों के लिए भारत का प्रवेश-द्वार बना रहा।[1]

---

१. बरमा की प्राकृतिक और भौगोलिक विशेषताओं पर अध्याय १३ में प्रकाश डाला जाएगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : २ :

अंग्रेजों के भारत में आने तक भारतीय राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा

इस पुस्तक में हमें प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारतीय इतिहास का विवेचन नहीं करना है। यहाँ तो जल-मार्ग से आने वाले यूरोपवासियों और भारतीयों का सम्बन्ध स्थापित होने से पहले की शताब्दियों के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा। भारत को "विभिन्न मानव-जातियों का अजायबघर" कहा गया है। इसकी भूमि पर अनगिनत जातियां, धर्म और भाषाएं पायी जाती हैं। अनुमान लगाया गया है कि यहां के मूल निवासियों का कद छोटा, रंग काला और नाक छोटी थी। उनके वंशज अब अधिकतर दक्षिणी भारत में रहते हैं। उत्तरी भारत के वासी अधिकतर लम्बे, गौर-वर्ण और बड़ी नासिका वाले हैं। यह निश्चित ही है कि ये लोग महान् आर्य-जाति की एक शाखा हैं। आर्यों ने १५०० ई० पू० से, लगातार भारत आने वाले जन-समूहों के रूप में, उत्तर-पश्चिमी दर्रों के मार्ग से 'हिन्दुस्तान' में प्रवेश किया। उन्होंने यहां के मूल निवासियों को दुर्ग-सदृश 'दक्खिन' की ऊंची भूमि तक खदेड़ दिया। इन भारतीय आर्य आक्रमणकारियों ने पंजाब में अपने आश्चर्यजनक साहित्य की रचना की और ब्राह्मण-धर्म-प्रधान हिन्दुत्व की स्थापना की। इसके बहुत बाद, लगभग ५०० ई० पू० गंगा की ऊपरी घाटी में बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ। जैन धर्म का प्रचार भारत तक ही सीमित रहा और इस देश में भी इसके अनुयायियों की संख्या बराबर घटती रही। बौद्ध-धर्म अपनी जन्म-भूमि से तो लुप्तप्राय हो चुका है पर अब भी इसके अनुयायियों की संख्या संसार के किसी भी मत के अनुयायियों से अधिक है। अपने ढंग की निराली उस वर्ण-व्यवस्था का जन्म भी भारत के इसी भाग में हुआ जिसने समस्त हिन्दू भारत को अपने में बुरी तरह जकड़ा हुआ है और उसे हज़ारों छोटे-छोटे समुदायों में बांट दिया है। ये समुदाय निरर्थक परन्तु अभेद्य बन्धनों के कारण एक दूसरे से मिल नहीं पाते। इन्हीं बाधाओं के कारण इन समुदायों में पारस्परिक लेन-देन अथवा विवाह-सम्बन्ध आदि भी नहीं हो सकते।

क्रमशः शक, कुशान और गोरे रंग के हूण आक्रमणकारी भारत में आये। इनमें से कुछ तो आर्य-जाति से मिलते-जुलते ही थे परन्तु कुछ (जो सम्भवतः उत्तर-पूर्वी दर्रों से आये) पीली मंगोल जाति के थे। इनमें से बहुत से आक्रमणकारियों ने यहां के मूल निवासियों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। फलस्वरूप अनेक नई जातियों और भाषाओं का जन्म हुआ। उत्तरी भारत पर मुख्यतः आर्य-जाति के लोग ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छाये रहे और 'दक्खिन' में आर्य-पूर्व जाति के लोग। पूरी तरह वैज्ञानिक न होने पर भी सुगमता के लिए दक्षिण भारत की जातियों को 'द्रविड़' कहकर पुकारा जाता है और द्रविड़ों द्वारा बोली जाने वाली प्राचीन बोलियों—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और तुलु—को 'द्रविड़ परिवार' की भाषाओं के अन्तर्गत रखा जाता है।

बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्म के मानवीय और शिष्ट प्रभावों के फलस्वरूप एक अपेक्षाकृत उच्चकोटि की सभ्यता का जन्म हुआ। इसके साथ ही साथ अनेक हिन्दू राज्यों का भी उदय और विकास हुआ। प्राचीन सिक्कों और शिलालेखों की सहायता से विद्वान् इन राज्यों के इतिहास की रूपरेखा तैयार करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। लगभग ५०० ई० पू० में सिन्धु नदी की घाटी पर डेरियस (Darius) के सेनापतियों ने अधिकार कर लिया था। डेरियस फ़ारस के बादशाह, हिस्तसपस (Hystaspes) का पुत्र था। इस तरह कुछ समय के लिए सिन्धु घाटी फ़ारस के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गयी। भारतीय धनुर्धरों ने ४७९ ई० पू० में प्लाटिया (Plataea) के मैदान में युद्ध किया। ३२६ ई० पू० में सिकन्दर महान् ने, एशिया पर विजय-यात्रा करते हुए, सिन्धु नदी पार की। उसने 'हिन्दुस्तान' के उत्तर-पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो जाने पर उसका साम्राज्य बहुत तेजी से छिन्न-भिन्न हो गया। तीन बार इसकी संभावना दिखाई देने पर भी, हिन्दू, भारत में स्थायी चक्रवर्त्ती राज्य की स्थापना न कर सके। कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि अशोक के अल्प-कालीन साम्राज्य (२७३ से २३२ ई० पू० ?) का विस्तार हिन्दूकुश पर्वत से लेकर लगभग मैसूर की उत्तरी सीमा तक था। इसके बाद पाटलीपुत्र (आधुनिक पटना) के समुद्रगुप्त (४०० ई०) और इससे लगभग २०० वर्ष बाद, कन्नौज के हर्ष ने अपने राज्य का विस्तार अधिकांश उत्तरी भारत तक कर लिया था, परन्तु इनमें से किसी का वंश भी अधिक समय तक न चल सका।

अब भारत के भाग्य में इस्लाम की विजयिनी तलवार का अनुभव प्राप्त करना लिखा था। ईसा की आठवीं शताब्दी के आरम्भ में अरबवासियों ने सिंध पर अधिकार कर लिया। उसके ढाई सौ वर्ष बाद मुसलमान तुर्क उत्तरी पहाड़ों के समीप इकट्ठे होकर आतंक उत्पन्न करने लगे थे। ८६२ ई० में उन्होंने अफगानिस्तान का एक नगर ग़ज़नी ले लिया। ग़ज़नी के सुलतान, महमूद ने, ९९७ और १०२६ ई० के बीच में उत्तरी भारत पर १५ बार आक्रमण किया परन्तु केवल लाहौर का प्रान्त ही स्थायी रूप से उसके परिवार के अधिकार में रह सका। मुहम्मद ग़ोरी ने, ग़ज़नी पर विजय पाकर, ११७५ से १२०६ ई० तक भारत पर ६ आक्रमण किये। मुहम्मद ग़ोरी के एक सेनापति ने एक तुर्की राजवंश की नींव भी डाली जिसने दिल्ली पर राज किया। मुसलमानों ने धीरे-धीरे बिहार और बंगाल को भी अपने अधीन कर लिया और 'दक्खिन' में भी बहुत दूर तक चले गये। १२०६ से १५२६ तक क्रमशः चार मुस्लिम राज-वंश दिल्ली के सिंहासन पर बैठे। इसी बीच मध्य और दक्षिणी भारत में अनेक मुसलमान राज-परिवारों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अपनी जड़ें जमा लीं। इनमें 'दक्खिन' के पांच राज्य ––अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार––मुख्य थे। ये राज्य १५६५ ई० से पहले लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक दक्षिणी भारत के मुख्य हिन्दू राज्य, विजयनगर, के साथ अव्यवस्थित ढंग से युद्ध करते रहे।

अन्त में, सोलहवीं शताब्दी में, बाबर नामक एक नवीन मुग़ल विजेता ने उत्तरी भारत की मुस्लिम-राज्य-शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बाबर वास्तव में आधुनिक तुर्किस्तान के फरग़ना (Farghana) का सरदार था। उसने काबुल पर भी अधिकार कर लिया था। १५०५ से १५२५ ई० तक उसने उत्तर-पश्चिमी दर्रों के मार्ग से, भारत आने वाले तीन दलों का नेतृत्व किया। पांचवें आक्रमण में उसने पानीपत के मैदान में (१५२६ ई० में) दिल्ली के अन्तिम लोदी बादशाह, सुलतान इब्राहीम, को हराया और मुगल साम्राज्य की नींव डाली। १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। उसे अपनी बिखरी हुई शक्ति संगठित करने का भी अवसर न मिला। उसका अधिकार उत्तरी भारत के एक भाग पर (मोटे तौर पर पश्चिम में सिन्धु नदी से लेकर बंगाल की सीमा तक) था। बाबर के पुत्र, हुमायूं ने कुछ वर्ष तक अनेक कठिनाइयों में ही राज किया। फिर उसे अफगानिस्तान वापिस भगा दिया गया। १५५५ ई० में उसने अपने कुछ खोये हुए प्रदेश लौटा लिये परन्तु विजय के क्षणों में ही उसकी मृत्यु हो गयी। १५५६ ई० में हुमायूं का राज्य उसके पुत्र अकबर के हाथ में आया। उस समय इस राज्य में पंजाब के अतिरिक्त दिल्ली और आगरे के आसपास के जिले सम्मिलित थे। अकबर (१५५६ से १६०५), जो इंगलैण्ड की महारानी एलिज़ाबेथ का समकालीन था, महत्तम मुग़ल बादशाह सिद्ध हुआ। उसने राजपूताना, गुजरात, सिन्ध, मालवा, खानदेश, बंगाल और काश्मीर पर विजय पायी और कंधार तथा अफ़गानिस्तान पर अधिकार किया। अहमदनगर को भी अपना आश्रित राज्य बनाकर उसने 'दक्खिन' में अपने साम्राज्य की सीमा लगभग गोदावरी नदी तक बढ़ा दी। अकबर ने न केवल राज्य की सीमाओं का ही विस्तार किया प्रत्युत उसने एक निश्चित शासन-प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था भी निर्धारित की। इसके फलस्वरूप मुगल प्रभुता को एकरूपता और सुदृढ़ता प्राप्त हुई। सारा साम्राज्य पन्द्रह सूबों या प्रान्तों में बांट दिया गया। प्रत्येक प्रान्त एक गवर्नर या वायसराय के अधीन था। इसे 'सूबेदार', 'नवाब', या 'नाज़िम' कहते थे। 'दीवान' नामक एक अर्थ-सम्बन्धी अधिकारी उसकी सहायता के लिए होता था। मुस्लिम राजनीतिक शब्दावली अधिक वैज्ञानिक नहीं क्योंकि वास्तव में तो 'सूबेदार' का पद तत्कालीन बड़े प्रान्तों के हाकिमों का बोध कराता जान पड़ता है और 'नवाब' का पद सूबेदार के अधीन काम करने वाला सहायक अधिकारी, अथवा दूसरे शब्दों में उपविभागों के उपगवर्नरों का। अतः 'दक्खिन' का 'सूबेदार' कर्नाटक के 'नवाब' का उच्चाधिकारी था। प्रायः ये पद एक दूसरे से बदल भी जाते थे। बंगाल कदाचित् राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रान्त था परन्तु इसके हाकिम को 'सूबेदार' के बदले 'नवाब' ही कहा जाता था। भारत में राज्य-राजस्व का अधिकांश सदा भूमि से ही प्राप्त होता रहा है। अकबर के महान् हिन्दू मंत्री,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टोडरमल, ने सबसे पहले बड़े पैमाने पर भूमि-कर-व्यवस्था की। उसने खेतिहरों द्वारा कर के रूप में राजकोष को दिया जाने वाला भाग (अनुपात) निश्चित करके उसे लिखित रूप दे दिया।

इस समय तक 'हिन्दुस्तान' में मुग़ल शासन सैनिक आधिपत्य से अधिक भिन्न न था परन्तु अकबर ने अपने पुत्र, जहांगीर, (१६०५ से २७) के लिए जो राज्य छोड़ा, वह एक शक्तिशाली और सुशासित साम्राज्य के रूप में था। जहांगीर जेम्स प्रथम का समकालीन था। इन दोनों के चरित्र की भी परस्पर तुलना की गयी है। जहांगीर के समय में ही अंग्रेजों ने भारतीय समुद्र-तट पर अपनी सबसे पहली फैक्ट्री खोली और जहांगीर के ही राज-दरबार में सर टॉमस रो (Sir Thomas Roe) तीन बरस तक इंग्लैण्ड के बादशाह के राजदूत के रूप में रहा। जहांगीर के राज्यारोहण से कोई १०० बरस बाद तक मुग़ल साम्राज्य पर योग्य और शक्तिशाली बादशाहों का शासन रहा। इस अवधि में पूरे उत्तरी और मध्य भारत में शान्ति बनी रही। यह शान्ति यूरोपवासियों की बस्तियों के उदय और विकास में बहुत सहायक हुई। शाहजहां के शासन-काल (१६२७ से ५८) में दक्षिणी भारत के बीजापुर और गोलकुंडा नामक मुस्लिम राज्यों ने दिल्ली की अधीनता मान ली। यह तो सत्य है कि 'दक्खिन' पर मुगलों का दृढ़ अनुशासन कभी स्थापित न हो सका फिर भी इस भाग के राज्य उत्तर भारत के विशाल मुगल-साम्राज्य से डरते ही रहते थे। इसी भय के कारण 'दक्खिन' के राज्य आपस में भी यथासम्भव शान्ति और मित्र-भाव ही बनाए रखने का प्रयत्न करते थे, यद्यपि १७१२ ई० के बाद मुगल साम्राज्य का विशाल संगठन अस्तव्यस्त हो गया था, तथापि यूरोप के प्रवासियों में इतनी शक्ति हो गयी थी कि वे अनेक कठिनाइयों और संकटों का सामना करके भी अराजकता और उथल-पुथल के उस युग में अपनी सत्ता बनाये रख सकें।

औरंगजेब के शासनकाल (१६५८ से १७०७) की भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी मरहठों का क्रमिक अभ्युदय। मरहठे हिन्दू थे और बम्बई के पूर्व तथा सतपुड़ा-पर्वत-माला के दक्षिण में स्थित पश्चिमी घाटों के पहाड़ी प्रदेश महाराष्ट्र के मूल निवासी थे। 'दक्खिन' के खेतिहरों की इसी उपेक्षित जाति को आगे चलकर मुगल-साम्राज्य का विध्वंस और भारत में ब्रिटिश सत्ता का डटकर विरोध करने वाली सुदृढ़तम शक्ति सिद्ध होना था। अधिकतर मरहठे और उनके राज-परिवार के लोग भी निम्न जाति के थे परन्तु बाद में कुछ ब्राह्मणों ने भी उनके राजनीतिक नेताओं का स्थान प्राप्त किया। शारीरिक दृष्टि से मरहठा जाति के लोग छोटे कद के चुस्त और परिश्रमी थे। वे निश्चिन्त घुड़-सवारों के रूप में प्रसिद्ध थे और लुटेरों के रूप में तिरस्कृत। औरंगजेब के शब्दों में वे "दक्खिन के पहाड़ी चूहे" थे। शिवाजी (१६२७ से ८०) ने एक राष्ट्र के रूप में उनका संगठन किया। शिवाजी ने उन प्रयत्नों का भी सफलतापूर्वक विरोध किया जो मुगलों ने उसे कुचलने के लिए किये। उसने धीरे-धीरे दक्षिणी भारत में अपने अधीन भू-भाग का विस्तार करते हुए उन सब पड़ोसियों को अपने अधिकार में ले लिया, जो दुर्बल थे अथवा जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधीनस्थ प्रदेश पूरी तरह सुरक्षित न थे। 'दक्खिन' पर अपना प्रभुत्व फैलाते हुए वह विरोध करने में असमर्थ, दुर्बल राज्यों से 'चौथ' (अथवा लुटेरों की रक्षा के लिए दिया गया उपहार) मांगने लगा। यह सरकारी मालगुजारी के लगभग चौथाई भाग के बराबर होता था। 'चौथ' न देने वाले राज्यों पर वह भांति-भांति के अत्याचार करता था। शिवाजी के पोते नाम-मात्र के लिए ही सतारा के स्वामी रहे। उस समय वास्तविक राज-सत्ता तो उनके ब्राह्मण-मन्त्री अथवा पेशवा, बालाजी विश्वनाथ, के हाथ में थी। पेशवा ने एक राजवंश की भी नींव डाली। इसका मुख्य केन्द्र पूना था। मरहठा-शक्ति का बराबर विकास होता रहा। अठारहवीं शताब्दी तक इसमें इतना बल आ गया कि यह कुमारी अन्तरीप से लेकर बंगाल और राजपूताना तक की प्रत्येक स्थायी सरकार को डरा सके। भारत पर आक्रमण करने वाले अफगान, अहमदशाह दुर्रानी ने पंजाब में पानीपत की युद्धभूमि पर मरहठों को बुरी तरह हराया। उसने उन्हें कुछ समय के लिए 'दक्खिन' में खदेड़ दिया परन्तु यह विजेता शीघ्र ही अपने देश लौट गया और मरहठों ने फिर अपने खोए हुए प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। यह निश्चित ही है कि यदि अंग्रेज मरहठा-शक्ति को चुनौती न देते तो मुगलों के अधीनस्थ सब प्रदेश मरहठों के अधिकार में होते। जैसा कि हम इस इतिहास में पढ़ेंगे, अंग्रेजों को भी मरहठों का संगठन छिन्न-भिन्न और विभाजित करके अपने अधीन करने के लिए चार भयंकर लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : ३ :

यूरोप और भारत का व्यापार-सम्बन्ध

सिकन्दर महान् और उसके उत्तराधिकारी, सेल्यूकस निकेटर के आक्रमणों (लगभग ३०० ई० पू०) के पश्चात् (१२९४–९५ में वेनिस-वासी, मार्कोपोलो की भारत-यात्रा के अतिरिक्त) पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में यूरोपवासियों का प्रवेश नहीं के बराबर ही रहा।

रोम-साम्राज्य की नैसर्गिक प्रतिभा ने भी भारत-विजय का विचार छोड़-सा दिया था। इसके दो मुख्य कारण थे : दोनों देशों के बीच की भयानक दूरी और मार्ग की दुर्भेद्य कठिनाइयां। तथापि भारत-भूमि और भारतीय कला की कृतियां अनादि काल से पश्चिमी देशों की मंडियों में मशहूर थीं। ये वस्तुएं प्राचीन व्यापार-मार्गों से अंध सागर के तट पर लेवान्त (Levant) अथवा मिश्र तक लायी जाती थीं। प्राचीन काल में टीरे (Tyre) एलेक्ज़ेन्ड्रिया (Alexandria) और कुस्तुन्तुनिया (Constantinople) क्रमशः भारतीय व्यापार-सामग्री के मुख्य प्रदर्शन-केन्द्र बने। मध्यकाल में उनका स्थान वेनिस तथा जेनोआ ने ले लिया। यहां से व्यापारी ये वस्तुएं नीदरलैंड्स में ब्रजेस (Bruges) अथवा एन्टवर्प (Antwerp) तक और हंसिया लीग (Hanseatic League) के नगरों तक ले जाते थे।

तुर्की की दक्षिण-पश्चिम एशिया और दक्षिण-पूर्वी-यूरोप-विजय के फलस्वरूप व्यापारिक यातायात के प्राचीन मार्ग बन्द हो गये। इटली के प्रजातन्त्रों और उत्तर तथा मध्य यूरोप की मंडियों पर (जिनका सम्बन्ध इन व्यापार-मार्गों से था) इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। तुर्क-शक्ति द्वारा होने वाले भयंकर आक्रमण ने केवल उस आन्दोलन का आरम्भ होने में कुछ शीघ्रता कर दी जो वैसे भी अवश्यम्भावी था। भारत तक पहुंचने वाले जल-मार्ग की खोज अनिश्चित काल के लिए स्थगित नहीं की जा सकती थी। प्राचीन स्थल-मार्गों में सामने आने वाली दुर्भेद्य बाधा जल-मार्ग के प्रति बराबर उत्साह तथा आकर्षण बढ़ा रही थी। भारत की प्राचीन ख्याति और उसकी परम्परागत सम्पत्ति में भाग लेने की उत्कण्ठा ही परोक्ष रूप से उत्तरी ध्रुव की खोज से सम्बन्ध रखने वाली प्रारम्भिक दुर्घटनाओं और मानव-समाज द्वारा इस भू-पिंड को निश्चित रूप से वर्त्तुलाकार मानने के लिए पश्चिम में एक नये संसार की खोज का कारण बनी।

नये देशों की खोज में रोमन जाति के लोग अगुआ रहे। जेनोआ के क्रिस्टोफर कोलंबस ने, पश्चिमी मार्ग से भारत की खोज करते-करते १४९२ में स्पेन के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिमी हिन्द-द्वीप-समूह और दक्षिणी अमरीका ढूंढ निकाले। १४९७ में जेनोआ में उत्पन्न परन्तु वेनिस का नागरिक, जॉन कैबट (John Cabot) अंग्रेजी मल्लाहों के एक दल के साथ, ब्रिस्टल से चलकर न्यूफाउंडलैण्ड की भूमि पर उतरा। अनेक वर्षों के अथक परिश्रम और असीम धैर्य के फलस्वरूप भारत का जल-मार्ग ढूंढ निकालने का यश पुर्तगालियों को ही मिला। १४१८ से १४६० तक एक के बाद दूसरा पुर्तगाली कप्तान, 'नौका-संचालक' राजकुमार हेनरी (Prince Henry the Navigator) से प्रेरणा और आवश्यक शिक्षा पाकर अफ़्रीका के पश्चिमी तट पर निरंतर नीचे की ओर चलता रहा। १४८६ में बार्थोलोम्यू डेज़ (Bartholomew Diaz) एक समुद्री तूफान में फंसकर आशा अन्तरीप के पार पहुंच गया। अगले वर्ष पेड्रो डि कॉविल्हम (Pedro de Covilham) स्थल-मार्ग से यात्रा करता हुआ मलाबार-तट तक पहुंचा और उसने पूर्वी तल से हिन्द महासागर की खोज की। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि दक्षिण पूर्वी मार्ग से भारत तक अवश्य पहुंचा जा सकता है। अस्तु, वास्को ड गामा (Vasco da Gama) ने सकुशल आशा अन्तरीप का चक्कर लगाया, हिन्द महासागर पार किया और मई १४९८ में, उसने कालीकट के समुद्र-तट पर लंगर डाल दिया।

पुर्तगाली सोलहवीं शताब्दी में पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के एकाधिकार का उपभोग करते रहे। यह अधिकार उन्हें पोप के एक व्यवस्था-पत्र के अनुसार प्राप्त हुआ था। १४९३ के, पोप एलेक्जन्डर षष्ठ के घोषणा-पत्र के अनुसार, (जिसकी व्याख्या १४९४ के टॉरडेसिलस (Tordesillas) के संधि-पत्र में की गयी तथा १५०६ और १५१४ में क्रमशः जूलियस द्वितीय और लिओ (Leo) दशम की घोषणाओं द्वारा जिसका समर्थन किया गया) वर्द द्वीप समूह (Cape Verde Islands) के पश्चिम और दक्षिण में १११० मील की दूरी तक एक काल्पनिक रेखा खींच दी गयी। उस रेखा से पूर्व के सब देश (जो अभी तक खोजे न जा सके थे) पुर्तगालियों के भाग में आये और पश्चिम की ओर के समस्त खोजे जाने वाले देश स्पेन के भाग में। पोप की यह घोषणा सम्पूर्ण कैथलिक (उदार) यरोप में सर्वोच्च कोटि के अन्तर्राष्ट्रीय विधान के रूप में मान्य रही। दूसरी ओर प्रोटेस्टेंट (पोप-विरोधी) राष्ट्र लगभग सौ वर्ष तक अपने को इतना शक्तिशाली नहीं समझते थे कि पोप की घोषणा का विरोध कर सकें। इसीलिए वे बार-बार निराश होकर तथा धन-जन की हानि सहकर भी उत्तर-पश्चिमी या उत्तर-पूर्वी मार्ग से (जो पोप के घोषणा-पत्र से मुक्त थे) भारत तक पहुंचने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में, उस ओर से बिलकुल निराश होकर ही इंग्लैण्ड और हालैंड ने दक्षिण-पूर्वी या दक्षिण-पश्चिमी मार्ग की ओर ध्यान दिया।

अस्तु, कोई सौ बरस तक पुर्तगालियों का मार्ग निर्विघ्न रहा। जहां तक पोप उन्हें यह अधिकार दे सकते थे, वहां तक तो पुरस्कार के रूप में 'शानदार और भव्य पूर्व' उनके अधीन रहा। अब पुर्तगालियों के तेज़ समुद्री बेड़ों के पाल फ़ारस की खाड़ी में ओरमुज़ (Ormuz) से लेकर पूर्व की ओर मलाका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और गरम मसालों के द्वीपों (Spice Islands) तक दिखाई देने लगे। 'दक्खिन' के पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित, पुर्तगाली भारत की राजधानी, गोआ पर पुर्तगालियों का अधिकार १५१० में हुआ। उन्होंने क्विलोआ (Quiloa) मोम्बासा, (Mombassa), अफ़्रीका के पूर्वी समुद्र-तट पर मेलिंदे (Melinde) फ़ारस की खाड़ी में ओरमुज़, मलाबार-तट पर ड्यू (Diu), दमन (Daman) और कोचीन (Cochin), और मलेशिया (Malasia) में मलाका (Malacca) में अपने किलेबन्द कारखाने स्थापित कर लिये। पुर्तगाली प्रभुत्व के समय में कुछ महान् व्यक्तित्व प्रकाश में आये। इनमें से वास्को ड गामा, आलमिडा (Almeida) (१५०५ से १५०९) और अलबु कर्क (१५०९–१५) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस काल में पुर्तगाली नरेशों को धन और यश की प्राप्ति हुई और कैमोन्स (Camoens) नामक कवि को काव्य-रचना की प्रेरणा भी मिली। परन्तु भारत में एक स्थायी उपनिवेश स्थापित करना पुर्तगालियों के भाग्य में नहीं लिखा था। ब्राजील की खोज के बाद पुर्तगालियों की अधिकांश शक्ति पश्चिम में नई आबादियाँ बसाने में लग गयी। मि० व्हाइटवे के शब्दों में, "पुर्त्तगालियों ने सबसे पहले अनधिकृत रूप से 'पूर्व' में प्रवेश किया और 'पूर्व' ने इस आततायी को अपने में विलीन और तिरस्कृत करके इसका विरोध किया।"[1] पुर्तगाल के समुद्री कप्तानों के व्यापार करने के तरीकों में समुद्री डकैतियों की गन्ध अधिक थी। उन्होंने अरबी व्यापारियों को लूट कर भी उतना ही धन प्राप्त किया जितना विधिवत् व्यापार द्वारा। पुर्तगालीं मूल-निवासियों के साथ बहुत ही बुरा बर्त्ताव करते थे। वह बर्त्ताव निर्दयता में बर्बर-युग से भी बढ़ गया था। कैथलिक अगुआ राष्ट्र की पूर्वीय शक्ति के भाग्य में यही लिखा था कि वह उत्तर के उन प्रोटेस्टेंट राज्यों के सामने आत्म-समर्पण करदे जिनके व्यापारिक आदर्शों में शक्तिपूर्ण उत्साह अधिक था और कल्पनामय भावावेश कम। यदि उनके मार्ग में यह बाधा न होती तब भी बहुत संभव था कि उनकी शक्ति, मुग़ल साम्राज्य की, 'दक्खिन' के मुस्लिम राज्यों पर प्राप्त, विजय के समय या मरहठों के अधीन हिन्दू-शक्ति के पुनर्गठन के अवसर पर उनके हाथ से निकल जाती।

धीरे-धीरे, सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक यह बात निश्चित रूप से मानी जाने लगी कि उत्तर-पश्चिम या उत्तर-पूर्व की ओर से भारत तक पहुंचने का कोई जलमार्ग नहीं है। होर (Hore), विलोबी (Willoughby), फ़ॉबिशर (Frobisher) डेविस (Davis) नामक अंग्रेजों और बेरेन्ट्स (Barents) नामक डच की समुद्र-यात्राओं ने व्यापारिक अथवा भौगोलिक दृष्टि से कोई नई खोज न की। होर १५३६ में न्यूफाउन्डलैन्ड पहुंचा। सर हग विलोबी ने नोवा ज़ेम्बला (Nova Zembla) और

---

१. दी राइज़ ऑफ़ पॉरचुगीज़ पावर इन इण्डिया, लेखक आर० एस० व्हाइटवे, पृ० २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूस के उत्तरी समुद्र-तट की खोज की । उसकी समुद्र-यात्रा के फलस्वरूप रूसी या मास्कोवी कम्पनी की स्थापना हुई जिससे अंग्रेज व्यापारियों के लिए स्थल-मार्ग से फ़ारस के साथ व्यापार करना सम्भव हो गया। फ़ॉबिशर (१५७५–८) और डेविस (१५८५–७) ने उत्तर-पश्चिम तक उत्तरी ध्रुव-प्रदेश का किनारा पार किया और इसी बीच बेरेन्ट्स (१५९४–६) ने उत्तर-पूर्व तक पहुंचने के कठोर प्रयत्न किये। इन्हीं प्रयत्नों से वह स्टेटन द्वीप (Staten Island) और स्पिट्ज-बरगन (Spitzburgen) पहुंचा। १५१९–२१ में स्पेन के एक जहाजी बेड़े ने पश्चिमी मार्ग से पूर्वी-हिन्द-द्वीप समूह तक पहुंच कर कोलम्बस का स्वप्न सत्य कर दिया। फरडिनेंड मेगलिन (Ferdinand Magellan) इस बेड़े का नेता था। उसने अलबुकर्क की अधीनता में भी काम किया था। बाद में उससे झगड़ कर उसने अपनी सेवाएं बादशाह चार्ल्स पंचम को अर्पित कर दी थीं। मेगलिन दक्षिणी अमरीका के समुद्र-तट के साथ होता हुआ उन संकरे जल-मार्गों में से निकला, जिन्होंने उसका नाम सदा के लिए अमर कर दिया है । होर प्रशान्त महासागर के विशाल वक्षःस्थल को चीरता हुआ फिलिपाइन्स तक पहुंचा। वहां पहुंचने पर उसकी तो हत्या कर दी गयी परन्तु उसका दल माल्युकस (Moluccas) तक पहुंचा । उस बेड़े का एक जहाज तो पूरे संसार का चक्कर काटकर उस बन्दरगाह तक लौट आया जहां से वह बेड़ा चला था। उस समय के छोटे-छोटे जहाजों और समुद्र-यात्रा के अत्यन्त साधारण साधनों की तुलना में यह एक आश्चर्यजनक सफलता थी। इस तरह यह भी निश्चित हो गया कि संभावित दक्षिणी जलमार्गों में से दक्षिण-पश्चिम की ओर से जाने वाला जलमार्ग सबसे अधिक कठिन और चक्करदार है। इसलिए व्यापारिक दृष्टि से यह कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता।

इस प्रकार इन तीनों (भौगोलिक, धार्मिक और राजनीतिक) कारणों ने मिलकर इंग्लैण्ड और हालैण्ड को खुले आम पोप के घोषणा-पत्र का विरोध करने के लिए लाचार कर दिया। भौगोलिक कारण यह था कि इंग्लैण्ड और हालैंड उत्तरी जलमार्ग ढूंढने में निराश सिद्ध हुए थे। धार्मिक दृष्टि से वे पोप की आत्मिक-सत्ता का विरोध करते थे। स्पेन ने १५८० में बलपूर्वक पुर्तगालियों के राज्य पर अधिकार करके राजनीतिक कारण भी उपस्थित कर दिया था। इस तरह इस प्रश्न का रूप ही बदल गया था। १३८६ की वेस्ट मिन्स्टर संधि से लेकर अब तक इंग्लैण्ड और पुर्तगाल के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे थे। संयुक्त नीदरलैण्ड भी लिस्बन के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करता रहा था। वहां से जहाजों पर लदकर पूर्वी मंडियों का माल एन्टवर्प (Antwerp) जाता था और उत्तरी यूरोप के बन्दरगाहों के बीच बांट दिया जाता था। १५८० के बाद लिस्बन का बन्दरगाह, जो इस समय फ़िलिप द्वितीय की प्रादेशिक सत्ता के अधीन था, निम्नदेशों (Low Countries) के विद्रोहियों के लिए बन्द कर दिया गया। इंग्लैण्ड की महारानी एलिज़ाबेथ को अपने देशवासियों, व्यापारियों और समुद्री लुटेरों द्वारा बाध्य किये जाने पर, स्पेन से खुले आम युद्ध करना पड़ा। १५७९ में, फ़्रांसिस ड्रेक पूरे विश्व का चक्कर लगाता हुआ दक्षिण-पश्चिमी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्ग से पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह में माल्युकस (Moluccas) अथवा गरम मसालों के द्वीपों तक पहुंचा। बताया जाता है कि उसने टरनेट (Ternate) के मुख्य अधिकारी के साथ सन्धि भी की। उसी दिन से यह माना जाने लगा कि इंग्लैण्ड और हालैण्ड हिन्द महासागर में पुर्तगालियों के प्रभुत्व को खुली चुनौती देंगे। स्पेन तो (इस शर्त पर कि डच हिन्द-द्वीप-समूहों की जलयात्रा करना छोड़ दें) १६०७ में ही संयुक्त प्रान्त (United Provinces) पर से अपना अधिकार हटा लेने को भी तैयार हो गया। अंग्रेजों और डचों ने एक साथ ही पुर्तगाली एकाधिकार पर आक्रमण किया। अब देखना यह था कि दोनों में से कौन-सा राष्ट्र अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहले पहुंचता है। इस संघर्ष में कभी इंग्लैण्ड का पलड़ा भारी होता, कभी हालैण्ड का। अपने लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग में आने वाले दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक उतार-चढ़ाव का विस्तृत विवेचन करने के लिए यहां यथेष्ट स्थान नहीं है। तथापि संक्षेप में उन घटनाओं का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है : कुछ वर्षों के अन्तर से ही दोनों राष्ट्रों की ईस्ट इन्डिया कंपनियां स्थापित हो गयीं। अंग्रेजी कम्पनी की स्थापना तो पहले हुई परन्तु कई वर्ष तक, शक्ति और सम्पन्नता में, यह संयुक्त नीदरलैन्ड की बड़ी कम्पनी से पिछड़ी रही। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में दोनों राष्ट्र पुर्तगाल की विरोधक शक्ति का सामना करते हुए अपना मार्ग बनाते रहे। वह बाधा समाप्त हो जाने पर दोनों एक दूसरे के शत्रु हो गये। दोनों ही सुदूरपूर्व (भारतीय प्रदेश की अपेक्षा मलय-द्वीप-समूह) पर अधिकार करना चाहते थे क्योंकि इसमें लाभ अधिक था। इस उद्देश्य में सफलता डचों को ही मिली। सत्रहवीं शताब्दी में हालैण्ड की औपनिवेशिक नीति संकीर्ण और एकाधिकार की भावना से पूरी तरह प्रभावित थी। इसी नीति के कारण डचों ने अंग्रेजों को खदेड़ दिया। इस तरह अंग्रेजों को अपनी इच्छा के विरुद्ध विवश होकर वहां से हटकर भारतीय प्रदेश पर अपनी बस्तियां बसानी पड़ीं। उस समय यह कौन जानता था कि भविष्य में भारत के स्वामियों को ही 'पूर्व' का स्वामी बनना था और गरम मसालों के वे आकर्षक द्वीप वास्तव में उन लोगों को पथ-भ्रष्ट करने के लिए मृग-मरीचिका के समान थे, जो उपनिवेश-स्थापना के मार्ग पर बढ़ना चाहते थे। इस प्रकार अपने पूर्वीय इतिहास में डचों से यह एक भयंकर भूल हो गयी। तत्कालीन परिस्थितियों और जानकारी को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय डच अथवा कोई भी दूसरा राष्ट्र उस भूल से बच नहीं सकता था। यह मानना भी उचित न होगा कि एकमात्र इसी पहली भूल के कारण 'पूर्व' पर डचों के बदले अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित हुई। भारतीय डच-शक्ति का अधिकांश यूरोपीय युद्धभूमियों पर ही नष्ट हुआ। यूरोपियन उलझनों के रूप में डच राजनीतिज्ञों के मार्ग में आने वाली असंख्य राजनीतिक बाधाओं की तुलना में अब भी हालैण्ड का पूर्वीय उपनिवेश, जो सुसंगठित भी है और लाभप्रद भी, कोई साधारण सम्पदा नहीं है। यह उपनिवेश, विस्तार और महत्त्व की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि का है। सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजों ने जानबूझकर डचों के नमूने पर ही भारत में अपनी राज-व्यवस्था निर्धारित की। 'कोर्ट' ने १६८७ में लिखा था, "हम, भारत में रहने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाले अंग्रेजों के बीच, पूरी तरह डच-शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहते हैं 'जिससे अच्छी राज-प्रणाली का आविष्कार नहीं हो सकता ताकि आने वाली सन्तति का हित हो, हम भी शक्ति में डचों के समकक्ष हो सकें, अंग्रेजी उपनिवेश को बचा, डरा और बढ़ा सकें और अपने सम्पूर्ण राष्ट्र की शक्ति एक ऐसे नेतृत्व के अधीन संगठित कर सकें जो हमारे अधीन उसी प्रकार रह सके जैसे हम अपने बादशाह के अधिकतम आज्ञाकारी हैं और सदा बने रहेंगे। हमारी और डचों की राज-प्रणाली में एक यही अन्तर रहेगा कि हम सदा अपने पुराने अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग करेंगे, डच शब्दों का नहीं। उदाहरणार्थ 'फिस्कल' के बदले 'एटारनी जनरल' का प्रयोग करेंगे और 'कमाडोर', 'डायरेक्टोर' अथवा 'कमीशरीज़' के बदले 'प्रेसीडेंट' और 'एजेन्ट' का।'[1]

संक्षेप में तत्कालीन घटनाओं की यही रूपरेखा है। पूर्वीय देशों में हालैण्ड का इतिहास ग्रेट ब्रिटेन के इतिहास के साथ ही अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया जा सकता है।

---

१. इंडिया ऑफिस रेकार्ड्स, लेटर बुक नम्बर ८, २८ सितम्बर, १६८७ को फोर्ट सेंट जार्ज भेजा गया पत्र।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : ४ :

लन्दन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जन्म

पहले बताया जा चुका है कि १५७९ में सर फ्रांसिस ड्रेक माल्युकस पहुंचा। उसका वहां पहुंचना भावी घटनाओं का पूर्वाभास था। महारानी एलिज़ाबेथ की फूंक-फूंक कर पैर रखने वाली नीति साहसी अंग्रेजों की दक्षिण अथवा पूर्व की ओर जल-यात्रा करने की उत्कण्ठा को अधिक समय तक दबा न सकती थी। महारानी अब भी उसी नकारात्मक और धीमी नीति का पालन कर रही थी जो उनके शासन-काल के आरम्भ में बहुत लाभदायक सिद्ध हो चुकी थी। वह अब भी प्राय: स्पेन के फ़िलिप का खुलेआम विरोध करने में टालमटोल ही कर रही थीं। १५८० में उन्होंने स्पेन के राजदूत के सामने यह ऐलान कर दिया कि "समुद्र सबके लिए खुला है, उस पर किसी का भी एकाधिकार न तो प्राकृतिक दृष्टि से उचित है और न जन-हित की दृष्टि से।"[1] १५८२ में इंग्लैण्ड ने आशा अन्तरीप का चक्कर लगाकर पुर्तगालियों का एकाधिकार तोड़ने का प्रत्यक्ष प्रयत्न किया। किसी यूरोपीय शक्ति द्वारा किया जाने वाला यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास था। एडवर्ड फेंटन (Edward Fenton) चार जहाज लेकर चला परन्तु वह एक अयोग्य और भाग्यहीन कप्तान सिद्ध हुआ और उसकी यात्रा का बहुत भीषण अन्त हुआ।

अब तक की जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत-भूमि पर रहने वाला पहला अंग्रेज टॉमस स्टीफेंस (Thomas Stephens) था। वह १५७९ में जेसूट कालिज (Jesuit College) गोआ का रेक्टर नियुक्त हुआ। कहा जाता है कि टॉमस स्टीफेन्स द्वारा अपने पिता के नाम लिखे गये पत्रों ने इंग्लैण्ड में पूर्वी देशों के साथ प्रत्यक्ष जानकारी बढ़ाने की भावना को बहुत प्रोत्साहन दिया। १५८३ में फ़िच (Fitch) और न्यूबेरी (Newbery) नामक दो अंग्रेज व्यापारियों ने, एक जौहरी, लीड्स (Leedes) और एक चित्रकार, स्टोरी, (Story) को साथ लेकर स्थल-मार्ग से भारत-यात्रा की। पुर्तगालियों ने उन्हें ओरमुज़ पर कैद कर लिया और बन्दी बनाकर गोआ ले आये। वहां से मुक्त होने पर स्टोरी संन्यासी हो गया, लीड्स ने मुगलों की सेवा स्वीकार कर ली, न्यूबेरी घर लौटता हुआ मार्ग में ही मर गया परन्तु फ़िच बंगाल, बरमा, मलाका और सीलोन (लंका) की साहसपूर्ण यात्राएं करता हुआ १५९१ मे सकुशल अपने घर वापिस पहुंच गया। उसने वहां जाकर अपने देशवासियों के हृदय में पूर्वीय

---

१. हिस्ट्री ऑफ़ एलिज़ाबेथ, विलियम केमडेन, १६७५, पृ० २५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देशों की खोज और उनके साथ व्यापार करने की जिज्ञासा को और भी तीव्र किया।

१५८८ में आरमेडा की हार ने महारानी को भी अधिक साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए विवश कर दिया। कुछ व्यापारियों को अन्तरीप के रास्ते समुद्र-यात्रा का प्रयत्न करने की अनुमति दे दी गयी। १५९१ में जेम्स लंकास्टर (James Lancaster) 'एडवर्ड बोनावेंतुरा' (Edward Bonaventura) नामक बेड़े में कुमारी अन्तरीप और मलय प्रायद्वीप तक पहुंचा। इस बेड़े का नेता, जार्ज रेमांड (George Raymond) अपने जहाज के साथ ही डूब गया। लौटती बार तूफानी हवाओं ने लंकास्टर को ब्राज़ील और पश्चिमी हिन्द-द्वीप-समुह के समुद्र-तट पर ला पटका। यहां उसके कुछ मल्लाहों ने विद्रोह कर दिया और वे जहाज को दूसरी ओर ले भागे। लंकास्टर एक फ़्रांसीसी जहाज में बैठकर इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुआ। वह मई, १५९४ में इंग्लैण्ड पहुंचा। १५९६ में सर राबर्ट डडले (Sir Robert Dudley) ने बेंजमिन वुड (Benjamin Wood) के नेतृत्व में तीन जहाजों का एक बेड़ा भेजा। इसका फिर कोई समाचार न मिला। १५९९ में लन्दन का एक साहसी व्यापारी, जान मिडनल (John Midnall) स्थल-मार्ग से भारत पहुंचा। उसे महारानी एलिज़ाबेथ ने पासपोर्ट दिया था। उसने पूर्वीय देशों में सात साल बिताये। इस अवधि में वह अकबर बादशाह के दरबार (आगरा) में भी गया। उसने अकबर से बहुत ही अनिश्चित मूल्य के कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त किये। बाद में उसने ये अधिकार ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हाथ बेच देने का असफल प्रयत्न किया। यह कम्पनी उसकी अनुपस्थिति में स्थापित हो चुकी थी।

पुरानी तुर्की कम्पनी १५८१ में स्थापित हुई थी। इसका नया नाम 'लेवान्त कम्पनी' (Levant Company) रखा गया। इसे १५९३ में पूर्वी हिन्द-द्वीप-समूह तक स्थल-मार्ग से व्यापार करने की अनुमति मिल गयी थी परन्तु इस व्यापार-मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के कारण इस सुविधा से अधिक लाभ न उठाया जा सका। फलस्वरूप लेवान्त कम्पनी के दो प्रमुख सदस्य इस जानकारी के आधार पर कुछ व्यापारियों को साथ लेकर आगे बढ़े कि १५९६ में एक डच, कारनेलियस हाउटमेन (Cornelius Houtman) आशा अन्तरीप होता हुआ सुमात्रा और बंटम तक यात्रा कर आया था। उन्होंने आशा अन्तरीप के रास्ते जल-मार्ग द्वारा की जाने वाली भारत-यात्रा के लिए चन्दा इकट्ठा किया। २४ सितम्बर, १५९९ को ये लोग एकत्रित हुए। इन्होंने ३०,१३३ पौंड ३ शिलिंग ८ पैंस चन्दे में इकट्ठे किये और महारानी एलिज़ाबेथ से शासन-पत्र (चार्टर) के लिए प्रार्थना की। ऊंची राजनीति के उस लोक में उस समय स्पेन के साथ होने वाली पुरानी लड़ाई का अन्त करने के लिए युद्ध-विराम-सम्बन्धी प्रस्ताव विचाराधीन थे। इसलिए सरकार थोड़े से व्यापारियों की प्रार्थना स्वीकार करके समझौते की सब सम्भावनाएं नष्ट नहीं करना चाहती थी। अगले वर्ष सन्धि-प्रस्ताव तहस-नहस हो गये। अब वातावरण व्यापारियों के पक्ष में था। फलतः एक वर्ष पूरा होने से एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिन पहले, २३ सितम्बर, १६०० के दिन वे साहसी व्यक्ति फिर फाउन्डर्स हाल में इकट्ठे हुए। उन्होंने अपने चन्दे की निधि दुगनी से भी अधिक करके ६८,३७३ पौंड तक पहुंचा दी और जहाज खरीद लिये। उन्होंने 'पूर्व' में केवल उन स्थानों पर व्यापार करने की अनुमति मांगी थी जहां स्पेन अथवा पुर्तगाल वालों का "कोई गढ़, दुर्ग, लकड़ी का किला अथवा किले का अधिकारी न था।" इस प्रकार उन्होंने पोप की घोषणा पर आधारित अधिकार की तो उपेक्षा की परन्तु प्रभावपूर्ण कब्जे के नियम स्वीकार किये। १६०० में, वर्ष के अन्तिम दिन "दि गवर्नर एण्ड कम्पनी आफ़ मरचेन्ट्स आफ़ लन्दन ट्रेडिंग इन्टू दि ईस्ट इंडीज़" (पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार करने वाले लंदन के व्यापारियों की गवर्नर और कम्पनी) के नाम से ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई।

कम्पनी के साझीदारों की संख्या २१७ थी। प्रथम गवर्नर, टॉमस स्माइथ (Thomas Smyth) और चौबीस कमेटियां (अर्थात् समिति-सदस्य) चार्टर द्वारा नियुक्त कर दिये गये थे। बाद में उन्हें प्रति वर्ष चुना जाना था। इस कम्पनी को पन्द्रह वर्ष तक भारत के साथ व्यापार करने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार, उस मार्ग का यह प्रथम महान् चरण था जिसे ग्रेट ब्रिटेन को महान् पूर्वी साम्राज्य के लक्ष्य तक पहुँचाना था। एक क्षण के लिए यहां ठहर कर उस कार्य की गुरुता का अनुमान लगा लेना उचित ही होगा जो उन दृढ़-हृदय तथा साहसी व्यापारियों के सामने था। इसके लिए हमें बाद में होने वाली ऐतिहासिक घटनाओं को भूल कर इस समस्या का उसी रूप में सामना करना पड़ेगा जिस रूप में उन व्यापारियों ने किया था। इस पथ पर पहला कदम बढ़ाने के लिए असाधारण साहस की आवश्यकता थी। वे लोग पूर्वी देशों से भली प्रकार परिचित न थे। उन्हें तो, केवल फ़िच और स्टीफ़ेंस की रिपोर्ट और लिन्सचोटन नामक एक डच यात्री के (जो १५८३—८९ तक गोआ में रहा था) ग्रन्थों के अनुवाद पर ही निर्भर रहना था। १६०४ तक स्पेन के साथ शान्ति-सम्बन्ध भी स्थापित न हो सका था अतः ये यात्री जानते थे कि उन्हें स्पेन और पुर्तगालियों के निश्चित विरोध का सामना करना पड़ेगा। पुर्तगालियों ने तो लगभग एक शताब्दी तक भारतीय समुद्रों पर विधिवत् अधिकार का उपभोग किया था। यह भी निश्चित था कि डच भी भयंकर विरोधी सिद्ध होंगे। बड़ी संयुक्त डच कम्पनी (दी ग्रेट यूनाइटिड डच कम्पनी) तो १६०२ तक स्थापित नहीं हुई थी फिर भी नीदरलैण्ड्स की अनगिनत प्रान्तीय कम्पनियों ने १५९५ और १६०१ के बीच में साहसी यात्रियों के लगभग पांच दल पूर्वी देशों की ओर भेजे। इन दलों के साथ जाने वाले कुल जहाजों की गिनती ६५ थी।

अस्तु, लन्दन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सामने एक कठिन काम था। उसे भारतीय समुद्रों और समुद्र-तटों की खोज करके उनके नक्शे तैयार करने थे, अत्यन्त परिश्रम से एक निश्चित व्यापार-प्रणाली तय करनी थी, वस्तुओं और व्यापारिक माल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की परख करनी थी। उन कार्यकर्त्ताओं तथा सहायकों को उचित शिक्षा देकर अनुशासन में रखना था और अपने नवीन प्रोटेस्टेंट प्रतियोगी और इंग्लैण्ड के कैथलिक शत्रु की परम्परागत शत्रुता का भी वीरता के साथ सामना करना अथवा उसे शान्त करना था। इसके अलावा, उसे अपने देश में भी अपने लिए उचित स्थान बनाना था। अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी वह पहली संस्था थी जिसने व्यक्तिगत प्रयत्न के बल पर भारत के साथ व्यापार किया। पूर्वीय देशों में होने वाली पुर्तगालियों की सफलताओं का आधार राज-संरक्षण था। संयुक्त नीदरलैण्ड्स के राज्य डच कम्पनी के सहायक और संरक्षक थे। इन्होंने कम्पनी के माध्यम द्वारा नित नये उत्साह से हिन्द महासागर में स्पेन वालों के साथ अपना अनवरत झगड़ा जारी रखा। महारानी एलिज़ाबेथ ने, स्पेन के साथ होने वाली, समुद्री लड़ाई और आरमेडा के आतंक से इंग्लैण्ड की रक्षा तक का भार मुख्य रूप से व्यक्तिगत साहस और शूरवीरता पर छोड़ दिया था। इसी प्रकार पूर्वीय देशों की ओर किये जाने वाले इंग्लैण्ड के प्रारम्भिक प्रयत्नों को भी राज्य की ओर से कोई सक्रिय सहायता न मिली। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पोषण व्यक्तित्व के शीतल परन्तु उत्साहवर्द्धक वातावरण में हुआ। उसे मूल्यवान् धातुओं के निर्यात और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में प्रचलित पुराने मध्यकालीन मिथ्या विश्वास का भी सामना करना था। वह तो केवल व्यापारियों के उद्योग और सहयोग पर निर्भर थी और व्यापारी अपनी पूंजी का तुरन्त और लाभदायक फल चाहते हैं। हानि की सम्भावनाएं बहुत अधिक होने पर भी भारतीय यात्राओं का फल प्रायः लाभदायक तो था परन्तु तुरन्त प्राप्त होने वाला कभी न था। तूफानी आंधियों और शत्रुओं के आक्रमणों से बचे रहने वाले जहाज को भी वापिस लौटने में कम से कम दो बरस लग जाते थे। आरम्भ में जहाजी बेड़े अलग-अलग यात्रा करते थे। उस समय प्रत्येक दल पूंजी एकत्रित करने वाले साझीदारों के किसी विशेष समुदाय द्वारा भारत भेजा जाता था। भारत से लौटने पर उस यात्रा से मिलने वाले धन का लेखा-जोखा होता था और लाभ का बंटवारा कर लिया जाता था। प्रत्येक प्रयत्न स्वतन्त्र होने के कारण हानि अथवा लाभ का औसत फैलाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। लगभग ५० वर्ष के अनुभव के बाद कम्पनी ने आधुनिक ढंग की सम्मिलित पूंजी प्रणाली को स्थायी रूप से अपना लिया।

कम्पनी की पहली समुद्र-यात्रा का फल सौभाग्यपूर्ण रहा। इस बेड़े में पांच जहाज थे। दल का नेता, जेम्स लंकास्टर १३ फरवरी, १६०१ को रवाना हुआ और सुमात्रा से अचिन (Achin) नामक स्थान पर पहुंचा। उसने वहां के बादशाह को महारानी एलिज़ाबेथ का एक पत्र दिया। मूल्यवान वस्तुओं से लदे एक जहाज पर अधिकार करके और बंटम में एक कारखाना खोलकर लंकास्टर सितम्बर, १६०३ में इंग्लैण्ड लौटा। दूसरे दल का नेता, मिडल्टन (१६०४—६) बैंटम, गरम मसालों के द्वीप, अम्बोयना (Amboyna), टरनेट (Ternate) और टिडोर (Tidore) पहुंचा। उसे डचों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। प्रान्तीय कम्पनियों के एकीकरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बाद नीदरलैण्ड्स की बड़ी संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी[1] के समय से ही डच अनवरत रूप से गरम मसालों के द्वीपों के व्यापार पर अपना एकाधिकार जता रहे थे। तीसरी यात्रा इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रही कि इसी बार यात्रियों का दल सर्वप्रथम भारत-भूमि पर उतरा। १६०८ में केप्टेन हाकिन्स (Captain Hawkins) ने सूरत पर लंगर डाला। और आगरे में जहांगीर के दरबार में गया। बादशाह ने उसका स्वागत किया और अंग्रेजों को सूरत में बस जाने की अनुमति दे दी। परन्तु भारतीय पुर्तगाली पर्याप्त प्रभावशाली थे। उनके विरोध के फलस्वरूप ही वह आज्ञा-पत्र रद्द कर दिया गया। हाकिन्स ढाई बरस तक आगरे में रह कर व्यर्थ प्रतीक्षा करता रहा। उसने जहांगीर के सुझाव पर एक अमरीकन महिला के साथ विवाह कर लिया। वह आशा के विरुद्ध आशा करता रहा। उसने कम्पनी को लिखा, "मुझे अपना घोंसला बनाना है और आपकी सेवा करनी है।" अन्त में सब तरह निराश होकर वह समुद्र-तट तक पहुंचा और जनवरी, १६१२ में एक अंग्रेजी जहाज से वापिस लौट गया।

१६१२ में कम्पनी के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त होता है। इसी वर्ष नवां और अन्तिम स्वतन्त्र दल समुद्र-यात्रा के लिए गया[2] और कैप्टेन बेस्ट ने स्वाली (Swally) के पार पुर्तगालियों पर समुद्री विजय पायी। यह ईस्ट इन्डिया कम्पनी की एक निश्चित तथा सशस्त्र विजय थी, जो उसने किसी यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी पर प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, टॉमस आल्डवर्थ (Thomas Aldwarth) की दूरदर्शितापूर्ण नीति के कारण इसका फल तो यह हुआ कि अंग्रेजों को सूरत में अपना कारखाना स्थापित करने की भी आज्ञा मिल गयी। अपने जीवन के पहले बारह वर्षों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को साधारण सफलता मिली। १६१२ तक भारत-भूमि पर अंग्रेजों का कोई स्थायी अड्डा न बन सका था। इतना ही नहीं, पूर्वी द्वीपों में भी उनकी शक्ति डचों की तुलना में कम थी। उन्होंने लाल सागर में भारतीय जहाजों को लूटकर अपनी साख बहुत ही कम कर ली थी। दूसरी ओर उनके लाभ अनियमित होकर भी बहुत अधिक थे। १६०९ में कम्पनी को दिये गये दूसरे चार्टर द्वारा मानो क्राउन (राजछत्र) और राष्ट्र ने कम्पनी की प्रगति का अनुमोदन कर दिया। अब अनेक नोबल (कुलीन) भी कम्पनी के सदस्य बन गये। दूसरे चार्टर के अनुसार कम्पनी को सदा के लिए व्यापार करने का अधिकार मिल गया। हां, शासन के लिए हानिकारक सिद्ध होने पर उसे तीन वर्ष का नोटिस देकर तोड़ा जा सकता था।

अब कम्पनी को नई कठिनाइयों और कष्टों में प्रवेश करना था। भारत-भूमि

---

१. यह संयुक्त ईस्ट इन्डिया कम्पनी प्रान्तीय कम्पनियों का ही सम्मिलित रूप थी। इसकी पूंजी अंग्रेजी कम्पनी से अठगुनी थी।

२. १६१२ (अन्तिम स्वतन्त्र यात्रा की तिथि) और १६५७ (जब स्थायी रूप से सम्मिलित पूंजी-प्रणाली को स्वीकार कर लिया गया) के बीच में कभी अस्थायी रूप से साझेदारी में और कभी विशेष अथवा सामान्य यात्राएं होती रहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर पैर जमाने के लिए उसे पुर्तगालियों से कई लड़ाइयां लड़नी थीं । उधर गरम मसालों के (मलय) द्वीपों के लिए, जिन्हें सार्वभौमिक रूप से पूर्वी देशों की 'स्वर्ण-भूमि' माना जाता था, डचों के साथ और भी भीषण युद्ध करने थे। इनके अतिरिक्त अपने देश में एकाधिकार का उल्लंघन करने वाले व्यापारियों के कारण होने वाले कष्ट, गृह-युद्ध, व्यापक घृणा और अस्थिर मति वाले व्यग्र नरेशों के पक्षपात उसकी बाट जोह रहे थे। इसीलिए अगले दो सौ वर्षों में कम्पनी को अपना संगठित अस्तित्व और निर्विघ्न व्यापार बनाये रखने के लिए अनेक संघर्ष करने पड़े ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ५

'पूर्व' में अंग्रेज़, डच और पुर्तगाल

कम्पनी की प्रारंभिक बस्तियों के बारे में विस्तार के साथ विचार करने से पहले अंग्रेज, डच और पुर्तगालियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर तनिक दृष्टि डाल लेना लाभदायक होगा। यूरोप के ये तीनों राष्ट्र सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय व्यापार के लिए प्रतिद्वन्द्वी थे। यह स्पष्ट है कि यह रूपरेखा तैयार करने के लिए हमें काल-क्रम के अनुसार उस समय से बहुत पीछे जाना पड़ेगा जो हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है। फिर भी सुगमता की दृष्टि से अपना मुख्य कथा-सूत्र हाथ में लेने से पहले कुछ विशेष तथ्यों को निश्चित शीर्षकों के अन्तर्गत रख देना उचित ही होगा।

यह संघर्ष त्रिमुखी था : पुर्तगालियों तथा डचों के बीच, पुर्तगालियों तथा अंग्रेजों के बीच और डचों तथा अंग्रेजों के बीच। इनमें से पहले रूप के साथ यहां हमारा विशेष सरोकार नहीं। इतना कह देना ही बहुत होगा कि १६०५ में डचों ने पुर्तगालियों से अम्बोयना छीन लिया और धीरे-धीरे उन्होंने गरम मसालों के द्वीपों से उन्हें निकाल दिया। १६३९ में उन्होंने गोआ को घेर लिया, १६४१ में मलाका पर बलपूर्वक अधिकार किया और १६५८ में सीलोन में पुर्तगालियों का अन्तिम मुख्य केन्द्र भी अपने अधीन कर लिया। १६६४ तक उन्होंने अपने प्रतियोगियों को मलाबार तट पर बसी उनकी अधिकांश प्रारंभिक बस्तियों में से निकाल दिया था।

१६०४ में इंग्लैण्ड और स्पेन के बीच शान्ति-संधि हो गयी। इस सन्धि तथा तत्सम्बन्धी शासन-पत्र के अनुसार अब अंग्रेज पुर्तगालाधीन प्रदेशों में जाकर अड्डा नहीं जमा सकते थे। बात यह थी कि १५८०—१६४० तक स्पेन और पुर्तगाल के शासन संयुक्त तो हो गये थे फिर भी इस शासन-पत्र की पहुंच हिन्द-द्वीप-समूहों तक नहीं के बराबर थी। १६११ में एक पुर्तगाली बेड़े ने सर हेनरी मिडल्टन को ताप्ती नदी के मुहाने में प्रवेश करने से रोका परन्तु अगले वर्ष नवम्बर और दिसम्बर में कैप्टेन टॉमस बेस्ट ने दो जहाजों की ही सहायता से पुर्तगालियों को कई मुठभेड़ों में हराया। दिसम्बर १६१४ और जनवरी १६१५ में कैप्टेन निकोलस डाउन्टन ने चार जहाजों के अपेक्षाकृत बड़े बेड़े की सहायता से स्वयं पुर्तगाल के वायसराय को हराकर पहले से भी अधिक निर्णयात्मक विजय पायी। इन पराजयों के कारण भारत के पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों की साख असाध्य रूप से नष्ट हो गयी और देशी शक्तियों को अंग्रेज ही पुर्त्तगालियों की उस साख के उत्तराधिकारी के रूप में दिखाई देने लगे। १६२२ में अंग्रेज फ़ारस के शाह के साथ मिल गये और उन्होंने फ़ारस की खाड़ी में स्थित ओरमुज़ छीन लिया। इसके लिए उन्हें पुरस्कारस्वरूप गोम्ब्रून

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

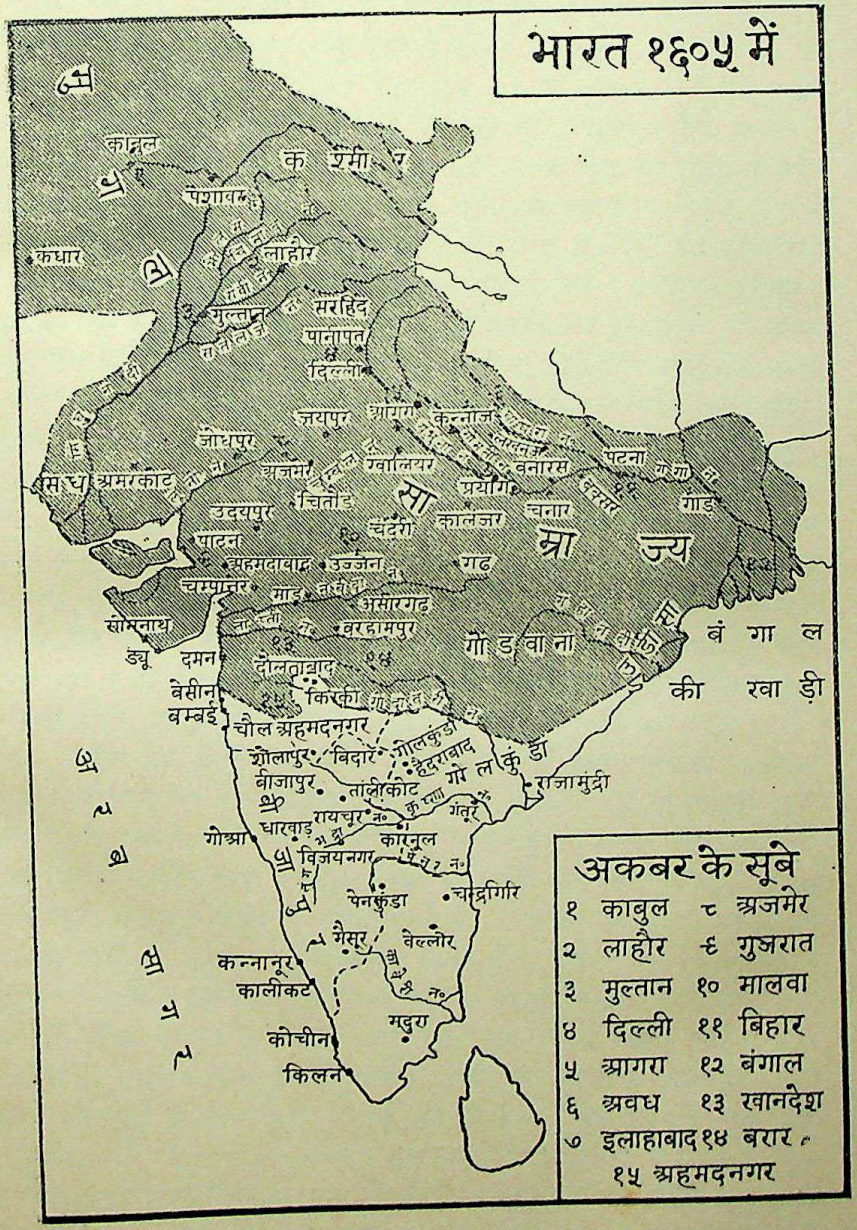

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(Gombroon) में रहने और चुंगी में मिलने वाले धन का आधा भाग प्राप्त करने का अधिकार मिल गया । अब पुर्तगाल अंग्रेजों का भयंकर प्रतियोगी नहीं रहा था । १६३० में मेड्रिड की संधि (Treaty of Madrid) में यह ऐलान किया गया कि इन दोनों देशों को 'पूर्व' में युद्ध नहीं करना चाहिए । इस सम्बन्ध में क्रियात्मक रूप से अधिक महत्व तो उस प्रतिज्ञा-पत्र का था जिस पर सूरत के अंग्रेज प्रेसीडेंट मेथवाल्ड (Methwald) और गोआ के वायसराय ने १६३४ में हस्ताक्षर किये थे । इस प्रतिज्ञा-पत्र ने तो वास्तव में भारत में अंग्रेजों और पुर्तगालियों के पारस्परिक व्यापार-सम्बन्धों का भार ही अपने ऊपर ले लिया । १६४० में पुर्तगाल ने अपने को स्पेन के शासन से मुक्त कर लिया । इससे अंग्रेजों और पुर्तगालियों की आपसी शत्रुता और भी शान्त हो गयी । इतना ही नहीं, इसने तो मानों पुर्तगालियों और अंग्रेजों के बीच मित्रता और सद्भावना की पुरानी परम्परा का फिर से स्मरण करा दिया । १६४२ में इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम और पुर्तगाल के जॉन चतुर्थ के बीच एक संधि हुई । इसके अनुसार दोनों देशों को परस्पर व्यापार करने की छूट दी गयी और सूरत-गोआ-प्रतिज्ञा-पत्र को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया । अन्त में क्राम्वेल ने, जुलाई १६५४ में एक सन्धि की । इसके अनुसार पुर्तगालियों से इंग्लैन्ड का पूर्वी-हिन्द-द्वीप तक व्यापार करने का अधिकार बलपूर्वक मनवा लिया गया । १६६१ की एक संधि के अनुसार चार्ल्स द्वितीय को ब्रागेन्ज़ा (Braganza) की केथेरीन (Catharine) के दहेज के एक भाग के रूप में बम्बई प्राप्त हुआ । इसी संधि के अनुसार यह भी निश्चित हुआ कि चार्ल्स द्वितीय डचों के विरुद्ध भारत के पुर्तगालाधीन प्रदेशों की रक्षा करेगा ।

इंग्लैण्ड और उसके परम्परागत शत्रुओं, कैथलिक तथा रोमन स्पेन-पुर्तगाली साम्राज्य का पारस्परिक वैर उस शत्रुता की तुलना में कुछ भी नहीं था जो पूर्वी समुद्रों में अंग्रेजों और डचों के बीच थी । कम से कम यूरोप में तो इंग्लैण्ड और उत्तरी प्रोटेस्टेंट, शक्ति (डचों) में अनेक बातों में समानता देखी जा सकती थी । वास्तविक बात तो यह थी कि बहुत जल्दी ही अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया था कि उनके असली शत्रु "हालैण्ड वाले" हैं "पुर्तगाल वाले" नहीं । दूसरी ओर, डच तो 'पूर्व' में अंग्रेजों की उपस्थिति मात्र से ही क्षुब्ध थे । पुर्तगालाधीन प्रदेशों पर आक्रमण करके तो मानो डच, स्पेन की शक्ति के विरुद्ध अपना स्वाधीनता-संग्राम जारी रखना चाहते थे । सर विलियम हंटर ने लिखा है : "हालैण्ड ने अपने निराशाजनक स्थल-विद्रोह को विजयी समुद्र-युद्ध में बदल दिया ।"[1] इस युद्ध की सीमा उसने सुदूरपूर्व तक बढ़ा दी । हालैण्ड नहीं चाहता था कि विजय के पुरस्कार में कोई तीसरा भागीदार भी हो । १६०७ में उसके अभिमानी शत्रु, स्पेन, ने यूरोप में स्वतन्त्रता की स्वीकृति के मूल्य पर डचों का भारत-त्याग खरीदने का असफल प्रयत्न किया था । १६०९ में १२ वर्षके लिए एक सन्धि करनी पड़ी । अब डच अंग्रेजों के प्रति अपना वैर प्रदर्शित करने के लिए स्वतन्त्र थे । वे अब माल्युकस में व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त करने (जिसे वे पुर्तगालियों से अपनी विजय के पुरस्कार के रूप में लेना चाहते थे) के लिए किये

१. ए हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इन्डिया, खंड १, पृ० २३७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने वाले आन्दोलन की योजना बनाने और उसका विकास करने के लिए भी स्वतन्त्र थे। उधर ऊंचे समुद्रों और कई भारतीय बन्दरगाहों में कुछ समुद्री कप्तानों और ईर्ष्यालु व्यापारी प्रतियोगियों के बीच टकराव हो गये। इस अनौपचारिक युद्ध की एक प्रसिद्ध घटना यह थी कि साधारण सी सेना की सहायता से ही नाथेनियल कूरथूप (Nathaniel Courthope) ने चार वर्ष तक (१६१६–२०) एक बंदा (Banda) द्वीप, पुलोरन, की डचों के निरन्तर आक्रमण से रक्षा की। दोनों राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने एक दूसरे का मूल्य कम करने और स्थानीय शक्तियों के साथ मित्रता-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। डच इस बात पर जोर देते थे कि उन्होंने संधि करके माल्यूकस के लगभग सभी छोटे बड़े नरेशों को अपने साथ मिला लिया है। दूसरी ओर अंग्रेज, सर फ्रांसिस ड्रेक की प्रसिद्ध-संसार यात्रा की तिथि से ही, इस प्रदेश पर अपने अधिकार की प्रधानता पर बल दे रहे थे। उन्होंने डचों पर, वहां के मूल निवासियों पर अत्याचार और भय प्रदर्शन करने के भी अभियोग लगाये। इसके अलावा, उन्होंने उचित कारण और पूरे उत्साह के साथ इस विचार का ही कड़ा विरोध किया कि एक दूसरे से बहुत दूर और अलग-अलग बने हुए कुछ 'किलों' का अर्थ पूरे द्वीप-समुदाय पर वास्तविक और प्रभावपूर्ण अधिकार है। पीटर बोथ[1] (Pieter Both) (१६०९—१४) के प्रथम गवर्नर जनरल के रूप में नियुक्त हो जाने पर, वहां की डच शक्ति संगठित और नियमित हो गयी। १६११ में अर्ल आफ सेलिस्बरी (लार्ड हाई ट्रेजरर) की सेवा में भेजे गये प्रार्थना-पत्र में अंग्रेजी कम्पनी ने, यह घोषणा की कि "उन्हें अन्त में अपना मौन भंग करने और अपने कष्टों की शिकायत करने के लिए प्रेरित होना पड़ा है।"[2] १६११ और १६१३—१५ में क्रमशः लन्दन और हेग (Hague) में होने वाली कान्फ्रेंसों में इस दिशा में कोई समझौता न हो सका। इन सम्मेलनों में दोनों कम्पनियों के एकीकरण के सम्बन्ध में तो स्वतन्त्र रूप से अनेक सुझाव सामने आये। एक सुझाव में तो यहां तक कहा गया कि दोनों एक साथ मिलकर चन्दा इकट्ठा कर लें। अंग्रेज अपने प्रतिद्वंद्वियों द्वारा किये जाने वाले अपार सैनिक-व्यय को शंका और असहमति की दृष्टि से देखते थे। इसीलिए जब उनसे इस व्यय में भाग लेने को कहा गया तो उन्होंने उसका बहुत कड़ा विरोध किया। उधर पूर्वीय समुद्रों में १६१९ तक बराबर बदले लिये जाते रहे। जुलाई, १६१९ में अंग्रेजों ने अनिच्छापूर्वक डचों के साथ समझौता कर लिया। वे डचों के साथ मिल गये और उन्होंने पिछली हानि के हरजाने की मांग भी छोड़ दी। अंग्रेजों ने डचों की किलाबन्दी पर होने वाले खर्च में भाग लेना भी स्वीकार कर लिया

---

१. यही वह डच है जिसके नाम पर मारीशस (Mauritius) की प्रसिद्ध चट्टान का नाम पड़ा। १६१६ में वह उस द्वीप से दूर कहीं खो गया था। अंग्रेजी सीरीज़ का प्रथम खंड, दूसरा संस्करण, पृ० १४६ देखिए।

२. फर्स्ट लेटर बुक ऑफ दि ईस्ट इंडिया कम्पनी, सर जी० बर्डवुड तथा डब्ल्यू० फॉस्टर, पृ० ४२९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

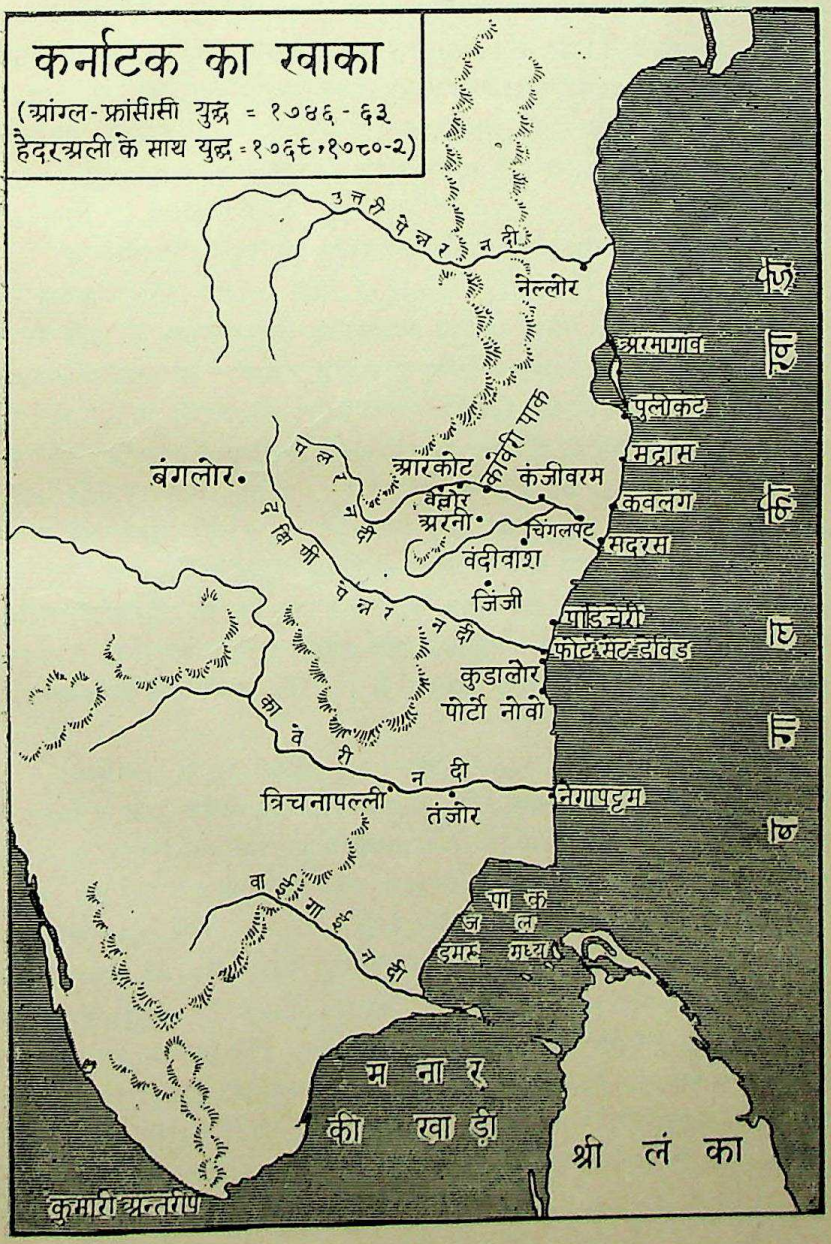

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और बीस जहाजों के उस बेड़े में आधे जहाज अपनी ओर से देने का भी वचन दिया जिसे पूर्वीय समुद्रों में रक्षार्थ गश्त लगाने के लिए 'पूर्व' में रहना था। इन भारी शर्तों की स्वीकृति के बदले अंग्रेजों को, अनिच्छा से ही, व्यापार का निश्चित अंश (अनुपात) दे दिया गया। कम्पनी को मुख्य रूप से जेम्स प्रथम (जो सदा की भांति उस समय भी शान्ति-संस्थापक के नाम से प्रसिद्ध होने का इच्छुक था) के दबाव के कारण ही वह सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। 'पूर्व' में इस संधि के पालन का भार एक रक्षा कौंसिल--"ज्वाइन्ट कौंसिल आफ डिफेन्स इन दि ईस्ट"--पर था। इसमें दोनों कम्पनियों के चार-चार सदस्य थे। इस कौंसिल को हालैण्ड की स्टेट्स जनरल और इंग्लैण्ड के बादशाह के सामने अपील करने का अधिकार था।

इस सन्धि पर, ('पूर्व' में) डचों की प्रतिक्रिया संतोष अथवा उत्साहजनक न थी। अपने सुयोग्य गवर्नर जनरल, कोन (Coen) (जिसने १६१९ में बटाविया की स्थापना की) के अनुयायी डचों का विश्वास था कि अंग्रेज उनकी दया के भिखारी हैं। कोन ने लिखा था: "अंग्रेज पूरी तरह पूर्वी द्वीप-समूह से निकल आये थे। तुमने उन्हें फिर वहां ला बिठाया है। इसके लिए अंग्रेजों को तुम्हारा अत्यन्त आभारी होना चाहिए।"[1] दो साल के अन्दर ही यह एकता बिलकुल नष्ट हो गयी। अंग्रेजों को लंटोर (Lantor) और पुलोरन (१६२१--२२) से अत्यन्त निर्दयतापूर्वक निकाल दिया गया। १६२१ में इस सम्बन्ध में लन्दन में बातचीत आरम्भ हुई। इससे पहले कि डच और अंग्रेज कमिश्नर आपस में कोई समझौता करते, १६२३ के अम्बोयना हत्याकांड के समाचार वहां पहुंच गये। यह हत्या-कांड एक डच उपाधिकारी द्वारा किया गया अत्यन्त निर्दय और अमानुषिक कृत्य था। इसने समझौते की सब सम्भावनाएं नष्ट कर दीं और अंग्रेजों के हृदय में तीव्र और उचित क्रोध के भाव भर दिये।

अम्बोयना के डच गवर्नर, वान स्प्युल्ट (Van Speult) ने कई जापानी सिपाहियों के साथ अंग्रेजी एजेन्ट, टावरसन, और अठारह अन्य अंग्रेजों को कैद कर लिया। इन पर एक डच किले पर अधिकार करने का षड्यन्त्र करने का झूठा अभियोग लगाया गया था। अत्यन्त पाशविक अत्याचारों द्वारा उन लोगों से बलपूर्वक अपराध स्वीकार करा लिया गया था। इसके अलावा उनके विरुद्ध कोई भी प्रमाण न था। इसके विपरीत, डच और अंग्रेजी पुरातत्त्व संग्रहों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि वह कल्पित षड्यन्त्र यदि अंग्रेजी कारखाने को जड़ से उखाड़ने का प्रत्यक्ष उपाय न था तो कम से कम एक मनगढ़न्त रचना अवश्य था। टावरसन, नौ अन्य अंग्रेजों और नौ जापानियों को जान से मार डाला गया। उनके वे सब पत्र आदि भी नष्ट कर दिये गये जिनसे उनका निर्दोष होना सिद्ध हो सकता था। एक प्रार्थना-पुस्तक (प्रेयर बुक या बाइबिल) और कुछ लेजर के पन्नों पर लिखे हुए कुछ करुणापूर्ण और टूटे-फूटे

१. ए हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, खंड १, पृ० ३८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाक्य बच रहे। इन्होंने बाद में इंग्लैण्ड के जनमत को क्रुद्ध करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

वान स्प्युल्ट का यह कुकृत्य केवल एक अपराध ही न था। यह तो एक भयंकर भूल भी थी। प्रिन्स ऑफ आरेन्ज ने खुले आम ऐलान किया कि "कितना अच्छा होता यदि स्प्युल्ट इस दुःखान्त घटना का आरम्भ करते समय अपने सब सलाहकारों के साथ फांसी पर लटका दिया जाता।"[1] परन्तु असीम सार्वजनिक उद्वेग होने पर भी ३१ वर्ष बीतने से पहले डचों से इसका वास्तविक बदला न लिया जा सका। इस समय जेम्स प्रथम नीदरलैण्ड के साथ मित्रता करना चाहता था। कारण यह था कि स्पेन ने जेम्स प्रथम के पुत्र, चार्ल्स का विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। एक बार फिर शासन की नीति कम्पनी की इच्छाओं के विपरीत थी (यद्यपि इस बार कम्पनी की आकांक्षाओं को सारे अंग्रेजी राज्य का समर्थन प्राप्त था)। जेम्स और उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम, दोनों ने शब्दों में तो अवश्य उत्साह दिखाया पर वे उसे क्रियात्मक रूप देने में असफल रहे। ऑलिवर क्राम्वेल कम्पनी का एक सुयोग्य संरक्षक सिद्ध हुआ। उसने १६५४ की वैस्ट मिन्स्टर सन्धि के अनुसार दोनों पक्षों की अधिकारपूर्ण मांगों का प्रश्न चार कमीशनों पर छोड़ दिया। कमीशनों के नाम दोनों ओर से निर्धारित किये जाने थे। इनकी बैठक लन्दन में होनी निश्चित हुई। परस्पर मतभेद होने पर वे स्विट्जरलैण्ड की कैन्टन्स (Cantons) से अपील कर सकते थे। कमिश्नरों ने पुलोरन अंग्रेजों को दिलवा दिया और उन्हें ८५,००० पौंड कम्पनी की क्षतिपूर्ति के रूप में और ३,६१५ पौण्ड की निधि अम्बोयना में हानि उठाने वालों के उत्तराधिकारियों के लिए दिलवा दी।

'पूर्व' में (गरम मसालों के द्वीपों में) डच-प्रभुता सुरक्षित ही रही। अंग्रेज १६६७ तक पुलोरन पर अपने अधिकार की बराबर मांग करते रहे। उन्होंने १६२८ में बंटम में एक कारखाना भी खोल लिया (जिसका अस्तित्व १६८२ तक कष्टमय ही रहा)। १८२४ तक उन्होंने सुमात्रा में बेनकूलन (Bencoolen) में एक प्रेसीडेन्सी भी बनाये रखी। तथापि उन्होंने १८११ से पहले (जिस वर्ष लार्ड मिन्टो ने जावा पर विजय प्राप्त की) कभी भी गम्भीरतापूर्वक मलय द्वीप-समुदाय में डचों की स्थिति को चुनौती न दी थी। अस्तु, अंग्रेज उस प्रदेश में तो अपना उपनिवेश स्थापित न कर सके परन्तु इस प्रकार उनके लिए एक अधिक विस्तृत और महान् सौभाग्य का द्वार खुल गया।

---

१. कैलेंडर ऑफ स्टेट पेपर्स, ईस्ट इंडीज़, (१६२२–२४) संपादक डब्ल्यू० एन० सेन्सबरी पृ० ३३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ६

भारत में पहली व्यापारिक बस्तियाँ

पहले कहा जा चुका है कि गरम मसालों के द्वीपों में अंग्रेजों का सौभाग्य-सूर्य डचों की तुलना में धुँधला पड़ गया था। इसी दौरान में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानेदार और एजेन्ट, अनेक कठिनाइयों और निराशाओं की उपस्थिति में भी, भारतीय बन्दरगाहों के साथ व्यापार आरम्भ कर रहे थे और कारखाने खोलने के लिए आज्ञा प्राप्त करने का भी बराबर प्रयत्न कर रहे थे। कारखाने उनकी व्यापार प्रणाली के अनिवार्य अंग थे। हम देख चुके हैं कि १६०८ में पुर्तगालियों के विरोध के कारण कैप्टेन हॉकिन्स सूरत में न बस सका था। १६१२ में ताप्ती नदी के मुहाने के पार होने वाली समुद्री लड़ाई में कैप्टेन बेस्ट की विजय हुई। इस विजय ने परिस्थिति को दूसरा ही रंग दे दिया। थामस आल्डवर्थ (Thomas Aldworth) द्वारा जहाँगीर से ली गयी अनुमति के आधार पर वहां एक अंग्रेजी कारखाना स्थायी रूप से खोल दिया गया। थामस आल्डवर्थ के शब्दों में "यह कारखाना हिन्द द्वीप-समूह के सबसे अधिक मूल्यवान् और सर्वश्रेष्ठ व्यापार को खोलने वाली एकमात्र कुंजी"[1] था। इस प्रकार एक कदम जम जाने के बाद धीरे-धीरे देश के भीतरी भागों के साथ भी व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हो गये और इलाहाबाद, बुरहानपुर, और मुग़ल साम्राज्य के हृदय — अजमेर और आगरा में कम्पनी की आश्रित एजेन्सियां कायम कर दी गयीं।

प्राप्त सुविधाओं से अधिकतम लाभ उठाने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मुग़ल बादशाह के दरबार में रहने के लिए "असाधारण महत्व और आदरयुक्त" एक राजदूत भेजने का बुद्धिमत्तापूर्ण निश्चय किया। उन्होंने इस पद के लिए "गम्भीर, धीरबुद्धि, प्रशंसा-प्राप्त, विद्वान्, उद्यमी और आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्न"[2] सर थामस रो को चुना। उसकी नियुक्ति के लिए जेम्स प्रथम की स्वीकृति ली गयी। राजदूत के वेतन और भत्ते कम्पनी की ओर से दिये जाने थे इसलिए स्वीकृति सरलता से ही मिल गयी। रो फरवरी १६१५ में जहाज द्वारा रवाना हुआ। सितम्बर में सूरत पहुंचने पर उसे पता चला कि उस वर्ष के आरम्भ में पुर्तगालियों पर होने वाली डाउन्टन की विजय ने, अंग्रेजों को, मुग़ल सरकार की आंखों में गिरा ही दिया है। शाहजादे खुर्रम (बाद में

---

१. लेटर्स रिसीव्ड बाई दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी फ्राम इट्स सर्वेन्ट्स इन दि ईस्ट, खंड १, संपादक एफ० सी० डानवर्स, पृ० २३८।

२. दि एम्बेसी ऑफ सर थॉमस रो, सम्पादक डब्ल्यू. फॉस्टर, हक्ल्युत सोसाइटी खंड १, भूमिका, पृ० चार।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बादशाह शाहजहां) के नेतृत्व में जहाँगीर के दरबार में एक शक्तिशाली दल संगठित हो गया था जो पुर्तगालियों के पक्ष में था और अंग्रेजों को सूरत से निकलवाने का प्रयत्न कर रहा था। रो जहांगीर की कृपा पाने में सफल हुआ। वह तीन वर्ष तक इंग्लैण्ड के बादशाह के एक मान्य राजदूत के रूप में अजमेर, मांडू या इलाहाबाद में रहा। वह अपनी आशा के अनुसार, विधिवत् और निश्चित सन्धि प्राप्त करने में तो असफल रहा परन्तु उसे मुग़ल साम्राज्य के कुछ नगरों में कारखाने स्थापित करने की आज्ञा मिल गयी। इतना ही नहीं, उसने तो अपनी राजनीतिक प्रतिभा और बुद्धि-कौशल से मुगलों के हृदय में, एक राष्ट्र के रूप में, अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा भी उत्पन्न कर दी। उसका सबसे बड़ा काम तो यह था कि उसने कम्पनी के लिए एक ऐसी नीति निर्धारित की जो आक्रमण की भावना से रहित और बिल्कुल व्यावसायिक थी। कम्पनी ने सत्तर वर्ष तक इस नीति का पालन किया। रो पुर्तगालियों की सैनिक व्यापारिक नीतियां पसन्द न करता था। उसका विश्वास था कि वे नीतियां उनका समस्त मुनाफा निगल जाती हैं। "अनेक धन-पूर्ण ठिकानों और प्रदेशों के होते हुए भी यह पुर्तगाल की निर्धनता ही है कि तुच्छ दुर्गों की रक्षा के लिए उसने अतिव्ययी सैनिक रख छोड़े हैं। जबसे वह हिन्द-द्वीप-समूह की रक्षा करने लगा है उसी समय से उसे इन द्वीपों से कोई लाभ नहीं हो सका है। यह बात विचारणीय है। डचों की भी यही भूल रही कि वे यहां तलवार के बल पर बस्तियां बसाना चाहते हैं। उनका संचय आश्चर्यजनक रहा है, वे सब स्थानों तक पहुंच भी गये हैं, कुछ सर्वश्रेष्ठ स्थान भी उनके अधिकार में हैं परन्तु उनके निष्प्राण लेनदार उनका सब मुनाफा खा जाते हैं। इस बात को तो सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि यदि मुनाफा कमाने की इच्छा हो तो वह समुद्र में और शान्तिपूर्ण व्यापार से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह भी निर्विवाद है कि भारत में दुर्ग अथवा स्थल-युद्धों को साधन बनाना भूल ही है।"[1] रो ने भली प्रकार कम्पनी की सेवा की। उसका यह दावा सत्य ही था कि "सब कामों में तुम्हारे प्रति मेरी ईमानदारी निष्कलंक रही है, मेरा निःस्वार्थ भाव अनुपम है और मेरी मित-व्ययिता तुम्हारी आशा से कहीं अधिक रही है।"[2] उसने फ़रवरी, १६१९ में भारत छोड़ा।

इस समय से सूरत के अंग्रेजी कारखाने ने 'पूर्व' में अंग्रेजों की मुख्य बस्ती का रूप धारण कर लिया। यहां तक कि १६३० में बंटम को भी इसके अधीन कर दिया गया। कोर्टेन के एसोसियेशन[3] द्वारा होने वाली लूट (१६३६—४९) ने और राजापुर के प्रतियोगी कारखाने ने इस पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। १६५७ में इसकी स्थिति सुधर गयी और यह १६८७ तक 'पूर्व' में कम्पनी का मुख्य केन्द्र बना रहा। १६८७ में सूरत का यह स्थान बम्बई ने ले लिया।

१. वही, खंड २, पृ० ३४४।
२. वही पृष्ठ ३४३।
३. देखिए आगे पृष्ठ ३०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्वी समुद्र-तट पर कैप्टेन हिपन (Captain Hippon) १६११ में कृष्णा नदी के डेल्टे में पत्तापोली (Pettapoli) नामक स्थान पर उतरा। उत्तर की ओर बढ़ते हुए उसने गोलकुंडा के मुस्लिम राज्य के बन्दरगाह मछलीपट्टम (Masulipattam) में एक कारखाना खोला। कुछ वर्ष तक तो यह कारखाना फूला फला परन्तु १६२४ के बाद से डचों के विरोध और उनके "अशिष्ट आघातों" के कारण इसकी दशा बराबर बिगड़ती गयी। अंग्रेज कारखानेदारों ने १६२८ में यह स्थान भी छोड़ दिया और दो वर्ष बाद वहां पुनः लौट आने पर भी वे ऐसे ठिकाने की खोज करते रहे जहां वे यूरोपीय प्रतियोगियों से सुरक्षित रह सकें। १६४० में मछलीपट्टम कौंसिल के एक सदस्य, फ्रांसिस डे, ने एक साधारण हिन्दू राजा से भूमि का एक टुकड़ा ले लिया। यह स्थान मछलीपट्टम से कोई २३० मील दक्षिण में स्थित था। उसने वहां कारखाना खोलने की आज्ञा भी प्राप्त कर ली थी। इस टुकड़े पर उसने सेंट जार्ज के नाम से एक किलेबन्द कारखाना स्थापित किया। कुछ ही वर्ष में इस सुरक्षित कारखाने की तोपों के चारों ओर मद्रास नगर बस गया। यह नया नगर 'सफेद नगर' और 'काला नगर' नामक दो भागों में बंटा था। 'सफेद नगर' यूरोपियनों की बस्ती थी और 'काला नगर' में भारतीय व्यापारी और जुलाहे बसे हुए थे। 'कोर्ट आफ कमिटीज़' ने आरम्भ में इस नयी बस्ती पर किये जाने वाले व्यय को विरोध भरे नेत्रों से देखा। उन्होंने इसके संस्थापक का नाम भी ब्लैक बुक (वह किताब जिसमें उन्हें नाराज करने वालों के कारनामे लिखे जाते थे) में लिख लिया। शीघ्र ही फोर्ट सेंट जार्ज ने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी और इसने १६४२ में कोरोमंडल-तट की मुख्य व्यापारिक बस्ती के रूप में मछलीपट्टम का स्थान ले लिया। इतना होने पर भी १६५३ तक यह बंटम के अधीन ही रहा। उस वर्ष इसे एक स्वतन्त्र एजेन्सी बना दिया गया।

इसी बीच अंग्रेज उत्तर की ओर बढ़ते हुए उड़ीसा और बंगाल में अपनी पहली व्यापारिक बस्तियां बसा चुके थे। १६३३ में राल्फ कार्टराइट (Ralph Cartwright) ने मछलीपट्टम से चलकर, महानदी के डेल्टे में हरिहरपुर तथा बंगाल और उड़ीसा के बीच में सीमा पर स्थित बालासोर नामक स्थान पर अपने ठिकाने स्थापित किये। कई वर्ष तक अंग्रेज अत्यन्त कठिनता से केवल इन स्थानों पर ही अधिकार बनाये रख सके। उन्हें पुर्तगालियों और डचों के भयंकर आक्रमणों और मलेरिया के प्राणघातक प्रकोपों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार उन्होंने बड़ी संख्या में जन-हानि भी सही। वास्तव में केवल मद्रास के संस्थापक, फ्रांसिस डे, की दूर-दर्शिता के कारण ही १६४२ में बंगाल के कारखाने पूरी तरह उनके हाथ से निकलने से रह गये। कम्पनी के 'होपवेल' (Hopewell) नामक जहाज के सर्जन गेब्रियल बॉटन (Gabrial Boughton) के प्रयत्नों के फलस्वरूप अंग्रेजों की स्थिति बहुत सुधर गयी। गेब्रियल बॉटन १६४५ से बंगाल के सूबेदार अथवा वायसराय के साथ दरबारी चिकित्सक के रूप में रहता था। उसने १६५० में अपने संरक्षक से एक लाइसेंस प्राप्त कर लिया। इसके अनुसार कम्पनी उस प्रान्त में व्यापार कर सकती थी। अगले वर्ष हुगली में एक अंग्रेजी कारखाना खुल गया। यहां पुर्तगाली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और डच पहले से ही बसे हुए थे । बंगाल के ठिकानों को अभी और दुर्भाग्य का सामना करना था। वह मद्रास से इतनी अधिक दूरी पर थे कि उन पर भली प्रकार नियन्त्रण नहीं हो पाता था। वहां भेजे जाने वाले कारखानेदार प्राय: नियम-भंग करने लगते थे और बेईमानी के मार्ग पर चल निकलते थे । १६५६ में मद्रास कौंसिल ने बंगाल से बिल्कुल हट जाने का निश्चय कर लिया परन्तु १६५८ में क्राम्वेल के चार्टर के बाद सामान और मनुष्यों की नयी शक्ति पहुंच जाने के कारण उन्हें वह निर्णय बदल देना पड़ा। उसी वर्ष बंगाल और कोरोमंडल-तट की सब बस्तियां फोर्ट सेंट जार्ज के अधीन कर दी गयीं।

उधर, अपने देश में, कम्पनी का सौभाग्य-सूर्य निस्तेज हो रहा था। इंग्लैण्ड का विकासशील लोकप्रिय दल कम्पनी के एकाधिकार का तीव्र विरोधी होता जा रहा था। कम्पनी की, मूल्यवान धातुओं के निर्यात की, नीति को देश के लिए हानिकर माना जा रहा था। सर विलियम हंटर के शब्दों में तत्कालीन राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में "मध्यकालीन परम्परा और राष्ट्रीय पक्षपात का सम्मिश्रण था।"[१] शाही चार्टर पर आधारित होने के कारण यह माना जा सकता था कि कम्पनी का मुख्य सहारा राजछत्र ही होगा परन्तु स्टुअर्ट बादशाह तो अब टूटे हुए सरकंडे के समान था। वास्तव में जब चार्ल्स और पार्लियामेंट दोनों धीरे-धीरे परस्पर जीवन और मृत्यु के निर्णायक संघर्ष की ओर बढ़ रहे थे तो एक तीसरे दल के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थिति, अनुत्साहपूर्ण ही थी। कम्पनी ने हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों को इस बात के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया कि वे लोकप्रिय दल द्वारा राजछत्र के विरुद्ध की गयी शिकायतों में उनकी शिकायतें भी सम्मिलित कर लें। अन्य अवसरों पर उन्होंने पार्लियामेंट में अपील करने की धमकी देकर बादशाह को भी विवश करने का प्रयत्न किया। इन स्पष्ट प्रयत्नों में वे बिलकुल असफल रहे। १६२८ में उन्होंने हाउस ऑफ कामन्स के सामने अपनी शिकायतों के सम्बन्ध में विधिवत् एक प्रार्थना-पत्र रखा। इसे अस्वीकार कर दिया गया। पार्लियामेंट की इस अस्वीकृति के बाद उन्हें चार्ल्स की ओर से भी एक तीव्र आघात सहना पड़ा । १६३५ में कम्पनी पर यह अभियोग लगाया गया कि "उसने केवल अपने तात्कालिक लाभ और सुविधा को आधार बनाकर ही सब कुछ सोचा और किया है। उसने भावी सन्ततियों के लिए हिन्द-द्वीप-समूह में सुरक्षित और स्थायी व्यापार-व्यवस्था की स्थापना के लिए कुछ नहीं किया।"[२] बादशाह ने पूर्वी हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार करने का लाइसेंस एक दरबारी, एन्डीमियन पोर्टर (Endymion Porter) को दे दिया। एक प्रोटेस्टेंट फ्लेमिश व्यापारी के पुत्र और लन्दन के एक बड़े व्यापारी, सर विलियम कोर्टेन (Courteen) अथवा कोर्टीन (Courteen) ने उसे आर्थिक सहायता दी । इस तरह कुछ समय के लिए कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया । कोर्टेन एसोसियेशन ने अपने अन्य देशवासियों अथवा हिन्दू और मुग़ल व्यापारियों के (जिनके साथ वे व्यापार करते

१. ए हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया, खंड २, पृ० २० ।
२. ग्राण्ट टू सर डब्ल्यू० कोर्टेन, दिसम्बर १२, १६३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे) अधिकारों का पूरी तरह ध्यान नहीं रखा। उन्होंने अधिकतम लाभ उठाने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा दी। कम्पनी ने फिर जनवरी, १६४१ में पार्लियामेंट के सामने एक प्रार्थना-पत्र रखा परन्तु चार्ल्स के समझाने पर कम्पनी उसे वापिस लेने के लिए तैयार हो गयी। चार्ल्स ने स्वीकार किया कि इस मामले के साथ "मिस्टर पोर्टर का कोई सम्बन्ध नहीं था। उसका नाम अवश्य लिया गया परन्तु जो कुछ हुआ वह वास्तव में हिज़ मेजेस्टी का ही किया हुआ था।"[1] कोर्टेन के एसोसियेशन ने मडगास्कर में असादा नामक स्थान पर एक व्यापारिक बस्ती बसायी। इसी स्थान के नाम पर ये लोग शीघ्र ही 'असादा व्यापारी' कहलाने लगे। उधर जून, १६४१ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने दीर्घकालीन पार्लियामेंट (Long Parliament) के सामने फिर एक प्रार्थना-पत्र रखा। इस पर भी ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रसिद्ध असेम्बली ने कम्पनी से सम्बन्ध रखने वाला कदम तो केवल यह उठाया कि उसने कम्पनी के जहाजों के अधिकारियों को "सालेम लीग एण्ड कावेनेन्ट" (Solemn League and Covenant) स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। दोनों दलों के बीच होने वाली विनाशकारिणी होड़ १६४९ में समाप्त हुई। उस वर्ष दोनों पक्ष अनिच्छापूर्वक एक 'यूनियन' में सम्बद्ध हो गये। १६५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मूल सदस्य एक बार फिर सम्मिलित व्यवस्था (Joint Stock) के पक्ष में थे। दूसरी ओर 'असादा व्यापारी' कम्पनी को नियमित बनाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, उनका सुझाव था कि कम्पनी के सदस्यों को निजी पूंजी और निजी जहाजों से ही व्यक्तिगत रूप से व्यापार करने दिया जाए। दोनों पक्षों ने कौंसिल आफ स्टेट्स से अपील की परन्तु तीन साल तक कुछ न हुआ। विश्वासपूर्वक यह कहा गया कि १६५७ में क्राम्वेल भारतीय व्यापार को बिलकुल स्वतन्त्र कर देने की संभावना पर विचार कर रहा था। इसी आधार पर कम्पनी ने निराश होकर भारत से बिलकुल हट जाने की धमकी दी।[2] इस धमकी का फल यह हुआ कि क्राम्वेल का ध्यान कम्पनी की उन शिकायतों की ओर गया जो बहुत समय से उसके सामने लायी जा रही थीं। उसने १६५७ में कम्पनी को एक चार्टर दे दिया। इसकी धाराओं के अनुसार कम्पनी ने पहली बार स्थायी संयुक्त व्यवस्था अपनायी और इस प्रकार "कम्पनी अपने मध्यकालीन आधार से आधुनिक आधार तक पहुंची।"[3] इक्यानवें नये कारखानेदार और व्यापारी 'पूर्व' की ओर भेजे गये और वहां की बस्तियों ने जीवन के एक नये प्रांगण में प्रवेश किया।

शाही विशेषाधिकार के वैधानिक प्रयोग पर आधारित होने के कारण कम्पनी 'कामनवेल्थ' और 'प्रोटेक्टरेट' के अधीन सदा असंतुष्ट ही रही। इस प्रकार के आदेश पाकर कम्पनी ने अपने जहाजों पर राज-चिह्न अंकित करा लिये। यह तो हम पहले देख चुके हैं कि उसने अपने उद्देश्य को पार्लियामेंटरी पार्टी के उद्देश्य में

१. इण्डिया ऑफ़िस रेकार्ड्स, कोर्ट बुक नं० १७, पृ० ३८५।
२. वही, नं० २३, पृ ठ ५४६,५५६।
३. ए हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया, सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, खंड २, पृ० १०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिला देने का भी प्रयत्न किया परन्तु ये सब बातें उसी समय हुईं जब और सब उपाय विफल सिद्ध हो गये।

'रेस्टारेशन' (पूर्वावस्था की प्राप्ति) के साथ ही कम्पनी के भाग्य में भी उत्साह-वर्द्धक परिवर्तन हुआ। यद्यपि कम्पनी अब भी राजनीतिक अथवा प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त रहकर केवल एक व्यापारिक संस्था ही बनी रही फिर भी १६६० से ८० तक बीस वर्ष का समय कम्पनी का स्वर्ण-युग माना जा सकता है। उसके माल के मूल्य में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी हुई। वह १६६९ में १३० था, १६७७ में २४५, १६८१ में २८० और १६८३ में ३६० हो गया। १६५९ से १६९१ तक लाभांश (डिविडेंड) की वार्षिक औसत २५ प्रतिशत रही। अपने देश में कम्पनी को राज-संरक्षण और सहयोग प्राप्त रहा। चार्ल्स द्वितीय, अपने पिता की भांति 'कोर्ट आफ कमिटीज़' से रुपया उधार लेता था परन्तु, अपने पिता के स्वभाव के विपरीत, ठीक समय पर वह रुपया लौटा भी देता था। १६६१ से १६८३ तक दिये जाने वाले चार्टरों ने अनेक प्रकार कम्पनी की स्थिति अधिक सुदृढ़ की। इन शासन-पत्रों द्वारा उसे सिक्के ढालने, किलाबन्दी करने, 'पूर्व' में रहने वाली अंग्रेजी प्रजा पर न्यायोचित अधिकार करने और गैर-ईसाई धर्मावलम्बियों के साथ युद्ध, सन्धि अथवा मित्रता स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया। जेम्स द्वितीय और पुर्तगाली राजकुमारी, कैथेरीन ऑफ ब्रागेन्ज़ा के विवाह के फलस्वरूप तो कम्पनी को मानो वह नगर ही मिल गया जिसे आगे चलकर उसकी पश्चिमी प्रेसीडेन्सी का केन्द्र बनना था। कैथेरीन, १६६१ में, दहेज के साथ अपने पति के लिए बम्बई का सर्वश्रेष्ठ बन्दरगाह लायी। गोआ के वायसराय के लिए यह बहुत ही निराशाजनक बात थी। उसने लिखा था : "जिस दिन अंग्रेज बम्बई में बस जायेंगे उसी दिन भारत हमारे हाथ से निकल जाएगा।"[1] चार्ल्स को बम्बई सर्वथा निरर्थक सम्पत्ति जान पड़ा। उसने प्रसन्नतापूर्वक १६६८ में बम्बई १० पौंड वार्षिक किराये पर ईस्ट इंडिया कम्पनी को दे दिया। विचित्र कानूनी शब्दावली में इस प्रकार कम्पनी को वैसा ही अधिकार दे दिया गया "जैसे केंट के सूबे में पूर्वी ग्रीन विच की जागीर निःशुल्क और सार्वजनिक पट्टे पर थी।" धीरे-धीरे बम्बई की प्रसिद्धि और समृद्धि में विकास हुआ। १६८७ में उसने पश्चिमी तट की मुख्य व्यापारिक बस्ती के रूप में सूरत का स्थान लिया।

रेस्टोरेशन-काल के पहले बीस वर्षों में कम्पनी की सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस अवधि में वह यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों से निर्बाध रही। यह सत्य है कि चार्ल्स द्वितीय ने १६६५—६७ और १६७२—७४ में हालैण्ड के साथ दो बार युद्ध किया परन्तु इधर 'पूर्व' में विरोधी शक्तियों का कोई उल्लेखनीय संघर्ष नहीं हुआ। ब्रेदा (Breda) की सन्धि (१६६७) के अनुसार पुलोरन और कुछ अन्य स्थान, उनसे कहीं अधिक मूल्यवान (यद्यपि उस समय इसका यथोचित मूल्य नहीं आंका गया था) न्यू एमेस्टरडम (New Amasterdam) (जिसका नाम बाद में न्यूयार्क पड़ा) उपनिवेश के बदले में, डचों को अन्तिम रूप से दे दिये गये। इधर भारत में डच अपनी शक्ति मुख्य रूप से फ्रांस के विरुद्ध लगा रहे थे। इस तरह इस संकटकाल में

१. दि राइज़ ऑफ बॉम्बे, एस० एम० एडवर्ड्स, पृष्ठ ९१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फ्रांसीसी कम्पनी के विकास में बाधा पड़ जाने से अंग्रेजों का अनायास ही हित साधन हो गया ।

१६८५ के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक बार फिर कष्ट और संकटों के युग में प्रवेश किया। सौभाग्य से भारत में अंग्रेजों के आरम्भिक प्रयत्न उन मुगल बादशाहों के शासन-काल में हुए थे जिन्होंने लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक, कम से कम उत्तरी भारत को तो, एक राजनीतिक सूत्र में बांधे रखा । अन्तिम सुयोग्य मुगल बादशाह, औरंगजेब के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में साम्राज्य, राजनीतिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न होता जा रहा था। प्रान्तीय वायसराय केन्द्रीय सरकार के अनुशासन से स्वतन्त्र हो रहे थे। मरहठों का सब से बड़ा नेता, शिवाजी, अपनी मृत्यु (१६८०) तक खुले आम मुग़लों की सर्वोच्च सत्ता के विरुद्ध लूटमार करता रहा था। शिवाजी से प्रभावित प्रदेश के फैलाव का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १६६४ और १६७० में (जबकि वह सूरत के चारों ओर घेरा डाल चुका था) उसे अत्यन्त कठिनता से सूरत के अंग्रेजी कारखाने की दीवारों से बाहर निकाला गया और १६७७ में जिंजी (Jinji) की ओर विजय-यात्रा करता हुआ वह मद्रास के अत्यन्त समीप से होकर निकला। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश की वह आन्तरिक व्यवस्था और शासन-प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गयी जो लाभदायक व्यापार के लिए अनिवार्य थी। बंगाल में नवाब शाइस्ता खां (१६६४ से ७७ और १६७९ से ८९) अंग्रेजों को सता रहा था। जॉब चारनॉक (Job Charnock) ने १६७८ में कहा था : "समस्त साम्राज्य बहुत ही चिन्ताजनक और दुर्बल स्थिति में है और शक्तिशाली दुर्बलों को लूट रहे हैं।"[1] जीरल्ड आंगिअर (Gerald Aungier) ने अपने एक महत्त्वपूर्ण पत्र में भारतीय स्थिति में होने वाले परिवर्तन का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है : "भारत की स्थिति अब पहले से बहुत बदल चुकी है। पहले विदेशियों, विशेषकर हमारे राष्ट्र वालों के साथ जिस न्याय और आदर के साथ बर्त्ताव किया जाता था वह अब बिलकुल त्याग दिया गया है। बहुत समय तक अत्याचारों का धैर्यपूर्वक सामना करने के फलस्वरूप मिलने वाला कम्पनी और अंग्रेजी राष्ट्र का नाम अब तिरस्कृत हो गया है। हमारी शिकायतें, विरोध, लिखित विरोध-पत्र और धमकियों को भी हँसी में उड़ा दिया जाता है .....हिंसापूर्ण रोगों की चिकित्सा हिंसापूर्ण उपचार से ही सफल हो सकती है..... .समय की मांग है कि तुम अपने हाथ में तलवार लेकर अपने सम्पूर्ण व्यापार की व्यवस्था करो।"[2] इस सामान्य कारण के अलावा कुछ कारण कम्पनी पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले भी थे। १६८३–४ में बम्बई के दुर्ग-रक्षकों के रायलिस्ट कमांडर, केगविन (Keigwin) के विचित्र विद्रोह और ईस्ट इंडिया वालों की "समुद्री सराय" सेंट हेलेना (जिस पर अंग्रेजों ने पहले-पहल १६५९ में

१. डायरी ऑफ़ विलियम हेजिज़, संपादक सर हेनरी यूल, हक्लयुत सोसाइटी खंड २, पृष्ठ ४६।

२. इंडिया ऑफ़िस रेकॉर्ड्स, ओ० सी०, ४२५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार किया था और फिर १६७३ में अन्तिम रूप से डचों से छीन कर अपने अधीन कर लिया था) में होने वाले विद्रोह ने कम्पनी को उलझन में डाल दिया । इसका फल यह हुआ कि अपने देश में कम्पनी का शासन निर्दयतापूर्ण माना जाने लगा। इन नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए कम्पनी ने (संकोचपूर्वक) नये उपाय काम में लाने का निश्चय किया। जीरल्ड आंगिअर की सम्मति को सुनने वालों का समर्थन प्राप्त हुआ और कोर्ट ऑफ़ कमिटीज़ ने अंधेरे में बढ़ते हुए और मुग़ल-साम्राज्य की वास्तविक दुर्बलता और अपने अपरिपक्व प्रयत्न के मार्ग में आने वाली असंख्य कठिनाइयों पर विचार किये बिना ही, औरंगजेब के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया। इस तरह मानो उन्होंने उन पुरानी परम्पराओं का ही अन्त कर देने की ठान ली जिनकी स्थापना सर थामस रो ने की थी और जो रो के समय से लेकर अब तक कम्पनी का हित साधन करती रही थीं । यह परिवर्तन हार्दिक था। उन्होंने 'योग्य' डचों के प्रति अपनी नवोदित प्रशंसा अभिव्यक्त की क्योंकि "डच अपने शासन, अपनी नागरिक और सैनिक नीति, युद्ध और राज-कर की वृद्धि "[1] की तुलना में व्यापार को कम महत्त्व देते थे। वे जानते थे कि कम्पनी से यह प्रश्न अवश्य किया जाएगा कि "कम्पनी केवल उन्हीं कर्त्तव्यों पर संतोषपूर्वक जीवित क्यों नहीं रहती जिनका भार उसने आरम्भ में अपने ऊपर लिया था ?" उनका उत्तर था : "वे पहले की तरह अब भी जीवित रह सकते हैं परन्तु उस दशा में उनके कारखाने उन असभ्यों की कृपा के अधीन होंगे जिनके बीच में वे रह रहे हैं।"[2] जेम्स द्वितीय द्वारा दिये गये चार्टर के समय से "कम्पनी भारत में एक सर्वोच्च राज्य के रूप में थी"[3] और उसे अब साधारण आजीविका से सन्तुष्ट रहना स्वीकार न था। इसी समय (१६८७) कम्पनी के एक पत्र में वह प्रसिद्ध वाक्य भी लिखा गया जिसे बार बार 'पूर्व' में बर्तानिया के भाग्य की भविष्य-वाणी के रूप में उद्धृत किया गया और जो लिखने वालों की कल्पना से भी कहीं अधिक सत्य सिद्ध हुआ। उन्होंने अपने प्रेसीडेंट और कौंसिल से अनुरोध किया कि "वे एक ऐसी नागरिक और सैनिक शक्ति-सम्पन्न शासन-नीति निर्धारित करें और इतने अधिक राज-कर की व्यवस्था और सुरक्षा का प्रबन्ध करें जो हमेशा के लिए भारत में एक विस्तृत, सुदृढ़ और सुनिश्चित अंग्रेजी उपनिवेश के लिए आधारशिला बन सके।"[4]

इस नये परिवर्तन के साथ प्रायः सर जोसिया और सर जॉन चाइल्ड का नाम जोड़ा जाता है। परन्तु नवीन अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसके साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। यह सत्य है कि १६८१ से १६८७ तक चार बार गवर्नर बनने के कारण सर जोसिया ने कई वर्ष तक अपने देश में कम्पनी के परामर्शदाताओं पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। ऑक्सफोर्ड की बॉडलीयन लायब्रेरी में सुरक्षित उसके कुछ

---

१. इन्डिया ऑफ़िस रेकार्ड्स, लेटरबुक नं० ९, बम्बई को भेजा जाने वाला पत्र, ११ सितम्बर, १६८९।

२. वही, नं० ८, फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, १४ जनवरी, १६८६।

३. वह, २८ सितम्बर, १६८७। ४. वही, १२ दिसम्बर, १६८७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पत्रों[1] से यह स्पष्ट है कि उस समय के बाद (१६९२—९४ तक) भी 'कोर्ट आफ़ कमिटीज' में उसका स्थान सबसे ऊंचा था। सर जॉन चाइल्ड सूरत का प्रेसीडेंट और बम्बई का गवर्नर था। दूसरे शब्दों में वह वास्तव में १६८२ से ९० तक भारत में कम्पनी का सबसे बड़ा अधिकारी था।

वीरता और दर्पपूर्वक निर्धारित इस नीति का परिणाम अत्यन्त निराशाजनक रहा। कैप्टेन निकल्सन को दस सशस्त्र जहाजों के बेड़े और ६०० मनुष्यों के साथ इंग्लैण्ड से भेजा गया। मद्रास में अन्य ४०० मनुष्यों को इस दल में सम्मिलित होना था। निकल्सन को बंगाल की खाड़ी के उत्तर-पूर्वी किनारे पर स्थित चिटागांग (यद्यपि 'कोर्ट आफ़ कमिटीज' का अनुमान था कि यह स्थान "महान् गंगा के ऊपर की ओर" कहीं स्थित है) पर अधिकार करने और वहां किलेबन्दी करने की आज्ञा दी गयी थी। चिटागांग को ही आगे चलकर उस प्रदेश में कम्पनी का केन्द्र बनना था। कैप्टेन निकल्सन को यह भी आदेश दिया गया था कि वह स्याम के बादशाह के साथ युद्ध करे और पुर्तगालियों से सालसेट (Salsette) छीन ले। इन बड़ी-बड़ी आशाओं में से एक भी पूरी न हो सकी। अक्तूबर, १६८६ में, जब यह दल हुगली पहुंचा तो निश्चित समय से पहले ही हमला शुरू हो गया और नगर पर बमबारी करके अंग्रेज हुगली नदी के बहाव की ओर लगभग २७ मील दूर सुतानती (Sutanati) नामक गांव में चले गये। इसी स्थान पर बाद में आधुनिक कलकत्ता बसा। सम्राट् ने अंग्रेजों की समस्त बस्तियों पर आक्रमण की आज्ञा दे दी। फलस्वरूप उसकी सेनाओं ने पटना, कासिम बाजार, मछलीपट्टम और विजगापट्टम के कारखानों पर कब्जा करके बम्बई को भी घेर लिया। अब इंग्लैण्ड से, कैप्टेन हीथ को सेना तथा युद्ध-सामग्री के साथ, भेजा गया। उसने १६८८ में बंगाल के सब अंग्रेजों और कम्पनी का सब माल जहाजों पर चढ़ाकर बालासोर पर बमवर्षा करके उसे भस्म कर दिया। इसके बाद वह चिटागांग पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ा। वहां पहुंचने पर उसने वह स्थान भली प्रकार सुरक्षित पाया। लगभग एक महीने तक निरर्थक लिखापढ़ी के बाद वह मद्रास लौट आया। वह मार्च १६८९ में मद्रास पहुंचा। इस प्रकार कम्पनी की जोशीली युद्ध-नीति का फल यह हुआ कि उन्हें बंगाल छोड़ना पड़ा और पचास वर्ष के अनथक परिश्रम और कष्टपूर्ण प्रयत्न धूल में मिल गये।

भारत में केवल समुद्री-शक्ति ने ही अंग्रेजों का अस्तित्व बनाये रखा। सर जॉन चाइल्ड ने पश्चिमी समुद्र-तट पर मुग़लों के उन समस्त जहाजों पर अधिकार कर लिया जो उसके हाथ आ सकते थे। उसने अपने कप्तानों को लाल सागर और फारस की खाड़ी में भी भेजा ताकि वे मक्का जाने वाले तीर्थ-यात्रियों को कैद कर सकें। इसी साहसपूर्ण कदम का फल था कि औरंगजेब को संधि-प्रस्तावों की ओर ध्यान देना पड़ा। तथापि उसकी शर्तें अत्यन्त कठोर और अपमानजनक थीं। उसने फरवरी, १६९० में अंग्रेजों को क्षमा कर दिया। उसने इन शर्तों पर उन्हें व्यापार करने केलिए एक लाइसेंस

१. बाडलियन लायब्रेरी, राबिन्सन मेनुस्क्रिप्ट, ए०, ३०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी दे दिया कि वे जुर्माने के रूप में १७,००० पौंड देंगे, "भविष्य में कभी इस प्रकार के अपमानजनक कार्यों में भाग न लेंगे" और "यह अपमान करने वाले मि० चाइल्ड का सर्वथा परित्याग कर देंगे ।" अंग्रेज इनमें से अन्तिम अपमान से तो बच गये। सर जॉन चाइल्ड अपने कार्य-भार से खिन्न होकर उसी महीने में इससे पहले ही मर चुका था। अपने स्वामियों के शब्दों में "अपनी अन्तिम पराजय के बावजूद उसने भारत में कम्पनी और अपने देश के गौरव की रक्षा के लिए जितना काम किया उतना कभी किसी अंग्रेज ने नहीं किया।" उस समय महत्वपूर्ण न समझा जाने पर भी सर्वनाश की इस कहानी का एक परिच्छेद अवश्य संतोषजनक रहा । १६८६ के बाद से हुगली का अंग्रेज एजेन्ट, जॉब चारनॉक दो बार कलकत्ते के स्थान पर एक बस्ती बसाने की इच्छा कर चुका था। बंगाल के वायसराय के साथ स्पष्ट विरोध हो जाने के कारण उसे दोनों बार अपनी यह इच्छा स्थगित कर देनी पड़ी थी। इस बार शान्ति-संधि हो जाने पर अंग्रेजों को, तिरस्कारपूर्वक, गंगा के डेल्टे में अपनी व्यापारिक बस्तियां फिर से बसाने की आज्ञा मिल गयी । पन्द्रह महीने तक मद्रास में रहने के बाद जॉब चारनॉक लगभग अज्ञात रूप से ही अपनी उस उजड़ी हुई बस्ती में वापिस लौटा। इस प्रकार जिस वर्ष कम्पनी को औरंगजेब के हाथों अपमानित होना पड़ा उसी वर्ष, अनजाने में ब्रिटिश भारत की भावी-राजधानी कलकत्ता की नींव पड़ी और १६८७ की, अर्द्ध-चेतन भविष्य वाणी की पूर्ति की ओर पहला कदम उठाया गया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : ७

नयी ईस्ट इण्डिया कम्पनी

इंग्लैण्ड में कम्पनी के विरोधियों ने कड़े शब्दों में "महान् मुग़लों के विरुद्ध लड़ी जाने वाली अन्याय और दुष्टतापूर्ण लड़ाई"[1] की निन्दा की। भारत में अंग्रेजों द्वारा स्वीकार की जाने वाली अपमानजनक संधि के समाचार ने तो मानो कम्पनी के विरोधियों को, 'कोर्ट आफ़ कमिटीज़' के विरुद्ध मनचाहा साधन ही प्रदान कर दिया। कई वर्ष से ईस्ट इन्डिया कम्पनी के एकाधिकार का विरोध बराबर बढ़ रहा था। वह विरोध भांति-भांति के रूप धारण कर रहा था। एक महत्वपूर्ण वर्ग तो उन आर्थिक कारणों से इस व्यापार का ही विरोध कर रहा था जो आज अज्ञात नहीं हैं। दूसरे शब्दों में ये लोग मूल्यवान् धातुओं का निर्यात पसन्द नहीं करते थे। परन्तु व्यापार के लिए यह अनिवार्य था। इन विरोधियों को एक यह भी आपत्ति थी कि इस व्यापार में ऐसी वस्तुएं अपने देश में मँगा ली जाती थीं जो निश्चित रूप से हानिकारक थीं। उदाहरण के लिए काफ़ी को ही लिया जा सकता है। एक तत्कालीन लेखक के शब्दों में यह एक "अधिकतम अनुपयोगी वस्तु थी क्योंकि इसका न तो पौष्टिकता की दृष्टि से कोई लाभ है, न व्यसन पूर्ति की दृष्टि से।"[2] इन विरोधियों का कथन था कि सैद्धान्तिक रूप से विदेशी व्यापार ऐसे राज्य के लिए कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता जो कच्चे माल का आयात और तैयार माल का निर्यात नहीं करता। यह एक मनोरंजक सत्य है कि यदि उस समय ये आकर्षक तर्क (जो आजकल प्रायः दिये जाते हैं) मान लिये जाते तो इंग्लैण्ड को भारतीय व्यापार से होने वाला अपार लाभ कभी न होता।

इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए कम्पनी के समर्थकों ने एक अधिक मज़बूत आर्थिक सिद्धान्त का सहारा लिया। बहुत-सी बातों में तो उनके सिद्धान्तों में परवर्ती आडम स्मिथ और स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों के निष्कर्षों की झलक मिलती है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक ऐलान किया कि "न तो भूतकाल में कभी मूल्यवान धातुओं के निर्यात पर रोक लगाने वाला कोई राष्ट्र व्यापार में उल्लेखनीय स्थान पा सका है, न भविष्य में ही इसकी संभावना है।"[3] उनका विचार था कि मूल्यवान् धातुओं को

---

१. सम रिमार्क्स अपॉन दि प्रेज़ेंट स्टेट ऑफ़ दि ईस्ट इंडिया कम्पनीज़ एफ़ेयर्स, १६९०।

२. ब्रिटानिया लेंगुइन्स अथवा ए डिसकोर्स ऑफ़ ट्रेड, १६८०।

३. ए ट्रीटीज़ ह्वेयरइन इज़ डिमान्स्ट्रेटिड दैट दि ईस्ट इन्डिया ट्रेड इज़ दि मोस्ट नेशनल ऑफ़ ऑल फ़ॉरेन ट्रेड्स, १६८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे किसी प्रकार के धन से भिन्न समझना भूल है : "सोना, चांदी·····और मुद्रा तो उन तराजू बाटों से अधिक कुछ नहीं हैं जिनकी अनुपस्थिति की अपेक्षा उपस्थिति में व्यापार अधिक सुगमता से हो सकता है।"[1] इन लेखकों ने तो सैद्धान्तिक रूप से राज्य द्वारा व्यावसायिक मामलों में किये जाने वाले हस्तक्षेप का ही विरोध किया : "मुद्रा अथवा दूसरे माल के स्वदेशी या विदेशी व्यापार में बाधा डालने वाले कानून किसी राष्ट्र को धनवान बनाने के लिए जरूरी नहीं हैं।·····अब तक कोई भी राष्ट्र नीतियों से ही धनवान नहीं बना है।"[2] डावेनेन्ट (Davenant) ने लिखा है : "व्यापार द्वारा धनसम्पन्न होने वाले राष्ट्र की विशेषता यही होती है कि उसमें व्यापार-सम्बन्धी कानून कम से कम रहते हैं।"[2] इन लोगों ने तो इससे भी अधिक विस्तृत आधार पर भारतीय-व्यापार का समर्थन किया। इनका कहना था कि "पूर्वी-हिन्द-द्वीपसमूह की खोज के बाद से तो समुद्री आधिपत्य और उसके फलस्वरूप इस साम्राज्य की स्वतन्त्रता, सम्पन्नता और प्रोटेस्टेंट धर्म की सुरक्षा मुख्य रूप से इस व्यापार की बढ़ोतरी पर ही निर्भर है·····।"[3]

एक दूसरा दल केवल संयुक्त-व्यवस्था-प्रणाली (ज्वाइन्ट स्टाक) का विरोधी था। यह दल कम्पनी को एक नियमित आधार पर संगठित करना चाहता था जिसके अनुसार व्यापारी एक व्यावसायिक दल के सदस्य के नाते अपनी निजी पूंजी से व्यापार कर सकें।

तीसरे विरोधी दल को, जिसकी संख्या बराबर बढ़ रही थी, यह आपत्ति थी कि कम्पनी का आधार संकीर्ण और निरोधक है। अस्तु, जब ये लोग कंपनी को भंग करने की बात करते थे तो इनका मतलब यही होता था कि साझीदारों के उस विशेष दल को अलग कर दिया जाय जिसने १६५७ से कम्पनी के व्यापार पर एकाधिकार किया हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह बात मान ली जाती तो कम्पनी की पूंजी बहुत बढ़ जाती और उसके मुनाफे में भाग लेने वाले भी अधिक हो जाते। यह दल सर जोसिया चाइल्ड के उस अनियन्त्रित प्रभाव का तीव्र विरोधी था जो उसे कम्पनी के कोर्ट्स पर प्राप्त था। १६८१ में कोर्ट के एक मुख्य सदस्य, थामस पापिलन (Thomas Papillon) ने घटनाओं की गतिविधि पर विचार करके यह सुझाव रखा कि स्वयं कम्पनी को ही आगे बढ़कर और लोगों को भी अपने में सम्मिलित करके उन्हें कम्पनी के विशेषाधिकारों में भाग लेने का अवसर देना चाहिए। सर जोसिया चाइल्ड ने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया। उसने पापिलन और उसके साथियों को कम्पनी से ही बाहर निकाल दिया। "कोर्ट के मिनिस्टरों और मुख्य सदस्यों ने सर जोसिया का साथ दिया और वह तथा उसके साथी अपनी इच्छा और शर्तों के अनुसार, चाहे जिस

---

१. डिस्कोर्सिज़ अपॉन ट्रेड, सर डडले नॉर्थ, लन्दन, १६९१।

२. एन एसे ऑन दि ईस्ट इन्डिया ट्रेड, लेखक चार्ल्स डावेनेंट, १६९६।

३. पृष्ठ ३७, पाद टिप्पणी ३ के अनुसार।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सदस्य को कम्पनी से निकाल रहे हैं अथवा कम्पनी में मिला रहे हैं।"[1]

कई वर्ष तक 'अनधिकृत रूप से प्रवेश करने वाले व्यक्ति' भारत में कम्पनी क सेवकों को चुनौती देते या उनके विरुद्ध दलबन्दी करते रहे। उन्हीं में से एक अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति था थामस पिट। वह अर्ल आफ़ चेदम (Earl of Chatham) का दादा था। उसने अन्यायपूर्ण अथवा अनधिकारपूर्ण व्यापार द्वारा बहुत धन प्राप्त किया और ओल्ड सारूम (Old Sarum) के नगर (निर्वाचन क्षेत्र) के अलावा एक और बड़ी जागीर भी खरीदी। ये लोग १६८३ में थामस संडिस (Thomas Sandys) के प्रसिद्ध मुकदमे में कम्पनी के एकाधिकार को गैरकानूनी घोषित कराने का असफल प्रयत्न कर चुके थे। उस समय जज जेफ़्रीस (Jeffreys) ने कम्पनी के पक्ष मे निर्णय दिया था। इन सब बातों का एकमात्र परिणाम तो १६८६ का चार्टर ही जान पड़ता है जिसने भारतीय नरेशों और ढीठ अंग्रेजों के विरुद्ध कम्पनी की शक्ति संगठित कर दी और, जैसा कि सर जोसिया ने विजयोल्लासपूर्वक लिखा था, "हमें भारत में सर्वोच्च सत्ता का स्वरूप दे दिया।"[2]

स्टुअर्ट वंश के पतन से चाइल्ड को गहरी चोट लगी। सर विलियम हंटर के कथनानुसार "क्रान्ति के फलस्वरूप कम्पनी को पार्लियामेंट का सामना करना पड़ा।"[3] लन्दन की कम्पनी के अनगिनत विरोधी व्हिग पार्टी के साथ मिल गये और १६९० में ही वे पार्लियामेंट की एक समिति को एक नयी कम्पनी के पक्ष में प्रस्ताव पास करने के लिए तैयार करने में सफल हो गये। लगभग इसी समय उन्होंने डाउगेट स्ट्रीट में स्किनर्स कम्पनी (Skinners' Company) के हाल में एक मीटिंग करके अनौपचारिक ढंग से अपने को एक एसोसियेशन के रूप में संगठित कर लिया। पार्लियामेंट और बादशाह ने कम्पनी को समझाया कि वह नये सदस्यों को सम्मिलित कर ले परन्तु इसका कोई फल न हुआ। अन्त में हाउस आफ़ कामन्स के सदस्यों ने बादशाह से अनुरोध किया कि वह इस उद्धत कम्पनी को भंग कर दे। इन धमकियों से डरना तो दूर रहा, सर जोसिया चाइल्ड ने तो मिनिस्टरों को ८०,००० पौंड से भी अधिक रिश्वत में देकर १६९३ में पुरानी कम्पनी के लिए एक नया चार्टर भी प्राप्त कर लिया। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि पूरे देश और हाउस आफ़ कामन्स में पुरानी कम्पनी के विरुद्ध क्रोध भड़क उठा। गिलबर्ट हीथकोट (Gilbert Heathcote) ने, (जिसके जहाज पर टेम्स में बलपूर्वक अधिकार कर लिया गया था) हाउस आफ़ कामन्स की एक समिति के सामने यह ऐलान करते हुए मानों राष्ट्र की भावना ही अभिव्यक्त की थी कि "वह पूर्वी

---

१. सम रिमार्क्स अपॉन दि प्रेज़ेन्ट स्टेट आफ़ दि ईस्ट इन्डिया कम्पनीज़ एफ़ेयर्स, १६९०।

२. इन्डिया ऑफ़िस रेकॉर्ड्स, लेटरबुक नं० ८ फ़ोर्ट सेंट जार्ज भेजा गया पत्र, २८ सितम्बर, १६८७।

३. ए हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इन्डिया, खंड २, पृष्ठ २७५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार करना पाप नहीं समझता और उस समय तक यह व्यापार करता रहेगा जब तक इसके विरुद्ध पार्लियामेंट का कोई एक्ट न बन जाएगा।"[1] स्वयं पार्लियामेंट ने इस विचार का अनुमोदन किया और १६९४ में यह प्रस्ताव पास कर दिया कि "पार्लियामेंट के एक्ट द्वारा पाबन्दी न होने तक इंग्लैण्ड के प्रत्येक प्रजा-जन को पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार करने का समान अधिकार है।"[2] कुछ साहसी व्यक्तियों ने यह प्रस्ताव तुरन्त कार्यरूप में परिणत भी कर दिया। इससे कम्पनी की स्थिति संकटपूर्ण हो गयी। १६९५ में कम्पनी के दोषों की जांच पड़ताल की गयी। उस समय यह पता चला कि १६८८ से १६९४ तक १०७,००० पौंड खर्च किये गये थे। इस जानकारी के बाद सब ओर एक सनसनी-सी फैल गयी। इतना ही नहीं, इसी के फलस्वरूप एक मिनिस्टर, ड्यूक आफ लीड्स, को तो राजनीतिक सर्वनाश का ही सामना करना पड़ा।

लगभग इसी समय, जबकि कम्पनी इन तथ्यों के हानिकारक प्रकाशन के कारण अपमानित हो रही थी एक अप्रत्याशित दिशा से भी उसकी विशेषाधिकार-सम्पन्न स्थिति पर हमला हुआ। स्काटलैण्ड ने भारतीय व्यापार में हिस्सा बटाने की कोशिश की। एक ही राज-छत्र के अन्तर्गत संगठित होने पर भी स्काटलैण्ड कानूनी तौर से एक स्वतन्त्र और अलग राज्य ही था। कोई ९० बरस पहले, १६१७ में, जेम्स प्रथम ने अपने एक उत्तरी प्रजा-जन, जेम्स कनिंघम को पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह तक यात्रा करने के लिए एक अधिकार-पत्र दिया था परन्तु लन्दन कम्पनी ने, उसका वह अधिकार खरीद कर, उस संकट से अपनी रक्षा कर ली थी। १६९३ में स्काटलैण्ड की पार्लियामेंट ने समुद्र पार के व्यापार के लिए एसोसियेशन बनाना कानूनी ठहरा दिया। १६९५ में उसने अफ़्रीका और हिन्द-द्वीप-समूह तक व्यापार करने के लिए स्काटलैण्ड की एक कम्पनी भी काइम कर दी। इस आन्दोलन का एक नेता, बैंक आफ इंग्लैण्ड का संस्थापक, विलियम पेटरसन था। ४००,००० पौंड की पूंजी जुटाने में भाग लेने वाले हिस्सेदारों के नामों और उनके प्रतिनिधि वर्गों से यह सिद्ध हो जाता है कि यह संस्था मूलतः राष्ट्रीय थी। स्काटलैण्ड के एक तत्कालीन लेखक ने कहा था कि "सन्निकट भूतकाल में भाग्य से ही होने वाली सुखद क्रान्ति से पहले स्काटलैण्ड अपने राष्ट्रीय अधिकारों (स्वेच्छाओं) में अत्यन्त निर्दयतापूर्वक जकड़ा हुआ था।" उस लेखक ने यह भी प्रार्थना की थी कि अंग्रेजों और स्काटलैण्ड की कम्पनी के एक साथ मिलकर काम करने से सब लोगों को यह प्रेरणा प्राप्त हो कि वे "अपनी भटकी हुई भावनाओं को दूर कर सकें..... 'स्काच' और 'इंगलिश' के भेद डालने वाले नामों को सदा के लिए भुला दें और इस तरह अपने को स्वयमेव अखंड बर्त्तानिया के संयुक्त झंडे के नीचे एकत्रित कर सकें।"[3] यह उदार स्वप्न शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। स्काट-

१. जरनल्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, ८ जनवरी, १६९४।

२. वही, १६ जनवरी, १६९४।

३. स्कॉटलैण्ड की पार्लियामेंट के एक सदस्य द्वारा लन्दन में अपने मित्र के नाम लिखा गया पत्र।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लैण्ड की कम्पनी स्थापित हो जाने के बाद तो कई बरस तक दोनों देशों के बीच कटुता बनी रही। अंग्रेज़ अपनी पुरानी और नयी कम्पनियों के घरेलू मामले में तो अवश्य परस्पर बटे हुए थे परन्तु किसी उत्तरी प्रतियोगी का विरोध करने में वे एक थे। दोनों राष्ट्रों के सर्वोच्च अधिपति, विलियम तृतीय की स्थिति उस समय अत्यन्त संकटमय थी। उसे एक ओर एक राज्य की न्यायोचित इच्छाओं का खंडन करना पड़ रहा था और दूसरी ओर दूसरे राष्ट्र के दुष्टतापूर्ण पक्षपातों से टकराना। अंग्रेजी पार्लियामेंट के दोनों सदनों ने विलियम तृतीय के सामने स्काटलैण्ड की कम्पनी के विरुद्ध एक प्रार्थना-पत्र रखा। उसने यह उत्तर देकर इस प्रसंग को टालने का प्रयत्न किया कि "स्काटलैण्ड में मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया परन्तु मुझे आशा है कि इस एक्ट के कारण होने वाली असुविधाओं को रोकने के लिए कुछ न कुछ उपाय ढूंढ़ लिये जायेंगे।"[1] इसके बाद अंग्रेजी पार्लियामेंट ने एक कड़ा प्रस्ताव पास किया। इसमें कहा गया था कि कम्पनी के डायरेक्टर एक बड़े अपराध और दुराचार के दोषी होने के कारण दंडनीय हैं। अन्त में स्काटलैण्ड की कम्पनी ने, अनुचित परामर्श के अनुसार काम करके, अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर लिया। इस तरह बादशाह को एक चिन्ताजनक स्थिति से छुटकारा मिल गया। उन डायरेक्टरों पर यह रोक लगा दी गयी कि वे किसी मित्र-शक्ति के अधीनस्थ इलाके पर नहीं बस सकेंगे। यह रोक होने पर भी वे डेरियन के इस्थमस (जिस पर स्पेन अपना अधिकार जताता था) में बस गये। स्पेन वालों ने इसका विरोध किया। अंग्रेज़ी सरकार ने वहाँ बसने वालों को उन्हीं के भाग्य पर छोड़ दिया और न्यूयार्क, बारबेदोस और जमेका की अंग्रेजी बस्तियों के वासियों को भी यह चेतावनी दे दी कि वे उन्हें किसी तरह की सहायता न दें। स्पेन के आक्रमणों के साथ ही साथ रोग और अकाल ने उस बस्ती का सर्वनाश कर दिया और इस प्रकार कम्पनी का अस्तित्व ही मिट गया।

१६९८ में डाउगेट एसोसियेशन के सदस्यों ने मांटेगु (दि चांसलर ऑफ दि एक्सचेकर) के लिए ८ प्रतिशत की दर पर २,०००,००० पौंड का ऋण इकट्ठा करके 'जनरल सोसाइटी' के नाम से अपनी एक संस्था बना ली। तीन वर्ष के नोटिस के बाद भंग होने वाली पुरानी कम्पनी के अधिकारों और हाउस आफ़ कामन्स के १६९४ के प्रस्ताव के आधार पर भारत जाने वाले व्यापारियों के निजी अधिकारों के अतिरिक्त इस सोसाइटी को भारत-व्यापार का पूरा अधिकार दे दिया गया। पुरानी अथवा लन्दन की कम्पनी ने ईस्ट इण्डिया व्यापार में अपने कुछ विशेषाधिकार बनाए रखने के लिए, अपने कोषाध्यक्ष, जान डु बोइ (John Du Bois) के नाम से ३१५,००० पौंड की निधि एकत्रित की। पुरानी कम्पनी के आलोचकों की इच्छानुसार 'जनरल सोसाइटी' की स्थापना नियमित आधार पर ही की गयी थी। इसका अर्थ यह था कि हिस्सेदार निजी तौर पर भी भारत के साथ व्यापार कर सकते थे। हाँ, बादशाह को यह अधिकार था कि वह उन सब सदस्यों को एक संयुक्त व्यवस्था वाली कम्पनी के रूप

१. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, हेनरी बेवरिज, खंड १, पृष्ट ३६९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में सम्बद्ध कर दे जो इस तरह इकट्ठा होना चाहते हों। सत्य तो यह है कि आरम्भ से ही इस बात की संभावना थी। बहुत से व्यापारियों ने इस सुविधा से तुरन्त लाभ उठाया। ५ सितम्बर, १६९८ को ये व्यापारी "दि इंगलिश कम्पनी ट्रेडिंग टू दि ईस्ट इंडीज़" (पूर्वी हिन्द द्वीप समूह में व्यापार करने वाली अंग्रेजी कम्पनी) के नाम से संयुक्त हो गये। २४-'डायरेक्टरों' की एक कोर्ट को इस कम्पनी का संचालन करना था। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि आने वाले कुछ वर्षों तक पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार करने का क़ानूनी अधिकार रखने वाले व्यापारी चार वर्गों में बंटे हुए थे: १. नयी अंग्रेजी कम्पनी। २. पुरानी कम्पनी जिसने १७०१ तक, अपनी पुरानी पूंजी से व्यापार किया और इसके बाद जनरल सोसाइटी को दिये गये ३१५,००० पौंड के सीमित आधार पर। ३. जनरल सोसाइटी के हिस्सेदार जिन्होंने नयी कम्पनी की संयुक्त व्यवस्था में भाग लेना स्वीकार न किया था। (यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि १७०१ क बाद पुरानी कम्पनी भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है। पुरानी कम्पनी के अलावा स्वतन्त्र व्यापारियों की पूंजी २२,००० पौंड से अधिक न थी)। ४. व्यक्तिगत रूप से व्यापार करने वाले कुछ साहसी जो हाउस आफ़ कामन्स के १६९४ के प्रस्ताव के बाद और १६९८ में 'जनरल सोसाइटी' की स्थापना होने से पहले ही चल पड़े थे।

पिछले दो वर्गों के अन्तर्गत आने वाले निजी व्यापारियों का महत्त्व अधिक न था। वास्तविक संघर्ष तो अंग्रेज़ी और लन्दन की कम्पनी के बीच ही था। पूछा जा सकता है कि सरकार ने आवश्यक नोटिस देकर पुरानी कम्पनी भंग करके नयी कम्पनी को भारत का व्यापार आरम्भ क्यों न करने दिया ? देखने में तो यही लगता है कि तीन वर्ष तक दोनों एसोसियेशन बनाये रखना और उनमें प स्पर संहारक लड़ाइयां होने देना अनुचित था परन्तु वास्तविक बात यह थी कि क्रियात्मक रूप से व्यापार की शृंखला को थोड़े समय तक के लिए भी तोड़ना अनुचित था। हो सकता था कि अपनी इच्छा से कम्पनी को तोड़ने का अवसर पाकर पुरानी कम्पनी इतने कौशल से अपने को भंग करती कि भारत के साथ बर्त्तानिया का सम्बन्ध सदा के लिए टूट जाता। अतः अपने स ा दोषों के रहते हुए भी, उस समय अपनाया जाने वाला मार्ग एक कम्पनी के क्रमिक अन्त और दूसरी के क्रमिक विकास के लिए ठीक ही था। अक्तूबर १६९८ में ही पुरानी कम्पनी ने लिखा था कि "उनके प्रतिद्वन्द्वियों का मुख्य विश्वास तो नये ढंग के एक शब्द पर आधारित है जो सब सार्वजनिक स्थानों में प्रचलित है। वे इसे "एकीकरण" कहकर पुकारते हैं। हमारे विचार में वे एकीकरण का यह अर्थ लगाते हैं कि हम अपना माल उनके माल के साथ मिला लें परन्तु हमें अपने देश के सार्वजनिक हित की बहुत अधिक चिन्ता है। इसीलिए हमें पूरा विश्वास है कि एक समय ऐसा भी आएगा जब उनका और हमारा माल एक ही कीमत पर मिल जाएगा।"[1] इसी दौरान में दोनों

१. इंडिया ऑफ़िस रेकार्ड्स, लैटर बुक नं० १०, मद्रास को भेजा गया पत्र, अक्तूबर २८, १६९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दल अपना स्थान प्रमुख बनाने में लग रहे। उनमें स्वदेश तथा विदेश, दोनों ही स्थानों पर परस्पर तीव्र संघर्ष होता रहा। अन्त में परिस्थितियों के कठोर तर्क ने उन्हें एकीकरण के लिए विवश कर ही दिया।

पुरानी कम्पनी पहले तो अपने ऊपर होने वाले आघात से लड़खड़ा गयी परन्तु उन्होंने शीघ्र ही "इस लड़ाई के अनुभवी सैनिकों की भांति"[1] अपने को वीरतापूर्वक उस संघर्ष का सामना करने के लिए तैयार कर लिया। परिस्थिति का मूल्यांकन करने पर उन्हें पता चला कि स्थिति वास्तव में उतनी निराशाजनक नहीं है जितनी वे समझते हैं। अभी 'पूर्व' में उनके किले और कारखाने मौजूद थे जिन्हें पार्लियामेंट का कोई भी एक्ट उनसे छीन नहीं सकता था। इतना ही नहीं, उन्हें तीन साल तक तो पुराने तरीके पर ही काम करते रहने का भी अधिकार था। उनका विश्वास था कि इस अवधि के बाद भी वे 'जनरल सोसाइटी' के सदस्यों के नाते ३१५,००० पौंड की उस सीमित पूंजी के आधार पर व्यापार कर सकते थे जो उन्होंने अपने कोषाध्यक्ष के नाम से लगायी थी। एकमात्र सन्देह तो यह था कि वे कानूनी तौर पर उस रकम को अपने एसोसियेशन के नाम करा भी सकेंगे या नहीं जो अब तक जनरल सोसाइटी के खातों में जान डु बोइ के नाम से जमा थी। इसीलिए अपनी स्थिति मजबूत बनाने के लिए वे तुरन्त एक ऐसे एक्ट की मांग करने लगे जिसके अनुसार वे "लन्दन कम्पनी आफ मर्चेन्ट्स ट्रेडिंग इन दि ईस्ट इंडीज" के भंग हो जाने पर भी एक कारपोरेशन के रूप में अपना काम जारी रख सकें।

दूसरी ओर नयी कम्पनी आरम्भ से ही अपनी पूंजी सरकार को उधार देने लगी थी। उसे व्यापार में लगाने के लिए धन एकत्रित करने में बहुत कठिनाई होने लगी। इसके अतिरिक्त उसे 'पूर्व' में उन ईर्ष्यालु प्रतियोगियों का सामना करते हुए अपने पैर जमाने थे जो पहले ही वहां अधिकार जमा चुके थे। नयी कम्पनी ने भारत में पुरानी कम्पनी के मुख्य केन्द्रों के समीप अथवा उन्हीं स्थानों पर अपने प्रधान केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया। निस्सन्देह उनका विश्वास था कि इस तरह उन्हें तीन साल का समय पूरा होने पर पुरानी कम्पनी के कारखानों आदि पर अधिकार करने में आसानी होगी। उन्होंने अपने प्रतिनिधियों के रूप में सर निकोलस वेट (Sir Nicholas Waite) को बम्बई, सर एडवर्ड लिटल्टन (Sir Edward Littleton) को बंगाल और जॉन पिट (John Pitt) को मद्रास भेजा। यह चुनाव उपयुक्त न था। ये तीनों पुरानी कम्पनी में काम कर चुके थे और वहां से निकाल दिये गये थे। अपने नये उत्तरदायित्व में भी ये अयोग्य और बेईमान ही सिद्ध हुए। नयी कम्पनी किलेबन्द बस्तियों की स्थापना करने वाली व्यापारिक नीति की विरोधिनी थी इसी लिए उन्होंने जान बूझकर भारतीय नरेशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने की योजना बनायी। उन्होंने एक ओर तो लिवरपूल की पार्लियामेंट के सदस्य, सर विलियम

१. वही, बंगाल को भेजा गया पत्र, २६ अगस्त, १६९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नॉरिस (Sir William Norris) को मुग़ल बादशाह के दरबार में राजदूत के रूप में जाने के लिए चुना। नॉरिस को औरंगजेब से नयी कम्पनी के लिए वे ही विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए भेजा गया था जो सर थामस रो ने, पुरानी कम्पनी के लिए, जहांगीर से प्राप्त किये थे। दूसरी ओर नयी कंपनी ने राज-छत्र (क्राउन) से ऐसे अधिकार-पत्र भी ले लिये जिनके अनुसार उनके प्रेसीडेंट 'किंग्स कौंसल्स' (शाही वाणिज्य दूत) के रूप में काम कर सकें। इन अधिकार-पत्रों ने नयी और पुरानी कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं को परस्पर उलझाने का ही काम किया। पुरानी कम्पनी वाले तीन बरस पूरे होने से पहले उन अधिकार-पत्रों को बिलकुल महत्व देने के लिए तैयार न थे। नयी कम्पनी वाले कहते थे कि उसी समय से उन अधिकार-पत्रों को महत्व दिया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, नयी कम्पनी के अधिकारों को स्वीकार न करने वालों को "हथकड़ियों में जकड़कर कैद कर लेने और अनोखी-अनोखी शक्तियों के झूठे भय की भी धमकी देते थे।'[1] नॉरिस ने लिखा था कि "सब के सब अंग्रेज मेरी रक्षा और देखरेख में हैं।"[2] प्रतिद्वंद्वियों ने नॉरिस के इस दावे का उत्तर मौन तिरस्कार से दिया। उन्होंने ऐलान कर दिया कि उन्हें "सहारे अथवा आश्रय के लिए उनके वाणिज्य दूतों की शरण में" नहीं जाना है। "हम समझते हैं कि हमारे किले--कौंसल, डिप्टी कौंसल, वाइस एडमिरल अथवा ऐसी ही अन्य उपाधियों के अधीन रहने की अपेक्षा--अपनी उस सर्वोच्च सत्ता के तत्वावधान में अधिक सुरक्षित हैं जिसका प्रतिनिधित्व हमारे किलों पर लहराता हुआ हिज़ मैजेस्टी का झंडा करता है।"[3]

अस्तु, भारत में होने वाले दोनों कम्पनियों के संघर्ष में पुरानी कम्पनी ही अधिक श्रेष्ठ रही। इसका कारण थे उसके सब तरह की सामग्री से युक्त कारखाने, अधिक अनुभव और अधिक सुयोग्य सेवक। यह अवश्य है कि उसे सूरत में दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। वहां सर निकोलस वेट (जो एक हठी और झगड़ालू आदमी था) अपने व्यापार को कोई लाभ पहुँचाये बिना ही अपने प्रतियोगी का व्यापार चौपट करने में सफल हो गया। उसने पुरानी कम्पनी के प्रेसीडेंड, सर जान गेअर (Sir John Gayer) को मुग़ल सरकार से उलझा दिया। इसका फल यह हुआ कि सूरत के कारखाने पर मुग़ल सरकार ने कब्जा कर लिया, सारा व्यापार बन्द कर दिया गया और स्वयं गेअर को कैद कर लिया गया। बाकी दो प्रेसीडेंसियों में सब कुछ पुरानी कम्पनी के ही पक्ष में रहा। बंगाल को १६९९ में अलग प्रेसीडेंसी बना दिया गया था। यहाँ जान बीअर्ड ने, बेईमान और अयोग्य सर एडवर्ड लिटल्टन के पैर नहीं जमने दिये। मद्रास में, एक पुराने अनधिकारी परन्तु १६९७ के बाद से फ़ोर्ट सेंट

---

१. इंडिया ऑफिस रेकॉर्ड्स, लेटर बुक नं० १०, फ़ारस को भेजा गया पत्र, २१ अगस्त, १७००।

२. वही, फैक्ट्री रेकॉर्ड्स, मिसलेनियस, नं० १९।

३. इंडिया ऑफिस रेकॉर्ड्स, लेटर बुक नं० १०, फोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, १८ जून, १७००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जार्ज के प्रेसीडेंड, थामस पिट ने (जो स्वयं असाधारण चरित्र और योग्यता सम्पन्न था) अपने उग्र और अहंकारी चचेरे भाई, जान पिट की योजनाओं को सर्वथा निर्मूल कर दिया। सबसे अधिक अपमानजनक तो उस दूतावास की नितान्त असफलता थी जिस पर सबसे अधिक आशा रखी गयी थी। यह सत्य है कि सर विलियम नॉरिस नयी कम्पनी द्वारा भेजे गये मनुष्यों में सबसे अधिक आदरणीय था। वह ईमानदार था, परिश्रमी भी था और पुण्यात्मा भी परन्तु उसमें धैर्यपूर्ण नीतिनिपुणता बिलकुल न थी। जिस कठिन और नाजुक काम के लिए उसे भेजा गया था उसके लिए यही निपुणता सबसे अधिक आवश्यक थी। अंधाधुन्ध धन और आवश्यकता से बहुत अधिक समय नष्ट करने के बाद उसे औरंगजेब बादशाह से अपनी बात कहने का अवसर मिला। परन्तु औरंगजेब उस समय बीजापुर के निकट पनाला नामक दुर्ग में एकत्रित मरहठों के विरुद्ध एक सेना संयोजित कर रहा था। सर निकोलस वेट के दुष्टतापूर्ण हस्तक्षेप के कारण सर विलियम नॉरिस बादशाह से व्यापार सम्बन्धी सन्धि-पत्र प्राप्त न कर सका। इतना ही नहीं, सर निकोलस वेट ने तो अनधिकारपूर्वक बादशाह को यह भरोसा भी दिला दिया कि नयी कम्पनी अरब सागर और फ़ारस की खाड़ी में मुसलमान यात्रियों को मक्का के पवित्र स्थान तक ले जाने वाले मुग़ल-जहाजों के मार्ग की रक्षा करने और उन्हें समुद्री लुटेरों से बचाने का भार अपने ऊपर ले लेगी। अब तक यह भार अंग्रेज, फ़्रांसीसी और डच मिलकर सहन करते थे। राजदूत के लिए यह सम्भव न था कि वह यह सारा भार नयी कम्पनी के कन्धों पर डाल देता। उधर बादशाह ने विशेषाधिकार चाहने वाले के लिए यह अनिवार्य शर्त लगा दी कि वह समुद्रों की रखवाली का भार स्वीकार करे। फलस्वरूप विलियम नॉरिस बिलकुल निराश और व्यग्र होकर समुद्र-तट तक लौट आया और वह अपने देश वापिस लौटते समय, शारीरिक थकान और मानसिक चिन्ताओं से सन्तप्त होकर, मार्ग में ही मर गया। इस दूतावास की असफलता के मुख्य कारण ये थे : सर निकोलस वेट का अनुचित हस्तक्षेप, पुरानी कम्पनी के देशीय एजेन्टों की साज़िशें, पूर्वीय देशों की धीमी और कुटिल राजनीति के दांव पेंचों से नॉरिस की अनभिज्ञता, उस समय मुग़ल साम्राज्य की असंतुलित स्थिति और दोनों कम्पनियों के परस्पर विरोधी अधिकारों को पूरी तरह समझ सकने में औरंगजेब की स्वाभाविक असफलता।

उधर, अपने देश में, घटनाएं एकीकरण की ओर बढ़ रही थीं। नयी कम्पनी ज़बरदस्ती पुरानी कम्पनी को दबा देने की आशा तो पहले ही छोड़ दी थी। अब तो वे अधिक से अधिक यही इच्छा कर सकते थे कि उनके लिए लाभदायक शर्तों पर एकीकरण हो जाए। समस्या का यह हल कुछ समय के लिए टल गया। इसका कारण यह था कि १७०० में ही पुरानी कम्पनी को, अपनी इच्छानुसार, पार्लियामेंट के एक एक्ट द्वारा, १७०१ के बाद, जनरल सोसाइटी को दिये गये ३१५,००० पौंड के आधार पर एक कार्पोरेशन के रूप में भारत के साथ व्यापार करने का अधिकार मिल गया। वे प्रसन्न थे क्योंकि वे समझते थे कि उनकी भारतीय सम्पत्ति के साथ इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार का समावेश हो जाने से तो मानों उन्हें मुंह-मांगा वरदान ही मिल गया था। उनका विश्वास था कि इससे "हमारी जनता को नवीन उत्साह प्राप्त होगा और इस तरह वे इन नये महानुभावों की बनावटी ताकत व्यर्थ कर देंगे। अस्तु भावातिरेक के कारण वे यह भी निश्चित करने में असमर्थ हैं कि उन्हें किस तरह का आचरण करना चाहिए।"[1] परन्तु एकीकरण केवल स्थगित ही हुआ था। नयी कंपनी के डायरेक्टरों ने १७०२ में लिखा था : "इस समय भारतीय और विशेषकर कोरोमंडल तट के व्यापार से हमें जो हानि सहनी पड़ रही है वही हमें पुरानी कम्पनी के साथ संधि कर लेने के प्रस्ताव को अस्वीकार न करने के लिए उकसा रही है।"[2] दूसरी ओर उनके प्रतिद्वंद्वियों को 'पूर्व' में विजय तो मिल गयी थी पर यह विजय उन्हें बहुत महंगी पड़ी थी। उन्हें भी यह स्वीकार करना ही पड़ा कि "भारत में दो यूरोपीय विक्रेता यूरोप के माल की कीमत घटा देते हैं और यूरोप में दो खरीदार भारतीय माल के दाम बढ़ा देते हैं।"[3] कुछ अन्य कारणों ने भी यही निष्कर्ष पुष्ट किया। फ़्रांस के साथ होने वाला युद्ध सन्निकट था। 'पूर्व' में होने वाली आपसी लड़ाई को शान्त करने का यह एक प्रबल कारण बना। कुछ समय के लिए (विशेषकर १७०१ के चुनाव के दिनों में) भारतीय व्यापार का प्रश्न दूसरी सब बातों से अधिक महत्वपूर्ण हो गया। दोनों पक्षों ने अनेक साज़िशें कीं और अधिक से अधिक धन खर्च करके प्रेक्षकों पर निर्वाचकों के साथ अनुचित व्यवहार करने और उन्हें बहकाने का लांछन लगाया। उधर पार्लियामेंट और बादशाह, दोनों ही समझौते के लिए आतुर थे और वे दोनों कम्पनियों पर अपना प्रभाव डाल रहे थे।

फलस्वरूप अप्रैल, १७०२ में एक 'प्रिलिमिनेरी इन्स्ट्रूमेंट आफ यूनियन' (प्रारम्भिक एकीकरण-पत्र) पर हस्ताक्षर हो गये। पुरानी कम्पनी को आज्ञा दी गयी कि वह "जनरल सोसाइटी" में ६७३,००० पौंड के हिस्से और खरीदे ताकि उसका भाग प्रतियोगी कम्पनी के बराबर हो जाए। पुरानी कम्पनी के भारत-स्थित मकानों, किलों और कारखानों की कीमत ३३०,००० पौंड आंकी गयी और नयी कम्पनी के किलों आदि की ७०,००० पौंड। इस तरह नयी कम्पनी से कहा गया कि वह १३०,००० पौंड पुरानी कम्पनी को दे। पुरानी २४ कमेटियों का स्थान २४ मैनेजरों ने ले लिया। दोनों कम्पनियों को बारह-बारह मैनेजर चुनने का अधिकार दिया गया। १७०२ से इन्हीं २४ मैनेजरों को पूरे व्यापार का संचालन करना था। 'पूर्व' में रहने वाले दोनों कम्पनियों के कारखानेदारों को यह समझा दिया गया कि अब उन्हें एक साथ मिलकर काम करना है। कहीं-कहीं तो वे बारी-बारी से बस्तियों के प्रधान बने। पुरानी कम्पनी द्वारा अपने सेवकों को लिखा गया एक पत्र आशा और मित्रता

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटरबुक नं० १०, फ़ारस को भेज गया पत्र, २१ अगस्त, १७०० ।

२. वही, लेटर बुक नं० ११, जान पिट को भेजा गया पत्र, ८ जनवरी, १७०२।

३. वही, लेटर बुक नं० १०, मद्रास को भेजा गया पत्र, ६ मार्च, १७०२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की नयी भावना से ओतप्रोत है : "वर्तमान एकीकरण ने तुम्हारे सब पिछले आपस के संघर्षों और होड़ का अन्त कर दिया है। अब भारतीय व्यापार पार्लियामेंट के एक एक्ट और अधिक विस्तृत साधनों के सुदृढ़ आधार पर स्थित हो गया है। इसीलिए हमें पूरी आशा है कि यह व्यापार भविष्य में पहले से अधिक विकसित हो सकेगा। इस तरह हमारे राष्ट्र को मान प्राप्त होगा और साहसी व्यक्तियों को मुनाफ़ा। हम एक साथ मिलकर भारत में अंग्रेजों की वह प्रतिष्ठा फिर से कायम करेंगे जो समुद्री लुटेरों की दुष्टताओं, हमारे अपने देशवासियों के अनुत्तरदायित्वपूर्ण कामों और मुसलमानों के कपट के कारण (जिन्होंने उपर्युक्त दोनों बातों से लाभ उठाकर हमें सताया और महत्त्वहीन किया) बहुत कम हो गयी है।"[1] परन्तु स्वभावतया अब भी भारतीय अंग्रेजों में परस्पर पर्याप्त मनमुटाव था। कुछ समय बीत जाने से पहले उनके अपने देश के अधिकारियों के यह सदुपदेश सही अर्थों में क्रियात्मक रूप में परिणत न हो सके कि "हमें सब बीती बातों को मौन और विस्मृति के अन्धकार में विलीन कर देना चाहिए।"[2] अपने देश में भी १७०८ तक यह एकीकरण अन्तिम रूप से पूरा न हो सका। १७०८ में अर्ल ऑफ गाडॉल्फिन के निर्णय ने झगड़े की सब बातें सदा के लिए हल कर दीं। अब एक ही कम्पनी थी इसका नाम था "यूनाइटिड कम्पनी आफ़ मर्चेन्ट्स आफ़ इंग्लैण्ड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज़" (पूर्वी द्वीप समूह तक व्यापार करने वाली इंग्लैण्ड के व्यापारियों की संयुक्त कम्पनी)। समय-समय पर इस कम्पनी को नये चार्टर मिलते रहे। इस तरह इसका एकाधिकार-काल बढ़ता रहा और समय से पहले ही इसके सर्वोच्च अधिकार काफ़ी कम कर दिये जाने पर भी यह गदर तक अपने संयुक्त रूप में ही काम करती रही। गदर में होने वाली भयंकर उथल-पुथल ने इसके रहे-सहे अधिकार भी छिनवा दिये और इसकी आमदनी और उपनिवेश राज-छत्र को सौंप दिये गये।

---

१. इण्डिया ऑफ़िस रेकॉर्ड्स, लेटर बुक नं० १०, बम्बई को भेजा गया पत्र, २६ जुलाई, १७०२।

२. वही, मद्रास को भेजा गया पत्र, ५ मार्च, १७०२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ८

व्यापारिक बस्तियों का विकास (१७०८ से १७४६)

आस्टेंड कम्पनी

१७०८ के बाद कई वर्ष तक अपने देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति सुरक्षित रही। इधर भारत में भी इस काल में शान्तिपूर्ण व्यापार का विकास होता रहा। इतिहासकार प्रायः इस काल की उपेक्षा करते हैं। इसका कारण यह है कि वे जल्दी से जल्दी १७४६ के उस वर्ष तक पहुंच जाना चाहते हैं जब कम्पनी को यूरोपीय युद्ध के बवंडर में धकेला गया, वह मूल निवासियों के साथ होने वाले झगड़ों में उलझी और स्वयं एक प्रादेशिक शक्ति बन गयी। परन्तु औपनिवेशिक दृष्टि से इस काल का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। अंग्रेजों ने उस समय भारत में अपने पैर जमाए थे जब मुगल-साम्राज्य अपनी महत्ता की सर्वोच्च सीमा पर था। वह उस समय "हिन्दुस्तान" में शान्ति और अनुशासन की रक्षा कर रहा था और 'दक्खिन' तक अपनी प्रभुता का दावा कर रहा था। १७०७ में अन्तिम महान् बादशाह, औरंगजेब, की मृत्यु हो गयी। यह घटना लार्ड गॉडॉल्फिन के निर्णय द्वारा इंग्लैण्ड में दोनों विरोधी कम्पनियों के एकीकरण से एक साल पहले की है। औरंगजेब का शासन बहुत समय तक रहा था। उसने 'दक्खिन' को भी नाम-मात्र के लिए अपने अधीन कर ही लिया था। इस तरह वह अपने से पहले सब बादशाहों के लक्ष्य तक तो पहुंच गया था लेकिन उसने स्वयं अपने साम्राज्य को बहुत ही दुर्बल बना लिया था। उसकी मृत्यु होते ही राजपूतों ने (जिन्हें उसने अपनी मुस्लिम कट्टरता के कारण शत्रु बना लिया था) अपनी तलवारें निकाल लीं, सिक्खों में भी उद्बोधन के लक्षण दिखाई देने लगे, दक्षिणी भारत में अराजकता अपने पूरे वेग पर थी (क्योंकि औरंगजेब ने बीजापुर के राज्यों को तो नष्ट कर दिया था परन्तु वह उन राज्यों के स्थान पर किसी शक्ति की स्थापना करने में असफल रहा था) और छलकपट में पराजित परन्तु युद्ध-कला में विजयी मरहठे उस घटना से एकदम पहले समस्त पश्चिमी और मध्यभारत में मंडरा रहे थे जिसके फलस्वरूप उन्हें भारत में सबसे अधिक भयंकर सैनिक और राजनीतिक शक्ति बनकर सिन्धु नदी तक धावा बोलना था। औरंगजेब के बाद दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले बादशाहों का शासन अल्पकालीन और कष्टपूर्ण रहा। उसके बाद से तो, जैसा कि एक गम्भीर फ्रांसीसी निरीक्षक ने कहा भी है, "मुगल सरकार बुरी तरह नियन्त्रित अनगिनत शक्तियों क कारण दुर्बल और अपार धन के दुरुपयोग के कारण भूखी-नंगी"[1] थी। मुगल

१. मेमोआयर पोर लि सियुर डि बुसी, १७५०, पृष्ठ १७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य के वायसराय या सूबेदार चाहते तो मरहठों के आक्रमण का मुकाबला कर सकते थे परन्तु उनमें से अधिकतर सूबेदारों ने राजधानी को उसके भाग्य पर छोड़ दिया और अपने अधीन सूबों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली।

इन राजनीतिक परिवर्तनों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बस्तियों की भावी कठिनाइयां और भय तो दिखाई दे रहे थे परन्तु उसी समय उनके कारण होने वाली परिस्थितियां कम्पनी के लिए सर्वथा हानिकारक न थीं। अंग्रेजी कारखाने इतने शक्तिशाली थे कि वे उन मुसलमान गवर्नरों और तटवर्ती प्रदेशों के राजाओं से अपनी रक्षा कर सकें जिनसे उनका वास्ता पड़ता था। वह समय तो ऐसा था कि उन्हें किसी भी शक्तिशाली बादशाह की ईर्ष्या का सामना करना पड़ सकता था परन्तु उस समय बंगाल और दक्षिणी भारत के नये अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों के हाकिम पश्चिमीय शक्ति को भयभीत करना ही नहीं चाहते थे। इसके विपरीत, वे तो समुद्र पार के इन व्यापारियों के संसर्ग से प्राप्त होने वाले साधनों का प्रायः स्वागत ही कर रहे थे।

अब अंग्रेजों ने तो नित्य होने वाले विद्रोहों से लाभ उठाकर भारत में अपनी स्थिति को कानूनी रूप देने का भी प्रयत्न किया। १७०७ में, औरंगजेब की मृत्यु का समाचार पाते ही वे बंगाल में फोर्ट विलियम को शक्तिशाली बनाने में लग गये क्योंकि "इस समय अराजकता है और कोई यह नहीं देखेगा कि हम क्या कर रहे हैं।"[1] १७१५ में जान सरमन और एडवर्ड स्टीफेंसन के नेतृत्व में अंग्रेजी राजदूत कलकत्ते से चलकर दिल्ली पहुँचे। उनके रास्ते में आने वाले सारे प्रदेश पर अराजकता का राज था। अंग्रेजी राजदूतों को पर्याप्त विलम्ब और असीम धैर्य-प्रदर्शन के बाद 'फरमान' अथवा वह विशेषाधिकार पत्र मिले जिन्हें बाद में आर्म (Orme) ने कम्पनी का 'मेगना कार्टा' (१२१५ का इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध राजकीय आज्ञापत्र) कहकर सम्बोधित किया। अंग्रेज राजदूतों की सफलता का मुख्य कारण यह था कि बादशाह राजदूतों के सर्जन, विलियम हेमिल्टन, का अत्यन्त आभारी था। उसने बादशाह को एक भयंकर बीमारी से बचाया था। इसका फल यह हुआ कि कलकत्ता और मद्रास के पास के कुछ गांव कम्पनी को मिल गये और भारत में कम्पनी के सेवकों के निवास-स्थान को विधिवत् स्वीकृति दे दी गयी। इन विशेषाधिकारों का मूल्य इस दृष्टि से अवश्य कम हो गया था कि अब मुगल सत्ता ही उत्तरी भारत को छोड़कर देश के अन्य भागों में महत्वहीन हो गयी थी परन्तु, जैसा कि बाद में बर्क (Burke) ने ऐलान किया, अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी कानूनी तौर पर मुगल साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गयी थी। कुछ भी हो, इस दूतावास ने उस घृणोत्पादक और सड़े हुए साम्राज्य के प्रति अंग्रेजों की आंखें खोल दीं। ये राजदूत जो उपहार बादशाह फर्रुखसियर के पास लेकर आये वह वास्तव में बहादुर शाह के लिए लाया गया था और बहादुरशाह के बाद उसके उत्तराधिकारी जहांदार शाह को दिया जाना था। परन्तु नागरिक उथल-पुथल के कारण वह

१. सी० आर० विलसन की 'अर्ली एनल्स ऑफ़ दि इंगलिश इन बंगाल' खंड १, पृष्ठ २८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपहार इन दोनों में से किसी को भी भेंट न किया जा सका था। राज-प्रतिनिधियों ने दिल्ली की गलियों में होने वाला मुगल-सेना का विद्रोह देखा। उन्होंने यह भी देख लिया कि वह बादशाह जिसे उन्होंने "सर्वोच्च शासक और विश्व का आधार" कहकर संबोधित किया था और जिसके सामने फोर्ट विलियम का गवर्नर स्वयं अपने ही शब्दों में, "रेत का लघुतम कण था..... जो बादशाह का आदेश पाकर अपना मस्तक पृथ्वी पर रगड़ने के लिए तैयार था",[1] वही बादशाह वास्तव में असावधान और निःशंक मन्त्रियों के हाथ की निर्जीव कठपुतली मात्र था।

अठारहवीं शताब्दी के पहले ३० साल के इण्डिया आफिस रेकॉर्ड में सबसे अधिक स्थान आस्टेंड कम्पनी के साथ होने वाले संघर्ष ने घेरा हुआ है। नीदरलैण्ड के सात संयुक्त प्रान्तों के विद्रोह के बाद बाकी दस प्रान्तों का इतिहास बहुत ही रंग बिरंगा रहा। उन्हें आस्ट्रिया और स्पेन की शक्तियों के बीच कभी इधर उछाला जाता था और कभी उधर। अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर उन्होंने भारतीय व्यापार में एक भाग प्राप्त करने के प्रयत्न किये। ये प्रयत्न कच्चे सिद्ध हुए। हाँ, १६९८ में किया जाने वाला प्रयत्न तो कदाचित् स्पेन में चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु और स्पेन के उत्तराधिकार के लिए होने वाली लड़ाई के कारण, केवल देखने में ही असफल रहा। अगले बारह वर्ष तक निचले प्रदेश (Lowlands) एक विस्तृत युद्ध-भूमि ही बने रहे और वहाँ यूरोपीय सेनाओं के पद-चाप ही सुनाई देते रहे। १७१३ की यूट्रेच (Utrecht) की शान्ति-संधि के अनुसार व्यापार फिर से आरम्भ हुआ और यह देश आस्ट्रिया के अधीन कर दिया गया। अपने नये सम्राट्, चार्ल्स षष्ठ, के रूप में निचले प्रदेशों के निवासियों ने एक ऐसा संरक्षक पाया जो, निजी कारणों से, उनके उन प्रयत्नों में सहयोग देने को तैयार था जो पूर्वीय व्यापार में हिस्सा बटाने के लिए किये जा रहे थे। चार्ल्स षष्ठ भारतीय व्यापार से होने वाले मुनाफे से एक ऐसा शाही व्यावसायिक समुद्री बेड़ा तैयार करने का स्वप्न देख रहा था जो अंग्रेजों और डचों की समुद्री प्रभुता का मुकाबला कर सके।

जैसा कि हम देखेंगे, आस्टेंड कम्पनी को १७२२ तक कोई रिटर्चनहीं मिला था। अकेले जहाजों के लिए १७१४ में ही आज्ञा-पत्र अवश्य दे दिये गये थे। १७१६ में प्रिन्स आफ़ वेल्स ने (जो अपने पिता की अनुपस्थिति में रीजेंट के रूप में कार्य कर रहा था) बादशाह के उन प्रजाजनों के विरुद्ध एक घोषणा की जो किसी विदेशी झंडे के नीचे पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार कर रहे थे। १७१८ और १७२१ के बीच में आस्टेंड से १५ जहाज 'पूर्व' की ओर गये। अपने मित्रों का साथ छोड़ देने वाले अनेक डच और अंग्रेज समुद्री कप्तानों, विशेषकर देश से निकाले गये जेकोबियनों ने आस्टेंड वालों की नौकरी स्वीकार कर ली। कुछ समय तक व्यापारियों के एक स्थायी संघ के रूप म व्यापार होता रहा। जलयात्रा के लिए जहाज लिस्बन, लेगहार्न और आस्टेंड में तैयार किये जाते थे और, एक विशेषज्ञ के अनुसार, उन्हें अंग्रेजी बन्दरगाहों से भी निर्विघ्न

१. वही, खंड २, भाग १, पृष्ठ तीन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकल जाने दिया जाता था। सम्राट् का विचार तो यह था कि एड्रियाटिक सागर के तटों पर फ़्यूम (Fiume) और ट्रीस्ट (Trieste) नामक स्थानों पर भारतीय बेड़े के ठहरने के लिए स्थान भी बनवा दिये जायं परन्तु यह योजना, उस समय तो पूरी न हो सकी।

शीघ्र ही आस्टेंड के व्यापारी एक कम्पनी बनाने के लिए आवश्यक चार्टर की मांग पर बल देने लगे। कहा जाता है कि पहले अंग्रेजों की सेवा करने वाले एक समुद्री कप्तान डि मरवेल (De Merveille) ने सबसे पहले इस सम्बन्ध में शाही कोर्ट के सामने एक योजना रखी। सम्राट् ने अपने मन्त्रियों और विशेषकर १७१६ से २४ तक नीदरलैण्ड्स के गवर्नर प्रिंस इयूजीन (Prince Eugene) के परामर्श के अनुसार और समुद्री शक्तियों की शत्रुता से डरकर बहुत समय तक इस प्रकार की किसी भी योजना पर विचार करना स्वीकार न किया। इंग्लैण्ड और हालैण्ड ने तो पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वे पूर्वीय संसार में नयी कम्पनी जैसे "इतने अशुभ आक्रमणकारी"[१] का उदय बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। बाद में पता चला कि भारतीय माल गुप्त रूप से फ़्लेन्डर्स द्वारा ग्रेट ब्रिटेन में पहुंचाया जा रहा है। यह निषिद्ध व्यापार दस बारह डांड़ों द्वारा चलायी जाने वाली बड़ी-बड़ी नौकाओं में होता था जो "आस्टेंड से टेम्स नदी तक और प्रायः चुंगी घर के अधिकारियों की आंखों के सामने ही, इससे भी ऊपर पुल के पार तक"[२] जाती थीं। यह व्यापार रोकने के लिए १७१९ और १७२१ में पार्लियामेंट ने विशेष एक्ट पास किये जिनके अनुसार बर्त्तानिया के प्रजा-जनों पर यह रोक लगा दी गयी कि वे किसी विदेशी राज्य द्वारा प्राप्त आज्ञा-पत्र के अनुसार हिन्द-द्वीप-समूह में व्यापार नहीं कर सकते और चार से अधिक डांड़ों वाली कोई नाव लन्दन ब्रिज के इधर अथवा उधर टेम्स नदी पर नहीं चलायी जा सकती। यह एक्ट पास हो जाने के बाद और भी ऐसे एक्ट पास हुए और ऐसी घोषणाएं की गयीं जिनके द्वारा आस्टेंड कम्पनी के कार्यों में सहयोग देने वाले ब्रिटिश प्रजा-जनों को कठोर दंड से डराया गया। कई वर्ष तक कम्पनी भी अपने पत्रों में उन लोगों की निन्दा करती रही जिन पर आततायियों के साथ किसी तरह का भी सम्बन्ध होने का सन्देह किया जा सकता था।

१७२२ में सम्राट्, प्रिन्स इयूजीन और अपने मन्त्रियों के परामर्श की परवाह न करके और समस्त विरोध का सामना करके भी एक चार्टर देने को तैयार हो गया। कहा जाता है कि यह महत्वपूर्ण रियायत प्राप्त करने में एक अंग्रेज व्यापारी कोलब्रुक का बहुत हाथ था। आज्ञा-पत्र २२ दिसम्बर, १७२२ को ही दे दिये गये थे परन्तु वे अगले वर्ष की गरमी तक प्रकाशित न किये गये। कम्पनी की पूंजी ६,०००,००० फ्लॉरिन निश्चित की गयी। विदेशियों का सहयोग पाने के लिए चार्टर की एक धारा में यह

१. मि० फ़ॉरमेन का पत्र राइट आनरेबल विलियम पुल्टेनी के नाम. १७२५, पृ० ३४।

२. दि इम्पारटेंस आफ़ दि आस्टेंड कम्पनी कन्सीडर्ड, १७२६, पृष्ठ ३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुविधा दी गयी कि आस्ट्रिया और उसके आदि-देश के बीच लड़ाई छिड़ जाने पर भी विदेशियों के हिस्से जब्त न किये जायं। हिस्से एन्टवर्प में ११ अगस्त से बिकने आरम्भ हुए और दूसरे दिन दोपहर तक पूरी पूंजी एकत्रित हो गयी। उसी महीने के अन्त तक तो उन हिस्सों की कीमत १२ से १५ प्रतिशत तक बढ़ भी गयी।

यहाँ तक तो नयी कम्पनी का आरम्भ उत्साह-वर्द्धक रहा। परन्तु चार्टर मिल जाने के कारण हालैण्ड और इंग्लैण्ड में उसका विरोध पहले से दुगना हो गया। अगले नौ महीने तक आस्टेंड कम्पनी का प्रश्न सबसे अधिक कंटकाकीर्ण राजनीतिक समस्या बना रहा। चार्टर की सार्वजनिक घोषणा तो अगस्त, १७२३ तक नहीं हुई परन्तु यह भेद कदाचित् पहले ही खुल गया था। अप्रैल में ब्रसेल्स (Brussels) स्थित डच मंत्री, एम० ब्रुनिंक्स (M. Bruyninx) ने नीदरलैण्ड के आस्ट्रियन गवर्नर, मारक्विस डि प्राइ (Marquis de Prie) के सामने अपनी शिकायतों के सम्बन्ध में एक प्रार्थना-पत्र रखा। डचों का विरोध मुन्स्टर (Munster) संधि (१६४८) की उन धाराओं के आधार पर था जिनके अनुसार स्पेन के बादशाह और नीदरलैण्ड के तत्कालीन शासक, फ़िलिप द्वितीय ने क्रियात्मक रूप से अन्तरीप मार्ग से होने वाले भारतीय व्यापार का पूरा भाग त्याग दिया था। डचों का कहना था कि १७१५ में एन्टवर्प में होने वाली निरोधक सन्धि (Barrier Treaty) की शर्तों के अनुसार आस्ट्रियन नीदरलैंड्स पर अब भी यह रोक लगी हुई थी। उन्होंने केवल स्पेन के सम्राट्-पद पर उसके अधिकार के आधार पर ही चार्ल्स षष्ठ को, दक्षिणी नीदरलैण्ड्स पर प्रभुता की मांग करने में सहायता दी थी। इसलिए वह उन प्रान्तों पर उतना ही अधिकार रख सकता था जितना स्पेन के सम्राटों का रहा था। स्पष्ट है कि इस प्रकार एक गम्भीर राजनीतिक प्रश्न उठाया गया था। सत्य तो यह है कि संधि की उपर्युक्त धारा कुछ अस्पष्ट सी थी और, जैसा कि एक तत्कालीन लेखक ने कहा भी है, "जान पड़ता है कि इस संधि के दो पक्ष हैं और प्रत्येक दल उसी पक्ष को स्वीकार कर रहा है जो उसके अधिक अनुकूल है।"[1] इंग्लैण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उत्साह के साथ डचों का समर्थन किया। उन्होंने डचों के प्रार्थना-पत्र का अनुवाद कराया और हाउस आफ कामन्स के द्वार पर खड़े होकर उसकी प्रतियां सदन के सदस्यों को दीं। तत्कालीन पत्रिका-लेखकों ने पूरा बल लगाकर यह आवाज उठाने का प्रयत्न किया (जो आवाज उसी समय धीमी हो गयी थी) कि प्रोटेस्टेंट मत संकट में है। यदि आस्टेंड कम्पनी सफल हो गयी तो इस प्रकार एक "प्रोटेस्टेंट गढ़ का व्यापार और धन रोमन कैथलिक राज्य की शक्ति बढ़ाने में लग जाएगा।"[2] हालैण्ड में विरोध की यह भावना इतनी तीव्र थी कि वहां की स्टेट्स जनरल ने यहां तक धमकी दे दी कि आस्टेंड के व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक डच को मृत्यु-दण्ड दिया जाएगा। इस समय निश्चित रूप से लोगों में यह धारणा बलवती थी कि सम्राट्

१. पोलिटिकल स्टेट आफ ग्रेट ब्रिटेन, लेखक ब.यर, खंड ३१, पृष्ठ ३५१।
२. मि० फोरमन का पत्र, पृष्ठ ३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और डचों के बीच का यह प्रश्न शस्त्रों का प्रयोग किये बिना नहीं हल हो सकता परन्तु कई वर्ष तक लगभग प्रत्येक यूरोपीय सन्धि के समय प्रकाश में आने और तत्कालीन राजनीति का प्रमुख विषय बन जाने पर भी यह समस्या उस सीमा तक कभी न पहुंची। १७२५ में हाउस आफ कामन्स ने एक प्रस्ताव पास करके यह निश्चय किया कि वियना (Vienna) की संधि, (जिसके अनुसार स्पेन ने, आस्ट्रिया को सहायता देने के लिए, आस्टेंड के जहाजों के लिए अपने अमरीकी बन्दरगाह खोल दिये थे) वास्तव में "पूरे ब्रिटिश व्यापार को नष्ट कर देने के लिए ही" की गयी थी। एक वर्ष बाद कम्पनी की निन्दा करते हुए फ़्रांस और हालैण्ड भी इंग्लैण्ड के साथ एक संधि के रूप में संबद्ध हो गये। सम्राट् ने समझ लिया कि यूरोपीय विरोध अत्यन्त शक्तिशाली है और साम्राज्य की रियासतें नीदरलैण्ड्स के व्यापार में कोई रुचि नहीं ले रहीं। १७२६ में बेवेरिया ने यह ऐलान कर दिया कि आस्टेंड कम्पनी के लिए लड़ी जाने वाली किसी लड़ाई को वह शाही लड़ाई न मानेगा। अन्त में चार्ल्स ने अपने वंश परम्परागत उद्देश्यों की वेदी पर कम्पनी और स्वयं अपनी नीति की बलि चढ़ा दी। एक धृष्टतापूर्ण स्वीकृति (Pragmatic Sanction) द्वारा अपने पैतृक अधिकार अपनी पुत्री, मेरिया थेरेसा (Maria Theresa) को सौंपने के लिए समुद्री शक्तियों का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से चार्ल्स १७२७ में सात साल के लिए कम्पनी के विशेषाधिकार स्थगित करने के लिए तैयार हो गया। १६ मार्च, १७३१ के दिन ग्रेट ब्रिटेन के साथ की जाने वाली एक अन्य संधि के अनुसार उसने कम्पनी को पूरी तरह दबा देने का भार भी अपने ऊपर ले लिया और यह भी विश्वास दिलाया कि वह इंग्लैण्ड के चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में स्पेन के अधीन रहने वाले किसी भी देश के जहाजों को भारत की ओर जाने की आज्ञा न देगा।

अब कम्पनी ने, एड्रियाटिक सागर के तट पर, ट्रीस्ट और फ्यूम नामक स्थानों पर, अपने को फिर से स्थापित करने की कोशिश की। साम्राज्य के ये दोनों बन्दरगाह सन्धि की निरोधात्मक धाराओं में नहीं आते थे। कम्पनी अपने इन प्रयत्नों में सफल न हो सकी। इधर से निराश होकर दूसरी यूरोपीय शक्तियों का सहारा ढूंढ़ा गया। १७२८ में डेनमार्क के फ़्रेडरिक चतुर्थ ने एक विशेष चार्टर प्रदान किया जिसके अनुसार दबायी गयी कम्पनी के अनेक सदस्य भारतीय व्यापार में डेनमार्क वालों के साथ मिल सकते थे। वे साम्राज्य के एक स्वतन्त्र नगर, हम्बर्ग के समीप डेनमार्क के राज-छत्र के अधीन एक नगर अल्टोना में एक इण्डिया हाउस स्थापित कर सकते थे। बाकी सदस्यों ने अपने को स्वीडन की एक नयी कम्पनी के अधीन एकत्रित कर लिया। उन्हें १७३१ में चार्टर मिल गया। स्वीडन की कम्पनी प्रायः निर्विघ्न रही क्योंकि यह अधिक-तर भारत की अपेक्षा सुदूरपूर्व—चीन और जापान के साथ ही व्यापार करती थी। अब डेनमार्क में ब्रिटिश और डच राजदूतों को यह आज्ञा दी गयी कि वे नयी कम्पनी के रूप में होने वाले आस्टेंड कम्पनी के पुनरुदय का विरोध करें। फ़्रेडरिक ने यह आक्षेप तो स्वीकार न किया तथापि कुछ समय के पश्चात् अल्टोना का इण्डिया हाउस बन्द कर दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आस्टेंड कम्पनी सदा ही 'पूर्व' की अपेक्षा यूरोपीय राजनीति पर ही अधिक निर्भर रही थी। तब भी, कार्लाइल की इस प्रसिद्ध व्याख्या के बावजूद कि "आस्टेंड कम्पनी कार्ल षष्ठ का तीसरा छाया-आखेट है, वह केवल कागजी कम्पनी है जिसने कभी जहाज नहीं भेजे, बस राजनीतिक प्रश्न ही पैदा किये हैं और अपना अस्तित्व बनाए रखने का ही गौरव पाया है," आस्टेंड वालों ने न केवल भारतीय समुद्रों में व्यापार किया बल्कि हुगली पर 'बांकीबाजार' (बांकीपुर) और मद्रास के निकट कावलान्ग (Covelong) अथवा काब्लन (Cuoblon) में दो व्यापारिक बस्तियां भी बसायीं। आस्टेंड कम्पनी बंद होने तक व्यापार के लिए भेजे जाने वाले जहाजों की संख्या बराबर बढ़ती रही और सदस्यों को पर्याप्त लाभांश भी दिये गये।

आस्टेंड कम्पनी को भारत में बहुत ही कठोर प्रतियोगियों का सामना करना था। बंगाल के अंग्रेज व्यापारियों ने, अपने देश से प्राप्त क्षतिपूर्ति के आश्वासन से उत्साहित होकर, १७२२ से पहले ही विश्वासघाती अंग्रेज, हचूम को पकड़ने और कैद करने की कोशिश की। उसे बांकीपुर का मुख्य अधिकारी नियुक्त कर दिया गया था। इन व्यापारियों ने बाद में यह स्वीकार भी किया कि वे "उस सीमा तक पहुंच गये थे जिसे लिपिबद्ध करना उचित नहीं।"[1] आरम्भ से ही डचों ने आस्टेंड के जहाजों पर कब्जा करने में आनाकानी नहीं की थी और सम्राट् द्वारा छोड़ दिये हो जाने पर तो बहुत जल्दी कम्पनी की बस्तियों का सर्वनाश हो गया। अंग्रेजों ने १७३० में गंगा नदी पर एक जहाज पर अधिकार कर लिया और कैप्टेन गॉसफ़्राइट (Captain Gosfright) के नेतृत्व में एक दल ने दो और जहाजों को घेर लिया "ताकि वे फिर कभी कहीं न आ जा सके।"[2] अन्त में, १७३३ में बंगाल प्रेसीडेंसी ने एक मुसलमान अधिकारी को बांकीबाजार के अरक्षित केन्द्र पर हमला करने के लिए उकसाया। उस केन्द्र की चौदह व्यक्ति उस समय रक्षा कर रहे थे। उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर सामना किया परन्तु उन्हें समर्पण करना ही पड़ा। उन्हें यूरोप वापिस ले जाया गया। कावलांग (Covelong) का कारखाना कुछ अधिक वर्ष तक बना रहा। कम्पनी कानूनी तौर पर १७९३ तक भंग न हुई थी।

इस प्रकार अभागिन आस्टेंड कम्पनी का अन्त हो गया। उस समय के लोगों ने ऐसा अनुभव किया कि मानों कोई भयंकर अजगर ही मार डाला गया हो। एक प्रेक्षक ने १७३१ में लिखा: "यदि कोई गम्भीर रूप से पिछले आठ वर्ष में होने वाले अनेक और विचित्र यूरोपीय सौदों का अध्ययन करे तो इस अनोखी, परन्तु सत्य बात का पता चलेगा कि यूरोप के राजकुमारों के बीच होने वाली सारी गड़बड़ी और उनके परस्पर विरोधी हितों का सामंजस्य करने में सामने आने वाली कठिनाइयों का मूल कारण हिज इम्पीरियल मैजेस्टी द्वारा आस्टेंड कम्पनी को दिया गया चार्टर ही है। हम देख सकते हैं कि यह बाधा दूर होते ही कितनी जल्दी सार्वजनिक शान्ति

१. बंगाल के गवर्नर, हेनरी फ्रेन्कलैंड, का पत्र, १७२७।
२. पोलिटिकल स्टेट ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन, लेखक बायर, खंड ४०, पृष्ठ ३०५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की पुनः स्थापना हो गयी।"[1] कम्पनी का लड़खड़ाना तो मानों उस शताब्दी की सीमाबद्धता और एकाधिकार की तंग नीति की विजय थी। प्रस्तुत प्रसंग में तो इस नीति को राष्ट्रीय ईर्ष्या की शक्ति भी प्राप्त थी। कुछ ही वर्षों में विवेकशील राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे कि इस सम्बन्ध में इंग्लैण्ड द्वारा उठाया गया कदम केवल स्वार्थपूर्ण ही नहीं था बल्कि उसका औचित्य भी संदिग्ध था। पिट ने १७४२ में कहा था : "हमें आस्टेंड कम्पनी की समाप्ति की मांग करने का कोई अधिकार न था और उस मांग पर बल देने में हमारा वास्तविक हित भी न था क्योंकि वह हमारी कम्पनी की अपेक्षा फ़्रांसीसी और डच, दोनों ईस्ट इण्डिया कम्पनियों की शत्रु ही अधिक सिद्ध होती।"[2]

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के लिए होने वाली लड़ाई छिड़ जाने पर फ़्रांसीसियों ने मद्रास पर हमला कर दिया। इस प्रकार कम्पनी के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अस्तु, इस लड़ाई के आरम्भ तक दोनों प्रेसीडेन्सियों के इतिहास पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित ही होगा। वह विकास और एकीकरण का युग था। सामान्य उतार-चढ़ाव होने पर भी उस काल में कम्पनी का व्यापार स्थिर और लाभदायक रहा।

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध के विपरीत, स्पेन के उत्तराधिकार-युद्ध में हिन्द-द्वीप-समूह लगभग अछूते ही रहे। आक्रमण केवल समुद्र तक सीमित थे और आने तथा जाने वाले जहाजों की भाग्य-चिन्ता के अलावा फ़्रांसीसियों की ओर से कोई भय न था। पूरी लड़ाई में (१७०२–१३) कम्पनी को सात जहाजों से अधिक की हानि नहीं सहनी पड़ी। मार्च १७१२ में मद्रास और कलकत्ते के बीच तीव्रगामी दूत नियुक्त कर दिये गये और उन्हें बराबर वेतन दिया जाता रहा ताकि वे समुद्र-तट के साथ ऊपर की ओर बढ़ने वाले फ़्रांसीसी जहाजों के समाचार तुरन्त बंगाल तक पहुंचा दें। व्यापारिक बस्तियों पर इस लड़ाई का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १७१२ में, जबकि फोर्ट सेंट डेविड के अंग्रेज जिंजी के राजा के साथ लड़ाई कर रहे थे उस समय उन्होंने पांडिचेरी के फ़्रांसीसी गवर्नर, एम० हेबर्ट (M. Hebart) से मध्यस्थ बनने के लिए प्रार्थना की। दोनों राष्ट्रों में परस्पर युद्ध होने के कारण आरम्भ में तो हेबर्ट ने संकोच किया परन्तु अन्त में उसने यह भार अपने ऊपर ले लिया और समझौता भी करा दिया।

बंबई और मद्रास की अपेक्षा बंगाल के यूरोपवासियों पर मुगल-शक्ति की पराजय का प्रभाव कम पड़ा। दूसरे प्रान्तों के वायसरायों के मुकाबले में बंगाल के सूबेदारों या नवाबों पर सम्राट् का, किसी न किसी रूप में, नियन्त्रण कुछ अधिक समय तक बन रहा। अन्त में वे भी स्वतन्त्र हो गये। नवाब स्वयं भी योग्य व्यक्ति थे और

---

१. वही, खंड ४२, पृष्ठ १४३।

२. अर्ल आफ़ चेदम्स स्पीचिज़, १८५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुर्शिद कुली खां (१७१३–२५) शुजाखां (१७२५—३९) और अली वर्दी खां (१७४१—५६) के मातहत प्रान्त के निवासी, स्थानीय मानदण्डों के अनुसार अच्छे शासन और आन्तरिक शान्ति का उपभोग करते रहे। कलकत्ते के अंग्रेज समय-समय पर उन न्याय-विरुद्ध मांगों की कड़ी शिकायत तो अवश्य करते रहे जो मुगल अधिकारियों द्वारा उनके व्यापार पर की जाती थीं तथापि नवाबों के साथ उनके सम्बन्ध अच्छे ही रहे। फोर्ट विलियम की इमारत, जो १६९६ में बननी आरम्भ हुई थी, १७१५ के लगभग बनकर तैयार हो गयी। "बारी बारो से मिलने वाली हकूमत समाप्त हो जाने पर,"[1] १७१० में, बस्ती के व्यापार में स्थायी रूप से विकास हुआ। बंगाल का व्यापार, जिसमें सिल्क, मलमल, शोरा, खांड, अफीम, चावल, पटसन और तेल का समावेश था, भारत में सबसे अधिक मूल्यवान था। अंग्रेजी कारखानों, मालगोदामों और किले के चारों ओर एक स्थानीय और सम्पन्न नगर बस गया था। १७३५ में ही इस नगर की आबादी अनुमानतः १०००,००० थी। उधर वह विस्तृत जलाशय, जो चारनॉक के पहली बार वहां लंगर डालने के समय उजड़ा पड़ा था, अब जहाजों से भरा था।

मुगल-शासन के अन्त का प्रभाव भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर सबसे अधिक बम्बई पर पड़ा। मरहठे अपनी जन्मभूमि, महाराष्ट्र, से चलकर स्थिरतापूर्वक पुर्तगाली और अंग्रेजी व्यापारिक बस्तियों के पिछले भू-भागों पर कब्ज़ा करते हुए उत्तर की ओर अपनी शक्ति फैला रहे थे। शिवाजी के वंशज अब भी नाममात्र के लिए सतारा के स्वामी थे परन्तु वास्तव में उनका राजमहल तो शाही बन्दीगृह ही बन गया था। इसका कारण यह था कि वास्तविक सत्ता उनके मंत्री, पेशवाओं, के हाथ में चली गयी थी। पेशवाओं ने अपना पद पैतृक बना लिया था और पूना में अपने वंश की स्थापना भी कर ली थी। पश्चिमी समुद्र-तट पर अंग्रेज और फ़्रांसीसी, अपनी पुरानी शत्रुता भूलकर, अपने सामान्य संकट का सामना करने के लिए एक हो गये। १७३१ में बम्बई से ३०० सिपाहियों का एक दस्ता गोआ भेजा गया। वहां से इससे अधिक सहायता न भेजी जा सकी। कारण यह था कि भारत में पुर्तगाल का मामला, "यदि बिलकुल निराशाजनक और असाध्य दशा में न था तो भी पतनोन्मुख अवश्य था।"[2] १७३८ में मरहठों ने बम्बई से अट्ठाईस मील उत्तर में स्थित बसीन पर अधिकार कर लिया। समुद्री लुटेरों का प्रसिद्ध सरदार, कन्होजी अंगरिया बम्बई से गोआ तक समुद्र पर चलने वाले प्रत्येक जहाज पर छापा मारता था। इसके तीव्रगामी जहाज और डांडों से चलने वाली लम्बी-लम्बी नौकाएं (जिन्हें 'ग्रब' (Grab) और 'गालीवत' (Gallivat) कह कर पुकारा जाता था) समुद्र-तट के उन बन्दरगाहों और खाड़ियों से रवाना होती थीं जहां उसके शक्तिशाली केन्द्र स्थापित थे। वह पहले मरहठों के समुद्री बेड़े का संचालक रह चुका

१. देखिए पीछे, पृष्ठ ४६।

२. बाम्बे गज़टीयर, खंड २६, भाग १, पृष्ठ १९४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था परन्तु अन्य मरहठा नेताओं की भांति उसने भी शीघ्र ही अपने को स्वाधीन कर लिया। आरम्भ में वह केवल मुगलों के जहाजों पर ही हमला करता था परन्तु बाद में मडगास्कर के बदनाम लुटेरों, टेलर, इंग्लैण्ड और प्लनटेन, के साथ मिलकर ईस्ट इण्डिया के बड़े से बड़े दल पर भी आक्रमण करने लगा। १७१७, १७१८, १७२० और १७३७ में उसके मुख्य केन्द्रों पर धावा बोला गया परन्तु इनसे कोई लाभ न हुआ। उसकी राजधानी, घेरिया (Gheria), ने न केवल कम्पनी के समुद्री-दल को ललकारा बल्कि उसने तो १७२० में एक शाही दस्ते का भी डटकर सामना किया। आखिरकार १७५६ में क्लाइव और वाट्सन ने उस पर पूरे तौर से अधिकार किया। अंगरिया स्वयं तो १७२८ या १७३० (उसकी मृत्यु तिथि अनिश्चित है) में मर गया परन्तु उसके पुत्रों में से एक कोलाबा में और दूसरा सेवेनड्रग (Sevendrug) ने उसके चरण-चिह्नों पर चलता रहा। इन भयंकर आक्रमणों के कारण बम्बई अठारहवीं शताब्दी के पहले १८ वर्षों में, अत्यन्त दुर्बल बना रहा। उसके व्यापार पर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस अवधि के बाद स्थायी विकास आरम्भ हुआ। १७४४ में बम्बई की आबादी लगभग ७०,००० थी। बम्बई पुर्तगालियों को तो अधिक सहायता न दे सका परन्तु विरोध के उत्साहवर्द्धक वातावरण में उसने अपने शत्रुओं का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्ति संचित कर ली। १७४६ तक तो उसने सैनिक दृष्टि से सबसे अधिक शक्तिशाली प्रेसीडेन्सी का स्थान पा लिया। 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' ने लिखा था, "हमें इस बात में कोई रुचि नहीं है कि भारत में तुम्हें जल और स्थल की इतनी सेना अपने पक्ष में रखने का अवसर प्राप्त है।"[1] अपने देश में होने वाले इस विरोध के बावजूद बम्बई अपनी भारतीय जल-सेना का विकास करता रहा और १७३७ में उसकी स्थल-सेना में २६०० से अधिक मनुष्य थे। इनमें से ७५० यूरोपियन थे। इस प्रकार उस समय मद्रास और कलकत्ते के मुकाबले में बम्बई की सैन्य शक्ति कहीं अधिक थी। कम्पनी के सेवक तिल-तिल करके अपने भय और संकट का सामना कर रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने अंगरिया के विरुद्ध मुगल-जल-सेना नायक, सिदी, के साथ मित्रता कर ली और इस तरह अंगरिया के एक पुत्र को दूसरे का शत्रु बना दिया। वे पुर्तगालियों को मरहठों के विरुद्ध खड़ा करने में भी सफल हो गये। अन्त में उन्होंने १७३९ में स्वयं मरहठों के साथ वह पहली संधि कर ली जिसके अनुसार पेशवा ने अपने राज्य भर में कम्पनी को स्वतन्त्र व्यापार करने की अनुमति दे दी।

'दक्खिन' पर होने वाले औरंगजेब के आक्रमण (१६८३–७) के परिणामों ने मद्रास पर गहरा प्रभाव डाला। बूढ़े बादशाह के संकुचित प्रयत्नों ने गोलकुंडा और बीजापुर के दक्षिणी राज्यों को तहस-नहस तो कर दिया परन्तु उनके स्थान पर किसी शक्ति की स्थापना न की। "किसी न किसी अंश तक 'दक्खिन' में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने वाली हकूमतें मिट जाने पर समाज का वह ढांचा भी छिन्न-भिन्न हो गया

१. इण्डिया ऑफ़िस रेकॉर्ड्स, लेटर बुक नं० १६, बम्बई को भेजा गया पत्र, २७ फ़रवरी, १७१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो उन पर आधारित था और समाज के छितराए हुए अंग अस्त-व्यस्त तत्वों की भांति रह गये।"[1] दोनों विजित राज्यों के सैनिक या तो सम्भाजी मरहठे की सेना में भर्ती हो गये या दल बना बनाकर लूट मार करने लगे। यह ठीक है कि सम्भाजी हार गया और १७०० से १७०४ तक सम्राट् ने धीरे-धीरे मरहठा दुर्गों की संख्या भी कम कर दी परन्तु उस समय तक स्वयं उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी, आर्थिक स्थिति बिलकुल अव्यवस्थित हो गयी थी और उसके सिपाही "घोंसले पर हमला होने पर कांव कांव करने वाले कौओं की भांति"[2] वेतन के लिए चिल्ला रहे थे। ऐसी दशा में सम्राट् आगे न बढ़ा। १७०७ में उसकी मृत्यु के समय 'दक्खिन' की दशा बहुत चिन्ताजनक थी। थामस पिट ने इस अवसर से लाभ उठाकर सितम्बर, १७०८ में कर्नाटक के नवाब से मद्रास के पड़ोस में पांच नगर ले लिये। बाद में नवाब ने अपनी स्वीकृति वापिस ले ली इसलिए कम्पनी कुछ वर्ष तक उन नगरों को स्थायी रूप से अपने अधिकार में न ले सकी। इन पांच नगरों (अथवा गांवों) का समर्पण सरमन के दूतावास के प्रयत्न का ही फल था परन्तु १७१७ में तत्सम्बन्धी 'फरमान' आने पर भी अंग्रेजों को उनमें से एक गांव में प्रवेश करने के लिए शस्त्रों की सहायता लेनी पड़ी। शस्त्र उठाकर सम्राट् के फरमानों का स्वागत करने का यह तरीका चिर-प्रचलित उस रीति से बिलकुल भिन्न था जिसके अनुसार वास्तविक फरमानों का राजोचित अभिनन्दन किया जाता था और उस समय किले तथा मार्ग में आने वाले प्रत्येक जहाज पर से १५१ तोपों की सलामी दी जाती थी।

शीघ्र ही दक्षिणी भारत का सब अधिकार मुगलों के हाथों से निकल गया। १७१३ में आसफ़जाह (जो बाद में निजामुल्मुल्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ) 'दक्खिन' का सूबेदार बनाया गया। यद्यपि उसे कुछ समय के लिए इस पद से हटा दिया गया था परन्तु उसने १७२३ में फिर अपना स्थान प्राप्त कर लिया और नाममात्र की अधीनता के अतिरिक्त अन्य सब बातों में दिल्ली से स्वतन्त्र हो गया। अब 'दक्खिन' में मरहठों और निजामुल्मुल्क के बीच दीर्घकालीन द्वन्द्व युद्ध आरम्भ हुआ। इस संकट-पूर्ण समय में अंग्रेजों ने निजाम के साथ मित्र भाव बनाए रखने की नीति का पालन किया। इसके साथ ही वे धीरे-धीरे अपने किलों को भी अधिक शक्तिशाली बनाते रहे। मरहठों और निजामुल्मुल्क के बीच होने वाले संघर्ष के दिनों में (जिसमें समय-समय पर उतार-चढ़ाव होता रहा) अनेक उपहार और शुभकामना-सूचक पत्र हैदराबाद भेजे गये। लड़ने वाले दोनों पक्षों की शक्ति समान थी इसीलिए लड़ाई लम्बी खिंच गयी। इससे मद्रास में अंग्रेजों को बहुत लाभ पहुंचा। दोनों में से किसी पक्ष के पास भी इतना अवकाश न था कि वह कम्पनी की बस्ती की बढ़ती हुई शक्ति पर ध्यान देता। कोरोमंडल तट पर, एक शक्तिशाली स्थानीय वंश ने कर्नाटक में अपने पैर जमा लिये। कर्नाटक पहाड़ों और समुद्र के बीच में स्थित भूमि की उस चौड़ी पट्टी का नाम है

१. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, लेखक एम० एलिफ़न्स्टन, १८६६, पृष्ठ ६५४।

२. वही, पृष्ठ ६६९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसकी उत्तरी सीमा पर कृष्णा नदी है और दक्षिणी सीमा पर तंजौर। ये नरेश नाम-मात्र के लिए निजामुल्मुल्क के अधीन थे। निजाम स्वयं भी कहने को तो 'दक्खिन' में मुगलों का प्रतिनिधि था पर वास्तव में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का स्वामी था। इस तरह सुदृढ़ शासन के दोहरे परकोटे में सुरक्षित होकर अंग्रेज मद्रास में शान्तिपूर्वक व्यापार करते रहे। उन्होंने कर्नाटक के नरेश और उसके उच्चाधिकारी, 'दक्खिन' के सूबेदार, दोनों के साथ ही अच्छा सम्बन्ध बनाए रखा। इस काल के अन्त में मरहठों ने दक्षिणी भारत का राजनीतिक संतुलन नष्ट कर दिया। मरहठे निजाम पर बहुत दबाव डाल रहे थे। १७४० में वे एक डटकर लड़े जाने वाले युद्ध में कर्नाटक के शासक, नवाब दोस्त अली को मारकर कर्नाटक में जा घुसे। अब फोर्ट सेंट जार्ज के अंग्रेजों की जान के लाले पड़ गये। तब भी उन्हें इस बात का संतोष था कि उनके मुख्य केन्द्र में १९३ तोपें हैं। १७४१ में जबकि मरहठों की सेना का मुख्य भाग त्रिचनापली पर आक्रमण कर रहा था मरहठा घुड़सवारों के कुछ दलों ने फोर्ट सेंट डेविड की सीमा तक लूटमार आरम्भ कर दी। इन आक्रमणकारियों की सफलता अस्थायी ही रही। १७४३ में निजाम ने फिर कर्नाटक पर अधिकार कर लिया। चार साल पहले बम्बई पेशवा के साथ एक सन्धि कर चुका था। १७४२–४३ में कलकत्तावासियों को यह समाचर मिला कि मरहठों ने बंगाल के सूबेदार अलीवर्दी खां को हरा दिया है और मुर्शिदाबाद के किनारों पर लूटमार आरम्भ कर दी है। लगभग उसी समय हिन्दू लुटेरों का यह संगठन पश्चिमी, दक्षिणपूर्वी और उत्तरपूर्वी भारतीय समुद्र-तटों पर स्थित कम्पनी के सब प्रेसीडेंसी नगरों की ओर बढ़ रहा था। यह तो मानों इस बात का पूर्वाभास था कि शान्तिपूर्ण व्यापार का युग समाप्त हो रहा है।

इस पूरे काल में असाधारण व्यक्तित्व वाले अधिक अंग्रेज प्रकाश में न आये। छत्तीस वर्ष की इस अवधि (१७०८—४४) में सात व्यक्ति बंगाल के प्रेसीडेंट बने, सात बम्बई के और बारह फोर्ट सेंट जार्ज के। इन सबमें से केवल दो व्यक्ति (जो दोनों ही मद्रास के प्रेसीडेन्ट थे) थामस पिट और स्काटलैण्ड वासी जेम्स मेक्री (James Macrae) (१७२५—३०) ही "डिक्शनरी आफ नेशनल बायग्राफी" में स्थान पा सके हैं। एक बात अवश्य है। यदि इस अवधि में कम्पनी के असाधारण कार्यकर्त्ता कम रहे तो कम्पनी के अयोग्य कार्यकर्त्ताओं की गिनती भी बहुत कम रही। दिल्ली में होने वाली सरमन की सफलता तो मानों उस अपार धैर्य की विजय थी जो किसी भी बाधा से निराश होना स्वीकार नहीं करता। उन व्यक्तियों के सामने आने वाली राजनीतिक स्थिति अत्यन्त कठोर थी। इस समय एक साम्राज्य का पतन हो रहा था, शक्तिशाली अधिकारी साम्राज्य के खण्डहरों में से अपने लिए राज्य निकाल रहे थे और इन सबसे भयंकर, मरहठों की उस भीषण सैन्य शक्ति का उदय हो रहा था जिसने अपने समस्त साधन लूटमार में ही लगा दिये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ९

'पूर्व' में अंग्रेज़ों की जीवन-चर्या

मुख्य रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनीतिक इतिहास का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में करेंगे। यहाँ तो औपनिवेशिक दृष्टिकोण से भारत में अंग्रेजों के दैनिक जीवन का संक्षिप्त परिचय दे देना ही उचित होगा।

१६७६ के बाद कम्पनी के कार्यकर्त्ता क्रमशः नौसिखिए, लेखक, कारखानेदार और छोटे व्यापारी के रूप में काम करके ही बड़े व्यापारियों का पद पाते थे। कारखाना वास्तव में विभिन्न इमारतों का एक सुगठित केन्द्र था। इसमें कम्पनी के प्रेसीडेण्ट या सबसे ऊंचे अधिकारी और उसके सहायकों के रहने के स्थान, माल गोदाम और दफ्तर आदि होते थे। ये सब इमारतें 'किले' की चहार-दीवारी से घिरी रहती थीं। आरम्भ में वहां पारिवारिक-जीवन के लिए कोई प्रबन्ध न था। सर्वोच्च अधिकारी भी प्रायः अपनी पत्नियों को साथ नहीं रखते थे। दूसरे लोगों से तो अविवाहित ही रहने की आशा की जाती थी। फ़्रांसीसी कम्पनी का तरीका इससे भिन्न था। उन्होंने शुरू से ही बस्तियां बसाने का निश्चय कर लिया था। अंग्रेज़ी कारखाना तो मानों किसी विश्व-विद्यालय के एक कालिज का ही व्यापारिक प्रतिरूप था। वहाँ लगभग १७२० तक सब कार्यकर्त्ता एक साथ भोजन करते थे, नित्य प्रार्थना होती थी और निश्चित समय पर दरवाजे बन्द कर दिये जाते थे। तरुण सदस्यों पर प्रेसीडेंट का अनुशासन चलता था और नियम-भंग या अनुचित आचरण करने—जैसे शराब पीना, जुआ खेलना, आपस में झगड़ा करना अथवा आज्ञा-भंग करना आदि—पर जुर्माना किया जाता था। तड़क-भड़क और शान-शौकत शुरू से ही रखी गयी थी। उदाहरणार्थ, बस्तियों के गवर्नर, फहराते झण्डों, दुन्दुभी के स्वर और तोपों द्वारा दी जाने वाली सलामी के बिना एक स्थान से दूसरे स्थान तक न जाते थे।

कम्पनी की, १७४६ से पहले की व्यापारिक बस्तियों को कारखाना मात्र कहना (जैसा प्रायः कहा जाता है) भूल है। उस समय तक प्रान्तों पर तो अंग्रेजों का अधिकार नहीं हुआ था परन्तु उन बस्तियों पर वे हकूमत-सी ही कर रहे थे जिसमें कम्पनी से लाइसेंस लेकर व्यापार करने वाले मुसलमान, हिन्दू और यूरोपीय व्यापारियों की मिलीजुली आबादी थी। १६७१ में ही भारत से भेजे जाने वाले एक पत्र में बम्बई को निश्चित रूप से एक 'उपनिवेश' कहा गया था और इसी व्यापारिक बस्ती में कम्पनी ने पहले-पहल केवल कारखाना खोलने की प्रारम्भिक आकांक्षा से आगे बढ़कर, एक ऊंचे लक्ष्य तक पहुंचने का स्पष्ट प्रयत्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया । बम्बई पर अधिकार करने के कुछ ही समय बाद उन्होंने "गम्भीर और नागरिक जीवन बिताने वाली बीस अविवाहित स्त्रियों" को वहां भेजा । उन्हें "एक साल तक वहाँ रखने और पहनने के लिए एक पोशाक देने का विश्वास दिलाया गया था ।"[१] दुर्भाग्यवश, बाद में यह सुना गया कि उनमें से कुछ स्त्रियां "हमारे, राष्ट्र धर्म और सरकार के लिए कलंक का कारण बन गई हैं ।" इसलिए बम्बई के अधिकारियों को यह आज्ञा दी गयी कि वे "वे उन स्त्रियों को पूरी तरह चेतावनी दे दें कि वे अपना व्यवहार गम्भीर और ईसाई-धर्म के अनुकूल बना लें वरना उनके बाहर जाने की स्वतन्त्रता पर रोक लगा दी जायेगी और इंग्लैण्ड वापस भेजने तक उन्हें केवल रोटी पानी पर ही जीवित रखा जाएगा ।"[२] अब 'कोर्ट' कम्पनी में कार्य न करने वाले अंग्रेजों को भी भारत में व्यापार सम्बन्धी आवागमन के लिए आज्ञा देने लगी । इतना ही नहीं उन्हें इसके लिए उकसाया भी गया । १६८७ में उन्होंने अपनी नीति पर प्रकाश डालते हुए ऐलान किया कि उनकी इच्छा है कि "हमारे नगर सब राष्ट्रों के माल और लोगों से भरपूर हों ।"[३] एक तत्कालीन (१६८१) लेख में कहा गया कि "सैकड़ों परिवार (यद्यपि इसमें कुछ अतिशयोक्ति जान पड़ती है) भारत के सब स्थानों और बन्दरगाहों में पूरी व्यापारिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं ।"[४] यह स्थिति अपने साथ अनेक कठिनाइयां भी लायी । पुराने कारखाने की भांति, इस नवीन मिली-जुली आबादी पर सरलता से नियन्त्रण नहीं किया जा सकता था । १६६५ में कोर्ट ने फोर्ट सेंट जार्ज के एक गवर्नर, सर एडवर्ड विन्टर को कम्पनी के प्रधान पद से गिराकर उपाधिकारी (Second) बना दिया । उसने अपना पद छोड़ने से इन्कार किया और अपने नियुक्त उत्तराधिकारी, फाक्सक्राफ्ट (Foxcroft) को पकड़ कर कैद कर लिया । सर एडवर्ड विन्टर ने फाक्सक्राफ्ट पर यह अभियोग लगाया कि उसने राउन्डहेड (Roundheads) और रिपब्लिकन (Republicans) हितैषियों के साथ विश्वासघात किया है । फलस्वरूप कम्पनी को १६६८ में अपनी बस्ती के चारों ओर घेरा डालने के लिए पांच सशस्त्र जहाज भेजने पड़े । यह देखकर ही सर एडवर्ड विन्टर ने समझौता किया ।

'कोर्ट आफ़ कमिटीज़' यह भी अनुभव करने लगी कि 'पूर्व' में उनके कार्यकर्त्ताओं की शक्तियों की सीमा बढ़ती जा रही है । १६८७ में उन्होंने फोर्ट सेंट जार्ज की कौंसिल की सदस्यता के इच्छुक अनेक व्यक्तियों में से एक को इस पद पर नियुक्त कर लिया । उनका कहना था कि "यह व्यक्ति विद्वान् था । इसने यूनान और रोम

---

१. इण्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, कोर्ट बुक नं० २६, पृ० १८३ ।

२. सूरत कौंसिल का बम्बई को भेजा गया पत्र, दिसम्बर, १६७५ ।

३. इण्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटरबुक नं० ८, फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, २८ सितम्बर, १६८७ ।

४. एन्ट्रीज़ व्हेयरइन इज़ डिमान्सट्रेटिड देट दि ईस्ट इण्डिया ट्रेड इज़ दि मोस्ट नेशनल आफ़ आल फ़ारेन ट्रेड्स, १६८१ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्राचीन इतिहासों का भली प्रकार अध्ययन किया था। इस प्रकार के अध्ययन के साथ प्राकृतिक प्रतिभा का संयोग हो जाने पर ही कोई मनुष्य राजनीति-विज्ञान, सैनिक सूझ-बूझ और दूसरी वे विशेषताएं अर्जित कर सकता है जो उसे किसी बड़े नगर पर शासन करने योग्य बनाती हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि "फोर्ट सेंट जार्ज के उपाधिकारी (Second) पद के योग्य होने वाले व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य नहीं कि उसका पालन बचपन से ही भारत में हुआ हो, या वह बहुत समय तक वहां रहा हो और भारतीयों की भाषा बोल सकता हो या वहां के व्यापार की गम्भीर जानकारी रखता हो। अपनी-अपनी जगह बहुत अच्छी होने पर भी ये विशेषताएं किसी मनुष्य को फोर्ट सेंट जार्ज का उच्चाधिकारी बनने योग्य नहीं बना देतीं।"[१]

यह कहा जा सकता है कि इस अवधि में कम्पनी की स्थिति निरन्तर विकसित होती रही। अब वह 'कारखाने' के स्तर से उठकर 'उपनिवेश तुल्य' होती गयी। विकास के इस पथ पर कम्पनी के नेता थे, सर जार्ज आक्सेन्डन (Sir George Oxenden) (१६६२—९), जीरल्ड आंगियर (Gerald Aungier) (१६६९—७७) और सर जान चाइल्ड (Sir John Child) (१६८२—९०), जो पश्चिमी भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधियों के रूप में सूरत के प्रेसीडेंट और बम्बई के गवर्नर रहे, सर स्ट्रेन्शम मास्टर (Sir Streynsham Master) (१६७७—८१) और एलिहु येल (Elihu Yale) (१६८७—९२) जो मद्रास के प्रेसीडेंट थे और विलियम हेजिज़ (William Hedges) (१६८१—८४) जो बंगाल के उन कारखानों का गवर्नर था जिन्हें उसकी नियुक्ति के बाद मद्रास से स्वतन्त्र कर दिया गया था। आंगियर ने तो बम्बई में एक हस्पताल, एक गिरजाघर, एक जेल और कचहरी की स्थापना करके पुरानी कम्पनी की सीमाएं बढ़ाने में बहुत अधिक योग दिया। १६८८ में डायरेक्टरों ने वहां एक डाकखाना खोलने की आज्ञा दी। उसी वर्ष मद्रास में एक म्यूनिसिपल सरकार कायम हुई जिसमें एक मेयर था और दस सदस्य। इन सदस्यों में से तीन कम्पनी के कर्मचारी थे, तीन पुर्तगाली और चार भारतीय। १७२६ में इसी नीति की ओर एक और कदम उठाया गया। इस वर्ष एक शासन-पत्र द्वारा प्रत्येक प्रेसीडेंसी में मेयर का एक न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था कर दी गयी ताकि वहां दीवानी के मुकदमों पर विचार किया जा सके।

कर्नल यूल ने अपनी "डायरी आफ़ विलियम हेजिज़" में कम्पनी के इतिहास की प्रथम शताब्दी के सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। १७०० से १७५० व्यापारिक तक बस्तियों की दशा का उल्लेख करने के लिए 'रेकार्ड्स' में से बाद के कुछ अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। १७११ में लीडन हाल स्ट्रीट तक यह

---

१. इण्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० ८, फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, २८ सितम्बर, १६८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अफवाह पहुंची कि फोर्ट सेंट जार्ज के बहुत से छोटे कारखानेदार आज्ञा-भंग कर रहे हैं और व्यवस्था बनाए रखने के लिए कड़े से कड़े उपाय काम में लाये गये हैं। "हमें यह सुनकर खेद है कि कुछ समय से हमारे कार्यकर्त्ता, विशेषकर नवयुवक लेखक और कारखानेदार, आपस में उचित शिष्टाचार का पालन नहीं कर रहे हैं, यहां तक कि भोजन के समय शान्ति बनाये रखने के लिए हथियारबन्द सैनिक तैनात करने पड़े हैं।" कारखानेदारी के सिद्धान्त में तो यह बात आरम्भ से ही मान ली जाती है कि कारखाने के अधिकारी थोड़ी उमर वाले सदस्यों के साथ पिता-पुत्र का सा बरताव करेंगे। डायरेक्टरों ने अनुशासन का एक तरीका भी सुझाया: "हमारा सुझाव है कि आप (अर्थात् प्रेसीडेंट और कौंसिल) कुछ निश्चित अवसरों पर कुछ समय ऐसा भी रखें जिसमें आप हमारे सब कारखानेदारों और लेखकों के आचरण की जांच पड़ताल कर सकें.....और उन्हें अपने सामने बुलाकर सख्ती के साथ यह बात बता दें कि उनके सम्बन्ध में आपकी धारणा क्या है। उनकी योग्यता के लिए उनकी सराहना की जाए और अयोग्यता के लिए भर्त्सना.....बहुत हद तक उनकी बुद्धि को अच्छे विचारों की ओर लगाना आपके वश की बात है।"[1]

इन दिनों (१७१४ में) द्वन्द्व-युद्ध नित्य की बात थे। किसी भले आदमी का किसी भी समय अकड़ कर चलने वाले किसी हत्यारे का सामना करना पड़ सकता था। ऐसे समय 'कोर्ट' ने द्वन्द्व-युद्ध की प्रथा बन्द करने में सख्ती से काम लिया। बेन्कूलन (Bencoolen) भेजे जाने वाले एक पत्र में लिखा गया था कि "तुमने उस असहनीय प्रथा को हतोत्साहित करके बहुत ही अच्छा किया जिसमें छोटे बड़ों को या अपने बराबर वालों को चनौती दिया करते थे। शिविर में चाहे इस प्रथा को कितनी ही लापरवाही की दृष्टि से देखा जाता हो परन्तु कारखाने या दफ्तर में तो कभी भी इसकी ओर से उदासीन नहीं हुआ जा सकता। इसके विपरीत, यदि एक आदमी दूसरे को गाली देता है या उसका सामना करता है तो उसका दुःसाहस नष्ट करने के लिए इस नियम की स्थायी रूप से घोषणा कर दी जाए और इस नियम को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित भी कर दिया जाय कि तुम फरियादी के साथ न्याय करोगे।"[2]

'पूर्व' में होने वाले मद्यपान का भी तुरन्त और कड़ा विरोध किया गया। डायरेक्टर शराब के दोषों पर प्रकाश डालते हुए न थकते थे। जावा में बेंकूलन की बस्ती मद्यपान के लिए सबसे अधिक बदनाम थी। १७१७ में यह परामर्श दिया गया:

"कितना अच्छा हो यदि हम एक बार यह सुन सकें कि पश्चिमी समुद्र-तट पर मदिरा-त्याग को वही स्थान मिल गया है जो वहां असीम मद्यपान को प्राप्त था। उसी समय इस बात की पक्की आशा हो सकती है कि मार्लबारो (Marl-

---

१. इन्डिया आफिस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १४, फोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, जनवरी १७११।

२. इन्डिया आफिस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १५, बेंकूलेन को भेजा गया पत्र, २७ अक्तूबर, १७१४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

borough) की तुम्हारी नयी बस्ती पश्चिमी तट को उससे भी अधिक ख्याति प्रदान कर सकेगी जो उसे स्वास्थ्य के आधार पर प्राप्त है.....यह निश्चित बात है कि तुम्हारे कुओं का पानी अच्छा है, हां, उसे बाहर तक खींच लाने के लिए तुम्हें प्रयत्न अवश्य करना होगा। यह भी बताया जाता है कि यदि उस पानी में थोड़ी सी चाय उबाल ली जाय तो वह और भी अच्छा हो जाता है और फिर ठंडा हो जाने पर उसे पानी की तरह पीना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक सिद्ध होता है।"[१]

परन्तु स्पष्ट है कि अत्यधिक मदिरा के उदार घूंटों के बदले ठंडी चाय पीने का हितकारी सुझाव आशातीत प्रभाव न डाल सका। अगले वर्ष, डायरेक्टरों ने कारखाने के पारिचारक के हिसाब पर टीका-टिप्पणी करते हुए ये चोट करने वाले वाक्य भी लिखे: "यदि यह सत्य है कि तुमने वास्तव में परिचारक द्वारा लिये गये धन से आधी कीमत की शराब भी पी ली है तो तुममें से किसी का भी पूरे ६ महीने तक और जीवित रहना या तुम्हारे बीच पहले से बहुत अधिक झगड़े और द्वन्द्व-युद्ध न होना हमारे लिए आश्चर्य की ही बात होगी।" इसके बाद जुलाई के महीने में होने वाले उस अकल्पनीय खर्च की ओर संकेत किया गया है....."हमारे सामने कुल जोड़ साढ़े चौहत्तर दर्जन बोतलों का है जिनमें से १०१ बोतलें दुगुनी थीं। कुल मिलाकर ६०५ बोतलें फ़्रांसीसी शराब की थीं, २९४ बोतलें बर्टन एल और पीली बीयर की, दो पीपे और ४२ गैलन मदीरा शराब, ६ बोतल शिराज, २७४ बोतल ताड़ी, पौने चार पीपे बटेविया अरक और १६४ गैलन गोआ की बनी शराब है।" आगे चलकर डायरेक्टरों ने बताया कि यह सारी शराब केवल १९ आदमियों ने पी जिनमें से कुछ का खाने का खर्च इसके अतिरिक्त भी था। "तुम कहते हो कि अब सब लोग परिश्रमी हैं, मद्य-पान अथवा उछल-कूद की मनाही है, रात को दस बजे से पहले सब बत्तियां बुझा दी जाती हैं और सब सो जाते हैं, व्यवस्था और मितव्ययिता का पालन किया जाता है, झगड़े कम से कम होते हैं और तुममें सदा इसी बात की होड़ लगी रहती है कि कौन हमारा सबसे अच्छा सेवक सिद्ध हो.....तुम कहते हो कि कोई भी व्यक्ति आज्ञा-भंग नहीं करता क्योंकि तुमने उनके लिए उचित रूप से भोजन और जीवन की अन्य आवश्यकताओं का प्रबन्ध कर दिया है: क्या उन पर बताया गया खर्च और सदाचार के ये आदर्श एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं? किसी गम्भीर मामले में तो तुम्हें निर्वायकों की तरह सोच समझकर ही अतिम रूप से कुछ कहना चाहिए।"[२]

अपने देश में, अधिकारियों को दूसरी आपत्ति यह थी कि कभी-कभी सलामियों में बहुत अधिक बारूद बरबाद कर दी जाती थी। बताया जाता है कि एक पुर्तगाली जहाज ने सलामियों में ही अपनी सारी बारूद फूंक दी और लड़ाई छिड़ जाने पर जब शत्रु ने उसे चुनौती दी तो उसकी तोपें, बारूद न होने के कारण, मौन ही रहीं। फ़्रांसीसी कम्पनी में तो सलामियों की प्रथा एक विचित्र सीमा तक पहुंच गयी थी। गवर्नर कहीं

---

१. वही, लेटर बुक न० १६, बेंकूलन को भेजा गया पत्र, ६ फ़रवरी, १७१७।
२. वही, मार्च १४, १७१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी जाता तो आकाश में तोपों की आवाज गूंजने लगती। इसी तरह, सेंट हेलेना के वासी भी इस दोष से बचे हुए न थे। केवल सार्वजनिक अवसरों पर ही नहीं, वे तो बिलकुल निजी और घरेलू उत्सवों पर भी अपने स्वामियों की बारूद दिल खोल कर उड़ाते थे।

"हमने आने और जाने वाले अपने प्रत्येक जहाज के लिए आम तौर से सात और विशेष अवसरों पर नौ तोपों की सलामी की आज्ञा दी थी। जुलाई, १७१२ में जब समुद्री जहाजों का दल गया तो ३८० पौंड बारूद खर्च दिखाया गया और १३४ तोपें दागी गयीं। इनमें से २६ तो वहां की सबसे बड़ी तोपें थीं। हम इसे बहुत अधिक समझते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में अधिक सावधानी बरती जाएगी। महारानी का जन्म दिन, राज-तिलक, स्मारक दिवस या ऐसे ही और सार्वजनिक महत्व के अवसरों पर हमने प्रायः अधिक तोपें दागने की आज्ञा दी है परन्तु दूसरे साधारण अवसरों के लिए तो यह छूट नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए, मिसेज़ मशबोर्न और मि० हास्किन्स की शव-यात्रा के समय बीस तोपों और मि० मशबोर्न के विवाह के अवसर और गवर्नर के स्वागत के लिए २१ तोपों की सलामी तो बहुत अधिक है। ऐसे मौकों पर थोड़ी तोपों से काम चला लिया जाना चाहिए।"[1] मद्यपान और फिजूल खर्ची के साथ ही साथ भारत स्थित अंग्रेज स्त्री-पुरुषों का एक और व्यसन था—जूआ खेलना। १७२१ में मद्रास में भेजे जाने वाले एक पत्र में लिखा गया :—

"हमें यह सुनकर बहुत चिन्ता हो रही है कि मद्रास में जुए का संक्रमक रोग बराबर फैलता जा रहा है। यहां तक कि ऊंचे परिवारों की महिलाएं भी बहुत-सा धन दांव पर लगाकर जुआ खेलती हैं और कैप्टन सीटेन वहां अनेक नवयुवकों को भूखा नंगा करके भी इस प्रकार व्यापार कर रहा है। हम पूरी गम्भीरता के साथ यह अनुरोध करते हैं कि इस हानिकारक व्यसन को रोकने का अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाए। कैप्टेन सीटन को भी यह बता दिया जाए कि यदि उसने यह पापपूर्ण व्यापार बन्द न किया तो उसे वहां नहीं रहने दिया जाएगा और वहां से हटा दिया जाएगा। स्वयं तुम्हारा भी यह कर्त्तव्य है कि तुम उसे समुद्र-तट से कहीं दूर भेज दो..... शिष्टाचारपूर्वक उन भली औरतों को भी यह समझा दिया जाए कि हम इस प्रकार का सब जुआ बन्द कर देना चाहते हैं क्योंकि कभी न कभी इसका अन्त स्वयं उनके लिए या उनके सम्बन्धियों के लिए बहुत ही घातक सिद्ध होगा।[2]

तीस बरस बाद हम फिर कोर्ट को यह शिकायत करता पाते हैं कि "जुए का हानिकारक व्यसन, संक्रामक रोग की भांति, उनके कार्यकर्त्ताओं के सब वर्गों में फैल गया है।"[3] इतना ही नहीं, इसी में ग्रस्त होने के कारण कोर्ट को अपने दो उच्चाधिकारियों को (जिनमें से एक फोर्ट सेंट जार्ज का गवर्नर था) नौकरी से भी अलग करना पड़ा।

---

१. इण्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १५, सेंट हेलेना को भेजा गया पत्र, ५ मार्च १७१४।
२. वही, नं० १७, फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, २६ अप्रैल, १७२१।
३. वही, नं० २७ फ़ोर्ट सेंट डेविड को भेजा गया पत्र, १२ जनवरी, १७५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरम्भ स ही कम्पनी क डायरक्टर इस बात का बहुत ध्यान रखते थे कि कम्पनी के कार्यकर्त्ता भारत म रह कर निजी तौर से व्यापार न कर सकें।" बंगाल प्रेसीडेंसी पर तो बहुत ही कड़ी दृष्टि रहती थी। सबसे अधिक धनवान होने के का रण इस बस्ती पर सन्देह भी सबस अधिक किया जाता था। डायरेक्टरों ने बंगाल के "चित्ताकर्षक शब्दों म हमारा मनोरंजन करने वाले पुराने सिद्धान्त"[1] की ओर संकेत किया और बंगाल की खाड़ी में प्रचलित इस कहावत का भी उल्लेख किया जिसमें कहा जाता था कि "पहले हम, फिर कम्पनी।"[2] कुछ व्यक्ति, विशेषकर ऊंचे अधिकारी, अपनी सूझ-बूझ से ऐसे मार्ग खोज ही निकालते थे जिनसे कम्पनी के नियमों का अक्षरशः पालन करते हुए भी कम्पनी के साथ छल किया जा सके। सेंट हेलेना के एक गवर्नर ने, कम्पनी के कुछ गुलामों को कम्पनी के काम के बदले अपन निजी मकान तक जाने वाला पहाड़ी रास्ता साफ करने और उसे तथा उसके साथियों को पालकियों में बिठाकर पहाड़ के ऊपर लाने ले जाने पर लगा दिया। इसके अतिरिक्त "उसने ४०० फुट लम्बा एक छायादार स्थान केवल इसलिए बनवाया जिसमें से वह अपने गधों पर बैठकर जा सके और इस तरह खराब मौसम से अपना बचाव कर सके। इस काम में उसने हमारी बहुत-सी लकड़ी खर्च कर दी।" "नये रास्ते पर हमारी १,००० पौंड लागत आएगी.....इसी तरह एक स्थान-विशेष भोजों के लिए बनाया जाएगा और एक खेलने के लिए। उसने पत्थर काट कर बनाये जाने वाले १० फुट ऊंचे और ७ फुट चौड़े, अपनी पत्नी के मकबरे का निर्माण करने के लिए कई महीने तक बहुत से मजदूरों से काम लिया।" गवर्नर ने इन सब कामों पर होने वाले खर्च को "किलेबन्दी पर किया जाने वाला खर्च" कहकर भुगतान कराया था।[3] ऐसी दशा में डायरेक्टरों का क्रोध उचित ही था।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बहुत बड़े पैमाने पर गुलामों को काम पर लगाया। मिसाल के तौर पर १७३५ में सेंट हेलेना में कम्पनी के पास १८० गुलाम थे और ४५८ स्वतन्त्र खेतिहर। १७३५ में २५० गुलाम बम्बई भेजे जाने की आज्ञा दी गई और १७५१ में डायरेक्टरों ने फोर्ट सेंट जार्ज के लिए ६०० गुलाम खरीदने की इच्छा प्रकट की। बेन्कालन की छोटी सी बस्ती में भी १७१२–१३ में १८९ गुलाम थे। इनमें से अधिकतर मडगास्कर से आये थे। वहां इन अभागे मनुष्यों का नियमित रूप से व्यापार होता था और इस प्रकार मडगास्कर में तो दुर्भाग्य का यह अनवरत दृश्य संसार के किसी भी अन्य स्थान से अधिक दिखाई देता था। एक आदमी की कीमत थी "एक बकेनियर (पुराने ढंग की तोप) एक व्यापारी तोप, बारूद से भरा पांच पौंड वजन का एक बड़ा बांस, पचास छर्रे और पचास चकमक

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १६, बंगाल को भेजा गया पत्र, २६ जनवरी १७४२।

२. वही, नं० १५, बंगाल को भेजा गया पत्र, १२ जनवरी, १७१५।

३. वही, नं० १५, १६, सेंट हेलेना को भेजे गये पत्र, ५ मार्च १७१४ और २२ फ़रवरी १७१७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्थर।" "एक औरत की कीमत दो व्यापारी तोपें, बारूद से भरे दो छोटे बाँस, तीस छर्रे और तीस चकमक पत्थर थी।[1]

गुलामों को एग जगह से दूसरी जगह लाने ले जाने और उनकी देखभाल करने के लिए आवश्यक नियम बना दिये गये थे। मडगास्कर से फोर्ट सेंट जार्ज पहुंचने पर उस स्थान का प्रेसीडेंट प्रत्येक जीवित गुलाम के बदले २० शिलिंग कम्पनी के एजेन्ट को और पांच शिलिग सर्जन को दिया करता था। इसके बाद एक समिति नियुक्त कर दी जाती थी जो इन गुलामों को "अधिकतम लाभदायक कामों पर लगाने के उपायों पर विचार करती थी। यही समिति उनके लिए मकान, भोजन और वस्त्र का भी प्रबन्ध करती थी ताकि उनके स्वास्थ्य की रक्षा हो सके और वे गुलामी में भी कुछ सुख का अनुभव कर सकें। हमारी दृष्टि में तो इस समय आवश्यक बात यह है कि उन्हें किसी सुखद स्थान पर किसी विश्वस्त व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की देख-रेख में एक साथ रखा जाए.....सिपाहियों और दूसरे लोगों को उनके साथ मिलने जुलने न दिया जाए.....उनके लिए इतने और इस तरह के भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध किया जाए जो उचित और उनके लिए बिल्कुल पर्याप्त हो। गुलामों को उनके भोजन और वस्त्रों का पूरा ब्यौरा बता दिया जाए। यदि निर्धारित भोजन वस्त्र न मिलें और वे इसकी शिकायत करें तो उनके साथ न्याय किया जाय। बीमार पड़ने पर उनका इलाज भी हमारे चिकित्सिकों द्वारा सिपाहियों की हा भांति किया जाए।"[2]

सेंट हेलेना में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें कहा गया था कि गवर्नर और कौंसिल "हमारे काले बच्चे उन लोगों को सौंप सकते हैं जो उनसे काम लेने के लिए दस बरस की आयु तक उन्हें अपने पास रखने को तैयार हों।" अपने देश में डायरेक्टरों ने यह योजना स्वीकार कर ली और यह सुझाव भी दिया कि "तुम्हें इस बात का ब्यौरा अपने पास रखना चाहिए कि कौन से बच्चे कितने समय के लिए किसे सौंपे गये हैं? इस तरह तुम्हारे पास एक रजिस्टर तैयार हो जाएगा जिससे यह पता चल सकेगा कि किस बच्चे को कब वापिस बुलाया जाना है।"[3] बड़े हो जाने पर इन बालकों को व्यापार की शिक्षा दी जाती थी। "याद रहे कि मि० पाइक्स ने काले बच्चों का लालन-पालन इतने अच्छे ढंग से किया और वे इतने योग्य हो गये कि उनमें से एक के बदले उसे ८० पौंड, तीन के लिए ६०–६० पौंड, ४१ में से बाकी ३ बच्चों के लिए २५–२५ पौंड और शेष के लिए ३० से ४० पौंड प्रति बालक के हिसाब से भुगतान किया गया।"[4]

प्राय: डायरेक्टरों के आदेश परस्पर-विरोधी भी होते थे। एक सभ्य जाति की जनता द्वारा गुलामी की मूलतः असभ्य प्रथा को सहन करने की दशा में ऐसा

---

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लटर बुक नं० २३, पृ० २०।

२. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० २८, सेंट हेलेना को भेजा गया पत्र, १४ नवम्बर, १७५१।

३. वही, लेटर बुक नं० १५, सेंट हेलेना भेजा गया पत्र, २० मार्च, १७१३।

४. वही, नं० २७, सेंट हेलेना को भेजा गया पत्र, ३१ मई, १७२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होना स्वाभाविक ही था। गुलाम भी आखिर मनुष्य ही थे। तब भी उनके साथ जड़ पदार्थ जैसा बर्त्ताव किया जाता था। कोर्ट ने प्रायः अपने कार्यकर्त्ताओं की निर्दयता पर क्षोभ प्रकट किया। १७४९ में कोर्ट ने सेंट हेलेना को भेजे हुए पत्र में लिख: "हम किसी गुलाम को जान से मार डालने का समर्थन नहीं कर सकते।"[1] मानवीय भावनाओं से मुक्त हो जाने पर उनकी लेखनी से इस तरह के वाक्य भी निकलते थे:

"याद रखना चाहिए कि गुलाम होने पर भी वे मनुष्य हैं इसलिए उनके साथ भी, उनकी परिस्थितियों के अनुसार, मानवोचित व्यवहार ही किया जाना चाहिए, पशुओं जैसा या उससे भी बुरा नहीं।"[2] १७१७ में कोर्ट ने लिखा: "जहां तक गुलामों का सम्बन्ध है.....वे आदेश दोहराना अनावश्यक है जो हम पहले दे चुके हैं। संक्षेप में तुम्हें इस बात का सबसे अधिक ध्यान रखना है कि उनके साथ मानव.चित व्यवहार किया जाए.....:उन्हें हमारे ऐसे कामों पर लगाया जाए जिनके लिए वे व्यक्तिगत रूप से उपयुक्त हों या अधिकतम उपयुक्त बनाये जा सकें.....उन्हें (विशेषकर छोटी आयु वालों को) भली प्रकार सब तरह के कला-कौशल की शिक्षा दी जाए.....उन्हें काम के समय काम पर लगाया जाए.....वास्तविक आवश्यकताओं और कुछ विशेष त्यौहारों के अलावा सब रविवारों को उन्हें पूरी तरह आराम करने दिया जाए। संरक्षकों और अधिकारियों को छोड़कर किसी को भी उन पर चोट करने या उनका अपमान न करने दिया जाए। संरक्षक और अधिकारी भी उन्हें आतंकित न करें। इन सब बातों का फल यह होगा कि वे तुमसे प्रेम भी करेंगे और डरेंगे भी। उनके पास भी तुम्हारे जैसी बुद्धि और विचार-शक्ति है और वे भी अपने मन में उचित और अनुचित का अन्तर समझ सकते हैं। केवल अपराध की अवस्था में दण्ड दिया जाने पर स्वयं लज्जित और आत्म-तिरस्कृत होंगे। आत्म-भर्त्सना सुधार की ओर ले जाने वाला पहला कदम है।"[3]

यह तो प्रसिद्ध ही है कि समय-समय पर इन कारखानों के लिए पुस्तकें भेजी गयी थीं। इस तरह धीरे-धीरे एक सार्वजनिक पुस्तकालय की नींव पड़ गयी। शुरू में ही एक प्यूरिटन 'कोर्ट आफ़ कमिटीज' ने महात्मा ईसा के सुयोग्य अनुयायी मि० विलियम परकिन्स के ग्रन्थ भेजे, १६८६ में परचा (Parcha) की पुस्तक 'पिल्ग्रिम्स' (Pilgrims) भेजी गयी। इस पुस्तक के बारे में कम्पनी के एक पत्र में लिखा गया था कि "खाली समय में ध्यानपूर्वक पढ़ने के लिए यह पुस्तक तुम सबके लिए बहुत ही लाभदायक है। भारत-सम्बन्धी मामलों, डचों के छलों और हमारे राष्ट्र के पुराने दुर्व्यवहारों के सम्बन्ध में कोई पक्की धारणा बनाने के इच्छुकों

१. वही, नं० २७, सेंट हेलेना को भेजा गया पत्र, १५ फरवरी, १७४९।

२. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १५, बेंकूलन को भेजा गया पत्र, २० मार्च, १७१३।

३. वही, नं० १६ बेंकूलन को भेजा गया पत्र, १४ मार्च, १७१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए भी यह बहुत उपयोगी है ।"[1] १७१५ में डायरेक्टरों ने फोर्ट सेंट जार्ज के पादरियों को यह आज्ञा दी कि वे उन पुस्तकों का ठीक प्रकार वर्गीकरण करके उनकी एक सूची तैयार कर लें ।[2] इस सूची की एक प्रतिलिपि लेडन हाल स्ट्रीट को भी भेजी जानी थी । जो प्रतिलिपि वहां भेजी गयी उसे अधिक पसन्द नहीं किया गया । आदरणीय पादरियों के इस कारनामे की निम्नलिखित तीव्र आलोचना से यह स्पष्ट है : "अधिकांश पुस्तकों के नाम या तो गलत लिखे गये हैं, या गलत ढंग से नकल किये गये हैं या अशुद्ध रूप में लिखे गये हैं। यदि पुस्तकों का वर्गीकरण भी इसी तरह से किया गया है जैसा कि सूची से स्पष्ट है तो यह बहुत ही अनुपयुक्त है । इसकी सहायता से तो कोई भी पुस्तक, बिना सारी पुस्तकों की छानबीन किये, निकाली ही नहीं जा सकती । हमें यह देखकर आश्चर्य है कि कम्पनी के मिनिस्टरों ने ऐसी सूची पर हस्ताक्षर कैसे कर दिये । यह तो निश्चित ही है कि वे लोग स्वयं अपने अध्ययन के लिए इस पुस्तकालय से कोई पुस्तक नहीं लेते, यदि वह स्वयं इसका प्रयोग करते तो पुस्तकालय का प्रबन्ध इससे कहीं अधिक अच्छा होता ।"[3]

प्रायः यह माना जाता है कि डायरेक्टर अपने मुनाफे को छोड़ कर और किसी बात की चिन्ता ही नहीं करते थे । इस प्रकार उनकी नीति के एक ही पक्ष पर प्रकाश पड़ता है । यह तो सच है कि वे सबसे पहले व्यापारी थे "अपनी बस्तियां या अपना अधीनस्थ भू-प्रदेश बढ़ाना हमारा काम नहीं, हमें तो उस समय तक अपने अधिकृत प्रदेशों के शान्तिपूर्ण उपभोग से ही संतुष्ट रहना है जब तक थोड़े त्याग और परिश्रम से ही हमें उनमें बढ़ोतरी करने का अवसर नहीं मिलता ।"[4] मुनाफा कमाने की तीव्र उत्कण्ठा को भी यह कहकर उचित ठहरा दिया जाता था कि कम्पनी एक राष्ट्रीय शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है । संयुक्त कम्पनी ने अपने सबसे पहले पत्र का आरम्भ एक भव्य प्रस्तावना के साथ किया था : "अब हमारी स्थापना पार्लियामेंट की सत्ता द्वारा हो गयी है । इसलिए हम अब इंगलैण्ड और भावी सन्ततियों के प्रति अपना यह कर्त्तव्य समझते हैं कि भारत में अपने राष्ट्र के भावी हित का विकास करें ।"[5] बदला लेने के कार्य तो वास्तव में तीव्रतम उपाय ही थे "जिनका प्रयोग लाचारी में ही किया जा सकता है ।"[6] परन्तु एक निश्चित सीमा का उल्लंघन करना उचित नहीं । १७१९ में डायरेक्टरों ने अंगरिया और दूसरे लुटेरों द्वारा बम्बई के समुद्र तट पर की जाने वाली लूट मार से दुःखी होकर लिखा : "हम कहते हैं कि उन्हें अपनी शक्ति का परिचय देने और

१. वही, नं० ८, बंगाल को भेजा गया पत्र, १४ जनवरी, १६८६ ।

२. वही, नं० १५, फोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, १२ जनवरी, १७१५ ।

३. इण्डिया आफिस रेकार्ड्स, लेटर बुक न० १६, फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, २५ जनवरी, १७१७ ।

४. वही न० १५ फ़ोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, जनवरी १३, १७१४ ।

५. वही नं० १२ बंगाल को भेजा गया पत्र, २ मार्च, १७०३ ।

६. वही नं० १६ बंगाल को भेजा गया पत्र, जनवरी ८, १७१८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके प्रयत्नों को निर्मूल करने के लिए तुम्हें प्रत्येक सम्भव उपाय काम में लाना चाहिए... उन लुटेरों को दण्ड देने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त अवसर ढूंढ़ निकालो। हम तो यही उचित समझते हैं कि उन पर उसी समय वार किया जाए जब उन्हें पराजित किया जा सके।"[1] संक्षेप में 'रेकार्ड्स' का अध्ययन करने से पता चलता है कि डायरेक्टरों ने वह प्रसिद्ध प्रस्ताव सदा ही किसी न किसी सीमा तक, अपने नेत्रों के सामने रखा जिसमें उन्होंने "भारत में सदा-सदा के लिए एक सुदृढ़ और सुनिश्चित अंग्रेजी उपनिवेश" स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी। उन्हें अपने नगरों की आबादी बढ़ानी थीं। इस लक्ष्य की पूर्ति वे विजयों द्वारा ही न करके व्यापार-सम्बन्धी आज़ादी, एक न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था द्वारा करना चाहते थे और (जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है) इस प्रकार आगे बढ़कर वे केवल अनजाने में ही उपनिवेश के लक्ष्य तक नहीं पहुंच गये थे।

पूर्वीय देशों के वासियों पर हकूमत करने के प्रारम्भिक प्रयत्नों के सम्बन्ध में दिये गये उनके आदेश तो और भी प्रशंसनीय हैं। १७१४ में उन्होंने लिखा : "हमने सदा ही तुम्हें इस बात का ध्यान रखने की सलाह दी है कि सबके साथ तुरन्त और निष्पक्ष भाव से न्याय किया जाए। हकूमत नरमी के साथ लेकिन अपनी सत्ता बनाए रखकर, तुम्हें याद दिलाने के लिए हम यहां फिर यह बात जोड़ देना चाहते हैं और हार्दिक रूप से यह इच्छा प्रकट करते हैं कि तुम सदा इस बात की पूरी सावधानी रखोगे कि तुम्हारे मातहत काम करने वाला कोई व्यक्ति भी मूल निवासियों का अपमान न करे और तुम्हारी गलियों में अत्याचार का स्वर कहीं सुनाई न दे। अपने नगरों की सीमा बढ़ाने और अपनी आमदनी बढ़ाने का यह सबसे अच्छा उपाय है।"[2] न्याय के सम्बन्ध में इनसे अच्छे नियम शायद ही कभी बनाये जा सकें। "किसी को दुःख पहुंचाने के लिए स्वेच्छाचारिता से कोई काम न करो, तुम्हारे निश्चय सदा न्यायोचित हों, उनमें कठोरता के बदले दया ही अधिक हो। हमेशा कार्य की परख करो कर्त्ता की नहीं। भावावेश को तर्क पर कभी अधिकार न करने दो। इसका फल यह होगा कि लोग तुम्हारा आदर करेंगे। इसके विपरीत, किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया हिंसापूर्ण निर्णय अथवा काम दस अच्छे कामों से मिलने वाली प्रशंसा को भी धूल में मिला देगा।"[3] मेगना कारटा का यह कथन याद रखो और सदा इसका श्रद्धापूर्वक पालन करो :[4]

१७१९ में आदिवासियों की ओर से की जाने वाली शिकायतों की ओर संकेत करते हुए डायरेक्टरों ने यह आज्ञा दी कि तुरन्त मामले की पूरी तरह छानबीन की जाए। डायरेक्टरों द्वारा लिखे गये इन वाक्यों में सत्ता और गौरव का अदभुत सम्मिश्रण है :

---

१. वही नं० १६, बम्बई को भेजा गया पत्र, २७ फरवरी, १७१९।
२. इण्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १५, बंगाल को भेजा गया पत्र, १३ जनवरी १७१४।
३. वही न० १६ सेंट हेलेना भेजा गया पत्र, २२ फ़रवरी, १७१७।
४. वही बम्बई को भेजा गया पत्र, २७ फ़रवरी, १७१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"याद रखो कि यदि किसी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार दिया जाता है और वह दलितों को सुख पहुंचाने के लिए हार्दिक रूप से निर्भीक होकर अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं करता तो वह एक असह्य पाप का भागी होता है। यदि कभी उसकी आत्मा जाग्रत हो गयी तो इसी जीवन में उसके लिए वह भार उठाना असंभव हो जाएगा वरना उस दिन तो उसे उसकी गुरुता का आभास अवश्य हो जाएगा, जब कभी भूल न करने वाले एक निष्पक्ष न्यायाधीश के सामने उसके जीवन के सब कामों और रहस्यों पर विचार किया जाएगा और सब व्यक्तियों के गुप्त रहस्य प्रकाश में आएंगे।"[1] १७२१ में, बंगाल को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने भारत में स्वतन्त्र व्यापार और समानता के अपने सिद्धान्त का सारांश इन शब्दों में लिखा : "तुम्हारी बस्तियों के चारों ओर का प्रदेश स्वेच्छाचारी शासन के अधीन है। इसी तथ्य को सामने रखकर हमने सदा ही इस नियम को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है कि तुम्हारी व्यापारिक बस्तियों में निश्चित रूप से न्याय के उचित अनुशासन के साथ संरक्षण की स्थायी सुविधा, स्वाधीनता और पूरी आर्थिक छूट का वास होना चाहिए।"[2]

भारतीय अंग्रेजों के सामने एक समस्या यह भी थी कि केवल व्यापारियों के लिए आवश्यक गुणों से उनका काम नहीं चल सकता था। उनके लिए इससे अधिक गुणों और विशेषताओं की आवश्यकता थी। दूसरी ओर 'कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स' के सामने इससे भयंकर प्रश्न था। पूर्वीय देशों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्हें दूसरे लोगों द्वारा दी गई सूचनाओं पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वे लोग निजी हित की दृष्टि से सदा सत्य नहीं बोल सकते थे कदाचित् इसी प्रश्न को हल करने के लिए यह सोचा गया था कि भारत में कम्पनी की सेवा कर चुकने वाले, व्यक्तियों को ही कम्पनी का डायरेक्टर बनाया जाए। परन्तु न जाने क्यों यह प्रथा प्रचलित न हो सकी। विलियम मेथ्वाल्ड (William Methwald) के समय तो इस नियम का पालन हुआ परन्तु फिर यह रोक न रही। १७०० के बाद चालीस बरस तक कम्पनी के डायरेक्टर बनने वाले व्यक्तियों की सूची में मुझे तो केवल दो व्यक्ति—कैप्टेन मेथ्यू मार्टिन (Mathew Martin) और एलेक्जैण्डर ह्यूम (Alexander Hume) —ही ऐसे दिखाई देते हैं जो भारत में रह चुके थे। (एलेक्जैण्डर ह्यूम आस्टेंड कम्पनी का नौकर रहा था)।

सेंट हेलेना भेजे जाने वाले एक पत्र में गवर्नर और कौंसिल के अधिकार और उनके आपसी सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किये गये : "हम बतायेंगे कि तुम्हें और कौंसिल को क्या अधिकार दिये जा रहे हैं ताकि तुम में से प्रत्येक यह जान सके कि उसकी सीमाएं क्या हैं, गवर्नर को हमारी ओर से सौंपा कार्य सर्वप्रथम इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारी सब आज्ञाओं का पालन पूरी तरह किया जाता है या नहीं ? इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए हम एक कौंसिल नियुक्त कर रहे हैं ; कौंसिल के सब

१. इन्डिया आफिस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १७, फोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, १९ दिसम्बर १७१९।

२. वही, बंगाल को भेजा गया पत्र, २६ अप्रैल, १७२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सदस्य अपने सामने आने वाले सब प्रश्नों के बारे में निजी विचार प्रकट करेंगे। प्रत्येक प्रश्न का निर्णय बहुमत से होगा। यदि कौंसिल का एक अथवा अधिक सदस्य यह अनुभव करें कि फैसला गलत हुआ है तो उन्हें अपने कारण उपस्थित करते हुए अपना विरोध अवश्य लिखित रूप में प्रदर्शित करना होगा। यदि वे ऐसा न करेंगे तो हम समझ लेंगे कि वे भी उस फैसले से सहमत हैं और इस तरह उस फैसले की जिम्मेदारी उन पर भी आ जाएगी। गवर्नर (प्रधान होकर भी गवर्नर एक सदस्य मात्र ही है) और दूसरे सदस्यों के निजी आचरण का फैसला पूरी कौंसिल की बैठक में किया जाएगा। सदस्यों को हमारी आज्ञा का विरोध करने वाले कार्यों तथा विचारों का दमन अथवा प्रतिकार करना होगा। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उन्हें उस अपराध की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी होगी। कौंसिलों की अनुपस्थिति में गवर्नर को ही आम तौर से सब बातों की देखरेख करनी होगी परन्तु यह आवश्यक है कि कौंसिलों की बैठकें जल्दी-जल्दी होती रहें। यथासम्भव सब सदस्य बैठक में भाग लें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम निश्चित रूप से यह आज्ञा देते हैं कि प्रति सप्ताह कौंसिल की एक बैठक अवश्य हो। सम्भव अथवा आवश्यक हो तो इससे अधिक बैठकें भी हो सकती हैं। यदि कोई सदस्य हमारी हित-कामना से विचाराधीन प्रस्तावों में कोई सुझाव अथवा विचार जोड़ना चाहे (वह सुझाव अन्तिम रूप से स्वीकार हो चाहे अस्वीकार) तो गवर्नर हमारी ओर से उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकेगा। यदि कोई गवर्नर किसी दशा में ऐसा करना आवश्यक समझे तो उसे पहले से ही हमें सूचित कर देना होगा ताकि वह तत्सम्बन्धी दोषारोपण से मुक्त हो सके।"[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गवर्नर को वास्तव में कौंसिल के अधीन ही रहना था। फोर्ट सेंट जार्ज को भेजे गये एक पत्र में इस बात पर और भी अधिक बल दिया गया है: "हम विभिन्न स्थानों के लिए अलग-अलग कौंसिलों की नियुक्ति इसलिए नहीं करते हैं कि वे सर्वथा महत्वहीन शून्य की भांति बैठे रहें। हम तो यह चाहते हैं कि वे ऐसी बात स्वीकार करने से इनकार कर दें जिसकी अस्वीकृति के लिए उनके पास उचित कारण हो।"[२] बम्बई भेजे गये एक ऐसे ही पत्र में भी उन्होंने लिखा: "अपवाद बनने के कारण ही कौंसिल के किसी सदस्य को डराया, धमकाया या उस पर कोई आक्षेप नहीं किया जाएगा।"

एक दूसरे पर नियन्त्रण रखने की इस प्रणाली पर बहुत टीका टिप्पणी हुई। आने वाले वर्षों में तो जब कम्पनी के सेवकों के कन्धों पर सुविस्तृत और गहनतम उत्तरदायित्वों का भार आ पड़ा, यह अत्यन्त भयानक भी सिद्ध हुई। यह भी मानना ही पड़ेगा कि 'पूर्व' में अपने अधिकारियों की आज्ञा न मानने वाले किसी प्रेसीडेंट अथवा कमांडर को दोषी ठहराना सरल न था। आत्महानि के बिना की जाने वाली केगविन

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १६, सेंट हेलेना को भेजा गया पत्र, २१ मार्च, १७१८।

२. वही, फोर्ट सेंट जार्ज को भेजा गया पत्र, १७ अक्तूबर, १७१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(Keigwin) और विन्टर (Winter) की बगावत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। फोर्ट सेंट डेविड में भी १७१३ में एक विचित्र घटना हुई। उस वर्ष वहां के डिप्टी गवर्नर, रॉबर्ट रॉवर्थ (Robert Raworth) ने (जिसने एक साल पहले जिंजी के राजा के विरुद्ध खड़े होकर वीरता के साथ उस नगर की रक्षा की थी) मद्रास के गवर्नर, एडवर्ड हेरीसन (Edward Harrison) के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। वह कुछ समय तक स्वाधीन भी रहा। उसके साथ समझौता करने के लिए आवश्यक संदेश देकर फोर्ट सेंट जार्ज से दूत भेजे गये। रावर्थ ने उन पर गोली चलायी। अन्त में उसने दिसम्बर में प्रेसीडेण्ट के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और फिर पांडीचेरी चला गया। वहां से वह जहाज द्वारा फ्रांस के लिए रवाना हो गया। इधर इंग्लैण्ड में, कम्पनी के डायरेक्टर, उसे गिरफ्तार करके दंड देने की तैयारी कर रहे थे, उधर पेरिस में उसकी मृत्यु हो गई।

ऐसी बगावतों के भय अत्यन्त स्पष्ट हो जाने के कारण ही डायरेक्टरों को लाचार होकर द्रोह के सब लक्षणों को जड़ से नष्ट करने का प्रयत्न करना पड़ा। उसी दमन नीति के कारण उन्होंने १७२१ में इतनी जल्दी फोर्ट सेंट जार्ज के गवर्नर और वहां की कौंसिल के कुछ सदस्यों को पदच्युत कर दिया। उन्होंने डायरेक्टरों की अवज्ञा की थी। डायरे ने इस अवसर पर जिस भाषा का प्रयोग किया उसमें ओज भी है और भय भी। "यदि यह काम कम आयु के किसी नासमझ सेवक का होता तो हम दया करके उसे क्षमा भी कर सकते थे, परन्तु जब हम कौंसिल को ही अपनी खुली चिट्ठी में इसका समर्थन करता पाते हैं, इतना ही नहीं, जब वे हमसे भी यह अनुरोध करते हैं कि हम उनके इस काम का समर्थन करें तो हमारे लिए इस बात पर सोच-विचार कर लेना और 'मुर्गी के चूज़े को अंडे में ही मार देना' आवश्यक हो जाता है। हमने पहले भी कुशासन-सम्बन्धी दोष देखे हैं, लेकिन उनका उत्तर नरमी के साथ ही दिया गया। हम आशा करते थे कि इस तरह हमारे सेवकों की योग्यता, ईमानदारी और अनुशासनप्रियता बढ़ जाएगी परन्तु हमें साधारण और सरल औषधि से सफलता न मिली। यह संक्रामक मवाद इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि हमें अनिच्छापूर्वक अन्तिम इलाज का सहारा लेना ही होगा।"[1]

---

१. इण्डिया ऑफ़िस रेकॉर्ड्स, लेटर बुक नं० १७, फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज को भेजा गया पत्र, २६ अप्रैल, १७२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १०

भारत में अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी—एलाशपल की संधि तक

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप की भारत-स्थित व्यापारिक बस्तियों के भाग्य ने फिर करवट ली । अंग्रेजी और फ़्रांसीसी कम्पनियाँ अब अपने-अपने देशों के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में उलझने लगी थीं । हम पहले देख चुके हैं कि स्पेन के राज्याधिकार सम्बन्धी युद्ध के फलस्वरूप 'पूर्व' में इन परस्पर-विरोधी शक्तियों के बीच खुले आम कोई सघर्ष नहीं हुआ था । आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-सम्बन्धी युद्ध का प्रभाव उससे भिन्न होना था । उस समय से तो यूरोप संघर्षों की गूंज दूर के देशों में भी सुनाई देती थी और वाल्टेयर के शब्दों में, "हमारे देश में चलने वाली पहली गोली को अमरीका और एशिया के सब तोपखानों में मानों दियासलाई दिखा देनी थी ।"[1]

यहां फ़्रांसीसियों की स्थिति के बारे में दो चार शब्द कह देना उचित होगा । पूर्वीय देशों की खोज के इतिहास में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि फ़्रांसीसियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही अन्तरीप मार्ग से भारत पहुंचने के प्रयत्न किये । उदाहरण के लिए प्रसिद्ध विद्वान् एवं कवि, जीन पारमेन्टियर (Jean Parmentier) का नाम लिया जा सकता है । वह अपने भाई राओल, के साथ १५२९ में मडगास्कर और माल्युकस गया । उसकी मृत्यु सुमात्रा में हुई । हेनरी चतुर्थ ने भी भारतीय व्यापार के लिए दो कम्पनियों को चार्टर दिया था, परन्तु धन और सार्वजनिक सहयोग के अभाव में वे सफल न हो सकीं । १६४२ में रिशल (Richelieu) ने 'सोसायटी डि ल' ओरियन्त' (Societe de l' Orient) की स्थापना की । इस संस्था ने प्रोनिस (Pronis) और फ्लेकॉर्ट (Flacoart) के नेतृत्व में मडगास्कर पर व्यापारिक बस्तियां बसाने में ही अपनी पूरी ताकत लगा दी ।

भारत के साथ स्थायी व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होने वाली सबसे पहली फ़्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी १६६४ में कायम हुई । इसके उदय, विकास और अधिकांश प्रारम्भिक सफलताओं का मूल कारण यह था कि इसे फ़्रांसीसी मत्री, कोलबर्ट (Colbert) और स्वयं लुई चतुर्दश (Louis XIV) का संरक्षण प्राप्त था । इस कम्पनी की पहली यात्राएं मडगास्कर की व्यापारिक बस्तियों को फिर से जीवित करने के प्रयत्नों में ही व्यर्थ हो गयीं । १६६८ में केरोन ने सूरत में एक कारखाना खोला । केरोन (Caron) एक डच था जिसने फ़्रांसीसियों की सेवा स्वीकार कर ली । एक और कारखाना १६६९ में मछलीपट्टम में खोला गया । १६७४ में फ़्रांसिस मार्टिन (Francois Martin) ने पांडिचेरी की नींव

१. फ़्रेगमेंट्स सुर ल इण्ड, १७७३, पृ० ५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डाली। पांडिचेरी को ही फ़्रांसीसी भारत की भावी राजधानी बनना था। इस नगर की स्थापना मद्रास से दक्षिण की ओर कोई ८५ मील दूरी पर स्थित एक धरती के एक छोटे से टुकड़े पर की गई थी। यह भूमि एक स्थानीय नरेश ने फ़्रांसीसियों को दी थी। बंगाल में (१६९०-९२) हुगली क तट पर, चन्द्रनगर नामक स्थान पर, एक कारखाना खोला गया।[1] (चन्द्रनगर कलकत्ते से लगभग १६ मील दूर है।) यह स्थान नवाब ने फ़्रांसीसियों को १६७४ में दिया था। सत्रहवीं शताब्दी में लुई चतुर्दश के यूरोपीय युद्धों का प्रभाव ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर बहुत बुरा पड़ा। १६७२ से १७१३ तक (थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त) फ़्रांस हालैंड के साथ युद्ध करता रहा था। यद्यपि पहले दो वर्षों में फ़्रांस इंगलैण्ड के साथ मिला रहा तथापि 'पूर्व' में युद्ध का भार मुख्य रूप से उसी पर रहा। १६७२ में फ़्रांसीसियों ने कोरोमंडल-तट पर सेंट थोम पर अधिकार कर लिया परन्तु अगले ही वर्ष उनके जल सेनानायक डि ला हे (De la Haye) को त्रिकोमाली (सीलोन) से खदेड़ दिया गया। १६७४ में डचों ने फिर सेंट थोम को अपने अधीन कर लिया। १६९३ में, साधारण सी लडाई के उपरान्त ही, डचों ने पांडिचेरी पर भी अधिकार करके फ़्रांसीसियों पर एक जबरदस्त चोट की। यह नगर ६ साल तक उनके हाथ में रहा। डचों ने ही पांडिचेरी में वह किलेबन्दी की जो बहुत समय तक सर्वश्रेष्ठ मानी जाती रही। १६९७ की रिसविक शान्ति संधि (Peace of Ryswick) के अनुसार यह नगर, पूरे सुरक्षित रूप में ही, फ़्रांसीसियों को लौटाने का वचन दिया गया। वास्तव में यह नगर फ़्रांसीसियों को १६९९ में सौंपा गया। अपने संस्थापक, मार्टिन, की देखरेख में पांडिचेरी बराबर तरक्की करता रहा और इसकी आबादी बढ़कर ४०,००० हो गयी। इस कार्य में मार्टिन को अपने देश से कोई विशेष सहायता नहीं मिली। भारत के दूसरे स्थानों पर फ़्रांसीसियों का प्रभाव अवश्य कम होता जा रहा था। सूरत बंटम और मछलीपटटम के कारखाने छोड़े जा चुके थे। उधर फ़्रांस में यह कम्पनी मरणासन्न हो रही थी और इसने १७०८ से लेकर १७२० तक (जब कम्पनी को फिर से व्यवस्थित किया गया) भारत तक व्यापार करने के अपने सब विशेषाधिकार सेंट मालो (St. Malo) के कुछ व्यापारियों को ठेके पर दे दिये।

जब स्काटलैण्ड वासी, लारिस्टन के जान लॉ (John Law) ने फ़्रांसीसियों के कोषाध्यक्ष का पद संभाल कर एक आश्चर्यजनक पेशा स्वीकार किया तो शीघ्र ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी उसकी प्रसिद्ध 'सिस्टम' का शिकार हो गयी। अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 'केनेडा कम्पनी' या 'दि कम्पनी आफ दि वेस्ट' (पश्चिम की कम्पनी), 'सेनेगल कम्पनी', 'चाइना कम्पनी' और डोमोन्गो तथा गिनी की कम्पनियों के साथ संयुक्त कर दिया गया। इस विशाल संगठन को 'कम्पनी आफ दि इन्डीज' (हिन्द द्वीपसमूह की कम्पनी) के नाम से पुकारा जाता था। इस कम्पनी को सिक्के चलाने और सार्वजनिक ऋण नियन्त्रण के अधिकार के अतिरिक्त तम्बाकू का एकाधिकार भी दे दिया गया। १७२० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का, 'पूरपीचुअल कंम्पनी आफ दि इन्डीज' (हिन्द द्वीपसमूह की शाश्वत कम्पनी) के रूप

१. ला कम्पेनी डेस इन्डस ओरिएन्टल्स, पी० कीपलीन, १९०८, पृष्ठ ३०९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में फिर से संगठन किया गया। पहले विशेषाधिकारों में से अब इसके पास केवल तम्बाकू का एकाधिकार रह गया। इस तिथि से फ़्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सौभाग्य में बहुत वृद्धि हुई। १७२१ में इसके सेवकों ने अन्तिम रूप से मारिशस (फ़्रांस का टापू) पर अधिकार कर लिया। यहां वे पहली बार १७१५ में पहुंचे थे। बोरबोन (Bourbon) के टापू में वे कदाचित् १६५७ में (अर्थात् कोलबर्ट की कम्पनी स्थापित होने से सात साल पहले) ही बस गये थे।[1] १७२५ में उन्होंने मलाबार में माहे (Mabi) ले लिया और १७३९ में कोरोमंडल-तट पर कारीकल।

१७४४ में अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों की तुलनात्मक स्थिति यह थी; अंग्रेजी कम्पनी के पास फ़्रांसीसी कम्पनी से कहीं अधिक धन था। उसका व्यापार भी अधिक बढ़ा चढ़ा था। उसके व्यापारी बेड़े अधिक बड़े थे और वे अधिक नियमित रूप से इधर-उधर आते जाते थे। 'पूर्व' में अंग्रेजी कम्पनी का इतिहास भी अपेक्षाकृत लम्बा, अनवरत परन्तु कम रंग-बिरंगा था। बम्बई की प्रेसीडेंसी, शक्ति में, पश्चिमी-तट की किसी भी फ़्रांसीसी बस्ती से कहीं अधिक थी। गंगा के डेलटे में कलकत्ते के मुकाबले में चन्द्रनगर का कुछ भी महत्व न था और मद्रास भी, कम से कम आकार और शक्ति में पांडिचेरी के बराबर तो अवश्य था। फ़्रांसवासी डूप्ले (Dupleix) और लबूर्दोने (Labourdonnais) के कथनानुसार तो, व्यापार की सीमा और विविधता की दृष्टि से, मद्रास की श्रेष्ठता फ़्रांसीसी बस्ती से कहीं अधिक थी।[2] अन्तिम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह कि अंग्रेजी कम्पनी एक महान निजी संस्था थी जिसे व्यक्तिगत साहस का आधार और सहयोग प्राप्त था। वह भारतीय व्यापार से होने वाले मुनाफे पर टिकी हुई थी और इस तरह वह किसी रूप में भी राजकीय सहायता पर निर्भर न थी। इतना ही नहीं स्वयं राज्य ही कम्पनी का ऋणी था। अस्तु, कहने को तो अंग्रेजी कम्पनी कानूनी अथवा औपचारिक रूप से सरकार से सम्बद्ध न थी परन्तु अपने डायरेक्टरों (जो पार्लियामेंट के भी सदस्य थे), धन और साधनों के कारण वह राष्ट्रीय नीति पर असाधारण प्रभाव डाल सकती थी।

जहां तक फ़्रांसीसी कम्पनी का सम्बन्ध है, हम देख ही चुके हैं कि पश्चिमी समुद्र तट पर और बंगाल में उनकी बस्तियां अंग्रेजी बस्तियों का मुकाबला नहीं कर सकती थीं। हां, फ़्रांसीसियों का मुख्य ठिकाना, पांडिचेरी, एक सुन्दर और सुरक्षित नगर के रूप में उनके अधिकार में अवश्य था। फ़्रांस के टापू और बोरबोन उनके लिए 'भारत का आश्रय' थे। इन स्थानों के महत्व के सम्बन्ध में तत्कालीन समालोचक एकमत नहीं। कुछ आलोचकों का विचार था कि शरदकालीन मानसून अथवा कोरोमंडल के समुद्र-तट से किसी यूरोपीय शत्रु द्वारा खदेड़े गये फ़्रांसीसी जहाजों का

१. इन टापुओं में बसने वाली व्यापारिक बस्तियों की तिथियां के लिए अँग्रेजी सीरीज़ का खंड १, दूसरा संस्करण, पृष्ठ १३४ देखिए।

२. मेमोआयर पोर ले सिचुर डिला बोरडोनेस, पीसिज जस्टीफ़िकेटिव्स, १७५०, पृष्ठ ८३, ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्रय-स्थल होने का कारण ये स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इसके विपरीत कुछ आलोचक कहते थे कि भारत से बहुत दूर होने के कारण वहां से सेनाओं का संचालन नहीं किया जा सकता था और इसलिए वे स्थान शक्ति की अपेक्षा दुर्बलता के कारण ही अधिक थे।

अपने देश के दृष्टिकोण से फ्रांसीसी कम्पनी स्पष्टतः अंग्रेजी कम्पनी से बहुत भिन्न थी। फ्रांसीसी कम्पनी प्रायः स्वाभाविक व्यापारिक प्रेरणा और उत्साह की अपेक्षा राजकीय संरक्षण की ही सन्तान रही। उसने गिरते-गिरते, १७४४ तक तो एक आश्रित राजकीय विभाग का ही रूप धारण कर लिया था। आरम्भ से ही कभी कम्पनी इस स्थिति में न हुई कि वह राजकीय आर्थिक सहायता और हस्तक्षेप से अपने को छुड़ा सकती। बादशाह ने सदा ही इसके प्रबन्ध और व्यवस्था में तीव्रता-पूर्वक हस्तक्षेप किया। उदाहरण के लिए उसने १६८४ में सीनले (Seignelay) को सदा के लिए कम्पनी का सर्वोच्च अधिकारी, प्रधान और डायरेक्टर नियुक्त कर दिया था। इस कम्पनी के हिस्सेदार तो असामियों के उस दल के समान थे जिन्हें निजी तौर पर भारतीय व्यापार में कोई विशेष रुचि न थी। कम्पनी की आय का अधिकांश तम्बाकू के एकाधिकार का प्रसाद था। कानूनी तौर पर प्राप्त विशेषाधिकारों में में से एक यही अधिकार फ्रांसीसी कम्पनी के पास बना रह सका था। कम्पनी के सब महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय करने वाले डायरेक्टर और इन्सपैक्टर राजछत्र द्वारा नामजद किये जाते थे और समस्त वास्तविक नियन्त्रण 'किंग्ज कमीशरीज' के हाथों में था। राज-छत्र को बार-बार कम्पनी को सहायता देनी पड़ती थी। १७२५ से १७६५ तक हिस्सेदारों की कोई बैठक ही नहीं बुलाई गयी। और १७३३ के बाद से तो सरकार लाभांश भी एक निश्चित दर से ही बांटने लगी। कदाचित् आर्थिक दृष्टि से कम्पनी का सबसे अच्छा समय १७३१ से १७३८ तक रहा। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध का आरम्भ होने के समय तो इसके सौभाग्य-सूर्य का अस्त होने लगा था।[1] राज्य के नौकरशाही नियन्त्रण का फल यह हुआ कि कम्पनी के समस्त कार्य-व्यापार में एक विशेष आलस्य और प्रमाद ने घर कर लिया। भारतीय व्यापारिक बस्तियों में यह आलस्य अधिक साफ तौर से देखा जा सकता था। इन बातों का यह फल हुआ कि कम्पनी का व्यापार मन्दा हो गया (कम से कम उसकी बढ़ोतरी तो रुक ही गयी) विशेष साहस अथवा विकास भी किसी ओर दिखाई न पड़ रहा था। पांडिचेरी तो, अपने संस्थापक फ्रांसिस मार्टिन (जिसकी मृत्यु १७०६ में हुई) और बाद में लेनोएर (Lenoir) और डुमास (Dumas) के परिश्रम के कारण विकसित होता रहा परन्तु बंगाल (जो प्रान्त व्यावसायिक और राजनीतिक दृष्टि से भारत की कुंजी था) में चन्द्रनगर ने, जासेफ फ्रांसिस डूप्ले (Joseph Francois Dupleix) (१७३१--४१) के नियन्त्रण में आने से पहले कोई उल्लेखनीय

१. मेमोआयर सुर ला सिचुएशन एक्चुएल डि ला कम्पनी डेस इन्डस, एम० ल;' एव,' मारलेट, पेरिस, १७६९, पृ० ४३ से।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरक्की नहीं की। कैप्टेन एलैक्जेंडर हैमिल्टन ने तिरस्कारपूर्वक कहा है, "धन की कमी के कारण वे व्यापार करने में असमर्थ हैं। उनके कारखाने के आसपास कुछ निजी परिवार बसे हुए हैं और वहीं प्रार्थना के लिए एक छोटा-सा गिरजाघर है। बंगाल में फ़्रांसीसियों का मुख्य व्यवसाय यही है।"[1] इण्डिया ऑफिस में सुरक्षित 'रेकार्ड्स' का अध्ययन करने से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। यह एक असाधारण बात है कि कम्पनी की 'लेटर बक्स' में (कम से कम १७२० तक तो) फ़्रांसीसियों का उल्लेख बहुत ही कम पाया जाता है। १७१८ तक डचों को ही हिन्द द्वीपसमूह में सबसे अधिक बलवान यूरोपीय राष्ट्र माना जाता रहा। कोर्ट ने लिखा : "उनकी शक्ति हमारी ताकत से, इतना ही नहीं, और सब यूरोपीय राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति से भी अधिक है। केवल यूरोप में स्थित शक्तियों के भय से ही वे भारतीय व्यापार में अपने किसी एक प्रतियोगी या सब प्रतियोगियों के विरुद्ध अपनी शक्ति दिखाने का साहस नहीं कर पाते।"[2] अंग्रेज यह अनुमान न लगा सके थे कि भारत में हालैण्ड का प्रभाव इतनी जल्दी समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार वे दूरदर्शितापूर्वक यह कल्पना भी न कर सके कि फ़्रांसीसियों को उतनी जल्दी नवजीवन पाकर फिर उठ खड़ा होना था। लन्दन में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को तो पहले-पहल 'कम्पनी आफ दि वेस्ट' और 'कम्पनी आफ दि इन्डीज़' के एकीकरण से ही कुछ चिन्ता हुई। १७१८ में उन्होंने 'पूर्व' में अपने सब सेवकों के पास लॉ की योजना का पूरा ब्यौरा लिख भेजा। उन्होंने इस अफवाह की ओर भी संकेत किया कि फ़्रांसीसी कम्पनी के लिए इंगलैण्ड में दस बारह जहाज तैयार हो रहे हैं। उन्होंने कहा : "भविष्य ही यह बता सकेगा कि इस समय एक धधकते हुए नक्षत्र की भांति जान पड़ने वाली इस विशाल योजना का फल क्या होगा। हमारे नेत्र तो इस योजना के उस भाग पर गड़े हैं जिसका सम्बन्ध पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह के साथ है।"[3]

फ़्रांसीसी शक्ति का पुनरुदय लगभग १७२८ से होता है। इस तथ्य पर जितना अधिक ध्यान दिया जाएगा, डूमास और डूप्ले जैसे उन व्यक्तियों की योग्यता पर उतना ही अधिक प्रकाश पड़ेगा, जिन्होंने २० वर्ष के अल्प समय में ही अपने देश का सौभाग्य इतना ऊंचा उठा दिया कि वह कम से कम देखने में तो, बहुत समय पहले से जमे हुए अपने प्रतियोगियों के समान ही जान पड़ने लगा। कहा जाता है कि इसी अवधि में अंग्रेजी कम्पनी की जड़ें भारत भूमि में बहुत गहरी पड़ गयीं। १७२१ और २२ में कोई भी फ़्रांसीसी जहाज फ़्रांस से रवाना नहीं हुआ। अक्तूबर १७२७ और जनवरी, १७२८ में फ़्रांसीसी आयात का मूल्य २,२३४,३८५ फ़्रेंक आंका गया था और सितम्बर १७२९ और जनवरी १७३० में ५, ४०४, २९० फ़्रेंक। १७३४ में कम्पनी को बिके हुए माल के बदले १८,०००,००० फ़्रेंक मिले और १७४० में २२,०००,००० फ़्रेंक। अंग्रेजी आयात का मूल्य इनसे कहीं अधिक रहा। बाद के दो वर्षों में अंग्रेजी आयात

१. ए न्यू एकाउन्ट आफ़ दि ईस्ट इंडीज़, कैप्टेन एलेक्ज़ेन्डर हेमिल्टन, १७४४।

२. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, लेटर बुक नं० १६, बम्बई भेजा गया पत्र, २१ फरवरी १७१८।

३. वही, नं० १७, फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज को भेजा गया पत्र, १९ दिसम्बर, १७१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का मूल्य क्रमशः १,३७२,२१५ पौंड और १,७९५,५८४ पौंड आंका गया था।[1] फ़्रांसीसी कम्पनी की सम्पन्नता का युग लगभग उसी समय में रहा जब कारडिनल फ्ल्यूरी (Cardinal Fleury) (१७२६) सिंहासन पर बैठा और उसने एक शान्तिपूर्ण नीति का उद्घाटन किया। अर्थमंत्री, एम० ओरी (M. Orry) ने अपने भाई को कम्पनी का कार्य-संचालक नियुक्त कर दिया था। उसके सुयोग्य निरीक्षण में कुछ समय तक भारतीय व्यापार का पर्याप्त विकास हुआ।

अस्तु, युद्ध आरम्भ होने के समय यद्यपि देखने में तो, शक्ति और अधिकृत प्रदेशों के विस्तार की दृष्टि से, अंग्रेजी और फ़्रांसीसी एक से ही जान पड़ रहे थे, तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि आर्थिक शक्ति, व्यावसायिक सम्पत्ति और भौतिक साधनों की दृष्टि से अंग्रेजी कम्पनी का पलड़ा बहुत भारी था। यह सब होने पर भी कुछ तो अपने गवर्नरों और सेनानायकों की योग्यता के कारण और कुछ स्वयं अंग्रेजों की भयंकर भूलों के कारण फ़्रांस वाले अंग्रेजों पर एक भयंकर हमला करने में सफल हो गये। फिर असंदिग्ध रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इस आक्रमण से उन्हें मनचाही सफलता मिल गयी। वास्तव में उनकी विजय तो अस्थायी (१७४६ से १७५४ तक) ही रही। इसके सात साल बाद तो वे पूरी तरह हरा दिये गये।

१७४४ से पहले कुछ बरस तक इंग्लैण्ड और फ़्रांस का आपसी विरोध बिल्कुल स्पष्ट रहा। १७४० में आस्ट्रिया का उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध छिड़ गया। इसमें दोनों राष्ट्रों ने भाग लिया। इस तरह उन्होंने केवल मुख्य योद्धाओं के सहायकों के रूप में, यूरोपीय युद्ध भूमि में एक दूसरे का सामना किया। १७४२ में फ़्रांसीसी सरकार ने अनिवार्य भावी घटनाओं को पहले से ही समझ कर, दोनों राष्ट्रों की भारत स्थित व्यापारिक बस्तियों को तटस्थ बनाने के लिए अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सामने कुछ प्रस्ताव रखे। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित समझौता न हो सका।

उधर, माहे डि ला बुर्दोने (Mahe de la Bourdonnais) के चतुर मस्तिष्क में एक अलग ही योजना तैयार हो रही थी। वह साहसी समुद्री कप्तान, कई बरस तक फ़्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा कर चुका था। (इस अवधि में केवल दो बरस तक उसने पुर्तगालियों की भी सेवा की।) १७३४ में फ़्रांस के टापुओं और बोरबोन का गवर्नर बना दिया गया। पांच बरस के समय में ही उसने अपने उत्साहपूर्ण शासन से उन व्यापारिक वस्तुओं की सम्पन्नता में अनोखी प्रगति कर दिखायी।[2] १७४० में, फ़्रांस वापिस जाते समय, शीघ्र ही उसने यह अनुमान लगाया कि युद्ध का ऐलान होने वाला है। इसी आधार पर उसने भारत में आने जाने वाले अंग्रेजी व्यापारी जहाजों पर हमला करने के लिए एक लुटेरा समुद्री-बेड़ा तैयार करने का निश्चय किया। उसने अपनी योजना फ़्रांसीसी सरकार के सामने रखी। सरकार

१. रिपोर्ट्स आफ़ दि हाउस आफ़ कामन्स, खंड ४, पृष्ठ ७५। गुप्त समिति की ओर से प्राप्त तीसरी रिपोर्ट, ९ फ़रवरी, १७७३।

२. अंग्रेजी सीरीज़ का खंड १, दूसरा संस्करण, पृ० १३५ देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने उसे स्वीकार कर लिया। फ़ांसीसी सरकार ने तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी इस बात के लिए विवश किया कि वह इस बेड़े का एक भाग अपनी ओर से दे। ला बूर्दोने १७४१ में अपने देश से चला। स्वदेश से चलते समय उसने घमण्ड के साथ यह घोषणा की थी कि वह समुद्र की लहरों पर होने वाले महत्तम सफल आक्रमण का संचालन करने के लिए जा रहा है।[1] अपनी योजना के अनुसार वह युद्ध का ऐलान होने तक मारीशस में ठहरना चाहता था। घटनाएं उसके अनुमान के अनुसार तेजी के साथ घटित न हो सकीं और लड़ाई का ऐलान न हुआ। कम्पनी ने तो कभी भी ला बूर्दोने की योजनाओं का समर्थन नहीं किया था। उसे अब भी पूर्वीय समुद्रों में तटस्थता की पूरी आशा थी। इसीलिए ला बूर्दोने को आज्ञा दी गयी कि वह अपने जहाज फ़्रांस वापिस भेज दे। फलस्वरूप उसने बुरी तरह निराश होकर भी, इस आज्ञा का पालन किया। इसके कुछ ही समय पश्चात् एक दूसरा सन्देश पाकर उसे बहुत क्रोध आया। इस सन्देश में पहली आज्ञा रद्द कर दी गयी थी और यह भाव भी प्रकट किया गया था कि वह पहली आज्ञा का उल्लंघन करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता था। शीघ्र ही लड़ाई का ऐलान हो गया और उसे देखकर बहुत ही पछतावा हुआ कि उसे अपनी इच्छा पूरी करने का अवसर उस समय मिला जब उसके पास आवश्यक साधन नहीं थे। इतना ही नहीं उधर अंग्रेजों ने तो ला बूर्दोने की योजनाओं के समाचार पाकर जबरदस्त तैयारी भी कर ली थी। यहां तक कि १७४५ में कोमोरडो बारनेट के नेतृत्व में शाही समुद्री जहाजों का एक दल कोरोमंडल तट पर पांडिचेरी को भयभीत करने लगा। फ़्रांसीसी गवर्नर जनरल डूप्ले ने (जिसने जनवरी, १७४२ में अपना पद संभाला था) उसी समय कर्नाटक के नवाब से अपील की। नवाब ने अंग्रेजों को मुगल साम्राज्य की तटस्थता भंग करने से रोका। इस प्रकार अपने को शत्रु के आक्रमण से बचाकर डूप्ले युद्ध को शत्रु के देश में ले गया। उसने ला बूर्दोने के साथ मिलकर (जो टापुओं में नया जहाजी बेड़ा तैयार कर चुका था और फ़्रांस से भी युद्ध सामग्री प्राप्त कर चुका था) भारतीय समुद्र-तट तक जाकर मद्रास पर घेरा डालने का प्रयत्न करने की एक योजना बनायी। ला बूर्दोने ने अंग्रेजी समुद्री बेड़े के संचालक बारनेट के उत्तराधिकारी, पेटन (Peyton) नामक एक अत्यन्त अयोग्य अफसर के साथ निर्णय-रहित युद्ध किया। इसके बाद, वह जुलाई १७४६ के आरम्भ में पांडिचेरी पहुंचा।

यह सब होने पर भी एक साथ मिलकर काम करना ला बूर्दोने और डूप्ले के भाग्य में न बदा था। ला बुर्दोने तो वास्तव में अंग्रेजी जहाजों को लूटना चाहता था और जैसे ही वह पांडिचेरी पहुंचा, उसने मद्रास पर धावा बोलने में कुछ हिचकिचाहट दिखाई। आरम्भ में तो इस अनिच्छा का कारण था। वह इस बात की कभी कल्पना भी नहीं कर सका था कि पेटन इतनी दीनता के साथ नगर को उसके भाग्य पर छोड़ देगा। अस्तु, ६ सप्ताह तक वह आगे बढ़ने से इन्कार करता रहा। उसका कहना था कि वह उस समय तक आगे नहीं बढ़ेगा जब तक उसे डूप्ले और पांडिचेरी की कौंसिल

१. मेमोआयर पोर ले सियुर डि ला बूर्दो १७५०, पृ० २२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की ओर से आक्रमण करने के लिए हस्ताक्षर-युक्त आज्ञापत्र और इस बात का निश्चित आश्वासन नहीं मिल जाएगा कि उस हमले का पूरा उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया है। उसे डर था कि जब वह घेरा डालेगा तो अंग्रेजी बेड़ा उस पर पीछे से आक्रमण करेगा। डूप्ले ने ला बुर्दोने को उत्तर देते हुए इस बात पर बल दिया कि वह चाहे मद्रास पर चढ़ाई करे अथवा ऊंचे समुद्रों में अंग्रेजों से लड़े। वह दोनों में से कोई भी मार्ग अपना सकता था परन्तु उसे तत्सम्बन्धी उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता।

सितम्बर में ला बुर्दोने को अन्तिम रूप से हमला करने के लिए तैयार कर लिया गया। मद्रास ने (जो उस समय अपने गवर्नर, निकोलस मोर्स के अधीन था) बहुत ही कमजोरी के साथ सामना किया। कुछ ही दिन की बमबारी के बाद (जिसमें किसी पक्ष के एक भी आदमी को दूसरे पक्ष की गोली ने नहीं छुआ। केवल अंग्रेजी सेना में अचानक फट जाने वाले एक बम ने अवश्य एक मनुष्य की जान ली) २१ सितम्बर को मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया। युद्धबन्दियों में राबर्ट क्लाइव भी था। वह उस समय कम्पनी में एक युवक लेखक के रूप में काम कर रहा था। २१ वर्ष का यह युवक खिन्न स्वभाव, महत्वाकांक्षी और महान् शक्तियों से सम्पन्न था परन्तु उस समय तक किसी को उसकी इन विशेषताओं का आभास भी न था।

ला बूर्दोने ने पत्र द्वारा डूप्ले को यह सूचना दी कि मद्रास उसके हाथ में है और अंग्रेज उसकी इच्छा के अधीन हैं। यह जानकर डूप्ले को पूर्णतया संतोष हो गया। अब उसने अवसर से पूरा लाभ उठाने की ठानी। कुछ समय के बाद बुर्दोने ने उसके सामने (पत्र द्वारा) यह सुझाव रखा कि कुछ धन लेकर अंग्रेजी कम्पनी की बस्ती उसे लौटा दी जाए। डूप्ले ने यह सुझाव बिल्कुल पसन्द न किया और ऐसे किसी कार्य में भाग लेने से साफ इन्कार कर दिया। उसने कहा कि गवर्नर-जनरल होने के नाते उस नगर के भाग्य का निर्णय करने का अधिकार उसी को है। डूप्ले ने ला बूर्दोने से यह अनुरोध भी किया कि उन्हें उस आकस्मिक सफलता से पूरा-पूरा लाभ उठाने का अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। उधर ला बूर्दोने ने यह ऐलान किया कि वह पहले ही मद्रास में अंग्रेजों को वचन दे चुका है। अस्तु, उसने इस सम्बन्ध में अधिक विचार विनिमय न करके तुरन्त कदाचित् एक आकर्षक रिश्वत लेकर (जिसके लिए मोर्स ने उसे वचन दिया था)[1] एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार ४००,००० पौंड लेकर मद्रास कम्पनी को लौटा दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ला बूर्दोने का यह आचरण कपटपूर्ण था क्योंकि उसने सबसे पहले पत्र में यह बात साफ तौर से कही थी कि अंग्रेजों ने अपनी इच्छा से ही आत्मसमर्पण किया है। ला बूर्दोने उसी समय से डूप्ले के साथ उन विभिन्न सम्भावनाओं--धन लेकर बस्ती लौटा देने, उसे बिल्कुल नष्ट कर देने अथवा उसे फ्रांसीसी बस्ती के रूप में बनाए रखने पर इस तरह

१. प्रमाण के लिए हिस्ट्री ऑफ़ दि फ्रेन्च इन इण्डिया, लेखक जी० बी० मोलसन, परिशिष्ट ए० और 'डूप्ले', लेखक प्रॉफ़ेसर कल्ट्रू, पृ० २१७ से २१९ देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचार-विनिमय कर रहा था मानों इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो चुका है। डूप्ले ने अपना स्वाभाविक क्रोध दबा लिया और तर्क, अनुरोध तथा विनय आदि सब उपायों का सहारा लेकर लाबूर्दोने को यह अन्तिम कदम उठाने से रोका पर इसका कोई फल न हुआ। एक स्थानीय प्रेक्षक का कथन है : "प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर हो जाने का समाचार सुनकर गवर्नर को जितना क्रोध आया और दुःख हुआ उसका पूरी तरह वर्णन नहीं किया जा सकता।"[1] डूप्ले की असीम निराशा स्वाभाविक थी। उसने आरम्भ (१७४१) से ही मद्रास पर होने वाली चढ़ाई के लिए तैयारी करने में सबसे अधिक भाग लिया था और मुख्य रूप से उसके खर्च पर ही उस यात्रा का प्रबन्ध हुआ था। फलस्वरूप शीघ्र ही दोनों व्यक्तियों के बीच आदर्श-विहीन पारस्परिक लड़ाई छिड़ गयी। ऊपर जिस लेखक का उद्धरण दिया गया है उसने अपनी डायरी में लिखा था : "सदा परस्पर मिलकर काम करने वाले यूरोपियनों के तरीके भी अब स्पष्टतः स्थानीय निवासियों और मुसलमानों जैसे हो गये हैं।"[2]

लाबूर्दोने ने उन अफसरों के साथ बातचीत करने से इन्कार कर दिया जिन्हें डूप्ले ने मद्रास का अधिकार लेने के लिए भेजा था। दूसरी ओर, डूप्ले ने सेना और समुद्री बेड़े के अफसरों से कहा कि वे बाग़ी लाबूर्दोने की आज्ञाओं का पालन न करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुख्य झगड़े में डूप्ले का पक्ष सही था और लाबूर्दोने का गलत। पांडिचेरी के अधिकांश फ़्रांसीसियों ने गवर्नर-जनरल का ही पक्ष लिया। वे समझते थे कि उसके प्रतिद्वन्द्वी ने एक अकल्पनीय मूर्खतापूर्ण अपराध किया है। इस झगड़े की कानूनी स्थिति कुछ उलझी हुई थी। स्पष्ट बात तो यही थी कि पूर्व में फ़्रांस की व्यापारिक बस्तियों का गवर्नर-जनरल होने के कारण मद्रास के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार डूप्ले को ही था। इसके बावजूद लाबूर्दोने सदा ही इस बात पर जोर देता रहा कि 'मिनिस्टर फॉर मेरीन' (समुद्र-यात्राओं तथा समुद्री-व्यापार आदि से सम्बन्ध रखने वाला मन्त्री) ने उसे कुछ स्वतन्त्र अधिकार दिये हुए हैं और उसे यह आज्ञा दी जा चुकी है कि वह अपने कब्जे में आने वाले किसी स्थान को भी अपने अधीन न रखे। वास्तव में यह आज्ञा १७४१ में दी गयी थी। उस समय केवल अंग्रेजों के विरुद्ध एक लुटेरा-समुद्री-बेड़ा तैयार करने की ही योजना पर विचार हो रहा था। यह आज्ञा देते समय मन्त्री ने यह न सोचा था कि लाबूर्दोने डूप्ले के साथ मिलकर अंग्रेजी प्रेसीडेंसी पर हमला कर देगा। लाबूर्दोने ने जिन "स्वतन्त्र अधिकारों" की ओर संकेत किया उनका स्पष्टीकरण करते हुए पांडिचेरी की कौंसिल ने कहा था कि वे "उन अधिकारों से अधिक कुछ भी न थे जो किसी भी समुद्री दल के नेता को अपने मातहत कप्तानों पर नियन्त्रण रखने के लिए दिये जाते हैं।"[3] सत्य तो यह है कि जब लाबूर्दोने ने मद्रास

१. दि प्राइवेट डायरी ऑफ़ आनन्द रंग पिल्ले संपादक सर जे० एफ० प्राइस, के० सी० एस० आई०, खंड २, पृष्ठ ३४५।

२. वही, पृष्ठ ३९५।

३. मेमोआयर्स हिस्टारीक डि बी० एफ़. माहे डि लाबूर्दोने पेरिस, पृ० २८८-९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर आक्रमण करने से पहले, कौंसिल से तत्सम्बन्धी एक आज्ञा-पत्र मांगा था तो मानो उसने उसी समय गवर्नर-जनरल की सत्ता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार तो उसने स्वयं ही मद्रास के आत्म-समर्पण के बाद प्रदर्शित किये जाने वाले अपने व्यवहार को निन्दनीय ठहरा दिया।

घटना-चक्र डूप्ले के पक्ष में रहा। अक्तूबर, १७४६ में एक भयंकर आँधी के साथ आरम्भ होने वाली मानसून ने लाबूर्दोने के जहाजों को तहस-नहस करके उन्हें वापिस टापुओं तक खदेड़ दिया। जैसे ही वह रवाना हुआ, डूप्ले ने मद्रास पर अधिकार कर लिया। उसने लाबूर्दोने का प्रतिज्ञा-पत्र इस आधार पर रद्द कर दिया कि इस सम्बन्ध में उसका व्यवहार अनधिकारपूर्ण था और अंग्रेजों को युद्धबन्दी बनाकर पांडिचेरी ले आया। यहां पहुंच कर मानो उसकी सफलता का अन्त हो गया। स्ट्रिन्जर लारेंस (Stringer Lawrence) ने फोर्ट सेंट डेविड (जहां मद्रास से आने वाले शरणार्थी एकत्रित थे) पर होने वाले आक्रमण का डटकर सामना किया। स्ट्रिन्जर लारेंस युद्ध-विद्या में निपुण एक वीर अधिकारी था। इसे आगे चलकर भारत में होने वाले आंग्ल फ़्रांसीसी संघर्ष में बहुत समय तक उल्लेखनीय भाग लेना था। उधर तेरह चुने हुए जहाजों के एक भयंकर अंग्रेजी समुद्री बेड़े ने कोरोमंडल तट के पार सामने आकर कठोरतापूर्वक पांडिचेरी पर कब्जा कर लिया। फ़्रांसीसी सेनापति बहुत योग्यता से अपना बचाव कर रहे थे। कहा तो यह जाता है कि अंग्रेजों का सैन्य-संचालन फ़्रांसीसियों के मुकाबले में निचले दरजे का ही था। डूप्ले को यह देखकर संतोष था कि भारत में शान्ति-संधि की घोषणा होने से एक सप्ताह पहले लगभग एक हजार मनुष्यों को खोकर आखिरकार अंग्रेज अपनी खाइयों से बाहर तो निकले। इस युद्धकाल में अंग्रेज और फ़्रांसीसी 'पूर्व' में भी परस्पर लड़े और सुदूर पश्चिम में भी। इसका फल यह हुआ कि यूरोप के कूटनीतिज्ञों को यदि विश्व के एक भाग में विजय मिली तो दूसरे में पराजय। १७४८ की एलाशपल (Aix-la-Chapelle) की शान्ति-संधि के अनुसार मद्रास अंग्रेजों को मिल गया और उत्तरी अमरीका में लुइस्बर्ग (Louisbourg) फ़्रांसीसियों को।

आंग्ल-फ़्रांसीसी-संघर्ष का पहला दौर इस तरह समाप्त हुआ। प्रायः कहा जाता है कि दोनों फ़्रांसीसी सेना-नायकों के पारस्परिक झगड़े ने भारत में अंग्रेजों को विनाश से बचा लिया परन्तु इस संयोग को आवश्यकता से अधिक महत्व देने वाले इस कथन का कोई वास्तविक आधार नहीं मिलता। जैसा कि फ़्रांसीसी इतिहासकार, कल्ट्रूर, ने संकेत किया है, उस समय तो फ़्रांसीसी अधिक से अधिक मद्रास पर कब्जा कर सकते थे। उन्होंने मद्रास ले ही लिया। यदि फ़्रांसीसी सेनानायकों के बीच झगड़ा न होता तो वे अधिक-से-अधिक शान्ति-संधि तक उस नगर पर अधिकार रख सकते थे। यह अधिकार उन्होंने, झगड़े के बावजूद, नहीं छोड़ा। इतने ही समय तक उन्होंने मद्रास को अपने अधीन रखा। इससे अधिक समय तक वे ऐसा कर भी न सकते थे। बात यह थी कि इस सम्बन्ध में वास्तविक निर्णायक तो वे राजनीतिज्ञ थे जो यूरोप में बैठे थे। अस्तु, यह तो मानना पड़ता है कि मद्रास की हार अंग्रेजों के लिए एक बहुत बड़ी विपत्ति थी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और फ़्रांसीसियों की पर्याप्त महत्त्वपूर्ण विजय, परन्तु इसे यहां तक नहीं बढ़ाया जा सकता कि उस समय अंग्रेजों की सब बस्तियों का अस्तित्व ही खतरे में था। कोरोमंडल-तट पर होने वाले युद्ध ने अंग्रेजों की केवल एक (और तीनों में से कदाचित् सबसे कमजोर) प्रेसीडेंसी को ही प्रभावित किया। अभी कलकत्ता और बम्बई (जो भारत के अंग्रेजों की सबसे शक्तिपूर्ण व्यापोरिक बस्ती थी) बाकी थे। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यदि डूप्ले और लाबूर्दोने परस्पर मिले रहते तो वे मद्रास पर विजय पाने पर बंगाल पर हमला करते परन्तु घटना स्थिति तो यह है कि जब साहसी डूप्ले ने यह मार्ग सुझाया था तो लाबूर्दोने ने इस आधार पर इसे अस्वीकार कर दिया था कि 'हिन्दुस्तान' में मुगल साम्राज्य की तटस्थता भंग करने का अर्थ होगा साम्राज्य में से फ़्रांसीसियों का निष्कासन। डूप्ले तो पांडिचेरी से कुछ ही दूर दक्षिण में स्थित, फोर्ट सेंट डेविड को भी अपने अधीन न कर सका। कलकत्ते के लिए तो कभी यह कल्पना भी न की जा सकती थी कि वह मद्रास की तरह अत्यन्त दुर्बलता के साथ आत्मसमर्पण कर देगा और उस समय भी पेटन का जहाजी दल बंगाल की खाड़ी में गश्त लगा रहा था। उधर, १७४७ में बोस्कावेन (Boscawen) 'पूर्व' में एक साथ लाये जाने वाले अधिकतम शस्त्रों के साथ, इंग्लैण्ड से चल चुका था। उसके यहां पहुंचने के समय यदि फ़्रांसीसी कलकत्ते पर आक्रमण कर रहे होते तो उन्हें आसानी से हुगली में घेर लिया जाता और तब तो स्वयं पांडिचेरी की स्थिति ही अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ११

कोरोमंडल-तट पर अंग्रेज़ और फ्रांसीसी (डूप्ले के वापिस बुलाए जाने तक)

एलाशपल की शान्ति-संधि के बाद, देखने में तो, कोरोमंडल-तट की स्थिति जैसी की तैसी हो गयी पर फ़्रांसीसियों के हृदय में यह भाव बना रहा कि इस प्रकार उनके हाथ से विजय का अवसर छीन लिया गया। उधर, अंग्रेज यह समझते रहे कि उन्होंने सौभाग्यवश ही अपने को पराजय से बचा लिया। अस्तु, संधि हो जाने पर भी दोनों कम्पनियों के सेवक खुले आम तलवार हाथ में लेकर एक दूसरे का सामना करते रहे और पुराने शान्तिपूर्ण सम्बन्ध पूरी तरह फिर कभी कायम न हो सके। लड़ाई ने उनका दृष्टिकोण ही बदल दिया था। एक तत्कालीन लेखक के शब्दों में उस युद्ध ने उन्हें पहली बार "उनकी बस्तियों के चारों ओर लगभग १०० मील तक फैले भू-भाग की भौगोलिक स्थिति का पाठ पढ़ा दिया था।"[1] इस तरह उन्हें प्रसंगवश स्थानीय शक्तियों की तुलना में अपनी ताकत का भी अनुमान हो गया। १७४६ में, कर्नाटक के उसी नवाब, अनवारुद्दीन के साथ फ़्रांसीसियों का खुले आम टकराव हो गया जिसके संरक्षण में अंग्रेज और फ़्रांसीसी बहुत समय तक निश्चिन्त और निर्भय रह चुके थे। डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब को यह वचन देकर ही मद्रास पर होने वाले फ़्रांस के आक्रमण के लिए उसकी सहमति प्राप्त की थी कि वह अंग्रेजों से छीन कर मद्रास नवाब को सौंप देगा। डूप्ले वास्तव में इस वचन का पालन नहीं करना चाहता था। जब नवाब ने अपने इस अधिकार की मांग पर बल देने का प्रयत्न किया तो मुट्ठी भर फ़्रांसीसी सेना ने ही लड़ाई करके अनवारुद्दीन की सेना को हरा दिया। यह सब सत्य होने पर भी वाल्टेयर का यह कथन अविवेकपूर्ण ही है कि यह युद्ध ख्याति में थरमोपाइली (Thermopylae) पर दिखाये गये स्पारटनों के कारनामे से भी बढ़ गया।[2] यह विजय अत्यन्त महत्वपूर्ण अवश्य थी और इसने जो पाठ पढ़ाया वह भी डूप्ले के लिए व्यर्थ सिद्ध न हुआ। अब डूप्ले ने यह समझ लिया, और यह समझना उचित भी था कि दक्षिणी भारत के मुसलमान नरेशों की अव्यवस्थित, अनुशासनहीन और अनियन्त्रित सेनाएँ एक पल के लिए भी यूरोपवासियों द्वारा शिक्षित सेनाओं के सामने नहीं टिक सकतीं। १७४८ के बाद डूप्ले शान्तिपूर्ण व्यापारी की तरह काम करने के लिए बिल्कुल तैयार न था। वास्तव में तो वह शान्तिकाल में व्यापारिक कम्पनी की बस्ती का मुख्य अधिकारी बनने

१. एन एकाउन्ट ऑफ़ दि वार इन इंडिया आर० ओ० केम्ब्रिज १७६१ पृ. ६।
२. प्रेसी डु सेकल डि लुई फ़िफ़्टीन्थ पृ० ५९९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के योग्य ही न था। वह परिश्रम से घृणा करता था और व्यावसायिक जीवन की नीरसता भी उसे पसन्द न थी। उसका तो दृढ़ विश्वास था कि कम से कम व्यापार में तो उसका राष्ट्र कभी भी अंग्रेजी बस्तियों का मुकाबला करने की आशा नहीं कर सकता। उसका झुकाव चालबाजी और कूटनीति की ओर अधिक था। समस्त योग्य व्यक्तियों की भांति वह भी शक्ति का प्रेमी था और नीति और रुचि, दोनों ही की दृष्टि से वह दिखावे और तड़क-भड़क का अधिक विरोधी न था। उसने गम्भीरता से दक्षिणी भारत की पेचीदा स्थानीय राजनीति का अध्ययन किया। शीघ्र ही उसने, उस राजनीति में भी, अपने असाधारण गुणों के प्रदर्शन के लिए मार्ग खोज ही निकाला। प्रायः कहा जाता है कि उसने आरम्भ में ही भारत में अपना उपनिवेश स्थापित करने के लिए एक विशाल योजना बना ली थी। वास्तविक बात यह न थी। हां, निष्पक्ष भाव से यह कहा जा सकता है कि अधिकतर राजनीतिज्ञों की भांति वह भी अत्यन्त साहसी और अवसरवादी था। एक सफलता से दूसरी तक पहुंचते-पहुंचते उसके विचारों में विकास और विस्तार होता गया। अपने भारतीय पदाधिकार का अन्त होने तक तो वह स्वयं भी यह बात न समझ पाया था कि उसका मार्ग उसे किस ओर ले जा रहा था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उसने फ़्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों अथवा फ़्रांस के मन्त्रिमंडल को इतना अवसर ही नहीं दिया कि वे उसकी योजना पूरी तरह समझ कर उसकी स्थिति की प्रशंसा कर पाते। इसके अलावा उसके पतन के दो अन्य मुख्य कारण भी थे : आर्थिक मामलों में लापरवाही और उसका असंयम।

स्वयं अंग्रेजों ने ही डूप्ले के सामने आदर्श प्रस्तुत करके उसे स्थानीय राजनीति को समझने की प्रेरणा दी। अंग्रेजों ने कोलरून नदी के मुहाने पर स्थित एक बन्दरगाह छोड़ देने के बदले में तंजौर के राज्य-सिंहासन के एक प्रार्थी की मांग का समर्थन किया था। फ़्रांसीसियों ने यह नीति और भी विस्तृत करके इसका प्रयोग इससे भी अधिक साहसपूर्ण कामों में किया। १७४८ में दक्षिणी भारत के वृद्ध नरेश सुप्रसिद्ध निजामुल्मुल्क आसफजाह की मृत्यु हो जाने पर तुरन्त ही उसके बेटों और पोतों ने उत्तराधिकार के लिए आपस में लड़ना आरम्भ कर दिया। डूप्ले ने पहले ही कर्नाटक के तत्कालीन नवाब अनवारुद्दीन के विरूद्ध चांदा साहब नामक एक स्थानीय राजकुमार की मांग का समर्थन किया। समस्त तत्कालीन लेखकों ने चांदा साहब को असाधारण योग्यता-सम्पन्न माना है। उधर डूप्ले ने निजामुल्मुल्क के उत्तराधिकार के एक आकांक्षी, मुजफ्फरजंग की सेनाओं के साथ अपनी सेनाएं मिला ली थीं इसीलिए उसे इस बात का पूरा भरोसा था कि भविष्य में कर्नाटक का हाकिम और दक्खिन का सूबेदार, दोनों ही अपने राज्याधिकार को फ़्रांसीसियों की देन समझेंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि डूप्ले की योजना सफल हो जाती तो फ़्रांसीसियों का बहुत अधिक लाभ होता। डूप्ले ने बहुत बड़ा दांव फेंका था और उसे अपने उद्देश्य में कुछ सफलता भी मिली।

फ़्रांसीसी सेनाओं की सहायता पाकर मुजफ्फरजंग और चांदा साहब ने १७४९ में अम्बर (Ambur) नामक स्थान पर अनवारुद्दीन को हरा कर उसे मार दिया। स्वर्गवासी नरेश का गैरकानूनी बेटा, मुहम्मदअली, भाग कर त्रिचनापल्ली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चला गया। कर्नाटक का बाकी भाग चांदा साहब के राज्य में मिल गया। चांदा साहब ने अपने हितैषी फ़्रांसीसियों को दिल खोलकर पुरस्कृत किया। उसने उन्हें पांडिचेरी के चारों ओर अस्सी गांव दे दिये। डूप्ले अपनी इस महान् प्रारम्भिक सफलता के बाद त्रिचनापल्ली पर एक सुसंगठित आक्रमण करना और दक्खिन के वास्तविक सूबेदार, नासिरजंग के विरुद्ध भी सेनाएं बढ़ाना चाहता था। परन्तु वह अपने स्थानीय मित्र-नरेशों को उतने उत्साह के साथ आगे बढ़ने के लिए तैयार न कर सका जैसे वह चाहता था। चांदा साहब ने तंजौर पर निरर्थक आक्रमण करने में समय नष्ट कर दिया। इसी दौरान में नासिरजंग एक विशाल और भयंकर सेना लेकर प्रान्त में घुस आया। आंकड़ों के आधार पर बताया जाता है कि उसके सैनिक शिविर के घेरे की परिधि बीस मील तक फैली थी। मेजर लारेंस के नेतृत्व में ६०० मनुष्यों का एक ब्रिटिश सैनिक-दल आकर उसके साथ मिल गया। अंग्रेज, अधिकतर अनिच्छापूर्वक ही, इस परिणाम पर पहुंच गये थे कि स्थानीय नरेशों को पूरी तरह फ़्रांसीसियों के प्रभाव में आने से रोकने के लिए उन्हें शस्त्र उठाने ही होंगे। इसीलिए उन्होंने थोड़े से सैनिकों का एक दल त्रिचनापल्ली में भाग कर आये हुए मुहम्मद अली के पास भेज दिया। उधर उन्होंने मूर्खतावश कोरोमंडल-तट पर बोसकेवेन (Boscawen) का प्रस्ताव अस्वीकार करके उसके जहाजी बेड़े के साथ रहने से इन्कार कर दिया। तेरह फ़्रांसीसी अफसरों] द्वारा साथ छोड़] दिया जाने के] कारण मुजफ्फरजंग को नासिर जंग के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ा और चांदा साहब को विवश होकर पांडिचेरी में जाकर आश्रय लेना पड़ा। फ़्रांसीसियों की यह रुकावट केवल क्षणिक थी। डूप्ले ने इस संकट का सामना शान्ति और धैर्य के साथ किया। उसने पहले नासिर जंग और फिर उसके शिविर के तटस्थ व्यक्तियों के साथ षड़यन्त्र किया। उसके अधिकारियों ने मछलीपट्टम और त्रिवादी पर कब्जा कर लिया। उधर बुसी (Bussy) ने जिंजी पर अधिकार किया। यह काम अब तक असंभव ही माना जाता रहा था। शीघ्र ही, दिसम्बर १७५० में, नासिरजंग की हत्या कर दी गयी और मुजफ्फरजंग को मुक्त करके उसे पांडिचेरी में 'दक्खिन' का सूबेदार बना दिया गया। वहां उसने फ़्रांसीसियों को दिवि और मछलीपट्टम के नगर और बहुत-सा धन दिया। ५०,००० पौंड कम्पनी को दिये गये। इतना ही धन सेनाओं को मिला और कहा जाता है कि डूप्ले को २००,००० पौंड नकद और १०,००० पौंड वार्षिक आय की एक 'जागीर'—बलदावुर गांव—की प्राप्ति हुई। नये सूबेदार ने डूप्ले का अभिनन्दन 'कृष्णा नदी से कन्या कुमारी तक फैले हुए दक्षिण भारत के अधिपति' के रूप में किया। इस "अस्पष्ट और शानदार पदवी"[1] (जैसा कि इसे प्रायः कहा जाता है) का यह अर्थ न था (यद्यपि मेकाले और अन्य कई लेखकों ने यह अर्थ लगाया है) कि इस समय से "डूप्ले लगभग सम्पूर्ण सत्ता का स्वामी होकर तीन करोड़ मनुष्यों पर हकूमत करने लगा।" इस पदवी से डूप्ले को उस प्रदेश पर शासन करने का कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं दिया गया था जिसमें तंजौर, मदुरा और मैसूर के इलाके सम्मिलित थे। इन राज्यों ने तो कभी 'दक्खिन' के सूबेदार को भी अपना अधिपति न माना था अतः 'दक्खिन' के सूबेदार को यह अधिकार ही

१. 'डूप्ले', लेखक प्रॉस्पर कल्ट्रूर, पृ० २५७–८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न था कि वह किसी व्यक्ति को इन प्रदेशों का अधिपति बना दे। जैसा कि हमें विदित ही है, स्वयं कर्नाटक में भी चांदा साहब अपनी मृत्यु तक नवाब बना रहा। ऐसा आभास मिलता है कि उसकी मृत्यु होने पर स्वयं डूप्ले ने ही वह पद ग्रहण करना चाहा परन्तु बुसी ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। बुसी ने समझ लिया था कि डूप्ले का यह काम अंग्रेजों को इतना क्रुद्ध कर देगा कि फिर उनसे समझौते की कोई संभावना ही न रहेगी। इसीलिए चांदा साहब के बेटे को उसका उत्तराधिकारी बनने दिया गया। अस्तु, कहा जा सकता है कि डूप्ले की पदवी ने उसे केवल 'आनरेरी आधिपत्य' ही दिया था। एक बात अवश्य है। इस तरह स्थानीय नरेशों की दृष्टि में डूप्ले का स्थान बहुत ऊंचा हो गया और उसे भी एक भारतीय राजकुमार जैसी वेशभूषा और शानशौकत अपनाने का अधिकार मिल गया।

पांडिचेरी में मुजफ्फरजंग के राज्यारोहण के उपरान्त, जनवरी, १७५१ में, नया सूबेदार, योग्यतम फ़्रांसीसी सेनापति बुसी के साथ औरंगाबाद के लिए रवाना हुआ। आरम्भ में तो यही सोचा गया था कि नये नरेश को सकुशल उसकी राजधानी तक पहुंचाकर बुसी तुरन्त लौट आएगा परन्तु उनके रवाना होने के कुछ ही दिन बाद, मुजफ्फरजंग एक भिड़न्त में मारा गया। उस समय तो ऐसा जान पड़ रहा था मानो फ़्रांसीसियों की वह आश्चर्यजनक सफलता संकट में पड़ गयी है परन्तु बुसी अवसर के योग्य ही सिद्ध हुआ। उसने साहसपूर्वक मुजफ्फरजंग के नाबालिग बेटों को इस आधार पर अलग हटा दिया कि नाबालिग के लिए इतने विपत्तिग्रस्त राज्य का उत्तराधिकारी बनना असम्भव है। उसने स्वर्गीय निजामुल्मुल्क के तीसरे बेटे सलामतजंग को (जो संयोगवश वहीं शिविर में बन्दी था) राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया और उसे सकुशल हैदराबाद ले आया। बुसी अपने आश्रयी की शक्ति बनाये रखने के लिए हैदराबाद में ही ठहरा रहा। उसने सात बरस तक अपने पद पर आश्चर्यजनक चतुरता और कार्यदक्षता के साथ काम किया। इस अवधि में उसने सलाबतजंग की नीतियों का निर्देशन किया, उसे राज्य के असंख्य भीतरी शत्रुओं से बचाया और उस राज्य पर हमला करने वाली बाहरी शक्तियों को भी हराया।

इसी दौरान में, डूप्ले, १७५१ में कर्नाटक में अपने सौभाग्य के सर्वोच्च शिखर पर था। उस वर्ष से उसके सौभाग्य-सूर्य का अस्त आरम्भ हुआ। अब तक अंग्रेजों ने, (पारिवारिक झगड़ों में न उलझने के इच्छुक होने के कारण) 'दक्खिन' और कर्नाटक के राज्यों के उन अभिलाषियों को कोई विशेष सहायता न दी थी जिनसे उन्हें अपने हित-साधन में सहयोग मिल सकता था। एक बार तो अंग्रेजों ने मुहम्मदअली को दी गयी पूरी सहायता भी वापिस ले ली। अन्त में, उसे त्रिचनापल्ली में बन्दी-वेश में न देख सकने के कारण, अंग्रेजों ने धन और जन से उसकी पर्याप्त सहायता करने का निश्चय किया। इन सबसे अधिक आवश्यक बात तो यह थी कि राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण त्रिचनापल्ली को फ़्रांसीसियों के हाथ में नहीं जाने दिया जा सकता था। यदि बन्दरगाहों के पीछे का सारा भू-भाग फ़्रांसीसियों के कब्जे में चला जाने दिया जाता तो अंग्रेजी व्यापार चौपट हो जाता। इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अव्यवस्थित संघर्ष हुआ जिसे 'कर्नाटक का युद्ध' कहकर पुकारा जाता है। सम्पूर्ण स्थिति अधिकतम अव्यवस्थित थी। यूरोप में अंग्रेज और फ़्रांसीसियों के सम्बन्ध मित्रता-पूर्ण थे अतः दोनों कम्पनियों के प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर हमला भी नहीं कर सकते थे और एक दूसरे की बस्तियों पर धावा भी नहीं बोल सकते थे। अस्तु, वे परस्पर विरोधी स्थानीय नरेशों के मित्रों के रूप में ही नाममात्र की लड़ाई लड़ते रहे। शुरू-शुरू में तो दोनों यूरोपीय राष्ट्रों ने एक दूसरे के विरुद्ध शस्त्रों का प्रयोग न करने के आपसी निर्णय द्वारा आंग्ल-फ़्रांसीसी शान्ति-सन्धि के कानूनी रूप को बनाए रखने का प्रयत्न भी किया परन्तु शीघ्र ही यह निश्चय बदल दिया गया। सम्पूर्ण कर्नाटक एक युद्ध-भूमि में बदल गया और उसे असीम हानि सहनी पड़ी। तंजौर और मैसूर के राजाओं को भी उस संघर्ष में खींच लिया गया और मरहठे तो सदा ही ऐसे अवसरों से लाभ उठाने के लिए लालायित रहते थे।

१७५१ की बसन्त ऋतु में ऐसा जान पड़ रहा था मानो त्रिचनापल्ली का पतन अवश्यम्भावी है परन्तु क्लाइव की असाधारण प्रतिभा ने उसकी रक्षा का उपाय खोज ही निकाला। अगस्त १७५१ में उसने एक साहसपूर्ण आक्रमण द्वारा, कर्नाटक की राजनीतिक राजधानी, अर्काट के किले पर छापा मारा। इस प्रकार उसने अपनी योजना के अनुसार ही, चांदा साहब को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह त्रिचना-पल्ली से आधी सेना भेजकर अर्काट पर फिर अधिकार करने का प्रयत्न करे। क्लाइव ५० दिन तक असीम वीरतापूर्वक लड़ा। मेकाले ने (यद्यपि उसका वर्णन कुछ अतिश-योक्तिपूर्ण हो गया है) क्लाइव के इस साहसपूर्ण युद्ध को अमर कर दिया है। अन्त में क्लाइव ने अपने आक्रमणकारियों को मार भगाया। इस सफलता के उपरान्त उसने आर्नी (Arni) और कावेरीपाक (Coveripak) पर विजय पायी। लारेंस और क्लाइव ने मिलकर त्रिचनापल्ली को मुक्त कराया और वहां सब आवश्यक सामग्री पहुंचाई। लारिस्टन के जान लॉ नामक प्रसिद्ध महाजन के भतीजे और फ़्रांसीसी-सेना-नायक जेकीज फ़्रांसिस लॉ (Jacques Francois Law) से उनकी सम्पूर्ण सेना के साथ, बलपूर्वक आत्म-समर्पण करा लिया गया। चांदा साहब को तंजौर के राजा (जो उस समय मुहम्मद अली के साथ मिल गया था) के सेनापति के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ा। छलपूर्वक चांदा साहब की हत्या कर दी गयी। हो सकता है कि अंग्रेजों ने उसे बचाने का प्रयत्न किया हो तथापि यह हत्या अंग्रेजों के लिए भी किसी हद तक कलंकपूर्ण ही है। इसके बाद तो मुहम्मद अली कर्नाटक का वास्त-विक नवाब बन गया। डूप्ले ने संकट का सदा ही डटकर सामना किया। इन विपत्तियों का सामना करने के लिए उसने अपनी स्वाभाविक और निर्भीक कल्पनाशक्ति से काम लिया, मरहठों के सैन्य बल को अपना सहायक बनाया और अंग्रेजों के स्थानीय मित्र नरेशों के विरुद्ध लगातार भांति-भांति के षड्यन्त्र करता रहा। यह सब होने पर भी बाहोर में लारेंस ने डि केरजीन (de Kerjean) को बिल्कुल हरा दिया। अब भी त्रिचनापल्ली के आसपास कड़ी लड़ाइयां होती रहने और यत्र-तत्र साधारण फ़्रांसीसी सफलताओं के बावजूद डूप्ले के विरोधी धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़तापूर्वक अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पैर जमाते चले गये। यहां तक कि बुसी भी अपने गवर्नर-जनरल से यह अनुरोध करने लगा कि वह अधिक से अधिक अनुकूल शर्तों पर [सन्धि कर ले। 'दक्खिन' के सूबेदार के दरबार में स्वयं बुसी का प्रभाव भी एक बार बहुत कम हो गया परन्तु शीघ्र ही उसने अपनी प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली। और १७५३ की शरद ऋतु में उसे 'उत्तरी सरकार' (अर्थात् उड़ीसा के दक्षिण और कर्नाटक के उत्तर में समुद्र-तट के साथ-साथ लगभग ४०० मील तक फैले हुए मूल्यवान जिले) प्राप्त हो गये। कभी-कभी समझा जाता है कि ये प्रदेश उसे बिना किसी शर्त के ही दे दिये गये थे परन्तु वास्तविकता यह नहीं थी। उसे तो वास्तव में इन प्रान्तों से प्राप्त होने वाली मालगुजारी ही लेने का अधिकार दिया गया था, ताकि जब तक उसकी सेनाएं सूबेदार की सेवा में रहें तब तक वह उस आय से सेना का पालन कर सके। यह अधिकार मिल जाने पर भी कुछ वर्ष तक अधिक मालगुजारी वसूल न हुई। बात यह थी कि बहुत समय तक युद्ध-भूमि बनने के कारण दक्षिणी भारत अत्यन्त जर्जर हो गया था।

अंग्रेजों ने १७५३ में मद्रास में लिखा: "बार-बार होने वाले आघातों के कारण मि० डूप्ले बहुत ही निर्बल हो गया है।"[1] उस वर्ष के अन्त में डूप्ले को विवश होकर संधि का प्रस्ताव करना पड़ा। उसके सेनापति हार चुके थे, मित्र उससे असन्तुष्ट थे और उसे धन की बहुत अधिक आवश्यकता थी। मद्रास और पांडिचेरी के बीच में स्थित, डचों की एक बस्ती सदरास (Sadras) में अंग्रेज अधिकारियों और डूप्ले के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के सामने सलाबतजंग और स्वयं मुगल-सम्राट के वे अधिकार-पत्र भी रखे गये जिनके अनुसार डूप्ले को कर्नाटक का नवाब बनाया गया था। अंग्रेजों ने सम्राट् की ओर से प्राप्त उन अधिकार-पत्रों को, (जिनका अर्थ दोपहर के सूर्य की भांति स्पष्ट बताया जा रहा था) झूठा ठहरा दिया और उन्होंने दूसरे अधिकार-पत्र पेश कर दिये। ये मुहम्मदअली के पक्ष में थे। सम्मेलन निष्फल ही रहा। डूप्ले ने अपनी किसी भी मांग पर फिर से विचार करने से इन्कार कर दिया। दूसरी ओर अंग्रेजों ने तिरस्कारपूर्वक यह ऐलान कर दिया कि वे "सन्धि की भीख नहीं मांग रहे हैं।"[2]

उधर लन्दन और पेरिस में दोनों कम्पनियों के डायरेक्टर भारत में होने वाले उन गृह-युद्धों में अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों के आवश्यकता से अधिक उत्साह-प्रदर्शन से असंतुष्ट होते जा रहे थे। फ़्रांसीसी कम्पनी के एक डायरेक्टर, डुवेलियर (Duvelaer) को (जो १७५३ के अन्त में किसी व्यक्तिगत काम से लन्दन जा रहा था) अनौपचारिक रूप से इस सम्बन्ध में अंग्रेजी कम्पनी के प्रतिनिधियों के साथ बातचीत करने का अधिकार दे दिया गया। डुवेलियर तथा फ़्रांस के राजदूत,

---

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्ड्स, फ्रेंच इन इन्डिया, खंड २, पृ० १०३, फ़ोर्ट सेंट जार्ज से भेजा गया पत्र, २९ अक्तूबर, १७५३।

२. एन एकाउन्ट आफ़ दि वार इन इन्डिया, आर० ओ० केम्ब्रिज, १७६१ परिशिष्ट।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डक डि मिरेपोइ (Duc de Mirepoix) और ड्यूक आफ न्यूकासल (Duke of Newcastle) तथा अर्ल आफ होल्डरनीस (Earl of Holdernesse) के कई सम्मेलन हुए परन्तु १७५५ तक विचार-विनिमय होता रहने पर भी कोई समझौता न हो सका। तत्सम्बन्धी मौलिक प्रमाण-पत्रों के अध्ययन[1] से पता चलता है कि यह परम्परागत कथन असत्य ही है कि अंग्रेजों ने फोर्ट सेंट जार्ज के प्रेसीडेंट, सॉन्डर्स (Saunders) के बदले डूप्ले को वापिस बुलाया जाने की मांग की और फिर, यह प्रस्ताव मान लिया जाने पर भी, अनुचित ढंग से सॉन्डर्स को आवश्यकता से अधिक समय तक अपने पद पर काम करने दिया। ऐसा कोई पारस्परिक समझौता नहीं हुआ था। वास्तविकता तो यह है कि १७५३ के तत्सम्बन्धी पत्र-व्यवहार में डूप्ले का तो कहीं नाम भी नहीं दिखाई देता। डूप्ले को वापिस बुला लिया जाने का निश्चय तो सम्मेलन आरम्भ होने से पहले ही हो चुका था। बादशाह का कमीशरी, सिलहूट (Silhouette) सदा ही उसकी नीति का विरोधी रहा था। त्रिचनापल्ली में लॉ के आत्म-समर्पण का समाचार पाकर फ्रांस में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था। यह क्षोभ तो मानो १७५० में प्रकाशित होने वाले, लाबूर्दोने के स्वलिखित विवरणों में निहित अभियोगों की ही पुष्टि कर रहा था।

१७५४ के आरम्भ में कम्पनी के एक डायरेक्टर, गोडह्यू को डूप्ले का स्थान पाने और भारत में होने वाली घटनाओं की पूरी तरह जांच-पड़ताल करने के लिए आवश्यक प्रारम्भिक अधिकार देकर भेजा गया। उसे एक सीलबन्द आज्ञा-पत्र भी दे दिया गया था (जो अनावश्यक ही था और जिसके बिना भी काम चल सकता था) इसके अनुसार गोडह्यू, भूतपूर्व गवर्नर-जनरल को (आज्ञा भंग करने पर) कैद कर सकता था। डूप्ले की आज्ञाकारिता और देशभक्ति पर कभी भी संदेह नहीं किया जा सका। जहां तक उसकी भूल का सम्बन्ध है, इसका मूल कारण तो वह सद्भावना ही थी जिसके अनुसार वह अपने देश का आदर और मान बढ़ाना चाहता था। गोडह्यू अगस्त, १७५४ में पांडिचेरी पर उतरा। अक्तूबर में उसने तीन महीने के लिए युद्ध-विराम करा दिया और इसके बाद, जनवरी, १७५५ में एक सामयिक सन्धि भी करा दी। उसे अपने देश में दोनों कम्पनियों की स्वीकृति मिल जाने पर ही मान्यता दी जानी थी। इस सन्धि के अनुसार दोनों राष्ट्र भविष्य में स्थानीय राजकुमारों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप न करने और मुसलमानों द्वारा दिये गये समस्त ओहदे और खिताब लौटा देने के लिए तैयार हो गये। विभिन्न व्यापारिक बस्तियों के सम्बन्ध में दोनों दलों के अधिकार सुरक्षित रखे गये। केवल इस प्रादेशिक रिआयत के लिए गुंजाइश रख ली गयी कि अंग्रेजों को मछलीपट्टम अथवा 'उत्तरी सरकारों' में स्थित, दिवि (जिसके कुछ भाग पर उनका पहले से ही कब्जा था) में से एक स्थान अवश्य मिल जाए।

डूप्ले ने इस सन्धि का विरोध किया। उसका कथन था कि गोडह्यू ने "एक ऐसे सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं जिसमें उसके देश का सर्वनाश और उसके राष्ट्र

१. प्रॉस्पर कल्ट्रूर द्वारा, उसके ग्रन्थ, डूप्ले, में पृ० ३५९ से।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अपमान निहित है।" डूप्ले का विचार था कि जिस समय उसका उत्तराधिकारी भारत पहुंचा, उस समय घटनास्थिति फ़्रांसीसियों के अनुकूल होने लगी थी और गोडह्यू जो सेना और युद्ध-सामग्री अपने साथ लाया था उसकी सहायता से वह त्रिचनापल्ली पर कब्जा करके अंग्रेजों को हरा सकता था। डूप्ले का यह सुझाव इतिहास का एक अमिट निर्णय बन चुका है। सुयोग्य फ़्रांसीसी इतिहासकार कल्टूर ने पत्र-प्रमाणों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री का गम्भीर अध्ययन करके, डूप्ले के जीवन और उसकी नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और उसके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया है। वह भी इसी पुराने विचार की पुष्टि करता जान पड़ता है कि गोडह्यू ने "केवल आत्मिक नीचता" के कारण उस समय अपने पूर्वाधिकारी के प्रयत्नों को धूल में मिलाने के लिए इतना परिश्रम किया जब घटनाओं का प्रवाह दिशा-परिवर्त्तन कर रहा था और सफलता क्रियात्मक राजनीति की सीमाओं के भीतर आ चुकी थी।[1] कल्टरू का यह निर्णय उसकी पूरी पुस्तक के तीन-चौथाई अंश में निहित निष्कर्षों के विरुद्ध पड़ता है। इसके अतिरिक्त मैं तो यह भी विश्वास नहीं करता कि डूप्ले और उसके समर्थकों द्वारा दिये गये पक्षपातपूर्ण वक्तव्यों के अतिरिक्त इस निर्णय के पक्ष में तिलमात्र भी प्रमाण उपलब्ध हैं। गोडह्यू ने जो कुछ किया उसमें स्वतःसिद्ध दुष्टता का भाव मान लेना किसी दशा में भी तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता। उसने स्वयं यह ऐलान कर दिया था कि वह पक्षपात-रहित होकर, इतना ही नहीं, अपने पूर्वाधिकारी के पक्ष में ही कुछ धारणाएं साथ लेकर भारत के लिए रवाना हुआ था। यहां आने पर उसने अधिकतम अशान्तिपूर्ण वातावरण देखा। सिपाही वेतन के लिए चिल्ला रहे थे और खजाना खाली था। ऐसी दशा में लड़ाई जारी रखना मूर्खतापूर्ण ही होता। उसने यह भी बताया कि जो सेनाएं वह अपने साथ लाया था वे युद्ध के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त थीं। पांडिचेरी कौंसिल ने भी इन सब बातों की पुष्टि की। उन्होंने डायरेक्टरों को लिखा कि कम्पनी के लिए सन्धि से अधिक सौभाग्य की बात और कुछ न हो सकती थी। स्वयं उन्हें तो सदा ही इस बात का भी भय रहा था कि अंग्रेजों का पलड़ा भारी होने के कारण वे कभी भी संधि के लिए तैयार न होंगे।[2] आगे चल कर कौंसिल ने यह भी लिखा कि अंग्रजों के पास २५०० सिपाही थे जिनमें से ११५० सिपाही शाही सैनिक दल के थे, अनेक मित्र नरेश उनके साथ थे और उनके पास धन भी बहुत था। दूसरी ओर फ़्रांसीसियों के साथ केवल ११५० सिपाही थे—"परमात्मा ही जानता है कि वे सिपाही कैसे हैं"—कोई भी मित्र नरेश उनके साथ न था और धन की बहुत कमी थी। भारतीय अंग्रेजों ने भी एकमत होकर इसका समर्थन किया। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि वह सन्धि शत्रु के लिए आवश्यकता से अधिक हितकर थी। उस समय उनके अधिकार में ९०० फ़्रांसीसी युद्धबन्दी थे जबकि फ़्रांसीसियों के पास केवल २०० अंग्रेज युद्ध-बन्दी थे। एडवर्ड आइव्स (Edward gves) ने (जो १७५४ में वाटसन के बेड़े के साथ भारत आया था) कहा है कि "सबने यह स्वीकार किया था कि वह सन्धि फ़्रांसीसी

१. डूप्ले, लेखक प्रॉस्पर कल्टरू, पृ० ३५५।
२. मेमोआयर ए कन्सल्टर पोर ले सियुर गोडह्यू, १७६०, पृष्ठ ८५-६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजनीति की एक महत्तम कृति थी। इसके विपरीत, इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त होने वाली सुविधाएं उस समय सबकी कल्पना से परे थीं। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि उस समय समुद्री शक्ति के अतिरिक्त हमारी स्थल सेना में भी फ़्रांसीसियों के मुकाबले में १००० सिपाही अधिक थे।"[१] समुद्री सेना-नायक वाटसन और पोकॉक (Pocock) ने चिल्ला-चिल्ला कर इस बात पर खेद प्रकट किया कि सन्धि ने उनके हाथ बांध दिये और इस तरह एक निश्चित विजय उनसे छीन ली। इन विचारों को सुप्रसिद्ध इतिहासकार ओर्म का भी पूरा समर्थन प्राप्त है। ओर्म उस समय मद्रास में रहता था। उसने कभी भी फ़्रांसीसियों की शक्ति को आवश्यकता से कम महत्व नहीं दिया। सच बात यह है कि डूप्ले की, अत्यधिक आशा और आत्मविश्वासपूर्ण प्रकृति ही उसे सौभाग्य की घड़ियों में सफलता के राज-मार्ग पर इतनी दूर ले आयी थी। प्रकृति ने ही उसे अपनी पराजय का मूल कारण समझ सकने में असमर्थ बना दिया। उसके अफसर भी उसके स्वभाव की इस दुर्बलता से परिचित थे। लॉ ने कहा : "उसने सदा ही ऐसी किसी बात को मानने से इन्कार किया जिससे हमारी सेना के मुकाबले में अंग्रेजी सेना की श्रेष्ठता पर प्रकाश पड़ता है।"[२] बुसी ने भी लिखा : "मुझे यह देखकर दुःख हो रहा है कि केवल भावी घटनाएं ही तुम्हें सन्तुष्ट कर सकेंगी और तुम मेरे परामर्श का मूल्य उस समय समझोगे जब उससे लाभ उठाने का अवसर हाथ से निकल जाएगा।"[३]

इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि गोडह्यू ने शुरू में कड़ी शर्तें ही रखी थीं। उसी समय बहुत बड़ी सैन्य-शक्ति के साथ वाटसन का बेड़ा भारत पहुंच गया। वाटसन ने मरहठों के साथ मिलकर, क्लाइव के नेतृत्व में बम्बई से चलकर दक्खिन में बुसी पर एक भयंकर हमला करने की धमकी दी। इसी धमकी के फल-स्वरूप गोडह्यू को विवश होकर अपनी शर्तें हल्की करनी पड़ीं। इस सन्धि को किसी भी प्रकार फ़्रांसीसियों के लिए अपमानजनक बताना वास्तव में भूल ही है। इसके अनुसार फ़्रांसीसियों को जो प्रदेश दिये गये उनकी वार्षिक आय ८००,००० पौण्ड आंकी गयी थी और अंग्रेजों को मिलने वाले प्रदेशों की १००,००० पौंड। गोडह्यू ने बुसी के काम की उचित सराहना की क्योंकि वह स्वयं घटनास्थिति की विकटता से अनभिज्ञ न था। इसीलिए स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप न करने से सम्बन्ध रखने वाली धारा के रहते हुए भी, बुसी को निर्विघ्नतापूर्वक हैदराबाद में रहने दिया गया। अन्तिम बात यह है कि सन्धि केवल सामयिक थी और उसके लिए अपने देश में दोनों कम्पनियों की स्वीकृति अनिवार्य मान ली गयी थी। उस स्वीकृति तक तो सब बातें यथावत ही रहनी थीं। कम्पनियों की स्वीकृति कभी प्राप्त न हो सकी क्योंकि अपने देश के अधिकारियों का निर्णय पता चलने से पहले ही सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ गया। अतः संधि के मसौदे में सुझाये गये साधारण प्रादेशिक परिवर्तन भी क्रियात्मक रूप न पा सके। परन्तु जैसा कि दो

१. ए वाएज फ्राम इंग्लैंड टू इंडिया · · · · एडवर्ड आइन्स, १७७३, पृ० ४६।
२. प्लेन्ट डु केवेलियर ला, पृ० २८।
३. मेमोआयर पोर ले सियुर डि बुसी, पेरिस, १७६४, पृ. ३८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आधुनिक फ़्रांसीसी इतिहासकारों, कल्टूर और वेबर ने स्वीकार किया है, भारतीय फ़्रांसीसी बस्तियों को तबाह करने का उत्तरदायित्व १७५६ में आरम्भ हो जाने वाले युद्ध पर है, गोडह्यू द्वारा की गयी सन्धि पर नहीं। साफ बात तो यह है कि साहस और दूर-दर्शितापूर्ण तथा निष्कपट होकर भी डूप्ले की योजनाएं नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थीं। उस समय गोडह्यू का कर्त्तव्य यही था कि वह जो कुछ नष्ट होने से बचा सके, बचा ले। उसने आशा से अधिक सफलतापूर्वक इस कर्त्तव्य का पालन किया और अपने देश को, खोई हुई वस्तु पुनः प्राप्त करने का अवसर दिला दिया। फ़्रांसीसी उस अवसर से पूरा लाभ नहीं उठा सके क्योंकि उनके पुनः संगठित और शक्तिशाली होने से पहले ही एक यूरोपीय युद्ध का शंख-नाद हो गया।

जब गोडह्यू यहां आया था, उस समय फ़्रांसीसियों की आर्थिक स्थिति चिन्ता-जनक थी। डूप्ले ने इस आशा पर खजाना खाली कर दिया था कि उसे स्थानीय मित्रों को दी गयी आर्थिक सहायता और लड़ाई के सामान पर खर्च होने वाले धन के बदले, उसकी वसूली होने पर, बहुत आमदनी होगी। यदि उसकी योजना सफल हो जाती तो वह निस्संदेह उधार दिया हुआ धन वसूल कर लेता और इस तरह कम्पनी के लिए कुछ अतिरिक्त आय का साधन भी जुटा लेता परन्तु वह असफल रहा। केवल खजाना ही खाली न था, डूप्ले तो उस बहुत बड़ी रकम की भी मांग कर रहा था जो उसने, अपनी ओर से, कम्पनी के कामों पर खर्च की थी। गोडह्यू ने डूप्ले का यह ऋण मानने से इन्कार कर दिया और कम्पनी की भावी आय का भी कोई अंश उसे देना स्वीकार न किया। गोडह्यू के इस काम की प्रायः निन्दा की जाती है परन्तु यह निन्दा अनुचित भी है और अप्रासंगिक भी। भूतपूर्व गवर्नर-जनरल के अनेक वक्तव्य ज्यों के त्यों स्वीकार नहीं किये जा सकते। उसने अपने संस्मरणों में यह ऐलान किया कि उसे चन्द्रनगर में अपार व्यक्तिगत धन प्राप्त हुआ और माना यह जाता है कि उसने यही धन कम्पनी के लिए खर्च किया परन्तु उसके निजी पत्र (जो कुछ ही वर्ष पूर्व प्रकाशित हुए हैं) निश्चयपूर्वक यह सिद्ध कर देते हैं कि पांडिचेरी जाने से पहले ही वह अपना लगभग सारा संचित धन नष्ट कर चुका था। स्वयं उसके कथनानुसार १७४१ में उसके पास इतना धन न था जिसके बल पर वह नौकरी से अलग होने के बाद फ़्रांस में सुविधा-पूर्वक जीवन बिता सकता। जो रकमें उसने खर्च की थीं वे वास्तव में उसे स्थानीय राज-कुमारों द्वारा दिये गये उन उपहारों और जागीरों से ही प्राप्त हुई थीं जिनकी स्वीकृति पर वास्तव में एक राजकीय आदेश द्वारा रोक लगा दी गयी थी। अतः कम्पनी का उत्तर यह था (और इसमें उचित तर्क भी था) कि उसने वही धन खर्च किया जिस पर उसका वास्तविक अधिकार ही न था। उसने कम्पनी की आज्ञा के बिना अपने पद का प्रयोग मालगुजारी वसूल करने के लिए किया और वह धन एक ऐसी नीति का अव-लम्बन करने के लिए खर्च हुआ जिसके लिए उनका परामर्श भी नहीं मांगा गया था। अतः इस सम्बन्ध में गोडह्यू का व्यवहार निर्दोष ही जान पड़ता है। उसने उदारता-पूर्वक डूप्ले को वापिस लौटने के लिए पर्याप्त धन दिलवा दिया, वलदावुर (Valdavur) से प्राप्त होने वाली आय (लगभग १०,००० पौंड वार्षिक) पर उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार बना रहने दिया और अन्तिम निर्णय के लिए यह मामला ज्यों का त्यों कम्पनी के सामने पेश कर दिया। यदि डूप्ले को कोई हानि पहुंचायी भी गयी तो उसका उत्तर-दायित्व कम्पनी पर है, गोडह्यू पर नहीं। वास्तव में तो यह पूरा मामला ही बहुत पेचीदा है। डूप्ले ने अपना धन चाहे जिस प्रकार प्राप्त किया हो, यह तो निश्चित ही है कि उसने सार्वजनिक हित के उदार और देशभक्तिपूर्ण भावों से प्रेरित होकर ही उसे खर्च किया और कम्पनी को, कम से कम, अपने इस सुयोग्य सेवक के लिए उचित पेन्शन का प्रबन्ध तो कर ही देना चाहिए था। परम्परागत सामग्री को प्रामाणिक मानने पर तो इसी सत्य की पुष्टि होती है कि कम्पनी ने उसके लिए ऐसा भी कोई प्रबन्ध नहीं किया। डूप्ले की मृत्यु १७६३ में हुई। जान पड़ता है कि उसे अपने जीवन के अन्तिम काल में निर्धनता का कटु अनुभव करना पड़ा। फ़ांसीसी उपनिवेशों के अन्त के साथ ही साथ बलदावुर से होने वाली उसकी आमदनी भी बन्द हो गयी। उस समय तो स्वयं कम्पनी की स्थिति अधिकतम संकटपूर्ण हो गयी थी। डूप्ले कदाचित् स्वभावतया धन का अधिक मूल्य नहीं समझता था। गोडह्यू ने बताया है कि फ़ांस लौट जाने के बाद भी वह अत्यन्त लापरवाही के साथ धन लुटाता रहा।

अस्तु, यह स्पष्ट ही है कि कम्पनी और अपने देश की सरकार डूप्ले का समर्थन करने में असमर्थ रही। इधर कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं जो इस असमर्थता को उचित तो नहीं ठहरा सकते परन्तु उसकी व्याख्या अवश्य कर देते हैं। डूप्ले ने अधि-कारियों के साथ अत्यन्त अहंकारपूर्ण व्यवहार किया था। वह उन्हें अपनी विजयों की तो बराबर सूचना देता रहा परन्तु उसने अपने दोष सदा छिपाये। उसके पत्रों में क्लाइव द्वारा अर्काट पर कब्जा करने का कहीं संकेत मात्र भी नहीं मिलता। इन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के समाचार डायरेक्टरों के पास या तो डच अथवा अंग्रेजों द्वारा पहुंचे, या निजी पत्रों द्वारा। ऐसी दशा में उनका अधिकतम अविश्वासी हो जाना स्वाभाविक ही था। जब गोडह्यू फ़ांस से चला था, उस समय कम्पनी को एक साल से (अर्थात् त्रिचनापल्ली में लॉ के आत्म-समर्पण के बाद से) यहां का कोई समाचार ही नहीं मिला था। (इसका एक कारण यह भी था कि कम्पनी के एक जहाज को रास्ते में ही असाधारण विलम्ब हो गया था।) हम देख ही चुके हैं कि डूप्ले ने स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप करके फ़ांसीसी प्रभाव और उपनिवेश की स्थापना करने के लिए एक निश्चित नीति निर्धारित कर ली थी। उसने डायरेक्टरों को इस दिशा में उठाये जाने वाले कदमों अथवा उनके कारणों की लगातार सूचना न दी। कम्पनी को तो, डूप्ले के वापिस बुला लिये जाने के ६ महीने बाद ही ब्यौरे के साथ सब बातों का पता चला। जब उन्हें सब समाचार प्राप्त हुए तो उन्होंने डूप्ले की स्थानापन्नता की आज्ञा रद्द कर दी परन्तु अब हो क्या सकता था, वह तो पहले ही अपने देश के लिए रवाना हो चुका था।

अस्तु, हम अब डूप्ले का चरित्र उसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकते जिस रूप में उसे कर्नल मॉलसन (Colonel Malleson) ने चित्रित किया है। मॉल्सन का यह वर्णन आवश्यकता से कहीं अधिक स्वयं डूप्ले के संस्मरणों पर आधारित है। इसीलिए वह डूप्ले के साथ काम करने वालों और आश्रित अधिकारियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ उचित न्याय नहीं कर सका है। उस समय के प्रायः सभी भारत-स्थित महान् फ़्रांसीसियों के 'संस्मरण' कृत्रिमता और कल्पना से ओतप्रोत हैं। वाल्टेयर ने अपने स्वाभाविक व्यंग्य के साथ ऐलान किया था कि इन संस्मरणों का विस्तार इतना अधिक था कि वे सब मिलकर मानो सिकन्दर की सम्पूर्ण विजयों का चिट्ठा प्रस्तुत करने के लिए भी पर्याप्त थे। सामान्य अर्थों में तो उन्हें 'संस्मरण' कहा ही नहीं जा सकता। वे तो वास्तव में घोषणा-पत्रों, विरोध-पत्रों, स्वयं लेखक के कार्य-काल सम्बन्धी विरुदावलियों और उसके प्रतियोगियों के विरुद्ध आक्षेपों के संग्रह-मात्र थे। प्रायः एडवोकेट इन संस्मरणों का संकलन अथवा सम्पादन करते थे और लाबूर्दोने तथा डूप्ले के संस्मरणों को तो एक ही वकील ने अन्तिम रूप दिया था। एक बात अवश्य है। इन 'संस्मरणों' के साथ तो मानो 'पूर्व' में आरम्भ होने वाली भयंकर शत्रुता फ़्रांस की धरती तक पहुंच गयी। वहां यह अग्नि कभी-कभी विकराल चिनगारियां और विस्फोट पैदा करती रही। विद्वेष की यह ज्वाला दोनों विरोधियों की मृत्यु के साथ ही शान्त हुई। परन्तु अन्तिम असफलता के बावजूद, भारतीय इतिहास में डूप्ले को एक उज्ज्वल और अविस्मरणीय स्थान प्राप्त है। यदि हम उसके सम्बन्ध में पुरानी धारणा त्याग भी दें, तब भी हम उसकी वास्तविक महत्ता की उपेक्षा नहीं कर सकते। डूप्ले की राजनीतिक मान्यताएं साहस और दूरदर्शितापूर्ण थीं। कम से कम कुछ वर्ष के लिए तो उसने 'पूर्व' में फ़्रांसीसी प्रतिष्ठा बहुत ही ऊंची उठा दी थी। उसने भारतीय राजकुमारों और नेताओं के हृदय में अनुपम आदरपूर्ण स्थान पाया और अंग्रेज प्रतियोगियों के हृदय में जो भय उत्पन्न किया वह तो उसकी व्यक्तिगत शक्ति का फल भी है और उनकी सूझबूझ का प्रमाण भी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १२

भारत में अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी—पेरिस-संधि तक फ़्रांसीसियों की पराजय के कारण

डूप्ले के चले जाने के बाद, कर्नाटक में अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों को चार साल के लिए शान्तिपूर्वक सांस लेने का अवकाश मिल गया । इस अवधि में सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर कब्जा कर लिया । उधर क्लाइव, कोरोमंडल-तट की सर्वश्रेष्ठ सेनाएं साथ लेकर बंगाल में, खोई हुई ब्रिटिश प्रभुता को फिर से पाने के लिए चल पड़ा । सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ होते ही फ़्रांसीसी सरकार ने, उस सुअवसर से लाभ उठाकर, दक्षिणी भारत की अंग्रेजी बस्तियों पर हमला करने की ठानी । आयरलैण्ड के एक शरणार्थी के पुत्र, काउन्ट डि लैली (Count de Lally) को इसी काम के लिए भेजा गया । लैली, इससे पहले भी, फॉन्टेनाय (Fontenoy) और १७४५–४६ के जेकोबियन आन्दोलन में, फालकर्क (Falkirk) में युद्ध कर चुका था। असाधारण रूप से लम्बी यात्रा करता हुआ वह अप्रैल, १७५८ में यहां पहुंचा । उस समय तक अंग्रेजों ने कलकत्ते पर फिर से अधिकार कर लिया था। फ़्रांसीसियों ने फोर्ट सेंट डेविड पर बमबारी करके उस पर कब्जा कर लिया । क्लाइव फ़्रांसीसियों की इस सफलता पर बहुत क्रुद्ध था। उसने फोर्ट सेंट डेविड के आत्म-समर्पण को 'कलंकपूर्ण' घोषित किया । विजय के पथ पर यहां आकर लैली को ठहरना पड़ा। उसमें अनेक गुण थे। वह वीर था, पवित्र हृदय था, भ्रष्टाचारी न था (उस समय यह सद्गुण भारत में दुर्लभ ही-सा था) और वह तुच्छ कूटनीतिज्ञ भी न था पर उसका स्वभाव उग्र था और किसी का (अपनी अपेक्षा भारतीय युद्ध-कला की अधिक जानकारी रखने वालों का भी) परामर्श स्वीकार करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल था।

पांडिचेरी के गवर्नर ने उतना धन नहीं दिया जितना सेनाओं का वेतन चुकाने के लिए आवश्यक था। कदाचित् वह इसके लिए असमर्थ ही था । इसीलिए लैली को फ़्रांसीसियों के हाथ आ जाने वाले ५६ लाख रुपये के प्रतिज्ञा-पत्र का बलपूर्वक भुगतान कराने के लिए तंजौर के राजा के विरुद्ध बढ़ना पड़ा। यह यात्रा, जिसे बुसी ने "उद्देश्य तथा उसकी पूर्ति के लिए अपनाया गया तरीका, दोनों की दृष्टि से अन्यायपूर्ण"[1] घोषित किया, बुरी तरह असफल रही । इसने फ़्रांस की अस्तोन्मुख प्रतिष्ठा को और भी ठेस पहुंचायी । लैली द्वारा विरोध किया जाने पर भी, फ़्रांसीसी जल-सेना-नायक

१. लेटर्स डि मैसियोर्स डि बुसी, डि लैली एट आट्रस. मैमोआयर पोर ले सियोर डि बुसी, पृ० १६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डी' एक (D' Ache) अब फ़्रांस के टापुओं और वोरबून के लिए रवाना हुआ। वह अप्रैल और अगस्त में ब्रिटिश बेड़े के साथ निर्णय-रहित युद्ध कर चुका था।

लली के समुद्री सहायक ने समुद्र का आधिपत्य ब्रिटिश बेड़े को सौंप दिया था। ऐसी दशा में खुले बन्दरगाह पर हमला करना निरर्थक ही था परन्तु लैली ने मद्रास पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेनाएं संगठित कीं। उसने बुसी को सहायता के लिए बुलाया। बुसी ने, अनेक कठिनाइयों और भाग्य के उलट-फेर के बावजूद, अब तक हैदराबाद-दरबार में अपना स्थान बनाये रखा था। उसने लैली की आज्ञा का पालन तो किया परन्तु असीम अनिच्छापूर्वक। वह जानता था कि एक बार वहां से हट जाने के बाद वह फिर अपना प्रभाव वहां स्थापित न कर सकेगा। शीघ्र ही उसकी आशंका सत्य सिद्ध हुई। क्लाइव, बंगाल में अपनी संकटपूर्ण स्थिति के बावजूद, दक्षिणी भारत में होने वाली घटनाओं को एक सेनापति के नेत्रों से देख रहा था। उसने समझ लिया कि "फ़्रांसीसियों के सर्वनाश में अपना सहयोग प्रदान करना उसका कर्त्तव्य है।"[1] फलतः उसने, अपनी पूरी कौंसिल की इच्छाओं के विरुद्ध, अक्तूबर, १७५८ में, एक सुयोग्य अफसर, फोर्ड को 'उत्तरी सरकारों' के मामले में हस्तक्षेप करने के लिए भेज दिया। फोर्ड ने, दिसम्बर, १७५८ में कोंडोर में बुसी के उत्तराधिकारी को हरा दिया। अगले अप्रैल में वह मछलीपट्टम पर चढ़ आया। हैदराबाद-सरकार से फ़्रांसीसी प्रभाव सदा के लिए जाता रहा। सलाबतजंग ने ८० मील लम्बे और २० मील चौड़े भू-भाग के साथ ही मछलीपट्टम भी अंग्रेजों को सौंप दिया और वचन दिया कि वह फ़्रांसीसियों के साथ अब कोई नाता न रखेगा।

उधर बुसी की उपस्थिति से लैली को विशेष लाभ न हुआ। इन दोनों व्यक्तियों की नीति मूलतः भिन्न थी। बुसी एक ऐसे फ़्रांसीसी उपनिवेश में विश्वास रखता था जो सन्धियों और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों पर टिका हो और जिसमें वह स्वयं, मेहराब के बीच के पत्थर की भांति, हैदराबाद दरबार में रहकर चुने हुए आदमियों की सेना का संचालन कर सके। लैली का उद्देश्य अपनी पूरी शक्ति लगाकर तथा अपनी समस्त सेना संगठित करके बारी-बारी से अंग्रेजी बस्तियों पर धावा बोलना था। उसने कहा था : "बादशाह और कम्पनी ने मुझे इसीलिए भारत भेजा है कि मैं अंग्रेजी कम्पनी को इस देश से बाहर खदेड़ दूं.....मुझे इस बात से कोई सरोकार नहीं कि अमुक नवाबियों के लिए अमुक नरेश आपस में झगड़ रहे हैं।"[2]

मद्रास पर आक्रमण दिसम्बर, १७५८ में आरम्भ हुआ था परन्तु फरवरी में वह बन्द हो गया। अब नगर समुद्र की ओर से निश्चिन्त हो गया। इसके बाद अंग्रेज हमला करते रहे और लैली बचाव। उसकी सेना में लगातार बगावत हो रही थी। उसके पास धन बिल्कुल न था और पांडिचेरी के गवर्नर और अपने ही अधिकारियों

१. रिपोर्ट्स आफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ३, पृ० १५६.
२. लेटर्स डि मैसियोर्स डि बुसी, डि लैली एट आट्रस. मैमोआयर डि बुसी. पृ० ३, लैली का बुसी के नाम पत्र, १३ जून, १७५८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ उसके सम्बन्ध बहुत बुरे थे। डी ' एक, सितम्बर, १७५९ में, कोरोमंडल-तट पर लौट आया और उसने पाकॉक (Pocock) के साथ तीसरा निर्णयरहित युद्ध किया। उसका जहाजी बेड़ा अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली था। तथापि उसने विजय का फल अंग्रेजों के लिए ही छोड़ दिया और स्वयं, पांडिचेरी को उसके भाग्य पर छोड़ कर, अक्तूबर में टापुओं की ओर चला गया। यह सब होने पर भी, लैली निराशापूर्वक दो साल तक रुका रहा। जनवरी १७६० में सर आयर कूट ने वांडिवाश (Vandiwash) नामक स्थान पर उसे हरा कर गिरफ्तार कर लिया और उसे बलपूर्वक पांडिचेरी ले आया। वहां उसे १७६१ में, आत्म-समर्पण करने के लिए विवश किया गया। लोगों को उससे इतनी अधिक घृणा हो गयी थी कि यदि एक ब्रिटिश रक्षक उसे न बचाता तो नगर छोड़कर जाते समय क्रुद्ध जनता उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती। उसे एक युद्ध-बन्दी के रूप में, इंग्लैण्ड लाया गया। यहां उसने प्रतिज्ञाबद्ध होकर छुटकारा पाया। अब वह अपने विरुद्ध लगे अभियोगों का सामना करने के लिए फ्रांस लौटा। उसका मुकदमा दो साल तक चला। परन्तु उसके विरुद्ध केवल सूझबूझ सम्बन्धी कुछ भूलें ही सिद्ध हो सकीं। इस पर भी उसे अन्यायपूर्वक मृत्यु-दण्ड देकर मृत्यु की गोद में सुला दिया गया।

पांडिचेरी का पतन तो भारत में फ्रांसीसी उपनिवेश की समाप्ति का ही सूचक था। यद्यपि फरवरी, १७६३ में पेरिस-संधि के अनुसार पांडिचेरी का नगर फ्रांसीसियों को मिल गया परन्तु उनकी किलेबन्दी तोड़ दी गयी थी। मारक्विस आफ बूट (Marquis of Bute) को दिये गये क्लाइव के सुझाव के अनुसार, इस सन्धि ने, फ्रांसीसियों द्वारा कोरोमंडल-तट पर रखे जाने वाले हथियारबन्द सिपाहियों की संख्या सीमित कर दी। उन्हें केवल व्यापारिक छूट के अलावा और सब बातों में बंगाल से तो बिलकुल ही बाहर निकाल दिया गया। अंग्रेजों के प्रतिनिधि, मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब मान लिया गया। उधर 'दक्खिन' के सूबेदार के रूप में सलाबत-जंग की पदवी तो स्वीकार कर ली गयी तथापि उसके दरबार में फ्रांसीसी प्रभाव एक बीती बात हो गया था। इसके अलावा, सलाबतजंग को स्वीकार करना भी निरर्थक ही था क्योंकि १७६१ में उसका स्थान उसके भाई निजाम अली ने ले लिया। निजाम-अली ने सन्धि पर हस्ताक्षर होने के ६ महीने बाद ही सलाबतजंग की हत्या कर दी। 'उत्तरी सरकार' अंग्रेजों के अधीन आ गये और क्लाइव ने १७६५ में एक राजकीय-आज्ञा पत्र भी प्राप्त कर लिया जिससे अंग्रेजों का अधिकार प्रमाणित और नियमित हो गया।

इस समय के बाद से सदा ही फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ जाने पर पांडिचेरी अंग्रेजी सेना के ही पास रहा। फ्रांस ने १७८१—३ में अपनी सत्ता फिर से स्थापित करने की प्राणपण से चेष्टा की। इसका विस्तृत उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। इस बार उसने समुद्र की ओर से हमला किया था और कोई स्थायी स्थल-आधार न होने के कारण उसे सफलता न मिली। खेतीबारी पर केवल एक ही कर लगाने का समर्थन करने वाले फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों के प्रसिद्ध दल के एक योग्यतम सदस्य, मॉरलेट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(Morellet) ने फ़्रांसीसी कम्पनी की, पिछली आर्थिक नीति की कड़ी निन्दा की।[1] इसका फल यह हुआ कि १७६९ में, एक राजकीय आज्ञा-पत्र के अनुसार फ़्रांसीसी कम्पनी के सब विशेषाधिकार छीन लिये गये। अप्रैल १७८५ में फ़्रांसीसी कम्पनी फिर स्थापित हुई। अब वह "एकाधिकार से सुरक्षित एक साधारण व्यापार-केन्द्र मात्र थी, पहले की तरह एक विशाल साम्राज्य की पटरानी न थी।"[2]

अंग्रेजी कम्पनी की अन्तिम सफलता के अनेक कारणों में से मुख्य थे: उसकी व्यापारिक श्रेष्ठता और अच्छी आर्थिक स्थिति। मॉरलेट ने १७३६ से १७५६ तक फ़्रांस में बिकने वाले भारतीय माल के दाम लगभग ११,४५०,००० पौण्ड[3] बताये परन्तु इसी अवधि में अंग्रेजी कम्पनी की बिक्री का जोड़ इसके साढ़े तीन गुने से अधिक, अर्थात् ४१,२००,०००[4] पौंड था। आनुशासनिक और सैनिक सफलता चाहे जितनी अधिक हो परन्तु एक व्यापारिक कम्पनी की सम्पन्नता के लिए सफल व्यापार तो सबसे अधिक आवश्यक है। स्वयं राजनीतिक रेसीडेंट के सुयोग्यतम प्रतिनिधि, बुसी, ने भी इस तथ्य पर बल देते हुए ऐलान किया था: "एक व्यापारिक कम्पनी के लिए तो यश और विजय केवल गणना की बातें हैं। यदि प्राप्ति कम हो और खर्च अधिक अथवा हाथ से जाने और हाथ में आने वाली वस्तुएं मात्रा में बराबर भी न हों तो कीर्ति और विजय बुरी ही सिद्ध होती है।"[5] यह निश्चित बात है कि यही सिद्धान्त फ़्रांसीसियों का सफल प्रतियोगी सिद्ध होने वाले राष्ट्र का भाग्य-नियन्त्रण कर रहा था। अंग्रेजों को अपनी समूची विजयों में प्रायः लाभ ही हुआ था। डूप्ले ने जिस नियम को ठुकराया, अंग्रेजों ने उसी का पालन किया। पूरे युद्ध-काल में अंग्रेज पूरी लगन के साथ अपने सब व्यापारिक कारोबार चलाते रहे। उनके व्यापारिक और समुद्री यातायात से प्रकट है कि वे अपने निर्यात का मूल्य भी बढ़ाते रहे। इसके विपरीत, १७४६ के बाद कुछ बरस तक फ़्रांसीसी आंकड़े नीचे ही गिरते दिखाई देते हैं। बाद में, बंगाल में प्राप्त हो जाने वाले प्रदेशों ने अंग्रेजों का खजाना भर दिया। अंग्रेजों ने यह कभी न भुलाया कि वे मुख्य रूप से व्यापारी हैं। इसके विपरीत, डूप्ले जानबूझ कर इस नतीजे पर पहुंच गया था कि कम से कम फ़्रांस के लिए तो भारतीय व्यापार असफलतामूलक ही था। डूप्ले समझता था कि सैनिक विजयों का मार्ग अधिक आकर्षक भविष्य की ओर ले जाने वाला है। 'पूर्व' में यूरोपवासियों के भाग्य का निर्णय करनेवाली परिस्थितियों के अनुसार डूप्ले की यह धारणा एक भयंकर भूल ही थी। भारत यूरोप से बहुत दूर था और फ़्रांस पश्चिमी प्रादेशिक राजनीति में आवश्यकता से बहुत अधिक उलझ कर केवल तलवार के बल

१. मेमोआयर सुर ला सिचुएशन एक्चुएल डि ला केम्पेन डेस इन्डस, एम० ला वे मोरलेट, पेरिस, १७६९।

२. ला केम्पेन फ्रेन्चाइज इन्डस, हेनरी वेबर, पृ० ६३५।

३. ये आँकड़े मॉरलेट द्वारा उद्धृत किये गयेहैं (पृ० ८६, ८७)।

४. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस आफ़ कामन्स, खंड ४।

५. मेमोआयर पोर ले स्योर डि बुसी, पृ० २३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर पूर्वीय साम्राज्य प्राप्त करना चाहता था। १७५३ में मद्रास के अंग्रेजों ने लिखा : "डूप्ले की नीति को कम्पनी के बदले राष्ट्र के सहयोग की आवश्यकता जान पड़ती है।"[1] कोई भी ऐसी शक्ति, जो सुदृढ़ व्यावसायिक और आर्थिक नींव पर टिकी न हो, सुदूरस्थित समुद्री आधार से, भारत पर अधिकार बनाए रखने के प्रयत्नों में सफल नहीं हो सकती थी। जब डूप्ले ने जानबूझ कर एक विभिन्न नीति का उद्घाटन किया तो मानो उसका पहला कदम ही भारत में फ्रांसीसी शक्ति के पतन की ओर ले जाने वाले पथ पर पड़ा।

अंग्रेजी कम्पनी अब भी उत्साह और आत्मविश्वास से भरी एक व्यावसायिक संस्था थी। इसका नियन्त्रण एक गैर-सरकारी दल के हाथ में था : वह राजकीय सहायता से तो इतनी दूर थी कि स्वयं सरकार ही बहुत समय तक इसकी ऋणी रही। इसके विधान ने एक ओर तो इसे सार्वजनिक नीति सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त प्रभाव डालने योग्य बना दिया था और, दूसरी ओर, अनावश्यक और विस्तृत राजकीय हस्तक्षेप के विनाशकारी प्रभावों से भी बचा लिया था।

फ्रांसीसी कम्पनी बहुत समय से वास्तव में एक आश्रित सरकारी विभाग से अधिक कुछ न रह गयी थी। सारी सत्ता 'रायल कमिशरी' के हाथों में थी। अपनी पूंजी पर ब्याज मिलता रहने पर कम्पनी के मालिक इसके मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं लेना चाहते थे। १७३३ से इस ब्याज के लिए सरकार ने उन्हें आश्वासन दे ही दिया था। यह सत्य है कि लुई पंचदश (Louis XV) के मंत्री आलसी और अनुद्यमी थे परन्तु यह न भूलना चाहिए कि यूरोपीय उलझनों के कारण पूर्वीय मामलों पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता था। फ्रांसीसी कम्पनी के प्रारम्भिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रांस में विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में व्यक्तिगत साहस का बुरी तरह अभाव था। लुई चतुर्दश और कोलबर्ट के समय में सरकार ने फ्रांसीसी कम्पनी में प्राण-वायु भर कर मानो उसे जीवित कर दिया था। संरक्षकों का हाथ हटते ही उसकी शक्ति छूमंतर हो गयी। सरकार अनिश्चित समय तक तो कम्पनी को आर्थिक सहायता दे नहीं सकती थी। मॉरलेट ने कम्पनी के आर्थिक मामलों की जांच पड़ताल करते हुए दो ऐसे तथ्य सामने रखे जिनकी सत्यता कोई भी अर्थ-शास्त्री अस्वीकार नहीं कर सकता।[1] सार्वजनिक आय को अपने पैरों पर कभी भी खड़ी न हो सकने वाली कंम्पनी को जीवित रखने में खर्च करने के बदले असंख्य उचित और अधिक महत्वपूर्ण कामों में लगाया जा सकता है।[2] आत्म-निर्भर न होने वाली व्यापारिक संस्था को त्याग देना ही उचित है।[2] एक अंग्रेज प्रेक्षक ने १७४४ में ही 'फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों की शोकजनक स्थिति की आलोचना की थी। उसके निष्कर्षों में

१. इन्डिया आफ़िस रेकार्डस, फ्रेंच इन इन्डिया, खंड २, पृ० १०३, मद्रास से भेजा गया पत्र, २९ अक्तूबर, १७५३।

२. मैमोआयर सुर ला सिचुएशन एक्चुएल डि ला कम्पनी डेस इन्डस, एम ला बे मारलेट, १७६९, पृ० २५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर्याप्त सत्य है। उसने तर्क-पूर्वक कहा था कि सरकार के "समस्त परिश्रम और पूरे सहयोग के बावजूद उनके प्रयत्न लक्ष्यभ्रष्ट हो गये हैं। दूसरे सब देशों में, विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन और हालैण्ड में, इस तरह की संस्थाएं आरम्भ में निजी प्रयत्नों का ही फल रही हैं। वहां उन्होंने उस समय तक सरकारी सहायता, इतना ही नहीं, सरकारी संरक्षण तक की मांग नहीं की जब तक कि उनके कार्य-व्यापार में पर्याप्त विस्तार नहीं हो गया। उस समय भी सरकार की सहायता स्वीकार करने का एक कारण था। भय यह था कि यदि सरकारी सहायता न ली गयी तो कहीं मुनाफे की इच्छा से एक ही व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों की संख्या कहीं इतनी न बढ़ जाए कि वे जनता और स्वयं अपने लिए भी हानिकारक सिद्ध होने लगें। फ़्रांस में ठीक इससे उल्टी बात हुई। वहां व्यक्तिगत रूप से लोगों ने उस समय तक कुछ भी न किया जब तक कि उन्हें सरकार ने प्रोत्साहन और प्रेरणा नहीं दी। प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर भी वे अपनी योग्यता से कहीं अधिक बड़े कामों में फंसकर अपने सर्वनाश से अधिक कुछ न कर सके।"[1]

दक्षिणी भारत में १७४६ से १७५३ तक लगभग लगातार होने वाले भयंकर युद्ध में अंग्रेज ही विजयी रहे। यह विजय मुख्य रूप से लारेंस और क्लाइव के अनथक प्रयत्नों और योग्यतापूर्ण नेतृत्व का ही प्रसाद थी। स्थल-युद्ध के साथ ही साथ जल-युद्ध में भी उनकी जीत हुई। इस पूरी अवधि में इंग्लैण्ड धीरे-धीरे संसार के जलमार्गों पर अपनी प्रधानता स्थापित करता जा रहा था। सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ होने के बाद (जब फ्रांस अधिकतर मध्य यूरोप की उलझनों में फंसता जा रहा था) तुलनात्मक रूप से अंग्रेजों की प्रधानता बहुत बढ़ गयी। सत्य तो यह है कि ब्रिटिश जल-शक्ति की श्रेष्ठता हर हालत में डूप्ले की अन्तिम और स्थायी सफलता असंभव कर देती। चन्द्रनगर क्लाइव के हाथ में चला जाने से तो मानो फ़्रांस से उस प्रान्त की बस्ती ही छिन गयी, जो अनेक कारणों से, भारत की कुंजी माना जाता था। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध (१७४४–४८) में भी अंग्रेज अपना व्यापार बढ़ाने और इस तरह अपना युद्ध-सम्बन्धी व्यय पूरा करने में बहुत अंश तक सफल हो गये थे। १७५७ के बाद से तो वे धन के एक नवीन स्रोत (बंगाल की मालगुजारी और धन के अन्य स्रोत जिनकी व्यवस्था नवाब की ओर से अंग्रेज करते थे) पर भी निर्भर रह सकते थे।

इनमें से किसी भी कारण को, दूसरों से अधिक महत्त्व देना उचित नहीं। स्वयं भारत में होने वाली दीर्घकालीन, कठोर और अरुचिकर सैनिक चालों के आवश्यकता से अधिक गम्भीर अध्ययन से तो यही धारणा बनती है कि दोनों सेनापतियों के पारस्परिक मन-मुटाव और कुछ गिने चुने सहकारियों की सफलता या असफलता ने ही एक महान् साम्राज्य के भविष्य का निर्णय कर दिया। परन्तु भारत में अंग्रेजों की विजय और फ़्रांसीसियों की पराजय का यही कारण न था। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक

---

१. एन एकाउन्ट आफ दि फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी, १७४४, जां हैरिस के नेवीगेंटियम एक्यू इटिनेरेन्टियम बिबिब्लिओथिका, खंड १, लन्दन, १७४४ के अन्त में छपा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घटनाओं का मूल इससे कहीं अधिक गहरी सतह में छिपा होता है। इस सम्बन्ध में अधिक सत्य विचार तो यह है कि स्थल पर होने वाली घटनाएं तो 'अज्ञेय' ही थीं और वास्तविक महत्त्व समुद्र पर होने वाली घटनाओं अथवा समुद्री नियन्त्रण का ही था। यह विचार सत्य होकर भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस धारणा के मुख्य समर्थक, कैप्टेन माहन, ने इस प्रकार समुद्री इतिहास को एक महत्त्वपूर्ण देन प्रदान की परन्तु भारत-स्थित यूरोपवासियों का इतिहास उसका मुख्य विषय न था। इसीलिए उसने इस प्रश्न पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारणों को आवश्यकता से कम महत्त्व दिया है।[1] इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक और निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने पर ही उन कारणों में से प्रत्येक को व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से उचित स्थान प्राप्त हो सकेगा। केवल उसी समय युद्ध और शान्ति दोनों ही दशाओं में प्रकट होने वाली रॉबर्ट क्लाइव की योग्यतापूर्ण प्रतिभा का भी उचित मूल्यांकन किया जा सकेगा।

---

१. कैप्टेन माहन ने, दी इन्फ्लुएन्स ऑफ सी पावर अपॉन हिस्ट्री में पृ० २५४ पर लिखा है : "बहुत ही कम महान् नामों से चित्रित होने पर भी फ्रांस का औपनिवेशिक विस्तार सम्बन्धी आन्दोलन पूरी तरह सर्वविदित है। शासकों का व्यवहार ठंढा और अविश्वासी है।" यह बात निश्चित रूप से भारत में फ्रांसीसी इतिहास पर लागू नहीं होती। कंपनी लगभग री तरह राजछत्र और मन्त्रियों की सन्तान थी। राज्य-संरक्षण और सहयोग इस मामले में, एक भूल होकर भी आवश्यक थे। इनके बिना सार्वजनिक साहस और उत्साह के अभाव के कारण भारत में फ्रांसीसी व्यापार सम्भव ही न था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १३

बंगाल में विद्रोह—प्लासी की लड़ाई और क्लाइव का पहली बार बंगाल का गवर्नर बनना

हम पहले देख चुके हैं कि दक्षिणी भारत में अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों का संघर्ष लगभग २० वर्ष तक होता रहा । इस संघर्ष का मूल कारण दोनों यूरोपीय शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता ही थी । स्थानीय नरेशों को तो प्रायः उनकी इच्छा के विरुद्ध ही युद्ध-भूमि पर खींच लाया गया था । दूसरी ओर, बंगाल में तीन यूरोपीय राष्ट्र, अंग्रेज, फ़्रांसीसी और डच बहुत समय तक परस्पर प्रेम और सद्भाव पूर्वक रहते रहे । उनके पारस्परिक झगड़े का आरम्भ तो उस युद्ध की एक घटना के रूप में हुआ जो अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी और स्थानीय नरेशों के बीच छिड़ गया था । इन तीनों राष्ट्रों के मुख्य ठिकाने हुगली पर ही थे; अंग्रेजों का कलकत्ते में, फ़्रांसीसियों का चन्द्रनगर में और डचों का चिन्सुरा में । नक्शा देखने से पता चलेगा कि हुगली नदी के मुहाने के अधिकतम समीप होने के कारण अंग्रेजों के हाथ में मानो बंगाल की कुंजी ही थी । अपने-अपने बन्दर-गाहों के घाटों तक पहुंचने के लिए फ़्रांसीसी और डच जहाजों को फोर्ट विलियम के तोपखानों के सामने से होकर जाना पड़ता था । दक्षिणी भारत की बस्तियों के विपरीत कलकत्ता और चन्द्रनगर आस्ट्रिया के राज्याधिकार सम्बन्धी युद्ध के दिनों में बंगाल के नवाब या सूबेदार (जिसने १७४१ से १७५६ तक हकूमत की) अली वर्दी खाँ के संरक्षण में पूरी तरह तटस्थ बने रहे । वह पर्याप्त योग्यता और स्वाभाविक चतुरता-सम्पन्न व्यक्ति था । जान पड़ता है कि उसने यह बात पहले से ही समझ ली थी कि बंगाल के किसी भी हाकिम की अयोग्यता से शीघ्र ही सारा देश पश्चिमी राष्ट्रों के हाथ में चला जाएगा । उसने कलकत्ते की तुलना मधु-मक्खियों के उस छत्ते से की थी जो निर्विघ्न रहने पर अपने स्वामी केलिए लाभदायक होता है । परन्तु उग्रतापूर्वक छेड़ा जाना भय और चिन्ता का कारण बन जाता है । अली वर्दी खां के बाद उसका पोता, मिर्जा मुहम्मद, जिसे प्रायः उसकी उपाधि 'सिराजुद्दौला' के नाम से पुकारा जाता है, बंगाल का नवाब बना । केवल बीस वर्ष के उस युवक में वे सब दोष और दुर्बलताएं उपस्थित थीं जो प्रायः अन्तःपुर में पले हुए पूर्वीय देशों के राजकुमारों में पायी जाती थीं । अली-वर्दी खां के शासन-काल में बंगाल के यूरोपवासियों पर इस बात की रोक लगी रही कि वे मरहठों के आक्रमण से अपना बचाव करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने के अलावा अपनी बस्तियों को किलेबन्द नहीं कर सकते थे । यह रोक होने पर भी अलीवर्दी खां की मृत्यु के कुछ समय पहले ही अंग्रेज और फ़्रांसीसी दोनों सन्निकट यूरोपीय-युद्ध को

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अवश्यम्भावी जानकर और उत्तराधिकार सम्बन्धी परिवर्त्तनों के फलस्वरूप स्थानीय शक्ति की दुर्बलता की संभावना से किलेबन्दी करने लगे । सिराजुद्दौला ने उन्हें किले बनाने से रोका। फ़्रांसीसियों ने उसके साथ समझौता कर लिया परन्तु अंग्रेज उतने सौभाग्यशाली न रहे। वे सिराजुद्दौला को यह आश्वासन न दिला सके कि वे किसकी आज्ञा का पालन करना चाहते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने तो सिराजुद्दौला के अत्याचार से बचकर कलकत्ते आकर शरण लेने वाले एक व्यक्ति को छोड़ने से इन्कार करके नवाब को ही नाराज कर दिया। अंग्रेजों ने १७१७ के एक फरमान द्वारा मिलने वाले विशेषाधिकारों का दुरुपयोग करके भी सिराजुद्दौला को क्रुद्ध होने का उचित कारण दे दिया था।

परन्तु ये सब बातें तो लड़ाई शुरू करने के लिए बहाना मात्र थीं। वास्तविक कारण तो इनसे कहीं अधिक गहरे थे । उनका घनिष्ठ सम्बन्ध बंगाल की राजनीतिक और आर्थिक दशा के साथ था। १७५६–७ का विद्रोह मुख्य रूप से अथवा पूर्णतया, एक यूरोपीय व्यापारी बस्ती की एक भारतीय प्रान्त पर विजय मात्र न थी। सत्य तो यह है कि यह विद्रोह व्यापारी और आर्थिक वर्गों (स्थानीय हिन्दू और ब्रिटिश) द्वारा एक विदेशी (मुस्लिम) सरकार को उखाड़ फेंकने का सफल प्रयास था। विद्रोह के फल-स्वरूप इन दोनों को ही व्यावसायिक दृष्टि से लाभ हुआ परन्तु बर्तानिया वालों ने वास्तविक घटनाओं में अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लिया और राजनीतिक सर्वोच्चाधिकार प्राप्त करने में केवल उन्हीं को सफलता मिली। आन्तरिक मतभेदों ने मुस्लिम सत्ता के पतन में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

हम पहले देख ही चुके हैं कि बंगाल के इस महान् प्रान्त पर, जिसमें मुख्य बंगाल, बिहार और उड़ीसा सम्मिलित थे, उन नवाबों की हकूमत थी जो नाम-मात्र के लिए दिल्ली के बादशाह को अपना सर्वोच्च अधिकारी मानते थे। अब कई वर्ष से नवाब प्रायः स्वतन्त्र ही हो गये थे और उन्होंने अपना पद भी पैतृक बनाने का प्रयत्न किया था । हिन्दू जनता पर राज करने वाले ये नवाब मुगल, फारसी अथवा अफगान जाति के थे। देश का अधिकांश धन हिन्दुओं के ही पास था । इन हिन्दुओं और पश्चिमी देशों से यहां आकर बसे हुए लोगों में (जिनके साथ वे इतना जबरदस्त व्यापार करते थे) परस्पर हितों की एक विशेष समानता थी। १७५० के लगभग यह अनुभव किया गया कि हिन्दू, अल्पसंख्यक मुसलमानों की हकूमत के प्रति उतने सहनशील नहीं रहे जितने पहले थे और वे अपने को उस बन्धन से मुक्त करने का अवसर खोज रहे थे। अली वर्दी खां की मृत्यु से पहले भी, गम्भीर निरीक्षकों ने यह समझ लिया था कि यह टकराव बहुत समय तक रोका नहीं जा सकता। नवाब कठोर और दमनशील तो था परन्तु वह अन्यायी न था। अंग्रेज अपने व्यापार पर लगायी गयी अनेक दुःखदायी रुकावटों के कारण उद्धत होते जा रहे थे। १७५२ में ओर्म ने क्लाइव को लिखा था : "इस बूढ़े कुत्ते को अच्छी तरह दंड देना बहुत ठीक रहेगा। मैं अनायास (बिना सोचे समझे) ही यह नहीं कह रहा हूं कि कम्पनी को गम्भीरतापूर्वक इस बात पर अवश्य विचार करना होगा वरना उनके लिए बंगाल का व्यापार निरर्थक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो जाएगा।"[1] जब तक अली वर्दी खां जीवित रपा तबतक असंतोष की ज्वाला भीतर ही भीतर धधकती रही। उसके स्थान पर एकऐसा व्यक्ति आया, जो हठी, दुर्बल और दुराचारी युवक था। वह यूरोपीय व्यापारियों और अपनी हिन्दू प्रजा दोनों का ही समान रूप से दमन करता था और उसने स्थानीय सेठों के सबसे अधिक धनी परिवार का अपमान भी किया था। इसका फल यह हुआ कि घटनाएं तेजी के साथ अपने अन्त की ओर बढ़ने लगीं। सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को अपने राज्य की सीमाओं से बाहर निकाल देने का निश्चय किया। फ़्रांसीसी अथवा डचों के बदले, अंग्रेजों पर हमला करके वह स्वयं अपने दृष्टिकोण से, उचित भावना के अनुसार ही काम कर रहा था। अंग्रेजों की बस्ती सबसे बड़ी भी थी और सबसे अधिक धनवान भी। सरमन के 'फरमान' के अनुसार होने वाला उनका व्यापार सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा था। हिन्दू व्यापारी वर्ग के साथ उनका सम्बन्ध भी सबसे अधिक घनिष्ठ था। अंग्रेजों को निकाल कर नवाब सुविधा के साथ दूसरी यूरोपीय बस्तियों से निपट सकता था। फल-स्वरूप, कासिम बाजार के कारखानों पर कब्जा करके और बन्दियों के साथ बहुत बुरा बर्त्ताव करने के बाद वह ५०,००० सिपाही साथ लेकर कलकत्ते की ओर बढ़ा। मुख्य यूरोपीय किले में प्रायः ३०० रक्षक रहते थे परन्तु, दक्षिण भारत में होने वाली लड़ाइयों के कारण उस समय वहां इतने आदमी भी न थे। स्वयंसेवकों और स्थानीय सेनाओं को मिलाकर कुल ५१५ आदमी इकट्ठे कर लिये गये। इनमें से २३० यूरोपियन थे। किला टूटा फूटा पड़ा था, तोपें पुरानी थीं और बारूद की कमी थी। जान पड़ता था कि कम्पनी के सेवकों पर बिल्कुल अचानक धावा बोल दिया गया। उन्होंने पागलों की तरह फ़्रांसीसियों और डचों से सहायता की याचना की जो वास्तव में उनसे भी दुर्बल स्थिति में थे। नवाब १६ जून को आक्रमण के लिए बढ़ा और दो दिन बाद स्त्रियों और बच्चों को नदी पर तैरते जहाजों पर चढ़ा दिया गया। अन्तिम क्षणों में, दो अयोग्यतम व्यक्ति, गवर्नर (ड्रेक) और दुर्ग-नायक (मिन्चिन), भी उनमें आ मिले। जहाजी बेड़ा निर्लज्जतापूर्वक दुर्ग के बाकी रक्षकों को उनके भाग्य पर छोड़ नगर से कुछ दूर नीचे, नदी के उतार की ओर बढ़ गया। ओर्म का विश्वास था कि यदि १५ साहसी व्यक्तियों से युक्त एक छोटा जहाज भी चहता तो पूरे दल को बचा सकता था। भाग कर आने वाले ये व्यक्ति नदी के उतार की ओर कोई बीस मील की दूरी पर, फुल्टा नामक स्थान पर उतरे। गवर्नर और कमाडेंट के इस प्रकार भाग जाने पर उधर शत्रु से घिरे हुए दुर्ग–रक्षकों ने एक भूतपूर्व सर्जन, होलवेल (Holwell) को अपना सेनानायक बनाया। उसके अधीन वे दो दिन तक और शत्रु का सामना करते रहे। उन्होंने २० जून को आत्म-समर्पण किया। उस समय उनकी संख्या १७० थी। इसके बाद 'कलकत्ते के ब्लैक होल' वाली भयंकर घटना हुई जिसका उल्लेख बार बार किया जाता रहा है। एक सौ छियालीस अंग्रेज बन्दियों को, जिनमें एक महिला भी

१. दि इन्डियन रेकॉर्ड्स सीरीज़ बंगाल इन १७५६,७—लेखक एस० सी० हिल, १८९५, खंड १, भूमिका, पृ० तेंतीस।

CC-0. Prof. Agamnigh Bhattacharjee Collection. Digitized by eGangotri Siddhanta Foundation, Chandigarh

थी, लगभग १८ फुट लम्बे और इतने ही चौड़े एक वर्गाकार कमरे में (जो वास्तव में सैनिक अपराधियों को दण्ड देने के लिए बनाया गया था) भारत की ग्रीष्म ऋतु की एक रात बिताने के लिए विवश किया गया। एक सौ तेईस बन्दी तो इसी काल कोठरी में मर गये। होलवेल ने (जो जीवित रह जाने वले बन्दियों में से एक था) इस नरक कुण्ड का बहुत ही सजीव चित्रण किया है। जान पड़ता है कि इस अमानवीय कुकर्म का उत्तरदायित्व स्वयं नवाब पर न था। यह तो सहकारी अधिकारियों की दुष्टता, उनकी असभ्यता और बर्बरता का ही परिणाम था। एक बात स्पष्ट है। नवाब ने कुकर्मियों को दण्ड देने की कभी कोशिश न की और जीवित रह जाने वाले व्यक्तियों के साथ भी निन्दनीय कठोरतापूर्ण व्यवहार किया गया। इस सम्पन्न अंग्रेजी बस्ती पर छा जाने वाला सर्वनाश वास्तव में बहुत ही भयंकर था। कुछ ही दिनों में देश के ऊपरी भाग में कारखाने और एजेन्सियां सिराजुद्दौला के कब्जे में आ गयीं और कलकत्ता भी उसकी पहुंच के भीतर था। अब तो फूल्टा नामक स्थान ही, (जहां जहाज द्वारा आने वाले अग्रेज शरणार्थी संकट और अभावपूर्ण वातावरण में जीवन के दिन काट रहे थे, और जहां बाद में, ब्लैक होल से जीवित बच निकलने वाले व्यक्ति भी उनमें आ मिले थे) बंगाल में अंग्रेजों के अधीनस्थ प्रदेश का प्रतिनिधित्व कर रहा था। निर्दयी शत्रु ने इन्हें यहां कुछ समय के लिए, तिरस्कारपूर्वक, निर्बाध छोड़ दिया।

इस भयोत्पादक विपत्ति का समाचार मद्रास पहुंचा तो वहां अधिकारियों ने चिन्तित होकर परस्पर विचार-विमर्श किया। फ्रांस के साथ युद्ध करना अवश्यम्भावी जान पड़ रहा था। आरम्भ में तो इस बात पर भी सन्देह ही अधिक प्रकट किया जा रहा था कि अंग्रेज चाहें तो कोरोमंडल-तट को सैन्य-विहीन कर सकते हैं। अन्त में यही निश्चय किया गया कि सबसे पहले कलकत्ते की चिन्ता की जानी चाहिए। प्रसिद्ध इतिहासकार, ओर्म ने (जो उस समय फोर्ट सेंट जार्ज का एक परामर्शदाता था) उत्साहपूर्वक यह बात सुझायी थी। उसने यह भी परामर्श दिया कि मद्रास के गवर्नर, पिगॉट (Pigot) अथवा बादशाह के सेवक, कर्नल एल्डरक्रान (Colonel Aldercron) नामक एक अधिकारी के बदले, मुख्य विश्रान्ति दल के नेतृत्व का भार क्लाइव को सौंपा जाए। क्लाइव कुछ ही समय पूर्व, फोर्ट सेंट डेविड का गवर्नर बनने के लिए इंग्लैण्ड से वापिस आया था। तुरन्त एक छोटा-सा प्रारम्भिक दल मेजर किलपाट्रिक (Major Kilpatrick) के नेतृत्व में रवाना कर दिया गया। यह दल जुलाई के अन्त में फुल्टा पहुंचा।

अधिक अनुभवी अफसरों के बदले, क्लाइव का चुनाव, नीति का एक महत्त्वपूर्ण कारनामा सिद्ध हुआ। क्लाइव के साथियों को यह काम कठिन और भयपूर्ण लग रहा था परन्तु उसे न कोई सन्देह था, न भय। "फोर्ट सेंट डेविड में लगी पूंजी को सुधारने और बढ़ाने के काम" से हट कर क्लाइव प्रसन्नतापूर्वक, अपनी प्रकृति के अनुकूल, सैनिक कार्य में लग गया। उसने लिखा था : "कलकत्ते पर कब्जा कर लेना कोई बहुत कठिन काम नहीं है।" उसे इस विश्वास से अनवरत प्रेरणा मिल रही थी कि उसे एक महान् अवसर मिला है, उसने अत्यन्त उत्साह के साथ अपने पिता को लिखा :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यह मेरा महत्तम प्रयत्न है, मैं बहुत बड़ी सेना और महान् अधिकार साथ लेकर जा रहा हूं।"[1] उसका अत्यधिक आत्म-विश्वास सर्वथा उचित था। वह लगभग ९०० यूरोपीयनों और १५०० स्थानीय सिपाहियों की सेना का संचालन कर रहा था। उधर समुद्री बेड़ा, जिसमें पांच जहाज योद्धाओं के लिए थे और पांच यातायात सम्बन्धी सामान के लिए, एडमिरल वाट्सन के अधीन था। ये लोग १६ अक्तूबर को रवाना हुए और एक प्रतिकूल यात्रा करने के बाद हुगली के मुहाने पर पहुंचे। इन्होंने दिसम्बर में फुल्टा के शरणर्थियों को संकट-मुक्त किया। २ जनवरी, १७५७ को कलकत्ते का पतन हुआ और उसक कुछ दिन बाद ही हुगली ने भी बर्तानिया वालों के सामने आत्म-समर्पण कर दिया। सिराजुद्दौला ने एक बार फिर कलकत्ते के विरुद्ध अपनी सेना चढ़ायी। भयंकर युद्ध हुआ। निर्णय-रहित होने पर भी इस युद्ध ने शत्रु को हतोत्साह-सा कर दिया। ९ फरवरी को अंग्रेजों और नवाब के बीच एक प्रहारात्मक और आत्म-रक्षात्मक सौदा हो गया। कम्पनी का किला और उनके सब पुराने साधारण तथा विशेषाधिकार उन्हें लौटा दिये गये, क्षतिपूर्ति का भी विश्वास दिलाया गया और उन्हें सिक्के ढालने तथा कलकत्ते में किलेबन्दी करने की आज्ञा दे दी गयी।

इस प्रकार बंगाल पहुंचने के बाद, कुछ ही सप्ताह में, क्लाइव और वाट्सन ने अंग्रेजों की पुरानी स्थिति फिर प्राप्त कर ली। उन्होंने बलपूर्वक सिराजुद्दौला से वह रियायत भी ले ली जिसे वापिस ले लिया जाना ही वास्तव में झगड़े का मूल कारण बन गया था। यह देखकर आश्चर्य ही होता है कि ब्लैक-होल-कांड के उत्तर-दायी के साथ शान्ति-संधि कर ली गयी और उस संधि में, वह कुकर्म करने वालों के लिए किसी प्रकार का भी दंड निर्धारित न किया गया। सत्य बात यह है कि क्लाइव ने उस समय अपने को अत्यन्त भयानक और संकट-पूर्ण स्थिति में पाया और उसे अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के पारस्परिक झगड़े के अलावा और भी बहुत सी बातें अपने सामने रखने के लिए विवश होना पड़ा। उसका मुख्य कारण (जिस पर उसने स्वयं ही प्रकाश डाला) यह था कि "एक या दो दिन की देर हो जाने पर नवाब और फ़ांसीसी मिल जाते और इस तरह कम्पनी के मामले तहस-नहस हो जाते।" समुद्री-बेड़े के नायक के साथ उसके सम्बन्धों में भी प्रायः तनाव रहता था। क्लाइव एक सैनिक मात्र न था, वह कम्पनी का सेवक भी था। राजकीय अधिकारी होने के कारण वाट्सन ने खुले आम नागरिक और व्यावसायिक मामलों के प्रति उपेक्षा प्रकट की। क्लाइव के कथनानुसार, एक बार तो क्रोध के आवेश में उसने समुद्री बेड़े की तोपों की सहायता से उन्हीं पर बम बरसाने की भी धमकी भी दी। इसके अलावा, कलकत्ते की कौंसिल तो क्लाइव पर भी अपना अनुशासन जता रही थी। वह उन विशेष अधिकारों का भी कड़ा विरोध कर रही थी जो मद्रास के अधिकारियों ने क्लाइव को दिये थे। अतः क्लाइव को अधिक-तम सावधानी के साथ ही अपना रास्ता बनाना था। कम्पनी के व्यावसायिक हितों के

१. दि इण्डियन रेकार्ड्स सीरीज़, बंगाल इन १७५६-७, एस० सी० हिल, १८९५ खंड १, पृ० २२७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए शान्ति की आवश्यकता थी। इसलिए उपयुक्त अवसर मिलते ही क्लाइव ने नवाब के साथ सन्धि कर ली। संभवतः उस समय वह भी जानता था कि इस प्रकार एक अवश्यम्भावी टकराव स्थगित ही किया जा रहा है। उसने अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेकर मद्रास से प्राप्त उस आज्ञा-पत्र का पालन नहीं किया जिसमें उससे तुरन्त मद्रास लौट आने के लिए कहा गया था। वह समझता था कि उस समय बंगाल से जाने का अर्थ होगा अब तक किये गये अपने सब काम पर पानी फेरना। उसने अनुमान लगा लिया था और यह ठीक भी था कि मद्रास केवल अपने ही साधनों की सहायता से फ़्रांसीसियों के किसी भी आक्रमण से अपने को बचा सकता है। खुले आम युद्ध का ऐलान हो जाने के कारण बंगाल में अवश्य फ़्रांसीसियों के प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप का वास्तविक भय था। बुसी कलकत्ते से कोई २०० मील के भीतर 'उत्तरी सरकारों' में था। अंग्रेजों द्वारा किये गये अपमान से व्यथित सिराजुद्दौला की ओर से फ़्रांसीसियों के साथ मित्रता करने का सन्देह होना बहुत हद तक उचित था। इसीलिए क्लाइव और वाट्सन ने चन्द्रनगर की ओर ध्यान दिया। यूरोपीय बस्तियों की तटस्थता अब तक उनकी प्रमुख विशेषता रही थी। अब भी वही विशेषता बनाए रखने के कुछ असफल प्रयत्न किये गते जिनमें दोनों में से किसी पक्ष ने भी दक्षतापूर्वक भाग नहीं लिया। अंग्रेज अपने को चन्द्रनगर पर हमला करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली समझने लगे थे। फ़्रांसीसियों का मुकाबला करने के लिए इंग्लैण्ड से भी संदेश प्राप्त हो चुके थे। एडमिरल वाट्सन ने नदी के चढ़ाव की ओर जाकर २३ मार्च को शत्रु के किलों पर बमबारी की। वाट्सन का यह साहसपूर्ण कार्य क्लाइव के शब्दों में, "हिज मैजेस्टी की समुद्री सेवा में कभी किये गये किसी भी उत्साहपूर्ण और प्रयत्न के समान था।"[1] दूसरी ओर स्वयं क्लाइव स्थल पर सैनिक दलों में घुसता चला गया और उसने सब ओर से दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। फ़्रांसीसी वीरता के साथ लड़े। उन्होंने अंग्रेजी बेड़ों को बहुत हानि पहुंचायी। परन्तु अपनी छोटी सी सेना में से लगभग २०० व्यक्तियों के क्रियाहीन हो जाने पर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया। कुछ दुर्ग-रक्षक जान बचाकर कासिम बाजार चले गये। वहां जेकिज फ़्रांसिस लॉ (Jacques Francois Law) का भाई, जीन लॉ (Jean Law) फ़्रांसीसी सेनाओं का नेतृत्व कर रहा था।[2] क्लाइव ने नवाब से अनिच्छापूर्वक कुछ ऐसे अस्पष्ट शब्द कहलवा लिये थे जिनका अर्थ उसने यह लगा लिया कि नवाब ने फ़्रांसीसियों पर हमला करने की आज्ञा दे दी है। ऐसी दशा में सिराजुद्दौला को हस्तक्षेप न करने देने के लिए बहुत सतर्कता की आवश्यकता

---

१. रिपोर्ट्स आंफ दि हाउस आफ़ कामन्स, खंड ३, पृ० १४६।

२. प्लासी की लड़ाई के बाद कूट ने अवध की सीमा पर लॉ का पीछा किया। अगले दस वर्षों में लॉ एक सैनिक साहसी के रूप में कार्य करता रहा। वह लखनऊ और दिल्ली तक बढ़ा और उसने दो बार मुग़ल सम्राट् के विद्रोही पुत्र को बंगाल पर हमला करने में भी सहायता दी। १७६१ में उसने अन्तिम रूप से अंग्रेजों के सामने आत्म समर्पण कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। बताया जाता है कि लगभग उसी समय क्लाइव ने नवाब की ओर से एक दिन में कोई दस पत्र प्राप्त किये। उसने नवाब के प्रत्येक पत्र का उत्तर "उतनी शान्ति और शिष्टाचार के साथ दिया जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी।" उस अवसर पर नवाब ने तनिक संकोच प्रकट किया। यह अंग्रेजों के लिए हितकर सिद्ध हुआ। इस संकोच का कारण अंशतः यह था कि उसी समय मुगल सम्राट् पर (जिसका वह नाममात्र के लिए सेवक था) एक तीव्र आघात पड़ चुका था। जनवरी, १७५७ में अहमद शाह दुर्रानी ने दिल्ली पर लूट मार की थी। नवाब यह निश्चय करने में असमर्थ था कि उत्तरी भारत की ओर से कौन से शत्रु उस पर आक्रमण कर देंगे। अतः वह कुछ समय के लिए अंग्रेजों के साथ मित्रता बनाए रखना चाहता था। इसीलिए वह फ़्रांसीसियों की रक्षा करने का भी इच्छुक न था।

फ़्रांसीसियों के भय से मुक्त होकर क्लाइव ने चैन की एक सांस ली। अब वह स्थानीय नरेशों के साथ अपने सम्बन्धों पर फिर से विचार कर सकता था। यह बात तो सर्वविदित ही थी कि कुछ ही समय बाद नवाब के साथ फिर झगड़ा होना अनिवार्य था। परवर्त्ती घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि सिराजुद्दौला की विशाल सेना अंग्रेजी सैन्य शक्ति के मुकाबले की न थी और यदि क्लाइव खुले आम नवाब के साथ लड़ाई का ऐलान कर देता तो कदाचित् विजय उसी की होती। दुर्भाग्यवश यह बात उस समय न समझी गयी कदाचित् समझी भी न जा सकती थी। अतः अंग्रेजों ने राजनीतिक षड्यन्त्र के अस्त्र से ही नवाब के साथ युद्ध करना पसन्द किया। सिराजुद्दौला के दरबार में विद्रोह के अंकुर पल्लवित हो रहे थे और अमित्र सामन्त सिराजुद्दौला को हटाकर उसके बदले अलीवर्दी खां के बहनोई, मीर जाफर को सिंहासन पर बिठाने के लिए चालें चल रहे थे। उन लोगों ने अपना प्रस्ताव अंग्रेजों के सामने रखा। क्लाइव ने यह अनुभव किया कि "जब तक यह दैत्य राज करता रहेगा तब तक न तो शान्ति रह सकेगी, न सुरक्षा। यह सोचकर उसने एक ऐसा मार्ग अपनाया जिसके लिए उससे उचित कारण पूछा जा सकता था। उसने उस हाकिम के विरुद्ध होने वाले षड्यन्त्र में सहयोग देने का निश्चय किया था जो कानूनी तौर से कम्पनी का मित्र था। इस तरह पहला ही कदम गलत उठाया जाने के कारण बाद के कदम तो स्वयमेव गलत मार्ग पर पड़ते गये। एक धनी सिक्ख महाजन अमीनचन्द या अमीचन्द अंग्रेजों और भावी नवाब के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य कर रहा था। उसने धमकी दी कि यदि नवाब के खजाने में से मिलने वाले धन का एक महत्त्वपूर्ण भाग उसे कमीशन के रूप में नहीं दिया गया तो वह नवाब के सामने उस षड्यन्त्र का उद्घाटन कर देगा। इस घूसखोर की धमकी ने बंगाल कौंसिल को अधिकतम चिन्ताजनक स्थिति में डाल दिया। अब वे अमीनचन्द की कृपा के अधीन थे। कदाचित् सबसे अच्छा मार्ग तो यह होता (ओर्म ने यह सुझाव रखा भी था) कि, बहुत अधिक होने पर भी, अमीनचन्द की कमीशन उसे दे दी जाती और उसे "घृणा और विस्मृति के लोक में", उस धन का उपभोग करने के लिए छोड़ दिया जाता। क्लाइव का विचार इसके विपरीत था। उसने बाद में ऐलान भी किया कि "ऐसे दुष्ट का उद्देश्य विफल करने के लिए छल-कपट और कटनीति का प्रयोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वथा उचित है।" क्लाइव के इस विचार को उस गुप्त समिति का समर्थन भी प्राप्त हो गया जिसे तत्सम्बन्धी विचार-विनिमय करने और अमीनचन्द को चकमा देने के लिए एक योजना तैयार करने का काम सौंपा गया था। इस योजना के अनुसार मीर जाफर के साथ की जाने वाली सन्धि के दो मसौदे तैयार किये गये। जाली मसौदे में अमीनचन्द द्वारा मांगी गयी कमीशन उसे देने का वायदा किया गया था। उसे यही मसौदा दिखाया भी गया। दूसरे मसौदे में, जो वास्तविक था, इस कमीशन का कोई उल्लेख न था। जाली मसौदे पर क्लाइव और गुप्त समिति ने हस्ताक्षर किये। वाट्सन ने उस झगड़े में पड़ना स्वीकार न किया। फलस्वरूप ने झूठे क्लाइव सन्धि-पत्र पर वाट्सन के जाली हस्ताक्षर बनवा लिये।

क्लाइव लगातार अपने इस कृत्य के औचित्य पर बल देता रहा। आधुनिक विचारकों ने तो कभी-कभी परिश्रमपूर्वक इस सम्बन्ध में क्षमा-याचना का-सा भाव भी प्रदर्शित किया है परन्तु वास्तव में यह अक्षम्य ही था। तत्कालीन संकटपूर्ण स्थिति को इस घटना का कारण ठहरा कर आलोचकों का मुख तो अवश्य बन्द किया जा सकता है परन्तु यह कोई संतोषजनक कारण नहीं है। क्लाइव का यह काम तो मानो हारेस वालपोल के इसी कथन का क्रियात्मक रूप था: "मैं समझता हूं, भारत में, हमारे गवर्नरों ने, वहां वालों को अपना अनुशासन सिखाने के बदले उनसे अन्याय और छल कपट ही अधिक सीखा है।"[1] इस सन्धि के अनुसार मीर जाफर ने, नवाब बन जाने के बाद, सिराजुद्दौला द्वारा अंग्रेजों को दिये गये सब अधिकारों की स्वीकृति देने, उनके साथ संहारात्मक और आत्म-रक्षात्मक मित्रता स्थापित करने, फ़्रांसीसियों को बंगाल से निकालने और कलकत्ते में होने वाली अंग्रेजों की हानि पूरी करने के लिए दस लाख पौंड और यूरोपीय बस्तियों को पांच लाख पौंड देने का वचन दिया। एक निजी समझौते द्वारा (जिसकी सूचना अपने देश में कम्पनी को नहीं दी गयी थी) जल और स्थल-सेना तथा कौंसिल के सदस्यों को भी बड़ी-बड़ी रकमें देने का वचन दिया गया था।

ये सब प्रारम्भिक बातें निश्चित हो जाने पर क्लाइव ने सिराजुद्दौला को अपना भुज-बल दिखाया। उसने सिराजुद्दौला के नाम एक पत्र लिखा। इसमें नवाब पर यह दोषारोपण किया गया था कि उसने ९ फरवरी के सन्धि-पत्र की धाराओं का उल्लंघन करके फ़्रान्सीसियों के साथ पत्र-व्यवहार किया है। क्लाइव ने यह भी सुझाव रखा कि इस झगड़े का निर्णय करने का भार नवाब अपनी ही कौंसिल पर छोड़ दें। इस पत्र का कोई उत्तर न मिलने पर वह कोई ३२०० सैनिकों का नेतृत्व करता हुआ, चन्द्रनगर से उत्तर की ओर बढ़कर प्लासी के उस प्रसिद्ध मैदान की ओर चला जो मुर्शिदाबाद से २३ मील दक्षिण में स्थित था। यहां नवाब ने पहले से ही, ५०,००० सिपाहियों के साथ डेरा डाला हुआ था। क्लाइव चार दिन तक प्लासी से कोई पन्द्रह मील इधर, नदी तट पर स्थित कटवा नामक स्थान पर ठहरा रहा। अभी यह अनिश्चित था कि मीर

१. लेटर्स आफ़ हारेस वालपोल, पी० टायेनबी, खंड ६, पृ० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाफर अन्त में कौन से पक्ष का साथ छोड़ना पसन्द करेंगे। इसीलिए क्लाइव अत्यन्त व्यग्र था। एक महान् विजय से एकदम पूर्व आने वाली इस सन्ध्या के अतिरिक्त और कभी भी क्लाइव के मुख पर अनिश्चय के लक्षण दिखाई नहीं दिये। उसने एक युद्ध-कौंसिल की बैठक बुलायी। इसमें स्वयं क्लाइव ने आगे बढ़ने के विरुद्ध ही मत दिया। बारह अफसरों ने क्लाइव का अनुमोदन किया। आयरकूट के नेतृत्व में सात अफसरों ने इस मत का विरोध किया। बहुमत क्लाइव के पक्ष में था परन्तु, बैठक समाप्त हो जाने के बाद, वह लगभग एक घण्टे तक एकान्त में बैठा विचार करता रहा। अन्त में उसने ऐलान किया कि वह, युद्ध-कौंसिल के निर्णय के बावजूद, आगे ही बढ़ेगा। उसने २२ तारीख को नदी पार कर ली और आधी रात के कुछ ही बाद प्लासी पहुंच गया।

युद्ध २३ जून, १७५७ को हुआ। ब्रिटिश सेना के मुकाबले में नवाब की सेना संख्या में तो बहुत अधिक थी लेकिन उसका एक बहुत बड़ा भाग विद्रोही मीर जाफर के नेतृत्व में होने के कारण वास्तव में युद्ध-भूमि से अलग ही था। स्वयं मीरजाफर ने कदाचित् नवाब द्वारा की गयी मान-रक्षा की अन्तिम और करुणापूर्ण प्रार्थना से प्रभावित होकर ही अपने देशवासियों के विरुद्ध अंग्रजों की आशा के अनुरूप उत्साह नहीं दिखाया। उसके इस व्यवहार से क्लाइव को बहुत अधिक चिन्ता हुई। सत्य तो यह है कि मीर जाफर केवल उसी समय क्लाइव के साथ सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ा जब युद्ध का परिणाम सामने आ चुका था। युद्ध के दिन सबेरे देर तक बमबारी हुई और दोपहर बाद एक सैनिक आक्रमण। उल्लेखनीय प्रतिरोध तो नवाब की सेना के कुछ गिने चुने फ्रांसीसी सिपाहियों ने ही किया। यह वास्तव में युद्ध न होकर हुल्लड़ ही अधिक था। क्लाइव की ओर कुल २३ आदमी मरे और ४९ घायल हुए। नवाब की विशाल सेना में से अधिक से अधिक ५९० सिपाही मरे और लगभग इतने ही घायल हुए।

मीर जाफर जानता था कि उसने लड़ाई में उतने उत्साह के साथ भाग नहीं लिया जितनी उससे आशा की जाती थी। इसीलिए वह लड़ाई के बाद अत्यन्त लज्जा और अविश्वास के ही साथ आगे बढ़ा। क्लाइव ने उसे बंगाल के नवाब के रूप में सलामी दी और प्रान्त की राजधानी, मुर्शिदाबाद में, उसे सिंहासन पर बिठा दिया। जब खजाना खोल कर देखा गया तो पता चला कि उसमें अधिक से अधिक १५ लाख की निधि थी। इससे पहले लोगों में यह अफवाह फैली हुई थी कि खजाने में चार करोड़ पौंड हैं। कासिम-बाजार में कम्पनी के एजेन्ट ने २ करोड़ ४० लाख पौंड का अनुमान लगाया था। अंग्रेजों को कुल मिलाकर, २७ लाख ५० हजार पौंड दिये जाने थे। खजाने में पर्याप्त धन न होने के कारण यह निश्चय किया गया कि यह ऋण किश्तों में चुकाया जाए। छले गये अमीनचन्द को बता दिया गया कि उसे कुछ नहीं मिलेगा। अपने समस्त सेवकों से परित्यक्त आश्रयहीन अभागा सिराजुद्दौला गंगा नदी के ऊपर की ओर भाग गया था अतः वह कुछ दिन बाद मीर जाफर की सेना के हाथ आया। मीर जाफर के पुत्र की आज्ञा से उसे मार दिया गया।

मीर जाफर नाममात्र के लिए भले ही प्रधान शासक बना रहा हो, परन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसके राज सिंहासन के पीछे वास्तविक शक्ति तो क्लाइव की ही थी। इस नयी हकूमत की प्रारम्भिक सफलताएं पूर्णतया क्लाइव की अपरिमित शक्ति और योग्यता की ही देन थीं। बंगाल का गवर्नर बन जाने पर क्लाइव ने मीर जाफर की सत्ता के विरुद्ध होने वाले अनेक विद्रोह दबाये। उसने उसे बाहरी शत्रुओं से भी—सम्राट् के सबसे बड़े पुत्र से जो अपने पिता के विरुद्ध ही विद्रोही हो गया था और अवध के नरेश से—बचाया। स्वनिर्मित इस शासन की रक्षा करने के साथ ही साथ क्लाइव ने अपने पद का प्रयोग बंगाल में ग्रेट ब्रिटेन के अवशिष्ट यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी को मार गिराने के लिए भी किया। चिन्सुरा के डच खुले आम कलकत्ते के आकस्मिक अभ्युदय से असंतुष्ट थे। वे अपने प्रतियोगियों को मिलने वाले उस अधिकार से भी क्रुद्ध थे जिसके अनुसार वे हुगली में प्रत्येक छोटे बड़े जहाज की तलाशी ले सकते थे। फलस्वरूप उन्होंने नवाब के साथ पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। नवाब तो पहले ही क्लाइव के प्रभुत्व से परेशान था। बटेविया से आने वाले सात जहाजों का एक बेड़ा गंगा की लहरों पर आकर भयोत्पादक चेष्टाएं करने लगा। यूरोप में दोनों राष्ट्रों के सम्बन्ध शान्तिपूर्ण थे परन्तु क्लाइव ने धृष्टतावश कानून अपने हाथ में ले लिया। कुछ अंग्रेजी जहाजों पर हाथ छोड़कर तो मानो डचों ने उसे मनचाहा बहाना ही दे दिया। क्लाइव ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति डचों के विरुद्ध लगा दी। उनके जहाजी बेड़े पर अधिकार कर लिया और नवम्बर १७५९ में, फोर्ड की सहायता से, उन्हें स्थल-युद्ध में भी हराया। डचों ने पूरी तरह हार मान ली। उन्होंने अपने जलसेना-नायकों के कामों को अस्वीकार किया, अपने को आततायी माना और क्षति-पूर्ति के लिए आवश्यक धन भी दिया। इस दिन के बाद से डचों ने अपना व्यापारिक अस्तित्व तो बनाए रखा परन्तु उन्होंने भारतीय राजनीति में अंग्रेजों का मुकाबला करने के सब प्रयत्न बिलकुल छोड़ दिये।

फरवरी, १७६० में क्लाइव इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुआ। उस समय उसकी आयु तो केवल ३५ वर्ष की थी, परन्तु वह अपनी कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर था। एक अंग्रेज के नाते उसने भारत में एक महान् परिवर्त्तन कर दिखाया था। उसने १७५७ में इतिहासकार ओर्म को लिखा : "तुम्हारा इतिहास जारी रखने के लिए मेरे पास ढेरों सामग्री है। इस सामग्री में लड़ाई, झगड़े, चालबाजी, छल-कपट, षड्यन्त्र, कूटनीति और भी न जाने क्या-क्या है।" क्लाइव का यह आत्माभिमान मिथ्या न था। अपनी स्वभावगत स्पष्टवादिता के कारण उसने यह बात छिपाने का प्रयत्न नहीं किया कि उसकी नीति में कूटनीति और छल का कितना बड़ा हाथ था।

१७५६ और १७६० की वस्तु-स्थिति की परस्पर तुलना करने पर (झूठे आक्षेपों से मुक्त होकर) क्लाइव के कारनामों का महत्त्व सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। १७५६ में साम्राज्य के इस प्रान्त की सबसे सम्पन्न जाति होकर भी, अंग्रेज बंगाल में व्यापारियों का एक दल मात्र ही माने जाते थे। उनके पास एक धनवान बस्ती थी, कलकत्ते के चारों ओर स्थित गांवों के कुछ प्रादेशिक अधिकार थे और देश के ऊपरी भाग में, कासिम बाजार, ढाका, बालासोर, जगडिया और पटना में एजेन्सियां अथवा फैक्ट्रियां थीं। चतुर प्रेक्षकों (जैसे सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांसीसी चिकित्सक, बर्नियर और प्लासी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की लड़ाई से कोई दस साल पहले, कर्नल मिल) ने यह समझा और लिख भी दिया था कि सैनिक शिक्षा में निपुण यूरोपीय सेनाओं के सामने भारतीय सेनाएं असमर्थ ही सिद्ध होंगी। फिर भी अंग्रेजों ने कभी स्वप्न में भी नवाब की सत्ता को चुनौती देने का विचार नहीं किया था। समय-समय पर विरोध प्रदर्शित करते हुए भी वे सदा ही अली वर्दी खां का कठोर और दुःखदायी नियन्त्रण स्वीकार ही करते रहे। नवाब के साथ मित्र-भाव बनाए रखना अनिवार्य भी था। बात यह थी कि देश के ऊपरी भाग में स्थित कार-खाने किलेबन्द अथवा सुरक्षित न थे और नवाबों का यह स्वभाव ही बन गया था कि वे तनिक भी झगड़े होते ही यह कारखाने घेर लेते थे और शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण कर लिया जाने तक उनका सब व्यापार रोक दिया करते थे। १७६० तक हालत बिलकुल बदल चुकी थी। बंगाल में अंग्रेजों की सत्ता सर्वोच्च थी। फ़्रांसीसी और डच दुर्बल और महत्त्वहीन हो गये थे। उनकी सैनिक और राजनीतिक शक्ति समाप्तप्राय थी। बंगाल का नाममात्र का नवाब तो कम्पनी के ही एक आश्रित प्राणी से अधिक कुछ न था। कलकत्ते से, अंग्रेजों का प्रभाव, बंगाल और बिहार के रास्ते, अवध की दक्षिणी सीमा तक फैला। इस धन-सम्पन्न प्रदेश पर भी अधिकार हो जाने से मद्रास में अंग्रेजों की स्थिति कुछ से कुछ हो गयी। यह महान परिवर्तन लगभग पूर्णतः क्लाइव का ही काम था। वह सदा ही प्रेरक शक्ति बना रहा। तत्कालीन सामग्री का अध्ययन करने से क्लाइव की अपरिमित शक्ति, निपुणतापूर्ण आकांक्षा और अपने साथियों पर उसकी निर्विरोध प्रभावशालिता पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता है।

क्लाइव के कारनामों की बौद्धिक विशेषता की उचित सराहना करने के साथ ही साथ उसकी कुछ नैतिक सीमाओं का उल्लेख भी अनिवार्य है। इन सीमाओं ने उनकी सफलताओं की स्थिरता और उनके वास्तविक मूल्य पर गहरा प्रभाव डाला। भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखक अठारहवीं शताब्दी के साम्राज्य निर्माताओं की कटु आलोचना करके कोई भूल नहीं करते परन्तु यदि एक ओर जेम्स मिल और उसके अनुयायी अपने निर्णयों में आवश्यकता से अधिक कठोर थे तो वे परवर्त्ती लेखकों ने कदाचित् आवश्यकता से अधिक नरमी से काम लिया। अपने कुछ निन्दनीय कामों से क्लाइव ने अपने पूरे काम की उपयोगिता और ख्याति दोनों को ही धुंधला कर दिया। डचूक आफ़ मार्लबरी की भांति वह भी धन का अत्यधिक प्रेमी था। उसे धन बटोरने के अनोखे अवसर भी मिले। मार्लबरी की ही तरह, उसने बेईमानी से धन नहीं कमाया। कदाचित् उसका कोई भी काम उस युग के अत्यन्त पतित आदर्शों से भिन्न भी न था। यह सब होने पर भी मेकाले के इस निर्णय का विरोध नहीं किया जा सकता कि "क्लाइव का काम यदि अपने आप में बुरा न था तो बुरी मिसाल कायम करने वाला अवश्य था।" वास्तविक तथ्यों से वादविवाद की गुंजाइश ही नहीं। मीर जाफर के साथ किये जाने वाले एक निजी समझौते द्वारा प्लासी की लड़ाई से पहले ही यह निश्चय कर लिया गया था कि ४००,००० पौंड जल और स्थल सेना को दिये जाएंगे और १२०,००० पौंड (जिन्हें बाद में बढ़ाकर १५०,००० पौंड कर दिया गया) ६ आदमियों की एक विशेष समिति को। बाद में इसके अतिरिक्त भी उपहार प्राप्त किये गये। क्लाइव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को कुल मिलाकर २३४,००० पौंड मिले। दूसरे सदस्यों के हिस्से में ५०,००० से ८०,००० पौंड तक आये जैसा कि बाद में पता चला। सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि मीर जाफर बड़ी बड़ी रकमें देकर यह समझ रहा था कि वह इस प्रकार अपने को कम्पनी के ऋण से मुक्त कर रहा है। क्लाइव ने धन और उपहारों की स्वीकृति का समर्थन किया। उसका कथन था कि उस समय उन उपहारों आदि पर पाबन्दी लगाने वाला कम्पनी का कोई नियम न था और फिर वे उपहार बलपूर्वक तो लिये नहीं गये थे। एक राजकुमार द्वारा पूरी स्वाधीनतापूर्वक दिये जाने के कारण तो वे किसी प्रकार भी अमान्य न थे।[1] कानूनी तौर पर तो यह बात तर्क-संगत ही थी परन्तु सबसे पहले तो क्लाइव को यह समझना चाहिए था कि मीर जाफर अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र ही न था। सर एडवर्ड कोलबुक के शब्दों में, ये रक वास्तव में किसी भी तरह उपहार नहीं मानी जा सकतीं। "यह तो वह धन था जो बिल्कुल झूठ और छल पर आश्रित एक सौदे द्वारा एक प्रान्त की बिक्री के बदले लिया गया था।"[2] कोलबुक का यह निर्णय कदाचित् आवश्यकता से कुछ अधिक कठोर होकर भी असत्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि सक्रिय राजनीतिज्ञ के नाते क्लाइव को यह समझ लेना चाहिए था कि वह बहुत ही अनुचित मिसाल कायम कर रहा है। यह तो सर्वविदित ही है कि उसके चले जाने के बाद, पांच साल के भीतर ही, बंगाल-कौंसिल ने तीन अन्य विद्रोहों का आयोजन किया। क्लाइव के पास यदि अपने उस काम को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कोई तर्क न था तो कम से कम उसे हल्का करने के सबल कारण तो थे ही। इन तीन विद्रोहों के समय तो बंगाल कौंसिल के पास ऐसा भी कोई कारण न था। कौंसिल ने तीनों बार जी खोल कर नवाब के धन से अपनी मुट्ठी गरम की।

बर्गोयन (Burgoyne) ने हाउस ऑफ कामन्स के सामने कहा था: "यह असंभव है कि कोई भी नागरिक या सैनिक कार्यकर्त्ता, किसी विदेशी शहज़ादे या हकूमत के साथ सौदा करता हुआ, वैधानिक रीति से अपने लिए कुछ सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रबन्ध कर ले या निजी तौर पर कुछ सम्पत्ति अर्जित कर ले।" यह कथन निर्विवाद ही है। स्वयं क्लाइव को भी इस कटु सत्य का आभास था। मुर्शिदाबाद में प्रवेश करने के चार सप्ताह बाद 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' की गुप्त समिति के नाम लिखा गया क्लाइव का पत्र इसका प्रमाण है। इस पत्र में उसने कम्पनी और कलकत्तावासियों को मिलने वाली उन सब रकमों का पूरा ब्यौरा लिखा जिनका वचन, मीर जाफर ने, सार्वजनिक अथवा खुले सन्धि-पत्र में, दिया था। क्लाइव ने इसी पत्र में खजाने में धन की कमी का भी उल्लेख किया परन्तु उस गुप्त अथवा निजी समझौते की ओर तनिक भी संकेत न किया जिसके अनुसार सेनाओं और विशेष समिति के सदस्यों को बड़ी-बड़ी रकमें मिलने का आश्वासन दिलाया गया था। बाद में उसने इस सत्य की ओर अवश्य

१. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ३, पृ० १४८।

२. राइज़ ऑफ़ दि ब्रिटिश पॉवर इन दि ईस्ट, एम० एलिफ़िन्स्टन. संपादक सर ई० कोलबुक, पृ० ३१५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संकेत किया कि नवाब की उदार-हृदयता के फलस्वरूप ही उसके लिए सौभाग्य, सहज प्राप्य हो गया है। डायरेक्टरों ने जिस समय यह लिखा था कि "हम उन रकमों के बारे में कुछ नहीं जानना चाहते जो नवाब के विशेष व्यक्तियों को स्वतन्त्र उपहार के रूप में दी हैं।"[1] उस समय उन्हें यह पता न था कि वे रकमें कितनी बड़ी हैं। क्लाइव के इस काम का समर्थन करने के लिए प्रायः डायरेक्टरों की कंजूसी की ओर संकेत किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि डायरेक्टर उस समय तक भारत में काम करने वाले कम्पनी के सेवकों को बहुत कम वेतन देने का अनुरोध करते थे। हमें यह न भूलना चाहिए कि वेतन काफी कम होने पर भी, उसे न्यायोचित उपायों (जैसे निजी व्यापार द्वारा) बढ़ाने की सुविधा दे दी गयी थी। स्वयं क्लाइव ही, २८ वर्ष की आयु में, केवल ९ साल नौकरी करने के बाद जब १७५३ में पहली बार इंग्लैण्ड लौटा तो वह अपने साथ बहुत धन लाया था। इसी धन से उसने अपने पिता का ऋण चुकाया, फैशनेबुल आदमी बनकर बहुत तड़क-भड़क का जीवन बिताया और अन्धाधुन्ध धन लुटाकर पार्लियामेंट का चुनाव जीता था।

अन्तिम बात यह थी कि वे उपहार स्वीकार करके, क्लाइव ने, कदाचित् अनजाने में ही, अपने बंगाल समझौते की स्थिरता को खतरे में डाल दिया था। इस प्रकार तो उसने अपने ही इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया कि कम्पनी को हानि पहुंचाकर कोई उपहार स्वीकार नहीं किया जाना चहिए। जान पड़ता है कि प्लासी की लड़ाई से पहले अंग्रेज वास्तव में यह समझते थे कि मुर्शिदाबाद के खजाने में ४ करोड़ पौंड धन है। इस विश्वास के आधार पर तो कदाचित् उपहार के रूप में प्राप्त रकमें बहुत अधिक न समझी गयी होंगी। पहले बताया जा चुका है कि खजाने में से वास्तव में १५ लाख पौंड ही निकले और सार्वजनिक तथा गुप्त सन्धि-पत्रों के अनुसार अंग्रेजों की कुल मांग २७ लाख ५० हजार पौंड से भी अधिक थी। ऐसी दशा में सही रास्ता तो यह था कि अंग्रेज उपहार के रूप में अपना यह अधिकार सहर्ष त्याग देते। यह मार्ग न अपनाकर अंग्रेजों ने मीर जाफर की नयी सरकार पर ऋण का गुरु भार डाल दिया। इस तरह, पहले से ही अनेक बातों में पिछड़ी हुई, इस सरकार का आरम्भ ही अत्यन्त कठिन और भयंकर स्थिति में हुआ। क्लाइव की यह विस्मयपूर्ण उक्ति प्रसिद्ध है कि जब उसे मुर्शिदाबाद के खजाने में भरे सोने चांदी और जवाहरात का ध्यान आ जाता तो उसे अपने संयम पर आश्चर्य ही होता था। १७७३ में यह वाक्य कहते समय कदाचित् उसे यह याद न आया (अथवा जानबूझकर ही उसने इस सत्य की उपेक्षा की थी) कि खजाने में अंग्रेजों के ऋण से मुक्त होने के लिए पर्याप्त धन न होने के कारण ही उस समय क्लाइव को कृपा-पूर्वक किश्तों में उस ऋण का भुगतान कराने की व्यवस्था करनी पड़ी थी।

क्लाइव को अभी कुछ और भी मिलना बाकी था। मीर जाफर ने इसके लिए सम्राट् से 'उमरा' की पदवी प्राप्त की। जब किसी स्थानीय प्रजा-जन को यह पदवी

१. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ३, पृ० १४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलती थी तो उसे, अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए कोई 'जागीर' (या कुछ माल-गुजारी) दे दी जाया करती थी। क्लाइव की स्थिति भिन्न थी। उसकी पदवी आनरेरी ही थी। अतः क्लाइव ने, स्पष्टतः यह समझ कर कि ढाई लाख की रकम मीर जाफर के लिए की गयी उसकी सेवाओं का पर्याप्त पुरस्कार नहीं है, अपनी ही ओर से मीर जाफर के अर्थ मंत्री को इस बात का लिखित रूप से संकेत कर दिया कि उसे 'जागीर' के बिना ही 'उमरा' बनाया गया है।[1] उसका इशारा समझ लिया गया और कुछ ही समय पश्चात् मीर जाफर ने, कुछ तो बंगाल में से सम्राट् के विरोधी पुत्र को निकालने के कारण और कुछ (जैसा कि उस समय बताया गया) डचों के साथ किये जाने वाले षड्यन्त्रों के लिए दंडित होने के भय से, क्लाइव को ३०,००० पौंड की बहुत बड़ी रकम हर साल देने का वचन दिया। वास्तव में यह वह रकम थी जो कम्पनी कलकत्ते के दक्षिण में स्थित भूमि के बदले किराये के रूप में नवाब को देती थी। टेकनिकल तौर पर तो इसमें कोई गैरकानूनी बात नहीं थी परन्तु इस तरह क्लाइव ने सदाशयता के जिस अभाव का परिचय दिया वह वास्तव में विस्मयजनक था। हमें यह न भूलना चाहिए कि उसने जिस व्यक्ति से यह नयी मांग की थी (उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अनुसार यह निवेदन न होकर 'मांग' ही थी) उससे, वह पहले ही २३४,००० पौंड वसूल कर चुका था। इस 'जागीर' की स्वीकृति ने तो कम्पनी के सेवक को कम्पनी का जमींदार भी बना दिया। डायरेक्टरों ने भी बाद में यही कहा था कि यह स्थिति गैरकानूनी न होकर भी अनुचित अवश्य थी। यह कथन उचित ही है कि "क्लाइव की सेवाएं चाहे कितनी महान् क्यों न हों परन्तु वास्तव में वे उन्हीं लोगों द्वारा की गयी थीं जिन्होंने क्लाइव को नियुक्त किया। इसलिए यदि नवाब किराया छोड़ सकने में समर्थ था तो उसे यह त्याग कम्पनी के लिए ही करना चाहिए था।"[2] एक बात अवश्य है। इस मामले में कोई चोरी नहीं रखी गयी थी। कम्पनी अधिक सहानुभूति की अधिकारिणी भी नहीं रही क्योंकि उसी समय "अपने ही सेवक की किरायेदारी" का विरोध करने के बजाय उन्होंने कई साल तक तो भुगतान होने दिया और इसके बाद केवल व्यक्तिगत आधार पर--("लार्ड क्लाइव के साथ सब मित्र-भाव समाप्त हो जाने पर") किराया देना बन्द कर दिया। इस प्रकार तो मीर जाफर की स्थिति चिन्ताजनक बनाने का कुछ भार कम्पनी पर भी आ पड़ता है। हां, यह बात अवश्य है कि क्लाइव नवाब के अर्थ-संकट से भली भांति परिचित था, कम्पनी को उसका भान न था। १७७२ की पार्लियामेण्टरी जांच पड़ताल में क्लाइव से पूछा गया कि क्या वह 'जागीर' मिलने के समय यह जानता था कि नवाब की सेनाएं विद्रोह कर रही हैं और वेतन के लिए चिल्ला रही हैं? क्लाइव ने उत्तर दिया "हां"। इतना ही नहीं, उसने तो अपने कृत्य के औचित्य पर बल देते हुए कहा था कि दिये हुए वचनों का चौथाई भाग भी सेना को न देना उस देश की प्रथा है। फिर उससे पूछा गया, "तुम्हें याद है कि उसे 'जागीर' मिलने से पहले संधि-पत्र के अनुसार कम्पनी का भुगतान करने के लिए नवाब के जवाहरात, माल

१. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ३, पृ० १५४।
२. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिया, लेखक एच० बेवेरिज़, खंड१, पृ०६५९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

असबाब और फर्नीचर को सार्वजनिक रूप से बेचा गया था ?" विवश होकर उसने इस प्रश्न का उत्तर भी 'हां' कह कर दिया था।[1]

इस प्रकार मीर जाफर के शासन के शुरू में ही उसके साधनों को पंगु बना देने के कारण क्लाइव को बंगाल के कुशासन के आंशिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता । इस बात को भी यथोचित स्थान दिया जाना चाहिए कि उस समय धन सम्बन्धी मामलों में सार्वजनिक नैतिक धरातल बहुत ही नीचा था। अठारहवीं शताब्दी में तो अपने ओहदों से बड़े-बड़े निजी स्वार्थों की सिद्धि करना अपवाद-मात्र न रहकर एक नियम ही बन गया था। पुरस्कार अथवा उपहार के रूप में धन प्राप्त करने की प्रथा सैनिक जीवन के साथ ही साथ नागरिक जीवन में भी घर कर चुकी थी । १७५६ में लुटेरों के सरदार अंगरिया से घेरिया छीना जाने के अवसर पर अंग्रेजी सेनाओं ने १२०,००० पौंड आपस में ही बांट लिये थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए उनमें से एक पेंस भी न रखा। लेकी (Lecky) ने इस सत्य का उल्लेख किया है कि ड्यूक आफ मार्लबारो, राज्य से, कम से कम ६४,००० पौंड सालाना वसूल कर लिया करता था। सच तो यह है कि उस समय सब ही जगह, विशेषकर भारत में सब वर्गों में "लूट की भावना" और "बहुत ही जल्दी अधिक से अधिक धन इकट्ठा कर लेने की हविस" अपने पूरे जोरों पर थी। क्लाइव के चरित लेखक सर जान मेलकाल्म (Sir John Malcolm) ने भी यह स्वीकार किया है। आधुनिक दृष्टिकोण से तो उस समय का सारा वातावरण ही बहुत गन्दा था । पुरानी परिपाटी के इतिहासकारों ने एक परवर्ती युग के आदर्शों के अनुसार क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स जैसे व्यक्तियों की अत्यन्त कठोरतापूर्वक परख की है। उनके लिए तो उचित ही था परन्तु यह मान लेना तो उससे भी भयंकर भूल है कि इन लोगों के समस्त धन सम्बन्धी सौदे प्रशंसनीय ही थे। ऐसा मानने का अर्थ तो उन लोगों के साथ अन्याय ही करना है जो अधिक ऊंचे उठने में समर्थ हुए । १७८५ के बाद, अंग्रेज राजनीतिज्ञों में से चुनकर नियुक्त किये जाने वाले गवर्नर जनरल इन मामलों में कम्पनी के योग्यतम सेवकों से भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इतिहासकार थार्नटन का यह कथन उचित ही है कि उस समय के भारतीय अफसरों के विचार और कार्य लार्ड वेलजली के चरित्र से इतने भिन्न थे कि सहसा इस अन्तर पर विश्वास ही न हो पाता। लार्ड वेलजली ने कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के अनुरोध के बिना, १००,००० पौंड की वह रकम स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, जो उसे श्री रंगपट्टम की लूट में से भेंट की गयी थी।

---

१. रिपोर्ट्स आफ़ दि हाउस आफ़ कामन्स, खंड ३, पृ० १५५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १४

बंगाल में कुशासन : सुधार और क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर बनना

सर आल्फ्रेड ल्याल के शब्दों में, क्लाइव के यूरोप चले जाने के बाद का समय "आंग्ल-भारतीय इतिहास का वह एकमात्र काल था जिसमें अंग्रेजों के नाम पर अधिकतम बट्टा लगा।" यह सत्य आश्चर्य से अधिक शोकजनक ही रहा। व्यापार-व्यवसाय करने वाले, अंग्रेजों के एक छोटे से दल ने, कुछ ही वर्षों में एक ही नगर और देश के ऊपरी भाग के कुछ ठिकानों के नियन्त्रण मात्र से ऊपर उठ कर, अपने को एक पूरे विशाल प्रान्त में वास्तविक (यद्यपि अभी यह वास्तविकता स्वीकार न की गयी थी) सत्ता-धारी बना लिया था। उन्हीं की तलवार की शक्ति ने एक ऐसे स्थानीय नरेश को सहायता पहुंचायी जिसका शासन पूरे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्वीकार किया जाता था। यह नरेश, जो वास्तव में उनका ही प्रतिनिधि, उन्हीं के हाथ की कठपुतली मात्र था, स्वयमेव, कहने को मुगल सम्राट् का नुमाइन्दा ही था। अधिकारपूर्ण सत्ता द्वारा वास्तविक सत्ता का परित्याग उस समय पूरे भारत में एक राजनीतिक परिपाटी बन चुका था। परिपाटी महत्तम हिन्दू राज्य में भी देखी जा सकती थी और मुगल-साम्राज्य में भी। मरहठा संगठन की वास्तविक सत्ता पहले ही सतारा के राज-सिंहासन रूपी बन्दीगृह में बैठे, शिवाजी के उत्तराधिकारी के हाथ से निकल कर पेशवा के हाथ में जा चुकी थी। पेशवा के हाथ से भी निकल कर उसे शीघ्र ही उसके ब्राह्मण मन्त्री और उसके बाद संगठित सेनाओं के वंशगत सेनापतियों के हाथ में पहुंचना था। ये राजनीतिक पाखंड स्वाभाविक रूप से ब्रिटिश नीति को पतन की ओर ले जा रहे थे। इसीलिए इन सब बातों को यथोचित स्थान देना उचित ही है। यदि अंग्रेज बंगाल में स्थानीय राजनीतिक मांगों को ज्यों का त्यों मान लेते तो इसका अर्थ यह होता कि शासन और युद्ध-सम्बन्धी पूरा भार उनके कन्धों पर आ पड़ता। दूसरी ओर विजय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला धन असहाय और महत्त्वहीन स्थानीय नरेशों के खजानों में जमा कर दिया जाता। अंग्रेजों ने तो यथासम्भव सदा ही स्थानीय राजनीतिक मांगों का समर्थन किया और इस बात का भी सदा ध्यान रखा कि उन्हें अपनी सेवाओं का उचित पुरस्कार बराबर मिलता रहे। अन्त में जब स्थानीय राज्य सीमाओं में अराजकता फैल जाने के कारण उनके सामने एक भयंकर स्थिति आ उपस्थित हुई तो उन्होंने एक राजनीतिक माया जाल का समर्थन करके ही उस समस्या को सुलझाना उचित समझा, कदाचित् उस समय अधिक उपयुक्त तो यह था कि वे खुले आम यह मान लेते कि उस जीर्ण-शीर्ण राजनीतिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तंतु-जाल को तुरन्त तहस-नहस कर देने में ही स्वयं उनका और मानवीय शासन के आदर्श का हित निहित है ।

क्लाइव के विदा हो जाने पर, नये गवर्नर वान्सिटार्ट (Vansittart) और कौंसिल को कुछ विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कम्पनी का खजाना खाली हो चुका था । नवाब ने उनकी सेना को दी जाने वाली आर्थिक सहायता का भुगतान नहीं किया था। इन सबसे बुरी बात यह थी कि अपने देश से भी कम्पनी को कोई धन नहीं मिला था। इसका कारण यह था कि डायरेक्टर समझ रहे थे कि बंगाल में बहुत अधिक धन कमाया जा रहा है। वे लोग तो यह भी आशा लगाये बैठे थे कि बंगाल की प्रेसीडेंसी बम्बई और मद्रास को भी रुपया भेज सकेगी। डायरेक्टरों ने १७५८ में लिखा : "यह सोचकर अधिकतम आश्चर्य होता है कि परिश्रमी वासियों से बसी हुई और इतना अधिक व्यापार करने वाली बस्ती कम्पनी के लिए इतना कम मुनाफा कमाए। हमारे कार्यकर्त्ताओं के सब वर्गों के विलासमय, महंगे और आलस्यपूर्ण जीवन के अतिरिक्त सुगमता से इसका और कोई कारण नहीं खोजा जा सकता ।"[1]

आन्तरिक उलझनों के साथ विदेशी कठिनाइयां भी थीं। मीर जाफर के नाम मात्र के स्वामी और कम्पनी के कहने भर के अधिपति, नये मुगल सम्राट् शाह आलम ने बंगाल पर आक्रमण कर दिया । एक अंग्रेजी सेना ने उसे हरा दिया परन्तु उसने विजेताओं के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये। उसी समय बंगाल की कौंसिल ने, हालवेल के कहने पर, मीर जाफर को अत्यधिक कमजोर जानकर उसे सिंहासन से उतार कर उसका स्थान उसके दामाद, मीर कासिम, को दे दिया। सत्य की रक्षा के लिए यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कौंसिल के अनेक सदस्यों ने पूरा जोर लगाकर "एक ऐसे आदमी को सिंहासन से उतारने के निर्णय का विरोध किया, जिसका समर्थन करने के लिए वे दिव्य तथा मानवीय, दोनों प्रकार के गम्भीरतम बन्धनों द्वारा प्रणबद्ध थे।" इतना ही नहीं उन्होंने तो इसे "हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर लगने वाला अमिट धब्बा"[2] बताकर इस निर्णय की निन्दा भी की। वान्सिटार्ट और हालवेल यह आशा कर रहे थे कि वे सम्राट् पर प्राप्त होने वाली आकस्मिक विजय से मिलने वाली शक्ति दूसरी क्रान्ति का संगठन करने में लगाएंगे। किसी और ढंगसे इस सम्पूर्ण स्थिति पर इससे अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता। उसी समय पराजित और अंग्रेजों के बन्दी सम्राट् ने पटना के अंग्रेजी कारखाने में बनाये गये राज सिंहासन पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि, मीर कासिम, को बिठाकर उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा का वायसराय नियुक्त कर दिया। अंग्रेजों की शक्ति मीर कासिम से अधिक थी और मीर कासिम की सम्राट् से। सम्राट् तो उस समय बेघरबार एक शरणार्थी मात्र था। फिर भी कहने को तो सम्राट् की ही शक्ति सबसे अधिक थी, मीर जाफर की उससे कम और अंग्रेजों की उससे भी कम ।

१. कलकत्ता भेजा जाने वाला पत्र, ३ मार्च, १७५८ ।
२. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ३, पृष्ठ २५२, २५४ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मीर कासिम को दी गयी सहायता के बदले अंग्रेजों ने उससे बर्दवान, मिदनापुर और चिटागांग के जिले ले लिये। इस प्रकार उन्हें कलकत्ते के पश्चिमोत्तर, पश्चिम और पूर्व में अत्यन्त मूल्यवान प्रदेश प्राप्त हो गये। कौंसिल ने भी अपने लिए २००,००० पौंड की रकम स्वीकार करके क्लाइव के ही दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण का अनुकरण किया। प्रसंगवश कम्पनी के सेवकों के लोभ पर प्रकाश डालने के लिए एक इसी तथ्य का उल्लेख पर्याप्त होगा कि कम्पनी के गवर्नर वान्सिटर्ट ने (जिसका चरित्र तत्कालीन नागरिक सेवकों की तुलना में कुछ ऊंचा ही था) ५०,००० पौंड वसूल किये यद्यपि उसे कम्पनी से प्रति वर्ष १८,००० पौंड भत्ते के रूप में मिलते थे और वह इसके अतिरिक्त अपना निजी व्यापार भी करता था।

मीर कासिम पर्याप्त शासकीय योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति था। अनेक बातों में उसने अपने प्रान्त की दशा में सुधार भी किया परन्तु शीघ्र ही कलकत्ते में अंग्रेजों के साथ उसका टकराव हो गया। १७१७ के बाद से कम्पनी को, बिना चुंगी दिये ही, अपना माल बंगाल से बाहर भेजने की अनुमति प्राप्त थी। १७५६ के बाद कम्पनी के सेवक इसी प्रान्त में किये जाने वाले अपने उस निजी व्यापार के लिए भी इसी सुविधा की गैरकानूनी मांग करने लगे जिसमें वे नवाब की प्रजा के साथ प्रतियोगिता करते थे। इस प्रकार जिस समय कम्पनी अभागे नरेश से, उसके राज्य की रक्षा करने वाली सेनाओं का पालन करने के लिए, बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठ रही थी, उसी समय उसके सेवक एक गैरकानूनी एकाधिकार की मांग करके नवाब की राजकीय आय कम कर रहे थे और उसकी प्रजा को भी निर्धन बना रहे थे। प्रान्त के मूल निवासियों के साथ होने वाले अन्याय का यह एक अतर्क्य प्रमाण है। बंगाल के बाद के गवर्नर, वेरेल्स्ट (Verelst) ने स्वीकार किया था कि "चुंगी किये बिना ही ऐसा व्यापार किया जा रहा है जिसके कारण असंख्य अत्याचार हो रहे हैं।" युवक हेस्टिंग्स ने भी अपने देशवासियों को सूचित किया था कि "वे अपने आपको उस देश के स्वामी और अत्याचारी बनाते जा रहे हैं।" इस इतिहास में उस संघर्ष का पूरा ब्यौरा देना असम्भव है। यही कहना पर्याप्त होगा कि मीर जाफर ने धीरे-धीरे यह समझ लिया कि उसे उस बंगाल कौंसिल से न तो न्याय ही प्राप्त हो सकता है, न अपनी बात कहने का अवसर ही, जिसने पूर्वीय सर्वोच्च अधिकारी के प्रति अपने व्यवहार में (मेकाले के शब्दों में) "सभ्यता की दयाविहीन शक्ति" प्रदर्शित की। अन्त में नवाब के स्वभाव की समस्त उग्रता और बर्बरता उद्दीप्त हो उठी। उसने कम्पनी के सेवकों को पकड़ लिया। वीरतापूर्वक किये गये दो मुकाबलों में उसे हारना अवश्य पड़ा परन्तु उसने २०० कैदियों को मौत के घाट उतार ही दिया। इस अपमानजनक घटना में केवल दो अंग्रेजों, वान्सिटर्ट और हेस्टिंग्स, ने प्रशंसनीय काम किया। उन्होंने कौंसिल में अपने साथियों को भी रोका और उस समय तक नवाब का भी साथ दिया जब तक कि उसके हिंसा और छलपूर्ण कार्यों के कारण उसके साथ सहयोग करना असम्भव ही न हो गया। हेस्टिंग्स का व्यवहार तो विशेष रूप से प्रशंसनीय है क्योंकि उसका पद अधिक ऊंचा नहीं था। जान पड़ता है कि वह अवसर पाकर भी अनुचित ढंग से धन कमाने की बलवती भावनाओं को दबाने में पूर्णतः सफल रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कदाचित् बंगाल में वही ऐसा अंग्रेज था जो सर्वथा निष्कलंक मुख और निर्मल यश लेकर अपना कार्य सम्पन्न कर सका था।

जुलाई १७६३ में मीर कासिम को उतार कर मीर जाफर को फिर सिंहासन पर बिठा दिया गया। उसे विवश होकर अंग्रेजों को भीतरी व्यापार का विशेषाधिकार देना पड़ा और उन्हीं की सहायता से सिंहासन प्राप्त करने वाले मीर कासिम के हाथों होने वाली कम्पनी की क्षति भी पूरी करनी पड़ी। मीर कासिम अवध की सीमाओं से परे भाग गया। वैसे तो उस प्रदेश के नरेशों को नवाब वज़ीर अथवा मुगल-साम्राज्य के सर्व-प्रथम मन्त्री की पदवी प्राप्त थी परन्तु वे बहुत समय से, क्रियात्मक रूप से, स्वतन्त्र ही थे और प्रायः अपने अधिपति का विरोध भी करते रहते थे। तत्कालीन नवाब वजीर शुजाउद्दौला, तो उस समय सम्राट् शाह आलम को सहयोग ही दे रहा था। उन दोनों की संयुक्त सेनाओं पर ही मेजर मुनरो ने (जिसने कुछ ही समय पूर्व अत्यन्त कड़े उपायों द्वारा कम्पनी की सेना में होने वाला पहला सिपाही विद्रोह शान्त किया था) १७६४ में बक्सर की लड़ाई में एक महान् विजय प्राप्त की।

सर जेम्स स्टीफेन की यह धारणा उचित ही है कि प्लासी की अपेक्षा बक्सर को भारत में अंग्रेजी प्रभुता की जन्मभूमि मानना कहीं अधिक उपयुक्त है। बक्सर की युद्धभूमि में दोनों पक्षों ने अत्यन्त वीरता के साथ युद्ध किया। मीर कासिम की सेनाओं ने डटकर सामना किया। अंग्रेजी पक्ष के ८४७ व्यक्ति मरे अथवा घायल हुए परन्तु दूसरी ओर २,००० व्यक्तियों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ायी। प्लासी की भांति, इस बार केवल बंगाल के नवाब के साथ ही युद्ध था, इस अवसर पर तो पूरे भारत के सम्राट् और उसके तथाकथित प्रधान मन्त्री की पराजय हुई। सम्राट् ने तो तुरन्त आत्म-समर्पण कर दिया परन्तु नवाब वजीर ने उस समय तक अंग्रेजी सेनाओं के साथ समझौता करना स्वीकार न किया जब तक अंग्रेजी सेनाएं लखनऊ और इलाहाबाद में न घुस आयीं और पूरा अवध उनकी कृपा के अधीन न हो गया।

उधर फरवरी, १७६५ में, बंगाल के नाममात्र के नवाब मीर जाफर की मृत्यु हो गयी। बंगाल कौंसिल ने उसके सिंहासन पर, उसके पोते के बदले, दूसरे बेटे को ही बिठाना पसन्द किया। इस प्रकार उन्होंने अवसर से लाभ उठाकर देश पर अपना प्रभुत्व अधिक दृढ़ किया क्योंकि उस समय के बाद से तो शासन का वास्तविक अधिकार एक डिप्टी नवाब (मुहम्मद रजा खां) के हाथ में ही रहना था। डिप्टी नवाब की नियुक्ति कौंसिल के परामर्श से ही होनी थी और उसे उसकी अनुमति के बिना अलग भी नहीं किया जा सकता था। 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' बार-बार अपने सेवकों द्वारा की जाने वाली निजी-व्यापार-अधिकार की मांग की निन्दा कर चुके थे। उन्होंने उप-हार आदि लेने पर भी कड़े से कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये थे। यह सब होने पर भी बंगाल कौंसिल ने नये हाकिम को इस बात के लिए विवश किया कि वह उनके व्यापार सम्बन्धी अधिकारों में कोई परिवर्त्तन न करे और गवर्नर और उसके साथियों को १३९,३५७ पौंड उपहार में दे। भ्रष्टाचार अपना काम कर चुका था और सम्पूर्ण बस्ती का नैतिक ढांचा खील-खील हो गया था। वेरेल्स्ट (Verelst) ने कहा है: "सब ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उच्चाधिकारियों की उपेक्षा की जा रही थी·····आज्ञा-पालन और व्यक्तिगत स्वार्थों का परस्पर टकराव होने पर सार्वजनिक आदेशों का सर्वथा तिरस्कार कर दिया जाता था।" क्लाइव के, पांच साल इंग्लैण्ड में रहने के बाद, दूसरी बार गवर्नर बनकर भारत आने के समय घटना-स्थिति यह थी : क्लाइव को आयरलैण्ड की कुलीनता प्राप्त हो चुकी थी परन्तु वह स्वयं इस पुरस्कार को पर्याप्त न मानता था। वह पार्लियामेंट का सदस्य बना, उसने अनेक गन्दे इलाकों में बड़ी-बड़ी अंग्रेजी भू-सम्पत्ति और कई गन्दे निर्वाचन-क्षेत्र खरीद लिये और इस तरह वह शीघ्र ही कामन्स में एक छोटे से दल का नेता बन गया। वह इण्डिया हाउस की राजनीति में भी कूदा। यहां उसे पर्याप्त विरोध का सामना करना पड़ा। कदाचित् इस विरोध का कारण उसका वह पत्र था जो उसने जनवरी, १७५९ में पिट के नाम लिखा था और जिसमें उसने यह सम्मति दी थी कि राज-छत्र को ईस्ट इण्डिया की प्रादेशिक सम्पत्तियां अपने अधिकार में ले लेनी चाहिएं। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स में उसके विरोधी दल का बहुमत हो जाने पर जिसका नेता, कम्पनी का एक डायरेक्टर, सुलीवन (Sulivan) था जो पहले क्लाइव का मित्र था परन्तु उस समय उसका तीव्र विरोधी बन गया था। कोर्ट ने कलकत्ते के अधिकारियों को यह आज्ञा दी कि वे क्लाइव को 'जागीर' का किराया देना बन्द कर दें। इस पर क्लाइव ने उनके विरुद्ध मुकदमा दायर कर दिया।

फरवरी, १७६४ में बंगाल की शोचनीय घटनाओं के समाचार इंग्लैण्ड पहुंचे। इन भयंकर समाचारों ने क्लाइव को 'डायरेक्टरेट' में अपने सब शत्रुओं पर पूरी तरह विजय पाने में समर्थ कर दिया। 'कोर्ट आफ प्रोप्राईटर्स' ने समस्त विरोधों की उपेक्षा करके यह अनुरोध किया कि कम्पनी का खोया सौभाग्य फिर से प्राप्त करने के लिए क्लाइव को भारत भेजा जाए। उसे बंगाल का गवर्नर और प्रधान सेनापति बना दिया गया। स्वयं क्लाइव के सुझाव के अनुसार, उसे दस वर्ष अथवा (यदि मृत्यु दस साल से पहले ही हो जाय तो) उसकी मृत्यु तक अपनी 'जागीर' का उपभोग करने का आश्वासन दिला दिया गया। क्लाइव के मुख्य साथी रौस (Rous) को 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' का सभापति चुन लिया गया। भारत आकर क्लाइव को यथासम्भव बंगाल की पुरानी कौंसिल के साथ मिलकर ही काम करना था। उसे यह अधिकार दे दिया गया कि मिलकर काम करने की संभावना न रहने पर वह शासन-सम्बन्धी सब कामों की व्यवस्था करने के लिए अपनी प्रधानता में, चार व्यक्तियों की एक विशेष समिति नियुक्त कर ले। इस विशेष समिति के दो सदस्य, कर्नल कारनाक (Colonel Carnac) और वेरेल्स्ट पहले से ही बंगाल में मौजूद थे। दूसरे दो सदस्यों, समनर (Sumnar) और साइक्स (Sykis) ने क्लाइव के साथ ही यात्रा की। वह मई, १७६५ में बंगाल पहुंचा। उस समय बाहरी दशा बिलकुल सुधर चुकी थी, कम्पनी की सेनाएं सब स्थानों पर विजयिनी हो चुकी थीं और सम्पूर्ण भारत की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता अंग्रेजों की दया की याचिका थी। भीतरी मामलों में कलकत्ता सरकार ने खुले आम सुधार सम्बन्धी उन नियमों की अवज्ञा की थी जो डायरेक्टरों ने उनके सामने रखे। उन्होंने तीन बार बंगाल की 'मनसद' या सिंहासन पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपना प्रतिनिधि बिठाया और इस तरह निर्लज्जतापूर्वक हर बार अपना स्वार्थ-साधन किया। अन्त में, मीर कासिम से सम्बन्ध रखने वाली अपनी नीति के कारण उन्होंने एक ऐसे प्रश्न पर अपने को लड़ाई में झोंक दिया था जिसका कम्पनी के सेवकों के हितों के साथ लेश-मात्र भी सम्बन्ध न था (क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सम्बन्ध तो केवल समुद्र पार के व्यापार के साथ था।)

क्लाइव ने इस बार भी अपनी स्वाभाविक निश्चयात्मक तत्परता से काम लिया। उसका पूरा काम तीन भागों में बांटा जा सकता है : १. कम्पनी की नागरिक और सैनिक सेवाओं में सुधार करना, २. बंगाल की 'दीवानी' (या कर-व्यवस्था) प्राप्त करना और ३. बाह्य नीति। यथासम्भव इन्हीं तीन वर्गों के अन्तर्गत उसके कामों का अध्ययन करना सुगम होगा।

क्लाइव ने शीघ्र ही यह निश्चय कर लिया कि पुरानी कौंसिल की सहायता से भ्रष्टाचार का प्रवाह न रोका जा सकेगा। इसीलिए उसने बंगाल पहुंचने के दो दिन बाद ही अपनी विशेष समिति नियुक्त कर दी। कम्पनी के सेवकों को वे आदेश मानने के लिए विवश किया गया जिनके अनुसार उपहार स्वीकार करने पर पाबन्दी लगा दी गयी थी। आवश्यक चुंगी दिये बिना ही कम्पनी के सेवकों द्वारा निजी तौर पर व्यापार करने का तरीका भी बन्द कर दिया गया। स्वयं क्लाइव का सुझाव तो यह था कि लाइसेन्स लेकर किया जाने वाला निजी व्यापार बिलकुल बन्द कर दिया जाए और निर्धारित वेतन बढ़ा दिये जाएं परन्तु वह इसके लिए 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' को तैयार न कर सका। अपने इस प्रयत्न में असफल होने के बाद क्लाइव ने प्रचलित निजी व्यापार प्रथा को ही एक विशेष ढंग से नियमित और सीमित करने का प्रयत्न किया। उसने कम्पनी के ऊंचे सेवकों को, उत्तरोत्तर अनुपात में, नमक का व्यापार करने का एकाधिकार दे दिया। इस तरीके के अनुसार यदि गवर्नर को हर साल १७,५००० पौंड मिलते थे तो सेना के एक कर्नल कौंसिल के एक सदस्य को ७,००० पौंड। इसी तरह इनसे छोटे सेवकों को उनकी स्थिति के अनुसार ही धन मिलता था। क्लाइव के इस तरीके की बाद में अत्यन्त कटु आलोचना की गई। कहा गया कि इस प्रणाली ने डायरेक्टरों की उस आज्ञा का उल्लंघन किया जिसके अनुसार उन्होंने अपने सेवकों पर कुछ निश्चित वस्तुओं का व्यापार करने में (इन वस्तुओं में नमक भी सम्मिलित था) प्रतिबन्ध लगा दिया था। टेकनिकल तौर पर तो निस्संदेह यह बात ठीक थी परन्तु उस समय सभी यह समझते थे कि किसी न किसी तरह निर्धारित वेतन बढ़ाना अनिवार्य है। एक बात और भी थी। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इस समय के बाद से नवाब को, कम्पनी द्वारा ही एक निश्चित रकम भत्ते के तौर पर दी जाती थी और भीतरी भाग में लगाये गये करों (चुंगी आदि) से उसे कोई आमदनी नहीं होनी थी। इस तरह नमक के निजी व्यापार के विरुद्ध की जाने वाली बहुत-सी आपत्तियां तो स्वयमेव ही समाप्त हो गयी थीं। दो साल बाद डायरेक्टरों ने यह तरीका बन्द कर दिया और प्रान्त की आमदनी पर कमीशन निश्चित कर दी। इस तरह गवर्नर को, ४८०० पौंड वेतन के अतिरिक्त प्रति वर्ष लगभग १८,५०० पौंड और मिलने थे और अन्य व्यक्तियों की अतिरिक्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आय अनुपाततः उनके पद के अनुसार होनी थी।[1]

स्वभावतया पुरानी कौंसिल ने इन महत्त्वपूर्ण सुधारों का डटकर विरोध किया। उसका फल यह हुआ कि गवर्नर स्पेंसर और बढ़-चढ़ कर विरोध प्रदर्शित करने वाले कई अन्य सदस्यों को या तो कौंसिल से निकाल दिया गया या त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य किया गया। जब क्लाइव ने सार्वभौमिक रूप से व्याप्त "दमन और लुटेरेपन" के विरुद्ध सिंहनाद करके यह ऐलान किया कि "अनुचित उपायों से धन प्राप्त करने की अपरिमित वासना ने समस्त सद्भावों और नागरिकता को निगल लिया है" तब, इस तरह अत्यन्त कठोर भाषा में निन्दित व्यक्तियों ने स्वाभाविक रूप से उस अपार धन राशि की ओर संकेत किया जिसका संचय क्लाइव ने, उनके विरोध के बावजूद, अपने प्रथम अधिकार-काल में किया था। उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था मानो, स्वयं इतना अधिक धन एकत्रित करने के कारण, क्लाइव को इस बात की आशंका थी कि यदि बंगाल में इस तरह के तरीके रोके न गये तो पार्लियामेंट का ध्यान अवश्य ही उस ओर आकृष्ट होगा और इस तरह स्वयं उसका वह आचरण भी जांच-पड़ताल से मुक्त न रह सकेगा। उनके अनुसार तो यही आशंका, क्लाइव द्वारा किये जाने वाले प्रस्तुत उग्र आघात का मूल कारण थी। उस समय तो ये सब बातें सत्य ही जान पड़ी होंगी परन्तु वास्तव में यह सब असत्य था। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि क्लाइव का वह काम (स्वयं अपार धन अर्जित करना) अविवेकपूर्ण था और उसने इस तरह एक बहुत ही अभागी मिसाल कायम कर दी थी परन्तु टेकनिकल बातों और कानूनी शब्दावलियों का आवश्यकता से अधिक आसरा लेकर भी, स्वयं क्लाइव को अपनी सच्चाई और अपने उद्देश्यों की पवित्रता पर पूरा भरोसा था। अपने ऊपर लगाये गये आक्षेपों के उत्तर में क्लाइव कह सकता था कि १७५७ में 'कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स' का ऐसा कोई आदेश ही नहीं था जिसमें उपहार स्वीकार करने पर रोक लगायी गयी हो और उस साल होने वाली राज्याधिकार की तबदीली एक वास्तविक क्रान्ति थी। बंगाल के भ्रष्टाचार का वर्णन करने के लिए उसने जिस उग्र और सबल भाषा का प्रयोग किया है (यद्यपि इसका एक कारण दूसरों द्वारा की गयी कटु आलोचाना के फलस्वरूप होने वाली उसकी स्वाभाविक झुंझलाहट भी थी) उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह वास्तव में स्पेंसर और उसके साथियों के आचरण का आधार अपने उस भूतकालीन आचरण से सर्वथा भिन्न मानता था। अतः यह कहना सत्य ही है कि गवर्नर के रूप में अपने दूसरे अधिकार काल में क्लाइव ने बंगाल की अंग्रेजी बस्ती की बुराइयां दूर कीं। इस पूरी अवधि में उसने केवल एक ही उद्देश्य——कम्पनी का हित-साधन——सामने रखकर काम किया और जैसा कि उसने अभिमानपूर्वक कहा भी है, उसने अपने लिए कोई मुनाफा नहीं कमाया और 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' से भी कोई धन प्राप्त नहीं

१. रिपोर्ट्स ऑफ़ दि हाउस ऑफ़ कॉमन्स, खंड ४, पृष्ठ ४६०। कभी-कभी तो यह इससे भी अधिक थी। ३१ अगस्त, १७६८ को समाप्त होने वाले वर्ष में गवर्नर वेरेल्स्ट को २७,०९३ पौंड दिये गये। देखिए वही, पृष्ठ १६२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। इसके विपरीत, यह भी इतना ही सत्य है कि जब क्लाइव भारत आया और मद्रास पहुंचने पर उसे यह पता चला कि कम्पनी के सब मामले, कल्पना से कहीं अच्छे और सौभाग्यपूर्ण हैं तो उसने तुरन्त लन्दन में अपने एजेन्टों को गुप्त-लिपि द्वारा यह सूचना दे दी कि वे उसका समस्त धन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हिस्से खरीदने में लगा दें। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा करके उसने एक अधिकारी के रूप में उसे प्राप्त होने वाली जानकारी का बहुत प्रशंसनीय उपयोग नहीं किया। यह तो ठीक है कि क्लाइव ने वह अत्यधिक मुनाफा (१७५,००० पौंड) नहीं लिया जो नमक के एकाधिकार के सम्बन्ध में गवर्नर के लिए निर्धारित किया गया था परन्तु उसने अपना भाग अपने सम्बन्धियों और आश्रितों में ही तो बांटा। क्लाइव बार-बार व्यर्थ ही इस बात पर बल देता रहा कि वह अपने दूसरे अधिकार काल में किसी तरह का मुनाफा नहीं लेगा परन्तु इंग्लैण्ड वापिस जाने के बाद कम्पनी ने उसे फिर दस साल तक अपनी जागीर का उपभोग करने की आज्ञा दे दी। यदि वह इस अवधि में जीवित रहता तो उस जागीर से उसे कोई ३००,००० पौंड प्राप्त होते। केवल दो साल गवर्नर के रूप में सेवा करने के बदले मिलने वाला यह कोई साधारण अथवा अपर्याप्त धन न था।

अपने सुधारों के कारण क्लाइव ने बंगाल के सब सिविल सेवकों को अपना शत्रु बना लिया। उधर सेना को अतिरिक्त वेतन अथवा 'दोहरा भत्ता' देने की प्रथा बन्द करना अनिवार्य हो गया। ऐसा करके उसने सैनिक अफसरों की निर्दयतापूर्ण शत्रुता मोल ले ली। 'दोहरा भत्ता' वास्तव में ही युद्धकाल में दिया जाता था परन्तु मीर जाफर ने उसे प्लासी की लड़ाई के बाद, शान्तिकाल में भी जारी रखा था। इन्हीं बातों के फल-स्वरूप क्लाइव के विरुद्ध एक भयंकर विद्रोह का संगठन किया गया और एक अवसर पर तो क्लाइव बंगाल में अत्यन्त कुटिल सैन्य संगठन के सामने बिलकुल ही अकेला रह गया। क्लाइव ने इस अवसर पर अनुपम नेतृत्व शक्ति का परिचय दिया। उसने "कौंसिल की सत्ता को अपमानित होने से बचाने के लिए सब कुछ दांव पर लगा देने" का निश्चय किया। क्लाइव ने तत्परता और साहस के साथ विद्रोह की भावना कुचली और विद्रोही दलों को बिलकुल शान्त कर दिया।

बंगाल की प्रसिद्ध 'दीवानी' प्राप्त करके कम्पनी ने प्रादेशिक औपनिवेशिकता की ओर पहला महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। बंगाल पहुंचने से पहले ही क्लाइव इस नतीजे पर पहुंच गया था कि इस प्रकार का कोई उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना ही होगा। उसने मद्रास से लिखा: "नवाब न कहलाकर भी हमें नवाब बनना तो होगा ही। यह भी हो सकता है कि हमें, इस तरह कल्पित वेष धारण किये बिना ही, पूरी तरह नवाब ही बन जाना पड़े।" 'दीवानी' प्राप्त करने वाले को पूरे प्रान्त की मालगुजारी का नियन्त्रण और संग्रह करने का अधिकार दे दिया जाता था। क्लाइव ने सम्राट् शाह आलम की ओर से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार कम्पनी को दिला दिया। इसी समय के बाद से कम्पनी के सेवकों को ही मालगुजारी वसूल करनी थी और सरकारी भुगतान करने के बाद नवाब को ५३ लाख रुपये की निश्चित रकम (जिसे घटाकर १७६६ में ४१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाख और १७६९ में ३२ लाख कर दिया गया) और सम्राट् को २६ लाख रुपया देना था।

बंगाल के नवाब और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पारस्परिक-वैधानिक सम्बन्ध अत्यन्त उलझे हुए होने के कारण दुरूह हैं। कदाचित् उनकी सरलतम व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। मुगल सम्राट् के वायसराय के रूप में बंगाल का नवाब या सूबेदार दो काम करता था : १. 'दीवानी' अर्थात् मालगुजारी और नागरिक झगड़ों का न्याय और २. निजामत अर्थात् सैनिक शक्ति और फौजदारी झगड़ों का न्याय। अब, जैसा कि सर जेम्स स्टीफेन ने संकेत किया है, फरवरी १७६५ में नवाब ने क्रियात्मक रूप से पूरी 'निजामत' कम्पनी को सौंप दी थी और अगस्त १७६५ में सम्राट् ने उन्हें 'दीवानी' प्रदान कर दी। इस प्रकार कम्पनी को सम्राट् से 'दीवानी' मिल गयी और सूबेदार से 'निजामत'। यहां तक तो यह स्थिति अत्यधिक टेकनिकल और उलझी हुई होकर भी, सुगम ही है, एक तथ्य ने इसे और भी पेचीदा बनाया। अभी तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सेवकों ने स्वयं 'दीवान' अथवा 'निजाम' के ओहदे नहीं सम्हाले थे। नाममात्र का सर्वोच्च शासक 'डिप्टी नायब' या 'डिप्टी नवाब' होता था (दोनों शब्द लगभग समानार्थक हैं) जिसे नवाब कम्पनी की स्वीकृति से ही नियुक्त करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था। बिहार के लिए भी एक ऐसा ही डिप्टी नियुक्त किया गया था। कई साल तक समस्त शासन-व्यवस्था पूरी तरह स्थानीय व्यक्ति ही करते रहे। १७६९ में, स्थानीय माल अफसरों की देखरेख करने के लिए अंग्रेज-निरीक्षक (जिन्हें बाद में 'कलक्टर' कहा गया) अवश्य नियुक्त कर दिये गये थे परन्तु के (Kaye) के प्रमाणानुसार उन्होंने उलझन को और उलझाया और भ्रष्टाचार को और भी भ्रष्ट किया। यही क्लाइव का प्रसिद्ध दोहरा प्रबन्ध था। उस समय भी इस प्रबन्ध के दोषों की ओर संकेत कर देना आसान ही था। शक्ति और उत्तरदायित्व अलग-अलग हो जाने के कारण पुरानी बुराइयां फिर पैदा हो गयीं। इस तरीके को तो केवल इसीलिए अच्छा कहा जा सकता है कि इसी ने आगे चलकर वारेन हेस्टिंग्स और लार्ड कार्नवालिस के अधिकार-काल में कम्पनी को खुले आम पूरा उत्तरदायित्व अपने हाथ में लेने में बहुत सहायता दी। क्लाइव इस तरीके को अधिक निर्दोष बनाने के लिए विचार-विमर्श करने में अधिक समय भी नहीं खो सकता था। उसे तो वास्तविकताओं से जूझना था। उसने यह स्वीकार किया कि 'नवाब के पास सत्ता की छाया और उसका नाम-मात्र ही है तथापि हमारे लिए इस छाया, इस नाम का आदर करना बहुत जरूरी है।' जैसा कि गम्भीर निरीक्षक वेरेल्स्ट ने अनुभव किया, कम्पनी के सेवकों की संख्या बहुत कम होने और शासन-व्यवस्था सम्बन्धी उनके अज्ञान के कारण आरम्भ में ही पूरा शासन भार सम्हाल लेना कदाचित् असम्भव ही था। एक बात और भी थी। अंग्रेजों द्वारा खुले आम बंगाल के शासन की बागडोर सम्हाल लेने का अर्थ होता दूसरी यूरोपीय शक्तियों के साथ झगड़ा मोल लेना। इस बात में तो क्लाइव को समस्त तत्कालीन राजनीतिज्ञों का समर्थन प्राप्त था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहां तक तो भीतरी शासन-व्यवस्था की बात रही। इसके बाद क्लाइव को विदेशी सम्बन्धों की ओर ध्यान देना था। जब वह इंग्लैण्ड से चला था तो यह आशा की गयी थी कि क्लाइव से, कम्पनी और मीर कासिम के बीच होने वाली लड़ाई बन्द कराने के लिए कहा जाएगा। यहां पहुंचने पर उसने देखा कि, आडम्स (Adams) और मुनरो (Munro) ने विजय कार्य तो पहले ही पूरा कर लिया है। ऐसी दशा में यह सम्भाव्य ही था (उस समय इस ओर संकेत भी किया गया था) कि कोई काम बाकी न होने के कारण उसे कुछ स्वाभाविक निराशा भी हुई होगी तथापि अत्यधिक अतृप्त कूटनीतिज्ञ के लिए उस समय भी बहुत बड़ा मैदान पड़ा था। उत्तरी भारत की सम्पूर्ण राजनीतिक प्रणाली नये ही सिरे से ढल रही थी। मुगल सम्राट् और उसका प्रधान मंत्री कम्पनी की मुट्ठी में थे और उनकी दया के भिखारी थे। अंग्रेजी सेना के सम्मुख अवध अरक्षित पड़ा था। क्लाइव ने कम्पनी का प्रादेशिक प्रभाव बंगाल, बिहार और उड़ीसा तक ही सीमित रखने, अवध के नरेश को उसका किलेबन्द राज्य वापिस लौटा देने, शाहआलम का पद स्वीकार करने और यथासम्भव उसकी शक्ति को सहयोग देने का निश्चय किया। शुजाउद्दौला से युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में पचास लाख रुपये की मांग की गयी और उसे फिर कोड़ा और इलाहाबाद के अतिरिक्त उसके पूरे राज्य का स्वामी बना दिया गया। कम्पनी ने शुजाउद्दौला के साथ एक रक्षात्मक समझौता भी किया। इसके अनुसार कम्पनी ने आवश्यकता के समय उसके राज्य की रक्षा के लिए सेना देने और सैनिक खर्चे स्वयं स्वीकार करने का वचन दिया। क्लाइव के राजनीतिक कामों में से, अवध के साथ किया जाने वाला समझौता सबसे अधिक स्थायी सिद्ध हुआ। गदर से ठीक पहले लार्ड डलहौजी द्वारा अधिकार कर लेने से पूर्व तक अवध एक 'मध्यस्थ' (Buffer) राज्य ही बना रहा।

इसके बाद क्लाइव को, भगोड़े सम्राट् शाह आलम से निबटना था। अपनी बड़ी-बड़ी मांगों और साधारणतम साधनों के कारण सम्राट् ने तो असाधारण रूप से नाजुक और व्याकुल कर देने वाला राजनीतिक प्रश्न उपस्थित कर दिया था। राजोचित प्रतिष्ठा बनाये रखने में, सम्राट् का हाथ बटाने के उद्देश्य से क्लाइव ने उसे कोड़ा और इलाहाबाद के जिले (जो अवध के नवाब को नहीं दिये गये थे) और २६ लाख की वार्षिक आर्थिक सहायता दी। उसने, सम्राट् से कहकर, दस साल की अवधि के बाद अपनी 'जागीर' भी कम्पनी के नाम करा दी।

सम्राट् के साथ किया जाने वाला समझौता अत्यन्त चतुरतापूर्ण था और राजनीतिक सिद्धान्त शास्त्री उस पर आसानी से आपत्ति कर सकते थे। क्लाइव पर यह दोषारोपण किया गया कि उसने भावावेश में आकर एक राजनीतिक झगड़े के प्रति अत्यधिक उदारता दिखायी है और संकट में पड़े सम्राट् के साथ वीरोचित व्यवहार किया है। उस समय ऐसे लोगों का अभाव न था (आयर कूट उनमें से एक था) जो अंग्रेजों को शाह आलम के नाम पर दिल्ली की ओर बढ़ने और पूरे भारत पर अधिकार कर लेने का परामर्श दे रहे थे। क्लाइव, यह जानकर भी कि "यह कहना कदापि अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि कल ही पूरा मुगल साम्राज्य हमारे आधीन हो जाएगा।" इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आकर्षक संभावनाओं से अप्रभावित ही रहा। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के तीन प्रान्तों पर अंग्रेजी हकूमत का विस्तार कर देना स्वयमेव एक बड़ा काम था। उस समय भी उसने 'कोर्ट' से यही निवेदन किया था कि वे "अपने अधीनस्थ प्रदेशों के विस्तार के लिए विचलित न हों।" किसी भी अन्य व्यक्ति की भाँति वह भी जानता था कि केवल सैनिक दृष्टि से अंग्रेजी सेना के दिल्ली की ओर बढ़ने में कोई बाधा न थी। परन्तु क्लाइव 'एक सैनिक ही न था' एक राजनीतिज्ञ भी था, उसने जानबूझ कर ही यह सम्मति दी थी कि "आगे बढ़ने का विचार....उत्कण्ठापूर्ण होकर भी इतना महंगा और व्यर्थ है कि जब तक कम्पनी के हित की समस्त योजना पूरी तरह नये सिरे से निर्धारित न की जाए तब तक किसी भी समझदार गवर्नर अथवा कौंसिल द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।" क्लाइव के इस निर्णय का महत्त्व इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि अगले बीस वर्ष तक बाहरी शत्रुओं से अंग्रेजी उपनिवेशों की रक्षा करना भी कठिन हो गया। मरहठों का आक्रमण निर्मूल कर दिया गया था परन्तु बहुत सम्भव है कि यदि अंग्रेजी राज्य की सीमाएं अधिक विस्तृत होतीं तो उस संकटपूर्ण समय में अंग्रेज अपने अधीनस्थ प्रदेशों की रक्षा भी न कर पाते।

क्लाइव ने जनवरी १७६७ में भारत छोड़ा। उस समय उसका शरीर और उत्साह दोनों ही जर्जर हो चुके थे। वह पर्याप्त सुधार कर चुका था। पक्षपातपूर्ण चरित्र-लेखकों ने इन सुधारों का अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख किया है। कम्पनी की सिविल सर्विस पूरी तरह तो कार्नवालिस के समय में ही सुधरी परन्तु क्लाइव ने उस दिशा में जितना काम किया था उतना उस समय किसी भी एक व्यक्ति की शक्ति से बाहर था। क्लाइव के अनेक शत्रु भी पैदा हो गये थे। वे उससे बदला लेने की प्रतिज्ञाएं करके इंग्लैण्ड लौटे। उन्होंने एक ऐसी पार्टी में अपने को मिला लिया जिसके उद्देश्य कहीं अधिक मान्य थे। ये लोग हृदय से यह चाहते थे कि आर्थिक मामलों में कम्पनी के सेवकों पर अधिक कठोर नियन्त्रण किया जाए। 'पूर्व' के प्रलोभनों और अत्यधिक धन संचित करने की भयंकर सुविधाओं के कारण इंग्लैण्ड में एक भय और शंकापूर्ण भावना का उदय होता जा रहा था। १७७२ में एक तत्कालीन लेखक ने लिखा : "वे लोग असाधारण रूप से पूर्णात्मा हैं, जो इस देश में धनवानों को प्राप्त सार्वभौमिक श्रद्धा से परिचित होकर भी, कई वर्ष तक भारत शासन का अधिकार निभा कर मामूली धन साथ लेकर ही अपने देश वापिस लौट आते हैं।"[1] इससे दो साल पहले, लार्ड चेदम ने पार्लियामेंट में अपने स्थान से यह ऐलान किया था : "पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश में बाहर से बहुत धन आ रहा है। यह धन श्रम और कला-कौशल का स्वाभाविक और नियमित फल न होने के कारण अपने साथ अनेक भयंकर परिणाम भी लाया है। एशिया का धन हम पर लाद दिया गया है। यह धन अपने साथ केवल एशिया का भोग-विलास ही नहीं लाया है, मुझे तो भय है कि यह अपने साथ वहां के शासन-सिद्धान्त

१. कन्सीडरेशन्स आन ए पेम्फलेट एन्टाइटिल्ड थाट्स आन अवर एक्वीज़ीशन्स इन दि ईस्ट इन्डीज़, १७७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी लेकर आया है। वहां की धरती के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक लगाव के बिना ही विदेशी सोने का आयात करने वाले व्यक्ति भ्रष्टाचार की एक ऐसी आंधी के साथ बलपूर्वक पार्लियामेंट में घुस आये हैं जिसे कोई निजी परम्परागत सम्पत्ति नहीं रोक सकती थी।"[1] १७७२ में यह बात स्पष्ट हो गयी कि क्लाइव द्वारा किये गये उपायों से एक भयंकर अर्थ-संकट रोका नहीं जा सका था। पार्लियामेंट ने भी यह समझ लिया कि राज-कोष अथवा 'बैंक' ने कम्पनी की सहायता न की तो कम्पनी का दिवाला निकल जाने की संभावना है। यह एक अक्षम्य अपराध था। कम्पनी के आलोचकों के नेता बरगोयन (Burgoyne) ने कहा: "……यदि सर्वोच्च सत्ता और कानून को व्यापार से अलग न किया गया तो भारत और बर्त्तानिया इस प्रकार डूब जाएंगे और पददलित हो जाएंगे कि वे फिर कभी न उठ सकेंगे।"[2] उसी साल ३१ सदस्यों की एक विशेष समिति और १३ व्यक्तियों की एक गुप्त समिति ने भारतीय मामलों की जांच पड़ताल की। इनमें से पहली समिति की प्रथम रिपोर्ट में १७५७ से ६० तक के बंगाल विद्रोहों, कम्पनी के सेवकों को दिये गये उपहारों और क्लाइव की 'जागीर' का उल्लेख किया गया। क्लाइव के चरित्र-लेखकों ने कहा है कि ये समितियां प्रायः क्लाइव के विरुद्ध द्वेष की भावना रखती थीं। स्वयं क्लाइव ने घृणा के साथ यह ऐलान किया था कि वे लोग उससे इस तरह पूछताछ करते थे मानो वह कोई भेड़ें चुराने वाला हो। स्वयं रिपोर्ट्स में किसी तरह का पक्षपात दिखायी नहीं देता। वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों के बहुमूल्य संग्रह हैं। विचाराधीन अवधि में क्लाइव ने ही भारत के रंगमंच पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय किया था। ऐसी दशा में उससे ही सबसे अधिक पूछताछ होना लाज़मी था। यह भी अनिवार्य ही था (यद्यपि यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी) कि बंगाल में किये गये उसके पुराने कामों, अमीनचन्द के साथ किये गये छल और उपहारों की स्वीकृति की कटु आलोचना होती। यह तो सत्य है कि क्लाइव ने इस दौरान में बड़ी-बड़ी सेवाएं कर ली थीं और वह बंगाल में भ्रष्टाचार का वेग भी शान्त कर चुका था परन्तु उपयुक्त दोनों समितियों द्वारा प्रकाश में लाये गये तथ्यों के कारण उस समय क्लाइव की सेवाएं लगभग भुला दी गयी थीं।

१० मई, १७७३ को कर्नल बरगोयन ने तीन महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखे: १. सैनिक शक्ति अथवा विदेशी राजकुमारों के साथ की गयी सन्धियों द्वारा मिलने वाली सब सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार है। २. इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति को नागरिक अथवा सैनिक सम्पन्न किसी व्यक्ति के निजी वेतन के साथ जोड़ना गैरकानूनी है। ३. बंगाल में नागरिक और सैनिक अधिकारियों ने बहुत ही बड़ी-बड़ी रकमें और दूसरी मूल्यवान् सम्पत्ति वहां के राजकुमारों और दूसरे लोगों से प्राप्त की और वे रकमें उन्हीं व्यक्तियों के निजी उपभोग के लिए छोड़ दी गयीं। तीनों प्रस्ताव पास हो गये। केवल

---

१. चेदम्स स्पीच, २२ जनवरी, १७७०, हन्सर्ड।

२. दि पार्लियामेंटरी हिस्ट्री आफ़ इंग्लैंड, खंड १७, पृष्ठ ४५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्य को प्रकाश में लाने वाले ये प्रस्ताव स्वीकृत होने ही थे। १७ मई को कर्नल वरगोयन ने, साधारण और स्थूल प्रस्ताव त्याग कर क्लाइव पर एक प्रत्यक्ष प्रहार किया। उसने प्रस्ताव रखा कि "क्लाइव ने, विशेष समिति के सदस्य और अंग्रेजी सेनाओं के प्रधान सेनापति के नाते प्राप्त अपनी शक्तियों से लाभ उठाकर निजी तौर पर २३४,००० पौंड की रकम प्राप्त की है। ऐसा करके उक्त राबर्ट क्लाइव ने प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग किया है, सार्वजनिक सेवकों के सामने एक भद्दी मिसाल रखी है और राज्य को भी अपमानित कराया तथा हानि पहुंचायी है।" यदि यह प्रस्ताव मूल रूप में स्वीकार कर लिया जाता तो क्लाइव की ख्याति की धज्जियां उड़ जातीं। शत्रुओं के साथ इस प्रकार मुंह सामना हो जाने पर क्लाइव ने असाधारण उत्साह और योग्यता के साथ अपना बचाव किया। उसके भाषण के प्रसिद्ध अन्तिम शब्द ये थे : "बैठने से पहले मैं 'सदन' से एक यही प्रार्थना करना चाहता हूं कि जब वे मेरी इज़्ज़त का फैसला करने लगें उस समय अपनी इज़्ज़त को न भूलें।"

स्वयं सदन के विचारों में अकस्मात् एक विस्मयजनक परिवर्तन हो गया। यह बात दृढ़तापूर्वक मानी जाने लगी कि क्लाइव ने अपने बाद के आचरण द्वारा अत्यन्त भद्रता के साथ १७५७ में की गयी अपनी भूलों का पर्याप्त प्रायश्चित कर लिया है, फलस्वरूप मूल प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। प्रस्ताव का वह अंश स्वीकार कर लिया गया जिसमें २३४,००० पौंड की रकम का उल्लेख किया गया था, परन्तु क्लाइव की प्रतिष्ठा पर बट्टा लगाने वाले शब्द सर्वसम्मति से निकाल दिये गये। अन्त में, सारी रात के वाद-विवाद के उपरान्त, सवेरे पांच बजे यह प्रसिद्ध प्रस्ताव पास हुआ कि "क्लाइव ने, इसके साथ ही साथ, अपने देश की महान् और प्रशंसनीय सेवाएं भी कीं।"

इस तरह आदर-पूर्वक अपराध-मुक्त हो जाने पर क्लाइव के चोट खाये हुए हृदय को सुख तो अवश्य मिला परन्तु यह सुख आंशिक ही था। वह सदा से ही गम्भीर-प्रकृति था। अपने नाम पर लगने वाले कलंक की अनवरत स्मृतियों और दुःखदायी रोग की पीड़ाओं का अन्त करने के लिए, ५० वर्ष की आयु में, २ नवम्बर, १७७४ को आत्म-हत्या कर ली। भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक का अन्त इस तरह—शारीरिक कष्ट और कुछ कलंकित कीर्ति की दशा में ही—हुआ। अपने विशेष गुणों के कारण क्लाइव उस अभिनय के लिए असाधारण रूप से उपयुक्त था जो उसे भारतीय रंगमंच पर करना था। तनिक तीखी तात्विक शक्ति और अनथक उत्साह—यही उसकी दो विशेषताएं थीं। इन्हीं खूबियों ने उसे एक साम्राज्य का सच्चा संस्थापक बना दिया। बर्क ने कहा : "उसने बड़ी-बड़ी नींवें तैयार कीं।" एक दूसरे स्थान पर बर्क ने लिखा : "लार्ड क्लाइव ने स्वयं तो अज्ञात गहराई वाली नदी को अत्यन्त कठिनता से पैदल ही पार किया परन्तु वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक ऐसा पुल तैयार कर गया जिस पर लंगड़े भी चल सकें और अन्धे भी अपना रास्ता टटोल सकें।"[1] क्लाइव के चरित्र का

१. स्पीचिज़ इन दि ट्रायल ऑफ वारेन हेस्टिंग्स, संपादक ई० ए० बोन्ड। खंड ४, पृष्ठ ३२९, ३४८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहस्य उसके दृढ़ निश्चय और ध्रुव-संकल्प में निहित है। वह तुरन्त घटनास्थिति को भांप लेता था, अपने लक्ष्य से भली-भांति परिचित रहता था और फिर दृढ़तापूर्वक उस लक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न हो जाता था। एक सैनिक के नाते वह मनुष्यों का एक महान् नेता था परन्तु पिट का वह कथन जिसमें उसने क्लाइव को 'दिव्य सेनापति' कहा है अधिक उपयुक्त नहीं। चार्ल्स विल्सन ने सत्य ही कहा है : "क्लाइव की योजनाओं में योग्यतापूर्ण संयोजन का प्रायः अभाव है और कुछ अवसरों पर तो वह सर्वथा स्पष्ट सैनिक सावधानियों की भी उपेक्षा करता जान पड़ता है। शत्रु को ढूंढ़ना और उसे पा लेने पर एकाग्र शूरवीरता के साथ उस पर टूट पड़ना उसका आधारभूत सिद्धान्त जान पड़ता है और उसकी सफलता का मूल कारण, अध्ययनपूर्ण योजनाओं और निपुण कूटनीति से कहीं अधिक, उसकी व्यक्तिगत निडरता और पूरे विश्वास के साथ अनगिनत मनुष्यों को प्रेरणा देने की शक्ति है।"[1] भारत में उसके समस्त सम-सामयिकों ने उससे भयभीत रहने और उससे घृणा करने पर भी, उसका व्यक्तिगत प्रभाव स्वीकार ही किया है। अपने कार्य-काल के आरम्भिक वर्षों में वह अवश्य ऐसे मार्गों पर चल निकला जो कठोर नैतिकता अथवा परवर्ती आदर्शों के अनुकूल न थे परन्तु क्लाइव को, अपने महान् उत्तराधिकारी वारेन हेस्टिंग्स की भांति, अपनी पवित्रता पर पूरा भरोसा था। वह सदा ही अपने निन्दित कार्यों का भी औचित्य स्थापित करता रहा और उनके उचित मूल्यांकन की ही मांग करता रहा। हारेस वालपोल ने, क्लाइव द्वारा अपने बचाव में दिये गये भाषण का उल्लेख करते हुए, उसके चरित्र की इस विशेषता का चित्रण अपने स्वाभाविक व्यंग्य के साथ किया है : "यद्यपि लार्ड क्लाइव इतना स्पष्ट और साहसी था कि उसने अपनी धूर्ततापूर्ण कूटनीति की पूरी पोथी खोलकर रख दी तथापि वे लोग इतने अनुदार निकले कि वे उसे हत्या, जालसाजी, छल-कपट और लूट के लिए दंड देना चाहते थे। क्लाइव को क्रुद्ध करने के लिए यह पर्याप्त था।"[2] कुछ दोषों के रहते भी क्लाइव के समस्त कामों और कथनों पर महत्ता की छाप है। उसके अन्तिम शोकपूर्ण कदम ने यह सिद्ध कर दिया कि यद्यपि वह भौतिक पदार्थों को आवश्यकता से बहुत अधिक महत्त्व देता था तथापि अपनी मानहानि की तुलना में वह उन्हें भी तुच्छ समझता था। युद्ध-भूमि पर उसका अदम्य शौर्य, राजनीतिक संकट के अवसर पर उसका ओजस्वी साहस और उद्दण्डता, क्रुद्ध-विरोधी और विद्रोही आश्रितों का सामना करने में उसकी नैतिक दृढ़ता, वाद-विवाद में उसकी भाषा का ओज और बल—इन्हीं सब विशेषताओं ने लार्ड मेकाले की यह उक्ति सत्य सिद्ध कर दी है कि "हमारे द्वीप ने शायद ही कभी युद्ध-भूमि और विचार-भवन, दोनों ही स्थानों पर वस्तुतः उससे अधिक महान् व्यक्ति को जन्म दिया हो।"

---

१. लार्ड क्लाइव इंगलिश मेन ऑफ एक्शन सीरीज़ पृष्ठ ५७।
२. लेटर्स ऑफ हॉरेस वालपोल, पी० टायनबी, खंड १३, पृष्ठ २७७।

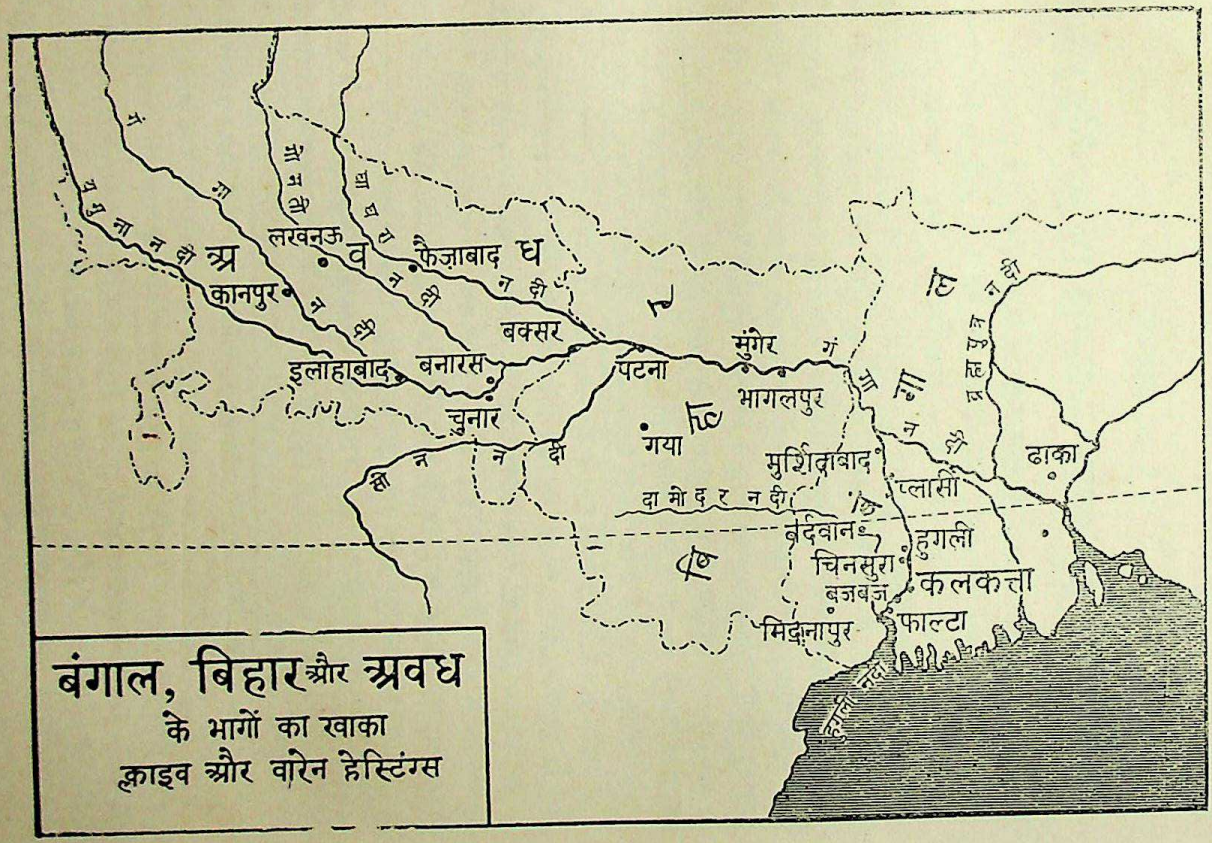

बंगाल, बिहार और अवध
के भागों का खाका
क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १५

वारेन हेस्टिंग्स का शासन—रुहेला-युद्ध के अन्त तक

क्लाइव के अन्तिम रूप से भारत से जाने और वारेन हेस्टिंग्स के बंगाल का गवर्नर बनने के बीच पांच वर्ष का अन्तर रहा। इस अवधि में शासन का भार साधारण योग्यता वाले दो व्यक्तियों— वेरेल्स्ट (Verelst) (१७६७–९) और कार्टियर (Cartier) (१७७०—२) पर रहा। उनके कार्यकाल असाधारण रूप से घटना-विहीन रहे और उन्होंने तो केवल क्लाइव के दोहरे प्रबन्ध की प्रशासनिक असफलता पर ही प्रकाश डाला। कठपुतली नवाब और उसके अफसर व्यक्तिगत व्यापार को दबाने और कम्पनी के सेवकों द्वारा की जाने वाली लूट-खसोट रोकने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए। क्लाइव के सुधार-सम्बन्धी प्रयत्नों ने जो बुराइयां कुछ समय के लिए रोक दी थीं, उनमें से अनेक फिर उभर आयीं। १७६९–७० में बंगाल में एक भयंकर अकाल पड़ा। अनुमान लगाया गया है कि एक तिहाई आबादी, अर्थात् लगभग एक करोड़ प्राणी, भुखमरी अथवा बीमारियों से मर गये और खेती योग्य भूमि का तिहाई भाग बेकार हो गया। कम्पनी के एक सेवक ने १७७० में लिखा था : "दुर्भाग्य का जो दृश्य सामने आया था, और अभी तक सामने है, वह मानवता को बुरी तरह हिला देने वाला और अवर्णनीय है। यह बिलकुल सच है कि अनेक भागों में लोगों ने मुर्दों को खा-खाकर अपने प्राणों की रक्षा की है।"[1] कम्पनी के अनेक सेवकों की इसलिए निन्दा की गयी (यह निन्दा तर्क-संगत भी थी) कि उन्होंने थोक में चावल खरीद कर और खरीज में अधिक कीमत पर बेच कर बहुत मुनाफा कमाया। वारेन हेस्टिंग्स ने भी यह स्वीकार किया कि मालगुजारी निर्दयतापूर्ण कठोरता के साथ वसूल की गयी। अधिकतम संकट के समय पांच प्रतिशत से भी कम भूमि-कर माफ किया गया था और अगले ही वर्ष उसमें पूरे दस प्रतिशत की बढ़ोतरी कर दी गयी। इस भयंकर दुष्काल ने, "जिससे होने वाली हानि तो सन्ततियां भी पूरी न कर सकीं।"[2] सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों पर भी तीव्र और स्थायी प्रभाव डाले। मालगुजारी देने वाले और पुराने कुलीन परिवारों के अनेक खेतिहर तबाह हो गये। १७९३ के स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) से पहले बंगाल अपनी खोई हुई सम्पन्नता पुनः प्राप्त करने के लिए अधिक कुछ न कर सका। यद्यपि कम्पनी के सेवक अपार व्यक्तिगत धन बटोर रहे थे तथापि इस समय के बाद से कम्पनी का मुनाफा बराबर

१. दि एनल्स ऑफ़ रूरल बंगाल, सर डब्ल्यू० डब्ल० हंटर, पृ० ४१०।
२. वही, पृष्ठ १९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कम होता गया। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, एक बार तो कम्पनी की साख इतनी बुरी तरह नष्ट हो गयी कि राज्य को विवश होकर उसके मामलों में हस्तक्षेप करके उन्हें नियमित करना पड़ा।

उधर, दक्षिण भारत में, विपत्तियों का युग आरम्भ हो रहा था। मद्रास की प्रेसीडेंसी और कर्नाटक के नवाब, मुहम्मद अली के सम्बन्ध अत्यन्त कड़े हो गये थे। यद्यपि इस ओर लोगों का अधिक ध्यान न गया, परन्तु मद्रास की दोहरी सरकार ने कदाचित् बंगाल से भी अधिक बदनामी और दुराचार को जन्म दिया था। कर्नाटक की सीमाओं के बाहर, तीन स्थानीय शक्तियां--मैसूर (जो उस अत्यधिक योग्य और निर्दय आततायी के अधीन था जिसने पुराने राजा परिवार को पद-च्युत किया था), मरहठा संगठन और हैदराबाद का निजाम--अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थीं। ये तीनों शक्तियां कभी तो ब्रिटिश शक्ति के साथ गठबन्धन कर लेती थीं और कभी एक साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध उभर आती थीं। प्रेसीडेन्सी को, सब ओर से, संकटों अथवा भूलों से बचाने के लिए शान्तिपूर्ण विचार-शक्ति और समयानुकूल नीति की अत्यन्त आवश्यकता थी। दुर्भाग्य से मद्रास कौंसिल ने युद्ध और कूटनीति का मार्ग अपनाया। इसका अन्त अपयश और सर्वनाश में ही हुआ। स्थानीय शक्तियों के मुकाबले में, यहाँ उनकी स्थिति, बंगाल की अपेक्षा, दुर्बल थी। उनके नाममात्र के मित्र, निज़ाम ने, एक वार्षिक शुल्क का वचन देकर ही, 'उत्तरी सरकारों' के आत्म-समर्पण में केवल अपनी सहमति दी। वस्तुतः क्लाइव पहले ही उसके लिए एक शासन-पत्र प्राप्त कर चुका था। १७६५ में कौंसिल ने, निज़ाम के साथ एक मित्रतापूर्ण समझौता कर लिया। इसके अनुसार उन्होंने, हैदरअली और मरहठों के विरुद्ध, निज़ाम का समर्थन करने का आश्वासन दिया। निजाम आरम्भ से ही, अपने शत्रु के साथ छल कर रहा था। मद्रास कौंसिल के अधिकारी यह बात पूरी तरह जानते भी थे। इस पर भी मद्रास कौंसिल ने इस सत्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। निज़ाम मैसूर और मरहठों के साथ मिल गया। यह सब होने पर भी १७६७ में कर्नल स्मिथ के नेतृत्व में ब्रिटिश सेनाओं ने छन्गामा के दर्रे और त्रिनोमाली में, इन तीनों की सम्मिलित सेनाओं को हरा दिया। विजयी होकर भी प्रेसीडेंसी ने, १७६८ में निज़ाम के साथ एक अपमानजनक और दुष्परामर्शपूर्ण सन्धि कर ली। यह सन्धि मछलीपटटम की शान्ति-सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ऐसी बातें स्वीकार कर ली गयीं जिन्होंने अनावश्यक रूप से हैदरअली की शत्रुता को आमन्त्रित किया। 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' ने लिखा था: "तुमने हमें कठिनाइयों की ऐसी भूल-भुलैया में डाल दिया है जहां से निकलने का मार्ग हमें दिखाई नहीं देता।"[1] इससे कुछ ही पहले 'कोर्ट' ने अपने भारतीय उपनिवेशों के सम्बन्ध में अपनी निश्चित नीति इन शब्दों में अभिव्यक्त की थी: "देश के इस भाग में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की 'दीवानी' के साथ उन्हीं प्रान्तों में प्राप्त वर्तमान

१. राइज़ एण्ड प्रोग्रेस ऑफ़ ब्रिटिश पावर इन इन्डिया, पी. आवर, खंड १, पृ० २३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधीनस्थ प्रदेश, समुद्र तट पर, कर्नाटक की रक्षा और दक्खिन के सूबे की सहायता करने का कोई आश्वासन दिये बिना, 'उत्तरी सरकारों' पर अधिकार रखना, अथवा "सरकारों' पर भी कब्जा न करके, उन पर अधिकार रखने वाली किसी भी स्थानीय शक्ति पर इतना प्रभाव बनाए रखना जिससे फ्रांसीसी वहां न बस सकें; और बम्बई की ओर उधर के आश्रित स्थल--सालसेट, बसीन और सूरत का किला.....यही मानो, भारत में, हमारे विचारों की सीमाएं हैं। तुम्हारी ओर से और बंगाल में हमारे सेवकों की ओर से मरहठों पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। सम्भव है कि यह किसी हद तक उपयुक्त भी हो परन्तु कम्पनी को, "हिन्दुस्थान' में पंच बनकर काम नहीं करना है.....हम तो यह देखना चाहते हैं कि हमारे हस्तक्षेप के बिना ही आधुनिक भारतीय शक्तियां परस्पर एक दूसरे का नियन्त्रण करें।[1]

यद्यपि इसके बाद निज़ाम ने लड़ाई में कोई भाग नहीं लिया परन्तु हैदरअली के साथ झगड़ा चलता ही रहा। अंग्रेजों द्वारा लगातार होने वाली अनेक भूलों के कारण मैसूर नरेश ने १७६९ में मद्रास की दीवारों के नीचे ही, लगभग अपनी ही शर्तों पर, उन्हें सन्धि करने के लिए विवश कर दिया। दोनों पक्षों ने विजित प्रदेश लौटा दिये और अंग्रेजों ने, भयंकर भूल करके, नरेश को यह वचन दे दिया कि किसी अन्य शक्ति का आक्रमण होने पर वे उसकी सहायता करेंगे। इस कलंकपूर्ण धारा ने उन्हें नवीन कठिनाइयों में धकेल दिया। १७७१ में मरहठों की एक सेना ने मैसूर पर हमला किया। हैदरअली ने अंग्रेजों से सहायता मांगी। सहायता प्राप्त न हुई। फलस्वरूप मद्रास प्रेसीडेन्सी ने तुरन्त एक निर्दय शत्रु की तीव्र शत्रुता अर्जित कर ली। इतना ही नहीं, इस प्रकार तो उन्होंने सन्धि द्वारा दिये गये वचनों का पालन न करके अपने को अपयश का भागी भी बनाया।

वारेन हेस्टिंग्स का शासन-काल दो असमान भागों में बांटा जा सकता है: १३ अप्रैल, १७७२ से १९ अक्तूबर, १७७४ तक (जबकि वह बंगाल में फोर्ट विलियम का गवर्नर था) और २० अक्तूबर १७७४ से ८ फरवरी १७८५ तक (जिस समय वह, रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा निर्धारित विधान के अनुसार बंगाल में फोर्ट विलियम की प्रेसीडेंसी का गवर्नर-जनरल बना)। यह पदवी तनिक बोझिल थी और उसमें निहित शब्दों से इस बात पर पर्याप्त बल पड़ता था कि वह किसी रूप में भी मद्रास अथवा बम्बई का सर्वोच्च अधिकारी न था। उस समय तक कोई व्यक्ति "भारत का गवर्नर जनरल" न बना था।

वारेन हेस्टिंग्स का कार्यकाल सदा से ही एक विवाद-ग्रस्त विषय रहा है। कदाचित् भविष्य में भी यह विवाद जारी रहेगा। जीवन-काल में ही उसके शत्रु भयंकर, विवेकहीन और निर्दय थे। उसके नाम और यश पर आक्रमण करते समय वे तर्क और शिष्टाचार की समस्त मर्यादाओं का उल्लंघन कर दिया करते थे। उसके अनेक कार्यों का

१. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, एच० बेवरिज, खंड २, पृ० २६१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीभत्स-रूप से मिथ्या-वर्णन किया गया और उस पर अनुचित लांछन लगाये गये। जहां आलोचना करना सम्भव था, और स्वभावगत समर्थन अप्रासंगिक न था, वहां तो तीव्रतम आक्षेप किये गये। इन सबकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी हुई। बाद के वर्षों में हेस्टिंग्स के समर्थकों का पलड़ा भारी रहा। यह बात तो तुरन्त ही स्वीकार की जा सकती है कि उसके विरोधियों द्वारा लगाये गये अधिकतम अभियोग बिलकुल निराधार सिद्ध हो चुके हैं। उसके कुछ अपराधों और कुचालों के सम्बन्ध में यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि वे केवल उचित निर्णय-सम्बन्धी भूलें थीं और उस कठिन स्थिति में सर्वथा क्षम्य थीं जिसमें हेस्टिंग्स ने अपने को पाया। एक बात अवश्य है। कहीं-कहीं हेस्टिंग्स के समर्थकों के उत्साह ने उनके विवेक को भी पीछे छोड़ दिया है। अब कुछ गिनी चुनी घटनाएं ही बाकी रह जाती हैं जिनकी परख केवल धर्माधर्म-विवेक द्वारा ही की जा सकती है। कभी-कभी, परिपाटी का पालन मात्र करते हुए, यह कहा जाता है कि वारेन हेस्टिंग्स पर समस्त लांछन बर्क, मेकाले और जेम्स मिल ने ही लगाये। वास्तविकता यह नहीं है। भारतीय इतिहास के लगभग सभी पुराने लेखकों—थार्नटन, मार्शमैन और एच० बेवरिज—ने उसकी नीति के कुछ अंशों का, संयत भाषा में, तिरस्कार किया है। इनमें से कम से कम थार्नटन और मार्शमैन के सम्बन्ध में तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके हृदय में इस महान् गवर्नर-जनरल के विरुद्ध कोई स्वाभाविक पक्षपात न था। उनकी सहानुभूतियां सदा ही स्वभावतया अपने देश की सरकार की अपेक्षा घटनास्थल पर उपस्थित व्यक्तियों—भारत में कम्पनी के प्रतिनिधियों—के साथ रही थीं।

स्थानाभाव के कारण इस पुस्तक में इन वाद-प्रतिवादों का विस्तृत उल्लेख नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक ने साक्षियों का गम्भीर अध्ययन करके ही निष्कर्ष निकाले हैं। जहां उसका, हेस्टिंग्स के आधुनिक चरित-लेखकों से मतभेद है वहां समझ लेना चाहिए कि अपना मतभेद प्रकट करने से पहले इन पंक्तियों के लेखक ने उनके तर्कों का पूरी सावधानी के साथ मनन कर लिया है।

कार्य-भार स्वीकार करते ही वारेन हेस्टिंग्स ने महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार किये। यह विषय अत्यन्त जटिल है अतः यहां उसकी स्थूल रूप-रेखा मात्र ही प्रस्तुत की जा सकेगी। क्लाइव का दोहरा प्रबन्ध अब बिलकुल रद्द कर दिया गया था। अब 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' ने "दीवान के रूप में सामने आने" अथवा अपने निजी सेवकों द्वारा ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रान्तों में मालगुजारी वसूल कराने का निश्चय किया। उनके आदेश पाकर, हेस्टिंग्स ने बंगाल और बिहार के डिप्टी नवाबों को अलग कर दिया। इन लोगों पर छलपूर्वक धन-अपहरण का अभियोग लगाया गया। बाद में वे दोनों आदरपूर्वक छोड़ दिये गये। उनके पद समाप्त करके मालगुजारी वसूल करने के लिए एक बोर्ड—"रेवेन्यू बोर्ड"—की स्थापना की गयी और खजाना मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ता ले जाया गया। तुरन्त ही अत्यधिक मुनाफा दिखाई देने लगा। हेस्टिंग्स ने, नये उत्तराधिकार से लाभ उठाकर, नवाब का भत्ता तो ३२ के बदले १६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाख रुपया कर दिया था, तथापि अनेक ब्यौरों में की जाने वाली मितव्ययता और अनावश्यक वैतनिक पद समाप्त करके, वह कम्पनी के पेंशनर को वास्तव में पहले से अधिक रकम ही देने में समर्थ हो गया। १७७२ में, अनेक कठिनाइयों के बावजूद उसने भूमिकरों की पंचवर्षीय व्यवस्था लागू कर दी। जिलों का नियन्त्रण करने के लिए अंग्रेज अफसर—जिन्हें इस समय पहली बार 'कलक्टर' कहा गया—और इनके स्थानीय सहायक नियुक्त किये गये। यह तो माना जा सकता है कि इस व्यवस्था को सीमित सफलता ही प्राप्त हो सकी। परन्तु इसका एकमात्र कारण इस समस्या की नैसर्गिक कठिनाइयां ही थीं। इस सम्बन्ध में हेस्टिंग्स की जो आलोचना की गयी वह कलहपूर्ण और अनुदार थी। पांच वर्ष समाप्त होने पर (१७७७ में) पंचवर्षीय के स्थान पर वार्षिक व्यवस्था लागू कर दी गयी। यह नया तरीका कार्नवालिस के स्थायी प्रबन्ध तक जारी रहा। दीवानी के मुकदमों का निर्णय तो कलक्टर ही कर दिया करते थे परन्तु जिलों की फौजदारी कचहरियों की प्रधानता अब भी स्थानीय व्यक्ति ही करते थे। हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में दो बड़ी अदालतें कायम कीं : 'सदर दीवानी अदालत', जिसकी प्रधानता गवर्नर-जनरल और कौन्सिल के दो सदस्य करते थे, और 'सदर निजामत अदालत', जिसका प्रधान एक भारतीय जज होता था। ये सब सुधार तो मानो उस पथ पर उठने वाले तर्कोचित पग थे जिस पर आगे चलकर कार्नवालिस ने अधिक स्थायी सुधारों की सृष्टि की। यदि हेस्टिंग्स को अपनी इच्छानुसार काम करने की छूट दे दी जाती तो वह अपने देश के अधिकारियों से भी आगे बढ़कर फौजदारी के मुकदमों का निर्णय भी अंग्रेजों के हाथ में छोड़ देता। सब परिवर्तन प्रशंसनीय योग्यता के साथ ही लागू किये गये और सर विलियम हंटर के शब्दों में, वारेन हेस्टिंग्स ने "उस नागरिक-शासन-प्रणाली की भली प्रकार नींव डाली थी जिस पर कार्नवालिस ने एक विशाल भवन का निर्माण किया।"[1]

इसके उपरान्त हेस्टिंग्स ने विदेश-नीति की ओर ध्यान दिया। बंगाल की सीमाओं की रक्षा करने के लिए निर्धारित, क्लाइव की योजना, पांच वर्ष तक सुचारु-रूप से काम करने के उपरान्त, अब नष्ट होती जान पड़ रही थी। १७६१ में पानीपत के मैदान में होने वाली पराजय की क्षतिपूर्ति करके मराठों ने १७६९ में नर्बदा पार कर ली, राजपूताना और बुन्देलखण्ड में से होकर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और अब तो वह ब्रिटिश प्रदेशों को भी आतंकित करने लग गये थे। उन्होंने उस कठपुतली सम्राट् के साथ षड्यन्त्र करना आरम्भ कर दिया (हेस्टिंग्स के शब्दों में) जो "धज्जियों और चिथड़ों का तुच्छ सम्राट्" इलाहाबाद में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा दी गयी मालगुजारी पर निर्वाह कर रहा था। मरहठों ने सम्राट् को विश्वास दिलाया कि वे उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठा देंगे और अंग्रेजों के बार-बार यह समझाने पर भी कि उसे अपने-आपको मुगल सिंहासन के परम्परागत विरोधी विद्रोहियों के हाथों में नहीं छोड़ना चाहिए, सम्राट् ने मरहठों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दिसम्बर,

१. दि इम्पीरियल गजेटियर आफ़ इण्डिया, खंड २ पृ० ४८६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७७१ में सिन्धिया उसे सुरक्षापूर्वक अपनी राजधानी में ले आया। अंग्रेजों की भविष्य-वाणी के अनुसार ही, यहां पहुंचते ही सम्राट् ने समझ लिया कि वह अपने नाममात्र के संरक्षकों के हाथों में केवल एक राज-बन्दी है। सम्राट् को विवश होकर कोड़ा और इलाहाबाद के वे जिले मरहठों को देने पड़े जो क्लाइव ने कृपापूर्वक उसे दे दिये थे। गवर्नर-जनरल के लिए इससे अधिक दुस्तर और संकटपूर्ण स्थिति की कल्पना भी न की जा सकती थी। इन जिलों में मरहठों के प्रवेश का अर्थ था बंगाल के बाहरी काम का शत्रु के चरणों में आत्म-समर्पण। उधर सम्राट् को आर्थिक शुल्क देते रहने का मतलब था शत्रु का खजाना भरना। एक सक्रिय राजनीतिज्ञ के लिए तो इन दोनों में से कोई भी मार्ग अपनाना सम्भव न था परन्तु कदाचित् कानूनी और टेकनिकल आपत्तियों से रहित कोई और मार्ग था भी नहीं। हेस्टिंग्स ने एक साहसपूर्ण नीति का अवलम्बन किया। उसने शाह आलम को दिया जाने वाला शुल्क बन्द कर देने का निश्चय किया। वैसे तो १७६९–७० के बंगाल के अकाल के समय से ही यह शुल्क न दिया जा सकता था। बनारस की सन्धि के अनुसार उसने पचास लाख रुपये और कम्पनी के एक सैनिक दुर्ग के पालन के लिए आवश्यक धन लेकर, कोड़ा और इलाहाबाद, अवध के नरेश को वापिस लौटा दिये। प्रस्तुत कठिनाई का हल करने के लिए उठाये गये क्लाइव के इस जबरदस्त कदम की प्रायः कटु आलोचना की गयी है परन्तु जान पड़ता है कि उसके पास इसके लिए उचित कारण थे। उसका विचार था कि क्लाइव ने ये जिले सम्राट् को, ब्रिटिश-संरक्षण में जीवन निर्वाह करने के लिए ही दिये थे। उनसे अलग होकर और कम्पनी के सम्भावित शत्रुओं के साथ मिलकर सम्राट् ने यदि कानूनी तौर पर नहीं तो नैतिक दृष्टि से तो अवश्य ही उनके साथ छल किया है। कुछ राजनीतिक परि-स्थितियां ऐसी भी होती हैं जहां सामान्य सिद्धान्त और नियम बुरी तरह टूटते जान पड़ते हैं। इस समय भी एक ऐसी ही स्थिति थी। हेस्टिंग्स ने इस कठिनतम संकटकाल का जिस दक्षता के साथ सामना किया, समस्त विवेकशील और उत्तरदायी विचारकों ने उसकी सराहना की है।

बनारस की सन्धि (सितम्बर १७७३) ने अवध के नवाब के हाथ किये जाने वाले कोडा और इलाहाबाद के विक्रय की पुष्टि कर दी। शुजाउद्दौला के साथ होने वाली निजी भेंटों के फलस्वरूप हेस्टिंग्स को एक ऐसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा जिसका अन्त रुहेला-युद्ध में हुआ। संक्षेप में, समस्त स्थिति यह थी: रुहेल खंड, हिमालय पर्वतमाला के अंचल में उत्तर-पश्चिम की ओर अवध तक फैला हुआ एक उपजाऊ भू-भाग था जिसका क्षेत्रफल १२,००० वर्गमील और आबादी लगभग ६,००० थी। यहां के अधिकतर वासी तो हिन्दू थे परन्तु यहां हुकूमत रुहेलों अथवा पठानों (जो वास्तव में अफगानिस्तान के मुसलमान थे) की थी। यह शासन सरदारों का एक विश्रृंखल और अनिश्चित संगठन-मात्र था जिसका प्रधान उस दल का योग्यतम और सबसे अधिक शक्तिशाली सरदार, हाफिज रहमत खां, था। लगभग १७७० से ही मरहठे रुहेलखंड और अवध को आतंकित करते हुए उनकी सीमाओं पर मंडरा रहे थे। अब विचार-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विनिमय और षड्यन्त्रों का एक वीभत्स दृश्य सामने आया। अवध के नवाब और हाफिज रहमत खां ने एक बार तो, पारस्परिक सुरक्षा के लिए, मरहठों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार करने का निश्चय किया और एक अन्य अवसर पर दोनों में से प्रत्येक नरेश ने मरहठों के साथ मिलकर एक दूसरे का सामना करने की संभावना पर विचार किया। जैसा कि सर जान स्ट्रेची (Sir John Strachey) ने कहा है, तीनों दल "सर्वथा असावधान थे और उनमें से प्रत्येक दल यह जानता था कि बाकी दो दलों पर किसी प्रकार भी भरोसा नहीं किया जा सकता।"[1] यह सब होने पर भी, अन्त में, जून १७७२ में रुहेलों और अवध के बीच एक सन्धि हो गयी जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि यदि मरहठों ने रुहेलखंड पर आक्रमण किया तो नवाब वजीर आक्रान्त देश को बचाने के लिए आएगा। यह भी निश्चित हो गया कि यदि वह युद्ध अथवा शान्ति, किसी भी उपाय से मरहठों को वहां से निकालने में सफल हो गया तो रुहेले उसे ४० लाख रुपया देंगे। इस सन्धि-पत्र पर सर रॉबर्ट बाटकर की उपस्थिति में हस्ताक्षर किये गये। उसने दोनों दलों के हस्ताक्षरों की साक्षी दी। १७७३ में मरहठों ने रुहेलखंड पर हमला कर दिया। अवध के नवाब ने, एक ब्रिटिश दस्ते के साथ मरहठों के विरुद्ध प्रदर्शन किया और वे वापिस लौट गये। शुजाउद्दौला ने तुरन्त चालीस लाख रुपये मांगे। हाफिज ने यह भुगतान करने में आनाकानी की।

बनारस में, शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे एक बड़ी रकम के बदले उसे एक सैन्य-दल उधार दे दें ताकि वह रुहेलों पर विजय प्राप्त करके उन्हें सन्धि-भंग का उचित दंड दे सके। हेस्टिंग्स को यह प्रस्ताव आकर्षक जान पड़ा। उसके अंशतः दो कारण थे। १. वह समझता था कि अवध की सीमा को पर्वत-श्रृंखला और गंगा के प्राकृतिक परकोटे तक फैला देना राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा और २. वह धनाभाव के इस समय में, अवसर से लाभ उठाकर, कंपनी का खजाना भर देना चाहता था। परन्तु, यह सब होने पर भी, वह जानता था कि यह योजना स्वीकार करने में अन्य आपत्तियां भी हैं। इसीलिए उसने, यह समझ कर कि ब्रिटिश सेनाओं को भेजने की कभी आवश्यकता ही न पड़ेगी, हिचकिचाते हुए प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उधर अवध के नवाब ने, जनवरी १७७४ में अंग्रेजों से सहायता मांग ही ली। फलतः कर्नल चेम्पियन के नेतृत्व में एक ब्रिटिश सैन्य-दल नवाब की सेना में जा मिला। इस संयुक्त सेना ने १७ अप्रैल को रुहेलखण्ड पर चढ़ाई कर दी। निर्णायक युद्ध तो ६ दिन पश्चात् कटरा मीरनपुर में ही हुआ। यहां हाफिज रहमत खां ने (जो पर्याप्त कूटनीतिक कुशलता का परिचय दे चुका था) साहसपूर्वक लड़ते हुए वीरगति पायी। लगभग २०,००० रुहेलों को उनके देश से निकाल कर रुहेलखण्ड अवध के शुजाउदौला के राज्य में मिला दिया गया।

रुहेला-युद्ध-सम्बन्धी नीति पर असीम टीका-टिप्पणी हुई है। पार्लियामेंट में हेस्टिंग्स पर होने वाले प्रहारों में उसने एक मुख्य अस्त्र का काम किया और केवल

१. हेस्टिंग्स एण्ड दि रुहेला वार, सर जान स्ट्रेची, पृ० ४९।

रुहेला-युद्ध की आलोचना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेकाले और मिल ने ही नहीं पुराने दल के अधिकतर आंग्ल-भारतीय इतिहासकारों ने, इस नीति की तीव्र निन्दा की है। फ्रांसिस के विष-वमन, बर्क की वक्तृत्व-शक्ति, मिल के पक्षपात और मेकाले के रूपक उपमाओं ने हेस्टिंग्स के विरोध को अत्यधिक तूल दिया। हेस्टिंग्स को एक ऐसे असावधान नियोजक के रूप में चित्रित किया गया जिसने अपवित्र आर्थिक लाभ के बदले एक स्वतन्त्र राष्ट्र के जीवन और उनकी स्वाधीनता को बेच दिया और स्वयं कुटिलतापूर्वक खड़ा अपने ही सामने होते अवर्णनीय अत्याचार देखता रहा। रुहेलों को, पुरातन सदाचार की प्रतिमूर्त्ति एक सरल वन्य जाति के रूप में और उनके विरोधी शुजाउद्दौला को निर्दयता और दुराचार के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया।

आधुनिक आलोचना इस प्रकार के आक्षेपों और पक्षपातों से सर्वथा मुक्त है। रुहेला जाति के उदय अथवा उनकी उत्पत्ति के मूल स्रोत का तो प्रश्न ही यहां सर्वथा अप्रासंगिक है। बर्क और उसके अनुयायियों ने यह कल्पना करके भूल ही की कि रुहेलों को अपने अधीनस्थ प्रदेश पर कोई विधिवत् दीर्घकालीन अधिकार प्राप्त था। वास्तव में तो वह लुटेरों की एक जाति थी जिसने कोई २५ वर्ष से ही रुहेलखंड की हिन्दू जनता पर अपनी सत्ता स्थापित कर रखी थी। दूसरी ओर, रुहेलों का अधिकार उन तत्कालीन भारतीय राज्यों के समान ही था जिनका उदय मुगल शक्ति के ध्वंस के उपरान्त हुआ था और यदि वह लड़ाई दुष्टतापूर्ण ही थी तो इसकी दुष्टता में केवल इस कारण कमी नहीं हो जाती कि रुहेलों ने इस देश में बहुत समय पहले से ही अपनी प्रभुता स्थापित नहीं कर ली थी।

यह बात निश्चित रूप से मानी जा सकती है कि सन्धि-भंग करने वाले शत्रुओं का विरोध करने के लिए नवाब के पास पर्याप्त कानूनी और टैकनिकल कारण था। इस युद्ध में होने वाली सैनिक प्रक्रियाएं भी कदाचित् उस समय भारत में प्रचलित परिपाटियों से अधिक हिंसामय अथवा क्रूर न थीं। फिर भी यह कहना तो संभवतः तनिक अतिशयोक्तिपूर्ण ही है कि यह संघर्ष "हिंसा और रक्तपात के बिना ही होता रहा और सामान्य रूप से इसमें जितनी मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन हुआ वह भारतीय युद्धों की तुलना में, पूर्णतः असाधारण ही बात थी।"[1] चैम्पियन द्वारा की गयी अपने स्थानीय मित्रों की आलोचना उनकी तुलना में अपनी स्थिति के असंतोष और उन्हें लूट में प्राप्त होने वाले धन के प्रति ईर्ष्या की भावना से अतिरंजित है। तब भी उसने निश्चित रूप से यह तो स्वीकार कर ही लिया कि उसे हिंसा और दमन व अमानवीयता और निर्दयता के असीमित प्रदर्शन की ओर से नेत्र मूंदने पड़े और "पूरी सेनाएं ऐसे दृश्य प्रस्तुत कर रही थीं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।" उसी समय प्रकट की जाने वाली इन निश्चित धारणाओं में कुछ न कुछ सत्य अवश्य रहा होगा। इन धारणाओं को १२ साल बाद पार्लियामेंट द्वारा की जाने वाली जांच-पड़ताल के समय स्वयं चैम्पियन द्वारा रुक-रुक कर दिये गये वक्तव्यों अथवा उसी अवसर पर दी गयी

१. हेस्टिंग्स एन्ड दि रुहेला वार, सर जान स्ट्रेची, पृ० २३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन अफसरों की साक्षी के आधार पर सर्वथा निराधार नहीं ठहराया जा सकता जिन्होंने उचित कारणों से प्रभावित होकर ही पार्लियामेंटरी पड़ताल के समय सत्य को न्यूनतम रूप में ही प्रस्तुत किया होगा। एक बात अवश्य है, चैम्पियन की प्रारम्भिक घटनाएं निश्चित रूप से अतिशयोक्तिपूर्ण थीं। मेकाले और मिल को उन्होंने किसी हद तक स्वाभाविक रूप से ही, पथ-भ्रष्ट भी किया। कुछ भी हो, हमारे लिए इस प्रसंग का अधिक महत्त्व नहीं। यह तो सर्वथा निश्चित ही है कि हेस्टिंग्स ने शक्ति और सदाशयता-पूर्ण विरोधों द्वारा अपने सामने लाये जाने वाले प्रत्येक अत्याचार का तुरन्त दमन करने का भरसक प्रयत्न किया। कम से कम इस आक्षेप में तो तिलमात्र भी सत्य नहीं कि हेस्टिंग्स ने उन अत्याचारों की उपेक्षा की।

इस प्रकार हेस्टिंग्स को प्रायः समस्त जबरदस्त अभियोगों से सर्वथा मुक्त किया जा सकता है। उसका यह अर्थ नहीं (जैसा कि उसके कुछ आधुनिक समर्थकों ने मान लिया है) कि उसकी नीति, दूसरे योग्यतम राजनीतिज्ञों की नीतियों के मुकाबले में, तर्कसंगत आलोचना की परिधि से अधिक बाहर थी। हेस्टिंग्स की नीति को तो, सबसे पहले, कदाचित् औचित्य के दृष्टिकोण से ही, एक छूट दी जानी चाहिए। हम देख ही चुके हैं कि बनारस सन्धि के अवसर पर स्वयं गवर्नर-जनरल ने नवाब वजीर की सहायता के लिए की गयी प्रार्थना स्वीकार करने के औचित्य पर अत्यन्त सन्देह प्रकट किया था। वह समय की प्रतिकूलता का भी अनुभव कर रहा था क्योंकि "अपने देश में कम्पनी सार्वजनिक उद्वेग की शिकार हो रही थी। उसके समस्त कार्य-व्यापारों पर पार्लियामेंट में वादविवाद होने की संभावना बनी रहती थी। उसके चार्टर का समय समाप्त होता जा रहा था और हिज मेजेस्टी के मिनिस्टर चार्टर की अवधि फिर बढ़ाने के लिए होने वाली बातचीत में आने वाले प्रत्येक विरोधी वाता-वरण से लाभ उठाने का निःशंक प्रयत्न करने के लिए तैयार थे।"[1] पूरे मामले को अकेला छोड़ देने के मूल कारण, कदाचित् इससे अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। उस समय सम्भवतः सबसे अच्छा मार्ग तो यह था कि नवाब वजीर को यह बता दिया जाता कि वह जैसे चाहे रुहेलों के साथ अपने मतभेद दूर कर ले। हेस्टिंग्स ने बाद में यह ऐलान किया था कि सन्धि-पत्र की साक्षी होने के कारण कम्पनी के लिए इस मामले में हस्तक्षेप करना अनिवार्य था, परन्तु यह तो बाद में बतायी गयी बात ही थी। सर राबर्ट बारकर ने तो केवल दोनों पक्षों के हस्ताक्षरों की साक्षी दी थी। अतः यह कहना उचित नहीं कि इस प्रकार उसने कम्पनी को उस सन्धि का पालन करने के लिए भी उत्तरदायी ठहरा लिया था। इस मामले की प्रारम्भिक दशाओं में, हेस्टिंग्स सदा ही अपने स्वभाव के प्रतिकूल हिचकिचाहट और अनिश्चय ही प्रकट करता रहा और वह समस्त स्थिति का मुकाबला अपनी स्वाभाविक दृढ़ता के साथ करने में असफल ही रहा। इतने महत्त्वपूर्ण मामले में, अधूरी आशा और विश्वास, सम्भावना और असंभावना के बीच में डगमगाते हुए, (यह सोचकर कि कदाचित् वैसा अवसर आएगा ही नहीं)

१. वही, पृष्ठ १२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनिच्छापूर्वक अपनी स्वीकृति दे देना, राजनीतिज्ञता की दृष्टि से अशोभन ही था। उस नीति के विरुद्ध अन्य आपत्तियां भी थीं। स्पष्टतः उसने नीति का पालन करके डायरेक्टरों द्वारा निर्धारित उस नियम का खंडन किया था जिसके अनुसार भारतीय झगड़ों में उलझने में रोक लगा दी गयी थी। सर आल्फ्रेड ल्याल (Sir Alfred Lyall) के इस निर्णय का विरोध करना भी कठिन ही है कि कम्पनी के साथ कोई शत्रुता न रखने वाली जनता के विरुद्ध प्रयुक्त होने के लिए ब्रिटिश सेनाएं उधार देकर एक बहुत ही अभागी मिसाल कायम की गयी थी। यद्यपि रुहेलों के साथ हिन्दुओं को भी रुहेलखंड से बाहर न निकाला गया तथापि स्वामियों का यह परिवर्तन उनके लिए भी हितकर सिद्ध न हुआ होगा। हाफिज रहमत का शासन दयापूर्ण और लोकप्रिय हो रहा था। इस कथन के लिए हमें सर जान स्ट्रेची का महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्राप्त है कि हाफिज रहमत के सबल व्यक्तिगत नियन्त्रण के अधीन, हिन्दू जनता के साथ, एक प्रान्त के अतिरिक्त, अन्य सब पड़ोसी प्रान्तों से अधिक अच्छा बर्ताव किया जाता था और उन्हें श्रेष्ठतर संरक्षण प्राप्त था।[1] शुजाउद्दौला का शासन दुर्बल और बुरा सिद्ध हुआ और यह तो हम जानते ही हैं कि उसके उत्तराधिकारी के समय में तो रुहेलखण्ड पर लज्जाजनक कुशासन रहा। अस्तु, नैतिक दृष्टिकोण से तो उचित रूप से हेस्टिंग्स के विरुद्ध बस यही कहा जा सकता है (और यह कोई बहुत बड़ा अभियोग भी नहीं है) कि इस मामले में उसका दृष्टिकोण, जैसा कि सर जान स्ट्रेची ने भी स्वीकार किया है, "तनिक निन्दनीय" ही था और अपने पत्रों तथा रिपोर्टों में वह नवाब के साथ किये जाने वाले समझौते से होने वाले आर्थिक लाभों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता रहा।[2]

---

१. हेस्टिंग्स एन्ड दि रुहेला वार, सर जॉन स्ट्रेची, पृ० ३०।

२. वही, पृष्ठ ११३, २६३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १६

वारेन हेस्टिंग्स—रेग्यूलेटिंग एक्ट और नन्दकुमार का मुकंदमा

रुहेला-युद्ध हेस्टिंग्स के शासन के प्रथम भाग की अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना थी। लार्ड नॉर्थ (Lord North) के रेग्यूलेटिंग एक्ट ने उसके अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया। अतएव इसके कारणों को जानने के लिए तनिक विगत घटनाओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम इस भावना का क्रमशः विकास होता देखते हैं कि भारत में ब्रिटिश-शासन का उत्तरदायित्व एक शक्तिशाली और सम्पन्न निजी व्यापारिक कम्पनी की जगह स्वतः राष्ट्र को पार्लामेंट के माध्यम द्वारा अपने ही ऊपर लेना होगा। १७५९ में क्लाइव ने पिट को एक पत्र लिखा, उसमें यह सुझाव रखा था कि बंगाल की 'दीवानी' और उसके फलस्वरूप अधिकार-शक्ति से एक व्यापारिक कंपनी को इतनी महान् प्रभु-सत्ता का कार्य अत्यधिक विशाल सिद्ध होगा; और इस बात का भय है कि राष्ट्र की सहायता के लिए कम्पनी इतने विस्तृत प्रभुत्व को बनाए रखने में सफल नहीं होगी।" उसने तो यह परामर्श भी दिया था कि यदि राज्य बंगाल का भार अपने ऊपर ले ले तो संभव है, भारतीय मालगुजारी के कारण अपने देश में अंग्रेज कर-दाताओं का भार भी हल्का हो जाय। पिट इस समय इतना गम्भीर प्रश्न उठाने के लिए तैयार न था। अतः उसने यह कहकर टालमटोल कर दी कि यह मामला "बहुत ही अच्छे ढंग का" है। प्लासी की लड़ाई के बाद १५ वर्ष तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रिटायर्ड कर्मचारी भारत से अपार धन लेकर अपने देश लौटे। उन्होंने इस आशा पर ही जागीरें और भद्दे निर्वाचन-क्षेत्र खरीद लिये। उन्हें आशा थी कि इससे पुराने कुलीन भूमिपतियों के समान वे सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेंगे। तत्कालीन व्यंग्य-चित्रों और व्यंग्यपूर्ण साहित्य में पूर्वार्द्ध रंग-ढंग वाले आडम्बर-प्रिय तथा फिजूल-खर्च इन 'नवाबों' का अत्यन्त विशद चित्रण किया गया है।

इन रिटायर्ड सेवकों के स्वदेश लौटने के दो परिणाम हुए। राजनीतिज्ञ यह सोचने लगे कि इस धन का कुछ अंश राजकीय कोष में पहुंचाया जाए। उधर ईस्ट इन्डिया स्कंद (Stock) के मालिक यह मांग करने लगे कि इस मुनाफे का अधिकांश भाग उन्हें प्राप्त होना चाहिए और थोड़ा भाग 'पूर्व' में काम करने वाले कम्पनी के कर्मचारियों को। इंग्लैण्ड में 'दीवानी' प्राप्त होने का समाचार पहुंचने के बाद, मालिक अपना संयम बनाये न रख सके और संचालक समिति (कोर्ट आफ डायरेक्टर्स) के विरोध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बावजूद (जो जानते थे कि उनकी स्थिति वास्तव में उतनी अच्छी नहीं है जितनी दिखाई देती है) उन्होंने १७६६ में अपना लाभांश ६ प्रतिशत से १० प्रतिशत बढ़ा दिया और अगले ही वर्ष साढ़े बारह प्रतिशत कर दिया। १७६६ से पार्लामेंट ने—डायरेक्टरों के दृष्टिकोण से—भारतीय मामलों में व्यग्रतापूर्ण रुचि लेना आरम्भ कर दिया। पार्लामेंट का एक छोटा-सा उत्साही दल, जिसमें बेकफोर्ड (Beckford) बारेल (Barrel) और न्यूजेन्ट (Nugent) मुख्य थे, लगातार इस बात पर बल देने लगा कि कम्पनी की भारतीय सम्पदा वास्तव में ताज की है। जैसा कि उस समय कहा भी गया था और वास्तविकता भी यही थी कि कानूनी तौर पर कम्पनी की कोई 'सम्पदा' थी ही नहीं। पारिभाषिक रूप से कम्पनी मुगल-सम्राट् शाहआलम की केवल जमींदार थी। तथापि मंत्रिमंडल ने स्पष्टतः इस समस्या का कोई साहसपूर्ण समाधान ढूंढ़ निकालने में संकोच किया, और सही अर्थों में उसने इस प्रश्न को उठने भी न दिया। इस आन्दोलन से लाभ उठाकर वह कम्पनी की तथाकथित सम्पत्ति का एक भाग शाही खजाने में मिला लेने के लिए तैयार थे। परन्तु उसके लिए किसी न किसी तरह के समझौते का मार्ग ही उसे पसन्द था। फलस्वरूप, १७६३ में पार्लामेंट ने कोई व्यापक कदम उठाने से इन्कार कर दिया। फिर भी वह खुले आम और भयंकर रूप से कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करने लगी। उसने कम्पनी के आन्तरिक विधान में अनेक परिवर्तन किये। लाभांश की दर सीमित कर दी और कम्पनी के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि वह हर साल ४००,००० पौंड की रकम राज-कोष में दिया करे। उसके बदले में उन्हें अपने अधीनस्थ प्रदेशों और मालगुजारी पर अधिकार बनाए रखने की अनुमति दे दी गयी। आरम्भ में ये सब बातें केवल दो साल के लिए निश्चित की गयी थीं परन्तु बाद के एक्टों द्वारा यह अवधि १७७२ तक बढ़ा दी गई।

कम्पनी को आराम पहुंचाने वाली एक घटना का उल्लेख करना यहां अत्यन्त मनोरंजक होगा। वह घटना अपने आप में तो विशेष महत्त्वपूर्ण न थी परन्तु उसके फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण और अदृष्ट परिणाम निकले। कम्पनी को आयरलैण्ड और उत्तरी अमरीका की बस्तियों में भेजी जाने वाली अपनी चाय पर पूरी चुंगी वापिस ले लेने का अधिकार था। १७७३ में बोस्टन के 'विद्रोहियों' ने बहुत बड़ी मात्रा में यह चाय समुद्र में फेंक दी थी। इस प्रकार पल भर के लिए विश्व के दो विभिन्न खण्डों में, इंग्लैण्ड के समुद्र-पार के साम्राज्यों के भाग्य एक विचित्र ढंग से एक दूसरे के साथ मिल गये।

परन्तु अभी न तो संचालक समिति को ही संतोष हुआ था और न पार्लामेंट को ही। १७६९ में समिति ने अपने तीन पुराने कार्यकर्त्ताओं—वांसिटार्ट (Vansittart) कर्नल फोर्ड (Colonel Forde), और स्क्रैफ्टन (Scrafton) को 'सुपरवाइजर' अथवा निरीक्षक' बना कर भेजा। उन्हें समझा दिया गया था कि उन्हें भारत में शासन की प्रत्येक शाखा की पूरी तरह जांच-पड़ताल करनी है। उन्हें यह पूरा अधिकार दे दिया गया था कि वे आवश्यकता पड़ने पर 'प्रेसीडेन्टों' और 'कौंसिलों' को भी पद-च्युत कर सकते हैं। इस कमीशन को, जो कदा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित् 'पूर्व' में कम्पनी के शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देना, दुर्भाग्य का ही सामना करना पड़ा। जिस जहाज में बैठकर उन्होंने यात्रा की उसका आशा-अन्तरीप से रवाना होने के बाद कुछ पता ही न चला। उधर कंपनी के मामलों में राष्ट्र की विरोधी भावना में कोई न्यूनता न हुई। उस समय तो विरोधियों का स्वर बहुत ही ऊंचा हो गया था जब 'बैंक' से उधार लेने पर भी डूबती हुई साख को न बचाया जा सका और संचालकों को विवश होकर १७७२ में लॉर्ड नॉर्थ को यह सूचना देनी पड़ी कि यदि उन्हें राज्य की ओर से दस लाख पौंड का ऋण न मिला तो वे अपना व्यापार जारी न रख सकेंगे। उसी वर्ष ३१ सदस्यों की एक विशेष समिति और १३ सदस्यों की एक गुप्त संसदीय समिति नियुक्त की गयी। इन्होंने अपनी विस्तृत रिपोर्टें प्रकाशित करना आरम्भ किया। इन रिपोर्टों द्वारा, प्रासंगिक रूप से लार्ड क्लाइव पर होने वाले आक्रमणों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इनमें इन तथ्यों पर भी प्रकाश डाला गया कि नौ वर्षों में, अर्थात् १७५७ से १७६६ तक २,१६९,६६५ पौंड, बंगाल वालों की ओर से कम्पनी के कर्मचारियों को उपहारों के रूप में दिये गये। इस रकम में क्लाइव की वह 'जागीर' शामिल न थी, जो लगभग ६००,००० पौंड की सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त, ३,७७०,८३३ पौंड क्षति-पूर्ति के रूप में दिये गये थे।[1] दोनों समितियों की रिपोर्टों ने इसी विश्वास की पुष्टि की कि कम्पनी की स्वाधीनता को पार्लियामेंट की सर्वोच्च-सत्ता के सम्मुख झुकना ही होगा।

१७७३ में दो एक्ट पास किये गये। इनमें से एक के अनुसार कम्पनी को राज्य की ओर से ऋण दिया गया, उसके लाभांश सीमित कर दिये गये, और उसके लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपना हिसाब-किताब राज-कोष को सौंप दें। दूसरे, और अधिक महत्त्वपूर्ण एक्ट द्वारा, जो 'रेग्यूलेटिंग एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है, कम्पनी का नया विधान बनाया गया। इसके बाद से संचालकों का चुनाव हर चार साल के बाद होना था, उनमें से एक चौथाई सदस्यों को हर साल बदल दिया जाना था और उन्हें कम-से-कम एक साल तक अपने पद से अलग रहना था। बंगाल के लिए एक गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाना था। गवर्नर-जनरल की सहायता तथा उसके नियंत्रण का भार चार 'कौंसिलरों' अथवा परामर्शदाताओं पर डाला गया। सब बातों का निर्णय बहुमत द्वारा किया जाना था, दोनों पक्षों में समान मत होने की दशा में ही गवर्नर-जनरल किसी भी पक्ष में अतिरिक्त मत (कास्टिंग वोट) दे सकता था। गवर्नर-जनरल और कौंसिल को, आश्रित प्रेसीडेन्सियों और स्थानीय शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का निरीक्षण करने और उनमें आवश्यक रोक-थाम करने का पूरा अधिकार था। डायरेक्टरों को, भारतीय मालगुजारी से सम्बन्ध रखने वाले समस्त पत्र 'ट्रेज़री' (राज-कोष) के सामने तथा भारतीय शासन, नागरिक और सैनिक मामलों से सम्बन्ध रखने वाले सब कागज़ात एक सेक्रेटरी-आफ-स्टेट (राज्य सचिव) के सामने रखने थे। सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल तथा उसके परामर्शदाताओं—वारेन

Regulating Act.

१. रिपोर्ट्स आफ दि हाउस आफ कामन्स, खण्ड ३, पृष्ठ ३११-१२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेस्टिंग्स, लेफ्टिनेन्ट-जनरल क्लेवरिंग, मॉनसन, बारवेल, और फिलिप फ्रांसिस के नाम 'एक्ट' में ही घोषित कर दिये गये थे। इन्हें पांच वर्ष तक अपने पद पर काम करना था। भावी नियुक्तियां कम्पनी को ही करनी थीं। कलकत्ते में एक सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) की स्थापना की गयी जिसमें एक चीफ जस्टिस (सर्वोच्च न्यायाधीश), सर इलिजाह इम्पे (Sir Elijab Impey) और तीन छोटे जज थे। वेतन अत्यन्त उदारतापूर्वक निश्चित किये गये। गवर्नर-जनरल को, वेतन के रूप में २५,००० पौंड, प्रत्येक परामर्शदाता को १०,००० पौंड और सर्वोच्च न्यायाधीश को ८,००० पौंड देने का निश्चय किया गया।

रेग्युलेटिंग एक्ट एक अधूरा उपाय था, बहुत सी बातों में तो यह बुरी तरह अस्पष्ट था। इसमें नाममात्र के बंगाल के नवाब की सत्ता को जानबूझ कर ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया था और भारत में राज-छत्र अथवा कम्पनी को सर्वोच्चता के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित बात नहीं कही गई थी। कौंसिल को, गवर्नर-जनरल का निर्णय रद्द करके, कार्यकारिणी में गतिरोध उत्पन्न करने का अधिकार था। दूसरी प्रेसीडेन्सियों पर, कलकत्ते के सर्वोच्च शासन का अर्थ तो केवल यह था कि भारतीय रजवाड़ों के साथ युद्ध अथवा सन्धि करते समय उन्हें कलकत्ते के नियन्त्रण में ही काम करना था। इस सम्बन्ध में भी एक विशेष धारा यह थी कि स्वदेश से विशेष आदेश मिलने पर अथवा अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर, जिसका निर्णय वे स्वयं ही कर सकते थे, आश्रित सरकारें बंगाल से आवश्यक अनुमति प्राप्त किये बिना भी काम कर सकती थीं। अंततः, अत्यधिक दुर्भाग्य की बात यह थी कि सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार की सीमाओं, उसके द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले कानून और 'कौंसिल' तथा सर्वोच्च न्यायालय के पारस्परिक सम्बन्धों की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई थी। पार्लियामेंट द्वारा की गयी कुछ विशेष नियुक्तियां तो बहुत ही अनुचित सिद्ध हुईं। फ्रांसिस (जिसे सबने 'जुनियस' के पत्रों का लेखक मान लिया है) और क्लेवरिंग को भारत के सम्बन्ध में कोई अनुभव ही न था। जान पड़ता है कि वे तो यह निश्चित धारणा साथ लेकर भारत रवाना हुए थे कि भारत का शासन दुराचार और बर्बरतापूर्ण है। इसके अतिरिक्त, फ्रांसिस यह भी समझ रहा था कि वह 'बंगाल की गवर्नरी के पथ पर' बढ़ रहा है, जो उसके ही शब्दों में "किसी प्रजा-जन द्वारा पायी जा सकने वाली, संसार की प्रथम स्थिति है।"

बारवेल के अतिरिक्त (जो भारत में ही रहता था) अन्य सब नये 'कौंसिलर' १९ अक्तूबर, १७७४ को यहां पहुंचे। जज दो दिन पहले पहुंच चुके थे। नया शासन, औपचारिक रूप से, २० तारीख से आरम्भ हुआ। इसके बाद ६ साल तक वह संघर्ष चलता रहा, जो कदाचित् प्रशासनिक इतिहास में अभूतपूर्व है। कौंसिलरों और गवर्नर-जनरल का पारस्परिक झगड़ा इस महत्त्वहीन बात से आरम्भ हुआ कि गवर्नर-जनरल ने कौंसिलरों के स्वागत-सम्बन्धी शिष्टाचार में कुछ कमी कर दी थी। इसी झगड़े के आधार पर वे उसकी सम्पूर्ण नीति और शासन-प्रणाली पर तीव्र प्रहार करने लगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हेस्टिंग्स के अतिरिक्त कोई और व्यक्ति होता तो उसे उस पद से अवश्य अलग कर दिया जाता। अगले कुछ वर्षों में बहुमत प्रायः उसके विरुद्ध रहा और नाम-मात्र के लिए शासन के प्रधान-पद पर होकर भी उसे प्रायः एक ऐसी नीति का पालन करना पड़ा, जिसे वह स्वयं पसन्द नहीं करता था। फ्रांसिस कोई साधारण व्यक्ति न था। इसलिए हेस्टिंग्स को असाधारण विरोध का सामना करना पड़ा। कौंसिल में अपने प्रधान का सामना करते हुए, फ्रांसिस, गवर्नर-जनरल द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रत्येक सुझाव की सूक्ष्म एवं प्रतिशोधात्मक तर्क के साथ आलोचना करता था। हेस्टिंग्स अपने देश के सहयोग पर आश्रित नहीं रह सकता था, अन्त में संचालकों ने भी उसकी निन्दा की और पार्लियामेंट के प्रस्तावों में भी एक से अधिक बार उसे वापिस बुलाने की मांग की गयी। उसने जिस ढंग से अपने शत्रुओं का सामना किया, उसमें दिव्यता का-सा आभास था। १७७४ से १७७६ तक बहुमत प्रायः उसके विरुद्ध रहा। सितम्बर १७७६ में मॉनसन की मृत्यु हो गयी और हेस्टिंग्स ने अपने अतिरिक्त मत का प्रयोग करके कौंसिल पर पुनः नियन्त्रण कर लिया। १७७७ में हेस्टिंग्स ने लन्दन में एक एजेन्ट को कुछ अस्पष्ट और अनुचित आदेश किये। फलस्वरूप, वहां गवर्नर-जनरल का त्याग-पत्र पेश कर दिया गया। हेस्टिंग्स ने यह घोषणा करते हुए कि उसके एजेन्ट ने अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग किया, क्लेवरिंग के लिए रास्ता छोड़ने से इन्कार कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने भी हेस्टिंग्स के निर्णय का ही समर्थन किया परन्तु उन्होंने उसी समय एक उचित कदम उठाकर हेस्टिंग्स के उस विवेकहीन और उद्धत प्रयत्न को रोक दिया जिसके अनुसार वह घोषणा करना चाहता था कि क्लेवरिंग ने, इस सम्बन्ध में अपने व्यवहार के कारण, अपने को कौंसिलर और प्रधान सेनापति के पदों का अनधिकारी बना लिया है। १७७७ में क्लेवरिंग की भी मृत्यु हो गयी और हेस्टिंग्स ने, एक द्वन्द्व-युद्ध में, फ्रांसिस को अशक्त कर दिया। उसका प्रधान शत्रु कुछ समय के उपरान्त उसी वर्ष भारत छोड़कर चला गया। उसने विजयी स्वर में कहा, "मेरे विरोधी बीमार हो गये, मर गये या भाग गये"—और इसी समय से उसकी स्थिति सुदृढ़ होती गयी। हेस्टिंग्स ने ब्रिटिश भारतीय इतिहास के अधिकतम संकट तथा भयपूर्ण काल में भारत के शासन की बागडोर संभाली परन्तु केवल कौंसिल के साथ होने वाला संघर्ष ही, साधारण शक्ति वाले किसी व्यक्ति को हतोत्साह कर देता। जैसा कि उसने स्वयं कहा था, वह तो सब ओर 'अंधियारे संकेतों, रहस्यात्मक भेदों, तीव्र छल और व्यंग्यपूर्ण आक्षेपों' के वातावरण से घिरा हुआ था।

'कौंसिलरों' का सबसे पहला काम यह था कि उन्होंने रुहेला-युद्ध की तीव्र निन्दा की। उन्होंने लखनऊ के ब्रिटिश रेसीडेंट, मिडल्टन को बुलवाया और एक अत्यधिक अनुचित मांग द्वारा, उसे वे सब पत्रोत्तर अपने सामने रख देने के लिए कहा जो उसके और गवर्नर-जनरल के बीच लिखे गये थे (और जिनका एक अंश सर्वथा व्यक्तिगत और गोपनीय था)। उसने कर्नल चेम्पियन को आज्ञा दी कि वह दृढ़तापूर्वक अवध के नवाब से चालीस लाख की उस रकम की मांग करे, जिसके लिए उसने कम्पनी को (मरहठों को निकाल बाहर करने के पुरस्कार-स्वरूप) वचन दिया था। यह सत्य ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा गया है कि "कौंसिलरों" ने "घृणोत्पादक बताकर रुहेला-युद्ध की तो निन्दा की थी परन्तु फिर उन्होंने उसके मेहनताने के रूप में मिलने वाले धन से अपनी जेबें भरने में अत्यन्त आतुरता दिखलायी थी।"[1] सुयोग्यतम तर्कपूर्वक, हेस्टिंग्स ने इन सब बातों का यही उत्तर दिया कि इस मामले का औचित्य चाहे जो भी हो परन्तु रुहेला-युद्ध तो एक पूर्ववर्त्ती शासन-काल की ही घटना थी और उस समय तो वह युद्ध भी अपनी अन्तिम स्थिति में ही था। अतएव नयी सरकार को उस युद्ध के सम्बन्ध में लिखित रूप से अपनी असहमति प्रकट करके ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए।

नये कौंसिलरों की, स्थानीय शक्तियों के प्रति प्रदर्शित, सहानुभूतियों का वास्तविक मूल्य तो अवध के साथ किये गये उनके बर्ताव से ही आंका जा सकता है। जनवरी १७७५ में नवाब वजीर का देहान्त हो गया और उसने इस अवसर से लाभ उठाकर उसके उत्तराधिकारी को एक नयी सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इसके अनुसार, नवाब द्वारा ब्रिटिश सेनाओं के पालन को दी जाने वाली सहायता में वृद्धि कर दी गयी और उसे, बनारस जिले का पूर्णाधिकार कम्पनी को सौंप देने के लिए विवश किया गया। हेस्टिंग्स ने पूरा बल लगाकर इस कृत्य में निहित अन्याय और अनीति पर अधिकतम प्रकाश डाला। उसने इस बात की ओर भी संकेत किया कि यह कदम कम्पनी और अवध की परम्परागत मित्रता से विपरीत दिशा में ले जाने वाला है। परन्तु उन बातों का कोई फल न हुआ।

कौंसिल ने जिस कार्य-प्रणाली का अवलम्बन किया उसने, जनता की आंखों में, हेस्टिंग्स की स्थिति बहुत ही गिरा दी। कलकत्ते में उसके बहुत से शत्रुओं ने वह अवसर हेस्टिंग्स के सर्वनाश के लिए बहुत उपयुक्त समझा। स्थानीय संवाददाताओं ने उसके विरुद्ध विश्वासघात करने के अनेक अभियोग लगाये। मार्च १७७५ में एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण, राजा नन्दकुमार ने कौंसिल के सामने एक पत्र रखा। उसके अनुसार हेस्टिंग्स पर यह अभियोग लगाया गया कि दूसरी रिश्वतों के अलावा, उसने पुराने नवाब मीर जाफर की विधवा पत्नी से भी साढ़े तीन लाख रुपये घूस में लिये। फ्रांसिस, मॉनसन और क्लेवरिंग ने अनुचित तत्परता के साथ इस अभियोग का स्वागत किया। उन्होंने आवश्यक प्रमाणों की प्रतीक्षा किये बिना ही अपनी यह सम्मति लिख दी कि "गवर्नर-जनरल ने किसी प्रकार के गबन से भी अपने को बचाना उचित नहीं समझा।" हेस्टिंग्स ने, कौंसिल के सामने, नन्दकुमार जैसे "बुरी तरह बदनाम" व्यक्ति द्वारा अपने को अभियुक्त ठहराया जाना बिल्कुल स्वीकार न किया। कौंसिल के अधिकतर सदस्यों ने अभियोग लगाने वाले को बुलाने का अनुरोध किया तो गवर्नर-जनरल ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया, कौंसिल भंग कर दी और वह स्वयं कमरे से बाहर निकल आया। प्रायः इस ओर संकेत किया गया है कि यदि वह जांच-पड़ताल होने देता और अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोग का खुलेआम विरोध करता तो उसके लिए अच्छा रहता परन्तु जान पड़ता है कि उसने ऐसा कभी नहीं किया। कौंसिल में अपने सहकारियों के,

१. ए. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, एच. बेवेरिज, खंड २, पृ० ३६५।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
CC-0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपने ही प्रति दिखाये गये उद्धत और अपमानजनक व्यवहार पर आपत्ति करने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण था। सम्भवतः उसने यह भी सोचा हो कि स्पष्टतः इतनी पक्षपातपूर्ण अदालत के सामने अपने को निर्दोष सिद्ध करना कठिन ही होगा। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य था कि जब हेस्टिंग्स मुर्शिदाबाद गया था, तब उसने वास्तव में शहजादी से १५०,००० की रकम मनोरंजन के लिए प्राप्त होने वाले धन के रूप में ली थी। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक हेस्टिंग्स का समर्थन करने वाले, सर जेम्स स्टीफेन,[1] ने भी ली गई इस रकम को स्वीकार किया है, "यदि निश्चित रूप से यह कार्य गैरकानूनी न था तो कम से कम आपत्तिजनक अवश्य था।" यह वास्तव में कम्पनी के उन आदेशों के बिलकुल विरुद्ध था जिनमें उसने उपहार आदि स्वीकार करने पर रोक लगा दी थी।

हेस्टिंग्स के कमरे से बाहर चले जाने के बाद कौंसिल ने बहुमत से यह प्रस्ताव पास किया कि गवर्नर-जनरल ने वास्तव में वह रकम ली है जिसका उस पर अभियोग लगाया गया है, और उसे वह रकम कम्पनी के खजाने में जमा करानी होगी। हेस्टिंग्स ने इस प्रस्ताव की कोई परवाह न की और उसने कुछ ही दिन बाद नन्दकुमार और उसके साथियों पर एक षड्यन्त्र करने का अभियोग लगाकर उन पर मुकदमा चला दिया। अभी इस मामले का कोई निर्णय नहीं हुआ था कि स्वयं नन्दकुमार को, कलकत्ते के एक व्यापारी के साथ जालसाजी करने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। इस गिरफ्तारी का नन्दकुमार द्वारा हेस्टिंग्स पर लगाये गये अभियोगों अथवा हेस्टिंग्स द्वारा नन्दकुमार पर लगाये गये षड्यन्त्र के अभियोग के साथ तनिक भी सम्बन्ध न था। सर्वोच्च न्यायालय ने नन्दकुमार के मुकदमे पर विचार करके उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया। इस प्रकार नन्दकुमार की जीवन-लीला समाप्त हो गयी और हेस्टिंग्स के विरुद्ध लगाये गये अभियोग रद्द कर दिये गये। उन पर फिर कभी विचार नहीं किया गया।

ये रहस्यात्मक घटनाएं क्यों और कैसे घटित हो गयीं—इस सम्बन्ध में लोग कदाचित् कभी एकमत न हो सकेंगे। वास्तव में इनका मूल रहस्य तो गुप्त उद्देश्यों और आकांक्षाओं के स्नेहास्पद लोक में ही छिपा है। कुछ भी हो, इस घटना ने लोगों पर असाधारण प्रभाव डाला और स्वाभाविक रूप से बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि नन्दकुमार ने नाममात्र को तो जालसाजी के बदले, परन्तु वास्तव में गवर्नर-जनरल पर अभियोग लगाने का साहस करने के बदले ही, मृत्यु का शुल्क चुकाया है। इस मामले का महत्त्व ऐतिहासिक न होकर जीवन-चरित्र सम्बन्धी ही अधिक है अतएव यहां संक्षेप में इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। नवीन खोजों ने इस विचार को तो सर्वथा निराधार सिद्ध कर दिया है कि हेस्टिंग्स और इम्पे ने जानबूझ कर एक कानूनी

१. दि स्टोरी आफ़ नन्दकुमार एन्ड दि इम्पीचमेंट आफ़ सर एलिजाह इम्पे, सर जे० एफ़० स्टीफ़ेन, खंड १, पृ० ७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हत्या द्वारा नन्दकुमार को अपने रास्ते से हटाने की योजना बनायी।[1] निश्चित रूप से (जैसा कि पिट ने अनुभव किया) इस धारणा की पुष्टि के लिए तिलमात्र भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर, इस मान्यता के विरुद्ध अनेक कारण हैं। हेस्टिंग्स और इम्पे सदा ही एक दूसरे का समर्थन नहीं करते थे। सर्वोच्च न्यायालय और कौंसिल की अधिकार-सीमाओं के सम्बन्ध में उनका पारस्परिक झगड़ा इसी बात की पुष्टि करता है। मुकदमें में इम्पे तो चार जजों में से एक था। अतएव जब तक यह न मान लिया जाए कि बाकी तीनों जज या तो स्वयं षड्यन्त्र में सम्मिलित थे अथवा वे इतने अयोग्य थे कि उन्होंने आंखें मूंद कर चीफ जस्टिस की बात मान ली, उस समय तक तो यह दोषारोपण निर्मूल ही सिद्ध होता है। नन्दकुमार पर लगाये गये जालसाजी के अभियोग का आरम्भ तो, एक स्वाभाविक रूप में ही, नन्दकुमार द्वारा गवर्नर-जनरल को अभियुक्त ठहराया जाने से कई महीने पहले हुआ था। एक विश्वसनीय व्यक्ति के शब्दों में (जो किसी प्रकार भी हेस्टिंग्स का अधिक पक्षपाती न था) "यदि नन्दकुमार स्वेच्छा से क्लेवरिंग, मानसन और फ्रांसिस के हाथों में न पड़ता तब भी उसके जालसाजी वाले अभियोग पर स्वाभाविक रूप से, उसी समय विचार किया जाता, जिस समय वास्तव में किया गया।"[2] सर जेम्स स्टीफ़ेन ने यह प्रदर्शित करने का दावा किया है कि इम्पे ने मुकदमे की सुनवायी धैर्यपूर्वक और उचित ढंग से की; उसने अपने निष्कर्षों में ऐसी प्रत्येक बात को उचित महत्त्व दिया जो बन्दी के पक्ष में हो सकती थी और साक्षी अत्यधिक न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि निर्णय साक्षियों के विरुद्ध दिया गया। दूसरी ओर, यह बात वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण थी कि स्वयं जजों ने बन्दी के गवाहों से जिरह की और यह जिरह कुछ कठोरतापूर्वक भी की गयी। इसका कारण यह बताया गया कि अभियोक्ता के वकील अयोग्य थे और सर इलिजाह इम्पे ने अपने निष्कर्षों में यह लिखा कि नन्दकुमार का बचाव करने वालों पर विश्वास न करने का फल उसके लिए प्राणघातक ही हो सकता था। निस्सन्देह, इम्पे ने यह बात सद्भावना से ही कही होगी। परन्तु कुछ अधिक अनुभव से वह यह सीख सकता था कि 'पूर्व' में (सर जेम्स स्टीफेन ने भी यह स्वीकार किया है) प्रायः अच्छे मुकदमे झूठी गवाहियों पर ही आधारित होते हैं।

परन्तु यह मान लेने पर भी कि कोई कानूनी हत्या नहीं की गयी, यह मानना ही पड़ता है कि इस तरह एक न्यायपूर्ण दुर्नीति तो अवश्य की गयी। इसका उत्तरदायित्व सबसे अधिक सर्वोच्च न्यायालय पर था और उसके बाद कौंसिल में हेस्टिंग्स

१. जैसा कि हेस्टिंग्स के समर्थक, सर आलफ्रेड ल्याल ने स्वीकार किया है, सर जेम्स स्टीफेन की 'ए स्टोरी आफ़ नन्दकुमार एण्ड इम्पे' एक योग्य 'बचाव' होने पर भी, इस विवाद के सम्बन्ध में अन्तिम बात नहीं है जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है। इस विषय का गम्भीर अध्ययन करने वालों को मि० एच० बेवेरिज द्वारा लिखित, 'दि ट्रायल और महाराजा नन्दकुमार' को पढ़ना चाहिए।

२. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, एच० बेवेरिज, खंड २, पृ० ३७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विरोधियों पर। नन्दकुमार का अपराध चाहे जो कुछ भी हो, उसके लिए मृत्यु-दण्ड आवश्यकता से अधिक कठोर था और जैसा कि सर जेम्स स्टीफ़ेन ने भी माना है, जुर्माना या कैद की सजा इस अपराध के लिए पर्याप्त थी। यह बात भी अत्यन्त सन्देहास्पद है कि सर्वोच्च न्यायालय को स्थानीय व्यक्तियों से सम्बन्धित मामलों पर विचार करने का भी अधिकार था या नहीं। इस बात में तो तनिक भी सन्देह नहीं (यद्यपि इस पर भी विरोध प्रदर्शित किया गया है) कि नन्दकुमार द्वारा तथाकथित जालसाजी की जाने के कई वर्ष बाद तक वह अंग्रेजी कानून भारत में लागू नहीं हुआ था, जिसके अनुसार जालसाजी को प्राण-दण्ड-योग्य अपराध ठहराया गया था।[1] इन सब बातों के अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार था कि वह "जिस मामले में उचित समझे, उसमें दयापूर्वक प्राणदण्ड का पालन स्थगित कर सकता था।" क्योंकि भारतीय व्यापक रूप से जालसाजी को केवल दुर्नीति मानते थे, इसलिए सर्वोच्च न्यायालय को इस अवसर पर अपने स्वेच्छापूर्वक अधिकार से काम लेना चाहिए था। अस्तु, यद्यपि यह सत्य था कि जजों ने निर्णय-सम्बन्धी भूल की और कानून का अक्षरशः पालन करने का कलुषित प्रयास किया तथापि उनकी इस नीयत पर सन्देह करना अनावश्यक जान पड़ता है। लगता है कि वे अपने विशेषाधिकारों के तईं अत्यधिक जागरूक थे। उन्हें भारत में रहते हुए इतना समय नहीं बीता था कि वे अपने कानूनी सिद्धान्तों को पूर्वी विचारों के अनुरूप ढाल सकते। परन्तु प्रस्तुत मुकदमे में उनका बर्ताव उनके सामान्य व्यवहार के अनुकूल ही था। उन्होंने तो बंगाल की समस्त जनता पर अंग्रेजी अदालतों के कायदे-कानून लागू करने का अविवेकपूर्ण प्रयास किया था। जान पड़ता है कि इम्पे विशेष रूप से यह समझता था कि बंगाल में जालसाजी का प्रचार रोकने के लिए एक आदर्श उदाहरण की आवश्यकता है। एक बात और भी थी। नन्दकुमार एक अत्यन्त प्रभावशाली और धनवान व्यक्ति था। इस सत्य को सामने रखते हुए इम्पे ने सोचा कि यदि उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की दया दिखायी गयी तो स्थानीय लोग यही समझेंगे कि सर्वोच्च न्यायालय ने कोई रिश्वत ले ली। इम्पे ने कहा था, "मुझे इस न्यायालय की प्रतिष्ठा, पूर्णता, स्वाधीनता तथा उपयोगिता की रक्षा करनी थी।"

इस दुर्भाग्यपूर्ण मामले में सबसे अधिक दुरूह बात तो यह है कि यह सब होने पर भी, कौंसिल ने बहुमत से, नन्दकुमार के पक्ष में सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना क्यों नहीं की? हेस्टिंग्स से अपने विरोधी के पक्ष में कोई कदम उठाने की आशा नहीं की जा

---

१. निःसंदेह जजों ने सदाशयतापूर्वक निर्णय दिया था, किन्तु सर जेम्स स्टीफन्स ने स्वीकार किया है कि उनका दृष्टिकोण उस मत के विपरीत था, जो भारत में दृढ़तापूर्वक जम चुका था, और न्यायालयों तथा विधान सभाओं ने उस पर इतना अधिक अमल किया है कि अब वह विवादास्पद नहीं रह गया।

स्टीफ़ेन लिखित 'दि स्टोरी आफ़ नन्दकुमार', खंड २, पृ० २७-३४ और एच० बेवेरिज लिखित 'दि ट्रायल आफ महाराजा नन्दकुमार', पृ० २१०-१२ भी देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सकती थी (यद्यपि उसके प्रशंसक उससे इस महती उदारता की आशा करते थे)[१] परन्तु फ्रांसिस, क्लेवरिंग और मानसन के पास सर्वोच्च न्यायालय से मृत्यु-दंड स्थगित करने का निवेदन करने के लिए स्पष्ट कारण थे। उनका ख्याल था कि नन्दकुमार को मार डालने से हेस्टिंग्स पर लगाये गये अभियोगों की उचित जांच-पड़ताल होने में रुकावट पड़ेगी। इतना ही नहीं, गवर्नर-जनरल के अभियोक्ता को प्राण-दंड देने से भारतीय जनता के हृदय में भी गलतफहमी पैदा हो सकती है। उन्होंने ऐसी कोई प्रार्थना करना स्वीकार नहीं किया और उनकी ओर से किसी प्रकार का विरोध हुए बिना ही नन्दकुमार को मौत के घाट उतार दिया गया। कदाचित् फ्रांसिस आदि के इस व्यवहार की व्याख्या इसी आधार पर की जा सकती है कि वे स्वयं भी नन्दकुमार द्वारा, गवर्नर-जनरल पर लगाये गये अभियोगों पर अविश्वास करने लगे थे और इसीलिए वे उस व्यक्ति को अपने मार्ग से सदा के लिय हटते देखकर सन्तुष्ट ही थे। संभवतः फ्रांसिस ने तो यहां तक सोच लिया था कि मृत नन्दकुमार, जीवित नन्दकुमार की अपेक्षा, गवर्नर-जनरल के विरुद्ध अधिक शक्तिशाली अस्त्र सिद्ध होगा। इस प्रकार उसने कदाचित् उसके मृत्यु-दण्ड से होने वाली अपनी भावी उद्देश्य-सिद्धि की एक योजना भी बना ली थी। यद्यपि उस समय उसने स्वयं, नन्दकुमार के अन्तिम निवेदन में निहित इस विचार को "सर्वथा निराधार और अपमानजनक" कहा था कि जजों ने गवर्नर-जनरल के साथ मिलकर षड्यन्त्र किया है, तथापि कुछ ही सप्ताह पश्चात् हम उसे इसी विचार को स्वीकार करता और इसका समर्थन करता पाते हैं।

---

१. इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि मि० एच० बेवेरिज ने अपनी पुस्तक, 'दि ट्रायल आफ़ महाराजा नन्दकुमार' में यह प्रदर्शित करने का दावा किया है। उसने इस सम्बन्ध में कुछ साक्षी भी प्रस्तुत की है कि हेस्टिंग्स के आश्रित उसके एक प्राइवेट सैक्रेट्री ने स्वयं दंडित व्यक्ति को अवकाश दिलाने में बाधा डालने का भरपूर प्रयत्न किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १७

वारेन हेस्टिंग्स—पश्चिमी और दक्षिणी भारत में युद्ध

अब हमें बंगाल से हटकर पश्चिमी और दक्षिणी भारत की ओर ध्यान देना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेग्यूलेटिंग एक्ट ने बंगाल-सरकार को बम्बई और मद्रास पर जो अधिकार दिया था वह समुचित रूप से निश्चित न था। तत्कालीन आश्रित प्रेसीडेंसियों, विशेषकर मद्रास, पर अत्यन्त अयोग्य व्यक्तियों का शासन था और उनका इतिहास भी उलझा हुआ और दुरूह है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे दक्षिण और मध्य भारत की लगभग समस्त स्थानीय शक्तियों के साथ झगड़ा मोल लेने में सफल हो गयीं, जिससे १७८० में ब्रिटिश-शासन की आधार-शिला डगमगा गयी। आरम्भ में बम्बई की नीति पर हेस्टिंग्स का नियन्त्रण नहीं के बराबर था। क्योंकि या तो वह उनसे अपनी बात नहीं मनवा सकता था और या अपनी ही कौंसिल में बहुमत उसके विरुद्ध था। इस प्रकार प्रायः, गवर्नर-जनरल के बदले, तीन हठी व्यक्तियों—फ्रांसिस, मान्सन और क्लेवरिंग के परामर्श ही अन्त में, प्रान्तीय सरकारों पर थोपे जाते थे। हेस्टिंग्स के सामने प्रायः दो संकटपूर्ण मार्ग आ उपस्थित होते जिनमें से एक का चुनाव अनिवार्य हो जाता था। ऐसी दशा में वह या तो अपने निश्चय के विरुद्ध कार्यान्वित की जाने वाली योजना को यथासम्भव सफलता की ओर बढ़ाने में अपना योग दे सकता था या अपने ही आश्रितों की बात ठुकरा कर उन्हें अलग कर सकता था। हेस्टिंग्स के अधिकार-काल में 'दक्खिन' के इतिहास का निर्माण करने वाली 'अन्याय-पूर्ण और अपेक्षाकृत अपमानजनक लड़ाइयों' बुरी कूटनीति और सामान्य कुशासन के लिए एक घटना को छोड़कर हेस्टिंग्स को दोषी ठहराना अनुचित ही है। यहां हमें, यथासम्भव संक्षेप में इस घटना-चक्र का उल्लेख करना है। मार्च, १७७५ में बम्बई के अधिकारियों ने, सर्वोच्च तथा आश्रित सरकारों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाले रेग्यूलेटिंग एक्ट की धाराओं की उपेक्षा करके, सूरत-सन्धि की। सन्धि के अनुसार उन्होंने इस शर्त पर पेशवा-पद पर अधिकार का ढोंग करने वाले एक व्यक्ति का समर्थन करने की प्रतिज्ञा कर ली कि वह इसके बदले उन्हें बसीन और सालसेट के द्वीप दे देगा, जिन पर वे पहले ही उच्छृंखलतापूर्वक अधिकार कर चुके थे। उन्होंने बंगाल में अपने उच्चाधिकारियों के सामने अपने इस कृत्य की घोषणा कर दी। उनके इस कदम को 'अराजनीतिक, भयानक, अनधिकारपूर्ण और अनुचित कह कर' उसकी निन्दा करने में गवर्नर-जनरल और कौंसिल परस्पर एकमत हो गये। परन्तु यहां तक पहुंच कर गवर्नर-जनरल और कौंसिल के बहुसंख्यक दल की पारस्परिक सहमति का अन्त हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया। बंबई-शासन ने पहले ही आक्रमण आरम्भ कर दिया था और उन्हें अत्यधिक मूल्य चुकाकर कुछ सफलता भी मिल चुकी थी। इसीलिए हेस्टिंग्स इस बात पर बल दे रहा था कि उन्हें इस समय तक यह लड़ाई जारी रखने में सहायता देनी चाहिए जब तक हितकारी शर्तों पर सन्धि न हो जाय। बहुमत ने हेस्टिंग्स का विरोध किया। मार्च, १७७६ की पुरन्धर सन्धि करने के लिए कर्नल अप्टन को कलकत्ता से सीधा पूना भेज दिया गया। उसे इस शर्त पर पेशवा-पद का ढोंग रचने वाले रघुनाथ राव (जो प्रायः राघोबा के नाम से प्रसिद्ध था) से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना था कि अंग्रेजों को सालसेट पर अधिकार बनाए रखने दिया जाएगा। संचालक समिति ने, अप्रत्याशित और असंगत रूप से ही—स्थानीय शक्तियों के साथ न उलझने के अपने निश्चित मत के अनुसार—यह सन्धि अस्वीकृत कर दी। १७७८ में हेस्टिंग्स ने, उनकी पूर्ण सहमति के साथ, राघोबा से फिर मित्रता कर ली। कदाचित् यही एक अवसर था जब निश्चित रूप से फ्रांसिस का पक्ष सही और हेस्टिंग्स तथा कोर्ट का पक्ष गलत था। इस सम्बन्ध में फ्रांसिस ने जो विवरण और विरोध-पत्र लिखे उनका अत्यधिक गम्भीर अध्ययन भी उचित फलदायक ही सिद्ध होगा। इस अवसर पर हेस्टिंग्स ने अपने अतिरिक्त-मत का प्रयोग करके स्वयं अपने को और कम्पनी को मरहठा संगठन (जिसके साथ—जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे—बाद में दक्षिणी भारत के सब शक्तिशाली स्थानीय राज्य मिल गये) के विरुद्ध एक लम्बी और महंगी लड़ाई में झोंक दिया। इस दुःख-प्रद निर्णय से हेस्टिंग्स के आचरण पर जो कालिमापूर्ण प्रभाव पड़ा, उसके सम्बन्ध में कोई अतिशयोक्ति करना कठिन ही होगा। इस लड़ाई और इसके फलस्वरूप हैदरअली के साथ होने वाली लड़ाई तथा साथ ही साथ मद्रास सरकार की मूर्खता के कारण हेस्टिंग्स के साधन बिलकुल समाप्त हो गये और आवश्यक धन इकट्ठा करने के लिए ऐसे आपत्तिजनक कदम उठाने पड़े जिनका अन्त उस पर किये जाने वाले 'दोषारोपण' के रूप में हुआ। युद्धारम्भ के पक्ष में दिया जाने वाला हेस्टिंग्स का प्रबलतम तर्क यह था कि १७७७ में, एक फ्रांसीसी एजेन्ट के पूना पहुंच जाने के कारण इस बात का भय उत्पन्न हो गया था कि कोरोमंडल-तट पर पहले होने वाली लड़ाइयों और षड्यन्त्रों की पुनरावृत्ति हो सकती है। बाद में पता चला कि उस मनुष्य का फ्राँसीसी सरकार के साथ कोई सम्बन्ध न था और वह वास्तव में इस प्रकार के सम्बन्ध का ढोंग ही कर रहा था। जिस समय मरहठा-युद्ध पर विवाद चल रहा था उसी समय भारत में यह समाचार आया कि उत्तरी अमरीका में ब्रिटिश सेनाओं को करारी हार सहनी पड़ी है—बरगोयन को साराटोगा में (१७७७) जनरल गेट्स के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा। फ्रांसिस ने इस समाचार का प्रयोग आक्रमणकारी कार्यवाहियों के 'जोखिम' के विरुद्ध एक तर्क के रूप में किया। हेस्टिंग्स ने स्वाभाविक हठपूर्वक इसका उत्तर देते हुए कहा : "मुझे पूरी आशा है कि अमरीका में हमारी स्थिति इतनी बुरी नहीं, जितनी बताई जा रही है, परन्तु.....यदि यह वास्तव में सत्य है कि पश्चिमी संसार में ब्रिटिश शक्ति और प्रभाव को इतनी भयंकर चोट सहनी पड़ी है तो ग्रेट ब्रिटेन के हित का उत्तरदायित्व संभालने वालों के लिए यह और भी आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कि वे 'पूर्व' में अपनी राष्ट्रीय क्षति की पूर्ति करने का भरसक प्रयत्न करें।[1]

अब हम अन्तिम घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध पश्चिमी भारत से है। सर्वथा निकम्मे नेताओं के अधीन बम्बई से जाने वाले एक दल ने जनवरी १७७९ में वारगांव (Wargaon) का वह दुर्भाग्यपूर्ण समझौता किया (जिसे बाद में नागरिक अधिकारियों ने अस्वीकार कर दिया) जिसके अनुसार वे सब प्रदेश त्याग दिये गये, जिन पर बम्बई ने १७७३ से अधिकार किया हुआ था। ब्रिटिश सेनाओं ने जो सफलताएं प्राप्त की थीं, गवर्नर-जनरल के शत्रुओं के शब्दों में, वे उसी के "उच्छृंखल सैनिक पराक्रम" थे। गोडार्ड (Goddard) ने यमुना से चलकर भारत-भूमि पर एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान किया। उसने अहमदाबाद पर कब्जा किया और, नर्बदा पार करके, १७८० में बसीन पर भी अधिकार कर लिया। उसी वर्ष पोफम (Popham) ने ग्वालियर पर आक्रमण करके (जो दुर्ग व्यापक रूप से अभेद्य माना जाता था) समस्त भारत में हलचल सी मचा दी। बाद की चेष्टाएं कुछ कम सफल हुईं। गोडार्ड ने, अप्रैल १७८१ में पूना की ओर अपरिपक्व दशा में प्रस्थान करके अपने कार्य-काल की एकमात्र भूल की। उधर, हेस्टिंग्स ने चतुरतापूर्ण कूटनीति से सिन्धिया के साथ एक स्वतन्त्र सन्धि कर ली और मरहठा संगठन से बरार के राजा को अलग कर दिया। मई १७८२ में सालबाई की सन्धि (Treaty of Salbai) करके वह अत्यन्त प्रसन्न था। इस सन्धि के अनुसार यमुना से पश्चिम की ओर स्थित समस्त प्रदेश सिंधिया को लौटा दिया गया, पेशवा ने रावोबा को पेन्शन दे दी और बम्बई में युद्ध-पूर्व की सी स्थिति फिर उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजों के पास अब भी केवल सालसेट रहा। दूसरे शब्दों में उनकी स्थिति बिलकुल वही रही जो पुरन्दर की सन्धि के समय थी; इसलिए यह मानना ही पड़ता है कि चार साल तक लड़ी जाने वाली महंगी और कष्ट-प्रद लड़ाई से प्राप्त होने वाले भौतिक लाभ अधिक संतोषजनक न थे। परन्तु इस सन्धि के फलस्वरूप कम से कम मरहठा शक्तियों के साथ तो बीस वर्ष तक शान्ति-सम्बन्ध बने ही रहे।

१७७० से ८० तक का समय मद्रास प्रेसीडेंसी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा। कर्नाटक के नाममात्र के नवाब, मुहम्मदअली के साथ इसका लगभग वैसा ही सम्बन्ध था, जो कलकत्ता का बंगाल के सूबेदार के साथ था। मुहम्मद भी, अपने उत्तरी प्रति-रूप की ही भांति, ब्रिटिश संगीनों पर आश्रित था परन्तु मद्रास के पास 'दीवानी' कर जैसी कोई वस्तु न थी जिसके अनुसार उसे कर्नाटक पर प्रशासनिक अथवा आर्थिक नियन्त्रण प्राप्त होता। इसीलिए यहां अंग्रेजों के नाममात्र के उच्चाधिकारी के हाथों में भयंकर मात्रा में उत्तरदायित्व छोड़ दिया गया था। १७७० और १७७१ में ब्रिटिश सरकार ने उसके दरबार में कम्पनी से स्वतन्त्र, पूर्ण-शक्ति-सम्पन्न महादूत के रूप में, सर जान

१. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिस्पेचिज़ एन्ड अदर स्टेट पेपर्स इन दि फ़ारेन डिपार्टमेंट आफ़ दि गवर्नमेंट आफ़ इन्डिया, १७७२–१७८५, जी० डब्ल्यू० फ़ारेस्ट, खंड २, पृष्ठ ४०२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिन्डसे (Sir John Lindsay) और सर राबर्ट हार्लैण्ड (Sir Robert Harland) को रखने का अनुभव करने का प्रयत्न किया। इसका कोई सुफल न हुआ। इस प्रकार निराश होकर कम्पनी को नवाब के साथ समझौता करना पड़ा। १७७३ में मद्रास के अधिकारियों ने केवल मुहम्मद अली को प्रसन्न करने के लिए तंजौर के राजा को परास्त और पदच्युत कर दिया। यह बात उस समय से तुरन्त पहले की है जब हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब के लिए रुहेलखंड पर विजय प्राप्त की। तंजौर नरेश के साथ स्वयं मद्रास के अधिकारियों का कोई झगड़ा न था। मुहम्मद अली ने बदनाम पाल बेनफील्ड (Paul Benfield) और कम्पनी के अन्य छोटे सेवकों के साथ धन के लेन-देन से सम्बन्ध रखने वाले गुप्त समझौते करके प्रेसीडेंसी के सम्पूर्ण शासन को ही पतित और भ्रष्ट कर दिया। इन्हीं लोगों के साथ होने वाले मुहम्मद अली के लेन-देन ने उस कलंक को जन्म दिया जिसे नवाब अर्काट के ऋण की संज्ञा दी गई है। इतिहासकार थॉर्नटन (Thornton) ने यह कहते हुए कदाचित् आवश्यकता से अधिक कठोर भाषा का प्रयोग नहीं किया है: "इस समय मद्रास का नैतिक वातावरण विनाशकारी जान पड़ता था।"[1] सात वर्ष की अवधि में दो गवर्नर संचालक-समिति द्वारा पद-च्युत किये गये और एक तीसरे को गवर्नर-जनरल ने अलग कर दिया। उधर, लार्ड पिगॉट (Lord Pigot) को तो (जिसे तंजौर के राजा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए भेजा गया था) उसके आश्रितों ने वास्तव में पद-च्युत करके कैद ही कर लिया। इसका कारण यह था कि उसने उनके बेईमानी से भरे लेन-देन का आवश्यक परन्तु तनिक निश्छलतापूर्वक विरोध किया था। यह अभागा व्यक्ति १७७७ में जेल में ही मर गया। हेस्टिंग्स ने इस मामले में विचित्र सहानुभूतिहीनता का परिचय दिया। तथापि (जैसा कि सर ऑल्फ्रेड ल्याल ने संकेत भी किया है) उससे एक ऐसे गवर्नर के प्रति सद्भावना प्रदर्शित करने की आशा व्यक्त की गयी होगी जो अपनी कौंसिल के साथ कठिनाइयों में ग्रस्त था। इन प्रत्यक्ष दुष्कृत्यों और लगातार होने वाले शासन-सम्बन्धी परिवर्तनों ने एक अस्थिर और अस्त-व्यस्त नीति को जन्म दिया। इसी नीति ने प्रेसीडेंसी को उस लड़ाई में झोंका जो भारत के पश्चिमी भाग में छिड़ी हुई थी। निजाम बहुत समय से राघोबा के साथ होने वाले हमारे मित्रता-सम्बन्ध को अधिकाधिक नापसन्द कर रहा था परन्तु उसने इस भावना को उस समय तक क्रियात्मक रूप नहीं दिया, जब तक मद्रास सरकार ने अविवेकपूर्वक उसे कुपित न कर दिया। फलस्वरूप उसने सबल कहे जाने वाले लगभग समस्त स्थानीय राज्यों का एक भीषण संगठन तैयार कर लिया। बड़ौदा के गायकवाड़ के अतिरिक्त समस्त मरहठा सरदारों की सहायता प्राप्त करके मैसूर, हैदराबाद और पूना, भारत में अंग्रेजी शासन पर एक निर्णायक हमला करने के लिए, एक साथ कटिबद्ध हो गये। जुलाई, १७८० में हैदरअली ने छन्गामा के दर्रे के रास्ते अपने घुड़सवारों के दल के दल कर्नाटक के मैदान में झोंक दिये। फलस्वरूप मद्रास-

१. हिस्ट्री ऑफ दि ब्रिटिश एम्पायर इन इण्डिया, खंड २, पृष्ठ २४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वासी अपने घरों की खिड़कियों में से वह धुआं देख सकते थे, जो जलते हुए गांवों में से आकाश की ओर उठ रहा था।

मद्रास-सरकार में इस भयंकर हमले का सामना करने की दूरदर्शिता और तत्परता का सर्वथा अभाव है। बर्क ने एक प्रसिद्ध उद्धरण में इसका वर्णन इस प्रकार किया है : "उसे (हैदरअली को) अन्त में अपनी शक्ति का इतना भरोसा हो गया था और उसने इतना बल संचित कर लिया था कि अब उसने अपना भयानक निश्चय गुप्त रखना अनावश्यक समझा.....उसने प्रत्येक दिशा से ऐसी प्रत्येक वस्तु अर्जित की, जो एक बर्बरतापूर्ण विनाश की कला के मूल तत्त्वों में समाविष्ट की जा सकती थी। इस प्रकार प्रकोप, विध्वंस, और संहार की समस्त सामग्री एकत्रित करके वह कुछ समय तक पर्वतों की ढलानों पर ठहरा रहा। जिस समय इन बुराइयों के मूल रचयिता आलस्य और मूर्खतावश उस विनाशकारी ग्रह की ओर देख रहे थे, जिसने पूरे क्षितिज को अन्धकारमय कर दिया था, तभी वह, अचानक फूट पड़ा और उसने विध्वंस की वह समस्त सामग्री कर्नाटक के मैदानों पर उंडेल दी। इसके बाद सर्वनाश का जो दृश्य सामने आया, वैसा पहले कभी नहीं देखा गया था। किसी ने अपने मन में कभी वैसी कल्पना न की थी। उसका समुचित वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इस नवीन विध्वंस के सामने युद्ध के पूर्व-श्रुत समस्त आतंक दयापूर्ण ही जान पड़ते थे। व्यापक आग की लपटों ने प्रत्येक खेत को जलाकर राख कर दिया, प्रत्येक मकान को भस्म कर दिया और प्रत्येक मन्दिर की आहुति दे दी गयी। इन जलते हुए गांवों के अभागे निवासी जान बचाकर भागे। इनमें से कुछ को तो मार डाला गया; दूसरों को घुड़सवारों की आंधी ने घेर लिया। इस बवंडर ने जाति अथवा लिंग-भेद के बिना और पद की प्रतिष्ठा अथवा कार्य की पवित्रता का ध्यान रखे बिना सदा के लिए पिताओं को बालकों से और पतियों को पत्नियों से अलग कर दिया। अश्वारोहियों के भालों के प्रहारों को सहते और पीछा करते हुए घोड़ों के पैरों के नीचे कुचले जाते हुए ये स्त्री-पुरुष बन्दियों के रूप में शत्रु के अपरिचित प्रदेश में लाये गये। जो लोग इस अंधड़ से बच सके वे दीवारों से घिरे शहरों की ओर भागे। आग, तलवार और देश-निकाले से बच निकलने वाले इन प्राणियों को वहाँ अकाल के चंगुल में फंसना पड़ा।" निःसंदेह इस उद्धरण पर प्रसिद्ध वक्ता की प्रतिभा की पूर्णतः छाप पड़ी है, परन्तु यह बात अवश्य सत्य है कि उस समय स्थिति पर्याप्त भयंकर थी। बेली (Baillie) के नेतृत्व में एक सैन्य-दल घेर लिया गया और वीरतापूर्वक मुकाबला करते हुए मार डाला गया। बक्सर-विजेता मुनरो अपनी तोपों तथा सैन्य-दल को कांजीवरम के तालाब में डुबा कर अपयश का भागी बना और उसे घबराकर मद्रास भागना पड़ा। मद्रास की गलियों में वहां के क्रुद्ध निवासियों ने उसे बुरी तरह धिक्कारा। अक्तूबर, १७८० में कर्नाटक की राजधानी आर्काट ने हैदरअली को आत्म-समर्पण कर दिया।

यहां १७८०–८१ तक की उस स्थिति का तनिक अनुमान कर लेना उचित होगा, जिसका सामना हेस्टिंग्स को करना पड़ा था। स्वयं हेस्टिंग्स के शब्दों में "यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'हिन्दुस्तान' में प्रत्येक शक्ति के साथ, प्रत्येक दिशा में होने वाली वास्तविक अथवा सन्निकट लड़ाई" की स्थिति थी। सर आलफ्रेड ल्यॉल ने कहा है: "भारत में अंग्रेजों का ऐश्वर्य अपने निम्नतम स्तर पर पहुंच चुका था। केवल भारतीय शक्तियों की ओर से ही भय न था; फ्रांस भी १७७८ में युद्ध का ऐलान कर चुका था। चन्द्रनगर और पांडिचेरी (पांडिचेरी की रक्षा तो बेलकूम्ब (Bellecombe) अत्यन्त वीरतापूर्वक कर रहा था) पर अक्तूबर में कब्जा कर लिया गया था। इसके अतिरिक्त पता चला था कि फ्रांसीसी, दक्खिन के उपद्रवों से लाभ उठाकर अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने की आशा से अपने देश से एक भयंकर सैन्य-दल भेजने की तैयारियां कर रहे थे। इंग्लैण्ड से तो सहायता प्राप्त होने की अधिक आशा नहीं की जा सकती थी। उस समय उसे तो स्वयं ही अत्यन्त निराशापूर्ण स्थिति में फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड और उत्तरी अमरीका के विद्रोही राज्यों की सम्मिलित शक्ति का सामना करना पड़ रहा था।

हेस्टिंग्स ने, किसी हद तक स्वयं ही उन कठिनाइयों को निमंत्रण दिया था। भारतीय उलझनें, मुख्यतः १७७८ में राघोबा के साथ किये जाने वाले उस अविवेकपूर्ण मित्रता-सम्बन्ध-स्थापन का ही परिणाम थीं, जिसे हेस्टिंग्स अपने अतिरिक्त-मत का प्रयोग करके ही सम्भव बना सका था। हेस्टिंग्स ने जिस निर्भीक आचरण द्वारा उनका सामना किया वह वास्तव में अधिकतम प्रशंसनीय है। उसने पूरी दृढ़ता के साथ मद्रास प्रेसीडेंसी के मामलों में हस्तक्षेप किया, गवर्नर को इसके पद से हटा दिया और समस्त सम्भव कुमुक तथा युद्ध-सामग्री के साथ वयोवृद्ध तथा अनुभवी सर आयरकूट को बंगाल से भेजा। इन बातों का मूल कारण यह विश्वास था कि "हमारे पुराने अपमानों के प्रतिकार का यही एक सम्भव उपाय था।" इसके बाद, उसने जनवरी १७८१ में पीअर्स (Pearce) को स्थल-मार्ग से बंगाल से मद्रास भेजा। यह एक प्रसिद्ध यात्रा थी। हेस्टिंग्स ने अपनी अनथक कूट-नीति से युद्ध-भूमि में अपने सेना-नायकों के प्रयत्नों में सहयोग दिया। उसने १७८१ के आरम्भ में बरार के राजा को (जो कुछ समय से दक्षिण की ओर से बंगाल पर हमला करने की धमकी दे रहा था) समझाकर और उसी वर्ष अक्तूबर में सिन्धिया के साथ एक सन्धि करके (जिसके अनुसार मरहठा सरदार ने अंग्रेजों और दूसरे योद्धाओं के बीच संधि सम्बन्धी बातचीत कराने का विश्वास दिला दिया) विरोधी संगठन के दो अधिकतम भयंकर सदस्य तोड़ लिये। इन प्रयत्नों का फल मई १७८२ की सालबाई की सन्धि थी। इस सन्धि ने समस्त मरहठा शक्तियों का बल छिन्न-भिन्न करके हैदरअली को बिलकुल अकेला कर दिया था।

उधर दक्षिणी भारत में, आयरकूट ने, अपने बीस बरस पुराने कीर्ति दृश्यों को पुनः उपस्थित करके, १ जुलाई, १७८१ को पोर्टो नोवो (Porto Novo) नामक स्थान पर हैदरअली को (उसके १० हजार सिपाहियों को मारकर) परास्त किया। इसके बाद आयर कूट पीअर्स के साथ जा मिला। पीयर्स मद्रास के उत्तर में कोई चालीस मील दूर पुलिकट (Pulicat) तक पहुंच कर हैदरअली के पुत्र टीपू के आतंकों का सामना कर रहा था। उनकी संयुक्त सेनाओं ने अगस्त में पोलीलोर (Pollilore) में अनिर्णयात्मक लड़ाई लड़ी। एक महीने बाद कूट ने सोलिंगर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(Solinger) में हैदरअली पर पूर्ण विजय प्राप्त की। अब डचों के साथ भी युद्ध की घोषणा की जा चुकी थी। नवम्बर, १७८१ में नेगापट्टम (Negapattam) पर अधिकार हो गया और जनवरी १७८२ में त्रिकोमाली (Trincomali) का शानदार बन्दरगाह अंग्रेजों के हाथ में आ गया। परन्तु यहाँ पहुंच कर अंग्रेजों की सौभाग्य-वृद्धि में तनिक गतिरोध हो गया। ब्रेथवेट (Braithwaite) ने, पर्याप्त सैन्य-शक्ति के साथ तंजौर में प्राण-पण से दो दिन तक मुकाबला किया परन्तु टीपू ने उसे सर्वथा समाप्त कर दिया। महान् फ्रांसीसी जल-सेना-नायक, डि सफरेन (De Suffrein) ने (जो १७ फरवरी को पुलीकट से पार सर एडवर्ड ह्यू (Sir Edward Hughes) के साथ एक अनिर्णयात्मक लड़ाई लड़ चुका था) दो हजार से अधिक फ्रांसीसी सैनिकों के साथ जहाज से उतरा। हैदरअली ने, उनके साथ मिलकर, अंग्रेजों से कुडालोर (Cuddalore) छीन लिया। सौभाग्य से, फ्रांसीसियों को यह कड़ा आदेश था कि वे बुसी के वहां पहुंचने से पहले कोई कदम न उठाएं। बुसी भी, कूट की भांति, अपने पुराने कार्य-क्षेत्र में फिर प्रवेश कर रहा था। उधर समुद्रों पर ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति बहुत बढ़ जाने के कारण, बुसी के आगमन में बहुत देर लग गयी। वैसे तो वह नवम्बर, १७८१ में केडिज (Cadiz) से चल पड़ा था परन्तु ब्रिटिश सैनिक-दलों से बच निकलना कठिन हो जाने के कारण वह मार्च १७८३ से पहले त्रिकोमाली में डि सफरेन के साथ न मिल सका। बुसी को आशा अन्तरीप और फ्रांस के टापू पर बहुत समय तक रुकना पड़ा था। इतना ही नहीं, उसका तो आगमन भी अशुभ घड़ी में ही हुआ। अप्रैल १७८३ में जब वह कुडालोर पहुंचा, तब उसे पता चला कि पिछले वर्ष दिसम्बर में हैदरअली की मृत्यु हो चुकी है और टीपू (जिसके साथ मिलकर वह आगे बढ़ना चाहता था) मलाबार तट की ओर रवाना हो चुका है (जहां स्थिति उसके अधिक पक्ष में न थी।) अपनी पुरानी लड़ाई फिर से आरम्भ करना कूट और बुसी के भाग्य में न बदा था। इसका कारण यह था कि २६ अप्रैल को वीर और वयोवृद्ध अंग्रेजी सेनापतियों का देहान्त हो गया। उनके पश्चात् सैन्य-संचालन का भार एक अयोग्य व्यक्ति जनरल स्टुअर्ट पर पड़ा। उसने कुडालोर पर, बेढंगेपन से घेरा डाला। इस दिशा में कोई प्रभावशाली कदम उठने से पूर्व ही इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच होने वाली संधि का समाचार आ पहुंचा और इस प्रकार टीपू को अपना अन्तिम मित्र भी खोना पड़ा। १७८२ और १७८३ की महत्त्वपूर्ण घटनाएं तो कोरोमंडल और सीलोन के परे होने वाली फ्रांसीसी और अंग्रेजी समुद्री बेड़ों की प्रक्रियाएं ही थीं। फरवरी, १७८२ और जून, १७८३ के बीच में डि सफरीन और ह्यू ने पांच भयंकर लड़ाइयां लड़ीं। इन पांचों लड़ाइयों में दोनों पक्षों का ऐसा डटकर मुकाबला हुआ कि दोनों ही पक्ष समान समझे गये। डि सफ़रीन की महतम विजय तो वह थी जब उसने अगस्त, १७८२ में, अपने विरोधी को चकमा देकर, त्रिकोमाली पर फिर से अधिकार कर लिया। सामान्य रूप से उस तिथि तक फ्रांसीसी, (उपयुक्त स्थल-आधार के अभाव में बहुत बड़ी बाधा होने पर भी) समुद्री मामलों में श्रेष्ठ ही बने रहे। फ्रांस से भेजी जाने वाली सेनाओं को लगातार, यूरोपीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समुद्रों में विरोध का सामना करना पड़ता था । अक्तूबर में, सर आर० बिकरटन के नेतृत्व में एक नये सैन्य-दल के आगमन से अंग्रेजों का पलड़ा भारी हो गया। हैदरअली की मृत्यु के बाद से तो लड़ाई अधिकतर पश्चिमी क्षेत्र में ही सीमित हो गयी थी। मई, १७८३ में टीपू ने बेडनोर (Bednore) पर कब्जा कर लिया। जब वह समुद्र-तटवर्ती मंगलौर पर घेरा डालने के लिए आगे बढ़ा तो फुलर्टन (Fullarton) ने दक्षिण-पश्चिम की ओर से मैसूर पर एक भयंकर आक्रमण कर दिया । नवम्बर १७८३ में उसने पालघाट पर कब्जा किया और कोइम्बटूर (Coimbatore) को भी अपने अधीन कर लिया । एक ही शक्तिशाली आघात से युद्ध का अन्त कर देने के विचार से वह टीपू की राजधानी, श्री रंगापट्टम की ओर बढ़ रहा था कि उसे यह जानकर अत्यन्त खेद और निराशा हुई कि मद्रास के अधिकारियों ने (जिन्होंने पहले ही सन्धि-वार्ता आरम्भ कर दी थी) उसे वापिस बुला लिया है। उस समय वहां का गवर्नर लार्ड मेकार्टनी (Lord Macartney) था। वह जून १७८१ में आया था। वह दृढ़ निश्चयी तथा उत्साही व्यक्ति था और उसका भीतरी शासन भी (जहां उसने स्पष्टवाद को अपनाया था और अपने को भ्रष्टाचार से सर्वथा मुक्त रखा था) उसके पूर्वाधिकारी की तुलना में श्रेष्ठ था। यह सब होने पर भी उसे भारतीय कूटनीति के कंटकाकीर्ण पथ का तनिक भी अनुभव न था। युद्ध का अन्त करने वाले विचार-विमर्श में तो वह चतुर टीपू की तुलना में कुछ भी न था। टीपू मंगलौर का पतन होने पर सफलतापूर्वक यह सब माभला टालता रहा था। सुलतान ने अंग्रेजी दूतों के साथ विचारपूर्ण अश्रद्धा का बर्ताव किया। उसके व्यवहार से जान पड़ता था मानो अंग्रेजों ने संधि की भीख मांगी है और उसने विजय के उन क्षणों में, उदारतापूर्वक उनकी याचना स्वीकार कर ली है।

मंगलौर की संधि पर मार्च, १७८४ में हस्ताक्षर किये गये। यद्यपि हेस्टिंग्स ने इस सन्धि की शर्तों का तीव्र विरोध किया और उनमें आवश्यक संशोधन करने का असफल प्रयत्न भी किया तथापि इसका कम से कम यह फल तो अवश्य हुआ कि जब एक साल बाद हेस्टिंग्स ने अपना पद छोड़ा, उस समय समस्त स्थानीय शक्तियों के साथ ब्रिटिश उपनिवेशों के सम्बन्ध शान्ति तथा मित्रतापूर्ण थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १८

चेतसिंह और अवध की बेगमें वारेन हेस्टिंग्स पर मुकदमा

पिछले अध्याय में जिन युद्धों का वर्णन किया गया है उन्होंने कम्पनी का खजाना खाली कर दिया। अब तक हेस्टिंग्स का जो शासन आर्थिक दृष्टि से सफल रहा था, अब उसे दिवालियेपन की स्थिति का सामना करना पड़ा। कठिनाई और व्यग्रता के इसी युग में उसे बनारस के राजा चेतसिंह और अवध की बेगमों अथवा शहज़ादियों के साथ वे लेन-देन करने पड़े, जिन्होंने उसके मुकदमे में उसके विरुद्ध कठोरतम तर्क का रूप धारण किया। इससे अनिवार्यतः किसी हद तक उसके नाम पर भी बट्टा लगा। संक्षेप में, तत्सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है : बनारस का राजा पहले अवध के अधीन था। १७७५ की सन्धि के समय से कम्पनी की ओर से उसकी भूमि पर, उसका अधिकार एक राजाधिराज के रूप में हो गया। १७७८ में फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ गया। हेस्टिंग्स ने सोचा कि बनारस के राजा से साढ़े बाईस लाख (२२५,००० पौंड) की भेंट की राशि के अतिरिक्त, युद्ध-व्यय की मद में ५ लाख (५०,००० पौंड) की एक विशेष रकम की मांग करना उचित है। कौंसिल ने 'मांग' के 'अधिकार' पर कुछ आपत्ति की और इसके बदले 'प्रार्थना' शब्द अधिक पसन्द किया। गवर्नर-जनरल ने यह तर्क उपस्थित करके अपनी ही बात रखी कि अधिकार का प्रश्न डायरेक्टरों के लिए छोड़ देना चाहिए। राजा ने कहा कि यह न्याय-विरुद्ध मांग एक वर्ष के लिए सीमित कर दी जाए। इस 'धृष्टता' के दंड-स्वरूप उसे किश्तों के बदले एकदम ही पूरा भुगतान करने की आज्ञा दी गयी। इस पर चेतसिंह ने छः सात महीने का समय मांगा। इस पर उससे पांच दिन के भीतर ही पूरे भुगतान की मांग की गयी। उसे यह भी कहा गया कि यदि उसने इस अवधि के अन्दर-अन्दर रुपया न दिया तो उसके इस आचरण को यह समझा जायगा कि वह देने से सर्वथा इन्कारी है, और उसके साथ तदनुरूप सलूक किया जायगा।

१७७९ में यह मांग फिर दोहरायी गयी। राजा ने पर्याप्त नम्रता के साथ विरोध किया और आपत्ति की कि कम्पनी के साथ उसके समझौते के अनुसार उसे भेंट के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के भुगतानों से मुक्त कर दिया गया है। परन्तु जब ब्रिटिश सेनाओं को उसके विरुद्ध बढ़ने की आज्ञा दे दी गयी तो उसे हार माननी पड़ी और उसने ५०,००० पौंड तथा उसके साथ ही २,००० पौंड की वह जुर्माने की रकम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी अदा कर दी जो उसके विरुद्ध भेजी गयी सेनाओं के व्यय की मांगी गयी थी।

१७८० में पांच लाख की मांग फिर की गयी। चेतसिंह ने एक गुप्त एजेन्ट कलकत्ते भेजकर गवर्नर-जनरल को दो लाख (लगभग २०,००० पौंड) की रकम भेंट की। हेस्टिंग्स ने पहले तो उसे अस्वीकार कर दिया परन्तु अन्त में उसने वह भेंट ले ली। मुकदमे में हेस्टिंग्स पर यह अभियोग लगाया गया कि वह इस रकम को निजी तौर पर इस्तेमाल करना चाहता था। यह दोषारोपण सर्वथा निराधार है। यह धन कम्पनी के अर्थ सिन्धिया के विरुद्ध एक सैन्य-दल का संगठन करने में खर्च किया गया था। इसके साथ ही साथ यह मानना भी सर्वथा उचित ही है कि इस समय स्वयं हेस्टिंग्स ने यह मामला इतना रहस्यात्मक बना दिया था कि उसके आलोचकों के लिए भ्रान्त और पथभ्रष्ट हो जाना उचित ही था। हेस्टिंग्स यह नहीं चाहता था कि उस धन पर कौंसिल के अन्य सदस्यों का नियन्त्रण हो अथवा उन्हें इसके मूल स्रोत का भी पता चले। यह स्वाभाविक भी था (क्योंकि सही रास्ता तो यह था कि वह रकम स्वीकार ही न की जाती)। अतः उसने पहले तो यह कहा कि वह रकम उसे एक निजी जायदाद से प्राप्त हुई है (यद्यपि अपना बचाव करने के लिए उसने डायरेक्टर सुलीवन और कलकत्ते में कम्पनी के खजाने के एकाउन्टेन्ट-जनरल को सब बातें बता दी थीं) और पांच महीने बाद उसने संचालकों को बताया कि वह रुपया उसका नहीं था। पहले की भांति वह पांच लाख भी चेतसिंह से ही ऐंठे गये थे और स्पष्टतः (यद्यपि यह निश्चित नहीं है) भुगतान टालने के अपराध में उस पर कुछ अतिरिक्त जुर्माना भी किया गया था।

इस सौदे के दोष-परिहार का भार हेस्टिंग्स के उन समर्थकों पर ही छोड़ना उचित है, जो प्रत्येक परिस्थिति में उसका ही साथ देना चाहते हैं। सत्य तो यह है कि उस अभागे राजा के प्रति उसने जो व्यवहार किया वह अच्छा नहीं कहा जा सकता। हेस्टिंग्स जानता था कि वह धन घूस के रूप में ही भेंट किया जा रहा है और इस भेंट का एक मात्र उद्देश्य चेतसिंह को अधिक बड़े भुगतान से बचाना था। १७८३ की जांच समिति की ग्यारहवीं रिपोर्ट में निहित इन मर्मभेदी वाक्यों में कुछ औचित्य अवश्य था: "मि० हेस्टिंग्स ने अपने आपको कंपनी के एक ऐसे उत्साही सेवक के रूप में प्रदर्शित किया, जिसने कम्पनी के लिए उदारतापूर्वक अपनी सम्पत्ति खर्च की। यह खर्च उन उपहारों की साख के आधार पर किया गया जो उसे एक ऐसे व्यक्ति से प्राप्त हुए थे, जिसके साथ उसने कठोरतम व्यवहार किया था और इस बार भी जिसे वह कम्पनी के उद्देश्य तथा हित का विरोधी ही मानता था। राजा के धन में से २३,००० पौंड निजी जेब में रखकर उसने उसके सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न कर दी है।"[1]

अभी चेतसिंह से की जाने वाली मांगों की समाप्ति न हुई थी। अब उससे २,००० घुड़सवार मांगे गये। उसके विरोध करने पर यह संख्या घटाकर १००० कर

१. रिपोर्ट्स ऑफ दि हाउस ऑफ कामन्स, खंड ६, पृष्ठ ५८२। इस समय १ रुपया २ शिलिंग ३ पेंस से कुछ अधिक माना जाता था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दी गयी। राजा ने जैसे-तैसे ५०० घुड़सवार जुटाए और शेष ५०० घुड़सवारों के बदले उतने ही तोप चलाने वाले भेजकर गवर्नर-जनरल के पास यह सन्देश भेजा कि ये १००० व्यक्ति उसके आदेशों का पालन करेंगे। राजा को गवर्नर-जनरल का कोई प्रत्युत्तर न मिला,[1] क्योंकि हेस्टिंग्स ने इस पर ५० लाख (५००,००० पौंड) जुर्माना करने का निश्चय कर लिया था। उसने कहा था, "मैंने उसके इस अपराध में से कम्पनी के संकटों का हल ढूंढ़ निकालने का निश्चय कर लिया है। संक्षेप में, मैंने उससे उसकी क्षमा-याचना के बदले कड़ा जुर्माना वसूल करने अथवा उसकी पिछली असमर्थता का कठोरतापूर्ण बदला लेने का फैसला कर लिया था।"

हेस्टिंग्स ने जुलाई में कलकत्ता छोड़ा। चेतसिंह शीघ्र बक्सर पहुंचा। वहां उसने गवर्नर-जनरल के सामने अत्यन्त दयनीयता तथा विनय दिखाई परन्तु गवर्नर-जनरल ने बनारस पहुंचने से पहले उसे कोई उत्तर देने से इन्कार कर दिया। वहां, हेस्टिंग्स ने दूसरी बार भी उससे भेंट करना स्वीकार न किया और अपनी मांगें लिखित रूप से भेज दीं। इसके उत्तर में राजा ने स्व-रक्षात्मक पत्र लिखा। कोई भी निष्पक्ष जांच करने वाला यह मानने से इन्कार नहीं करेगा कि वह पत्र अत्यधिक आदरपूर्ण था। राजा के प्रति हेस्टिंग्स के व्यवहार को देखते हुए तो वह असाधारण रूप से शिष्टाचार-पूर्ण था, इस पर भी हेस्टिंग्स ने कहा था कि वह पत्र "न केवल सारतः असंतोषजनक था अपितु प्रहारात्मक ढंग का था।" यद्यपि चेतसिंह के साथ एक ही दुर्बल अंग-रक्षक था तथापि हेस्टिंग्स ने उसे बन्दी बना लिया। राजा ने तो शान्तिपूर्वक यह सब सह लिया परन्तु उसकी राजधानी में स्वतः राजा का यह अपमान उसकी सेनाओं के लिए असह्य हो उठा। राजा की सम्मति के बिना ही उसकी सेनाएं अचानक उठ खड़ी हुई और उन्होंने तीन अफसरों के साथ अंग्रेजी सिपाहियों की हत्या कर दी। परिणाम से भयभीत होकर स्वयं चेतसिंह भी उस भगदड़ में बचकर भाग निकला। हेस्टिंग्स अकस्मात् संकट में पड़ गया था। उसे आत्म-रक्षा के लिए भाग कर चुनार भागना पड़ा। आन्दोलन शीघ्र ही अत्यन्त उग्र हो गया परन्तु गवर्नर-जनरल ने इस अवसर पर भी अपनी स्वाभाविक शान्ति और स्थिरता का परिचय दिया। यथासम्भव सब सहायक शक्तियों को एकत्रित करके उसने अपने शत्रुओं को हरा दिया। चेतसिंह ने उस हत्याकांड से अपना अलगाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे उस देश से खदेड़ दिया गया। उसे ग्वालियर में जाकर शरण लेनी पड़ी। उसका राज्य ज़ब्त करके उसके भतीजे को उत्तराधिकारी बना दिया गया। इस समय से बनारस के राजा के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह साढ़े बाईस लाख के स्थान पर चालीस लाख कलकत्ते को नज़राना दिया करे।

इस सौदे के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक है। हेस्टिंग्स के आधुनिक पक्षपातियों ने या तो तथ्यों को इतना हल्का करके उस सौदे का औचित्य स्थापित करने

१. हेस्टिंग्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि कदाचित् चेतसिंह को कोई उत्तर न मिला। उसकी 'नेरेटिव ऑफ दि इन्सरेक्शन विच हेपन्ड इन दि जमीन्दारी ऑफ बनारस' देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रयत्न किया है या उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना ही सुगम समझा है। वस्तुतः इस सारी घटना का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि 'मुकदमे के नियंत्रकों' ने अपने पक्ष को अतिशयोक्तिपूर्वक सामने रखा; कानूनी शिक्षा का अभाव होने के कारण उन्होंने बहुत सी बातों को परस्पर उलझा दिया और सर्वथा अनुचित भाषा का प्रयोग किया। हेस्टिंग्स के समर्थकों को यह कहने का अधिकार है कि उसके हृदय में निजी लाभ प्राप्त करने का कोई विचार न था और उसका यह काम लार्ड वेलज़ली के बहुत से कामों से अधिक उच्छृंखलतापूर्ण अथवा सर चार्ल्स नेपियर द्वारा सिन्ध के अमीरों के साथ किये गये बर्त्ताव से अधिक अन्यायपूर्ण न था। वे लोग इस बात का भी संकेत कर सकते थे कि उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों में से किसी पर भी मुकदमा नहीं चलाया गया। इन सब बातों का यह अर्थ नहीं कि यह घटना सर्वथा निर्दोष थी। मुकदमे में इसी बात पर विवाद करने में बहुत समय और परिश्रम लगाया गया था कि चेतसिंह एक राजा था अथवा जमींदार। वास्तव में यह प्रश्न ही महत्त्वहीन था। अधिक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न तो यह था कि १७७५ में कम्पनी ने यह वचन दे दिया था या नहीं कि यदि चेतसिंह निर्धारित नज़राना देता रहा तो उससे कोई और धन न मांगा जाएगा। विल्सन ने मिल (Mill) के विषय में लिखी टिप्पणियों में कहा है कि इस सम्बन्ध में कौंसिल का एक प्रस्ताव तो अवश्य था परन्तु सन्धि कोई नहीं हुई थी। इसके विरुद्ध हम यह बात भली प्रकार जानते हैं कि ५ जुलाई, १७७५ को चेतसिंह के साथ निश्चित रूप से यह समझौता किया गया था कि जब तक वह शुल्क देता रहेगा "तब तक मान-नीय कम्पनी उससे किसी तरह की अथवा किसी भी बहाने से कोई मांग न करेगी। न ही किसी भी व्यक्ति को उसकी सत्ता में विघ्न डालने अथवा उसके देश की शान्ति भंग करने दिया जाएगा।"[1] विल्सन ने यह भी लिखा है कि १७७६ की 'सनद' के अनुसार इससे पहले की सब 'सनदों' को व्यर्थ और महत्त्वहीन घोषित कर दिया। विल्सन का

---

१. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिस्पैचिज़ एण्ड अदर स्टेट पेपस इन दि फारेन डिपार्टमेंट आफ दि गवर्नमेंट आफ इन्डिया, १७७२–१७८५. संपादक जी० डब्ल्यू० फारेस्ट, खंड २ पृष्ठ ४०२, इस उद्धरण में चेतसिंह के साथ किये गये समझौते का मसौदा है, जो वारेन हेस्टिंग्स ने १२ जून १७७५ की बंगाल कौंसिल की गुप्त बैठक में पेश किया था। सर जार्ज फारेस्ट ने उस दिन का आधे से भी कम कार्य-विवरण छापा है और ऐसे चिन्हों का प्रयोग भी नहीं किया, जिनसे उसकी अपूर्णता का बोध हो सके। पूरा ब्योरा "रिपोर्ट्स फ्राम दि कमिटीज आफ दि हाउस आफ दि कामन्स (१८०४) खंड ५, पृष्ठ ६१८–१९ में पढ़ा जा सकता है। छूटे हुए अंशों में (यद्यपि जानकर उन्हें नहीं छोड़ा गया) वारेन हेस्टिंग्स के वे वक्तव्य हैं जिनसे चेतसिंह के सम्बन्ध में सर जार्ज फारेस्ट के विचारों का बुरी तरह खंडन होता है। हेस्टिंग्स ने तनिक पैगम्बरी ढंग से कहा है कि इस तरह के किसी प्रबन्ध के बिना चेतसिंह "शासन-सम्बन्धी प्रत्येक परिवर्तन से अतिरिक्त मांगें की जाने की आशा करेगा और इस प्रकार स्वभाव-तया पतित होकर उन सब षड्यन्त्रों और छल-कपट का सहारा ले लेगा, जिनका प्रयोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कथन है कि हेस्टिंग्स के अभियोक्ताओं ने यह स्वीकार किया कि 'सनद' चेतसिंह के कथनानुसार ही बदली गयी थी, परन्तु अभियोक्ता यह सिद्ध न कर सके कि कोई और 'सनद' भी कभी दी गयी।[1] हमें तो अब यह भली प्रकार विदित है कि अभियोक्ताओं ने ठीक कहा था कि आपत्तिजनक शब्द बदले गये थे और चेतसिंह को एक संशोधित सनद दी गयी थी तथा मूल मसौदा वापिस ले लिया गया था।[2] अतएव अभी तक १७७५ का समझौता ही राजा और कम्पनी के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण कर रहा था। कलकत्ता स्थित कौंसिल बहुत परेशान थी स्पष्टतः गवर्नर-जनरल के आक्रमणों से। यद्यपि उसमें अब केवल दो सदस्य थे, जो हेस्टिंग्स के बहुत पक्ष में थे तथापि उसके सामने तीन प्रश्न थे : (१) चेतसिंह से की जाने वाली असाधारण मांगों के लिए गवर्नर-जनरल के विशेष आदेश कहां थे ? (२) जब उस सरदार (चेतसिंह) ने प्रत्येक रियायत देना स्वीकार कर लिया तो उसे बन्दी क्यों बनाया गया ? (३) क्या कम्पनी और चेतसिंह के बीच यह स्पष्ट समझौता नहीं था कि उसे केवल एक निश्चित वार्षिक नज़राना देना होगा ?[3] इन प्रश्नों के उत्तरों में उनकी योग्यता की बजाय उनकी गवर्नर-जनरल के पक्ष-समर्थन की अधिक इच्छा दृष्टिगोचर होती है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि उपर्युक्त प्रश्नों में से तीसरे पर विचार करते समय, जिसे उन्होंने स्वयं सहजभाव से 'अपेक्षाकृत अधिक विवादग्रस्त' माना, उन्हें यह बात कभी सूझी ही नहीं कि १७७६ की 'सनद' १७७५ के समझौते के विरुद्ध थी। संचालक समिति ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया यद्यपि उसने इस कार्य-व्यवहार-सम्बन्धी अपने निर्णय में कहा था कि १७७५ के समझौते के अनुसार कम्पनी नियत नज़राने के अतिरिक्त चेतसिंह से कोई मांग न करने के लिए वचनबद्ध है। परन्तु, वह समझौते

अन्य आश्रित राजा करते हैं। हेस्टिंग्स ने तो वास्तव में यह सुझाव रखा था कि चेतसिंह बनारस के बदले पटना में अपनी मालगुजारी चुकाये 'क्योंकि इस प्रकार इस राजा को स्वाधीन करने की इच्छा निरर्थक नहीं होगी।' और यह भी भय है कि कहीं बनारस में एक रेसीडेंट का प्रभाव "उस पर अन्त में इतनी कठोर रुकावटें न लगा दे कि वह गिरते-गिरते एक जमींदार मात्र की तुच्छ स्थिति तक जा पहुंचे।" सर जार्ज फारेस्ट ने इस तथ्य का उल्लेख भी नहीं किया कि इस समझौते पर ५ जुलाई को फिर विचार किया गया और विवरण सम्बन्धी कुछ संशोधनों के साथ उसे पूरी कौंसिल ने स्वीकार कर लिया। फाउक (Fowke) को दी गयी कौंसिल की हिदायतों द्वारा समझौते की शर्तें चेतसिंह तक पहुंचा दी गयी थीं। २४ अगस्त, १७७५, रिपोर्ट्स फ्राम कमिटीज आफ दि हाउस आफ कामन्स, खंड ५, पृष्ठ ४६६।

१. हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया, खंड ४, पृष्ठ २५६ (१८५८ का संस्करण)।

२. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिसपेचिज एट्सेट्रा, खंड २, पृष्ठ ५१२, ५४९, ५५७, में सर जी० फ़ारेस्ट की उन टिप्पणियों को समझने में अपने को असमर्थ ही पाता हूँ जो उन्होंने उस सम्बन्ध में प्रस्तावना, खंड १ पृष्ठ ६८ पर अभिव्यक्त की हैं।

३. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिसपेचिज एट्सेट्रा, खंड ३, पृष्ठ ८३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रश्न की उपेक्षा करते हुए और यह मानकर भी कि हेस्टिंग्स को, संकट-कालों में कम्पनी द्वारा दिये गये वचनों में आवश्यक फेर-बदल करने का अधिकार था, यह प्रश्न तो फिर भी बना रहता है कि क्या उसने एक आश्रित के प्रति प्रबलता और कठोरता-पूर्ण व्यवहार नहीं किया ? ये तथ्य उन लोगों को वास्तविक वस्तु-स्थिति का परिचय दे देने के लिए पर्याप्त हैं जिन्होंने पहले से ही यह धारणा नहीं बना ली है कि हेस्टिंग्स सर्वथा निर्दोष था । जान पड़ता है कि अनेक आधुनिक लेखकों ने यह कहकर अपने को समझा लिया है कि हेस्टिंग्स का व्यवहार न्यायोचित था परन्तु स्वर्गीय सर आल्फ्रेड ल्याल ने भी (जो स्वयं, एक इतिहासकार मात्र न होकर, एक सक्रिय कार्यकर्त्ता भी था और जिसने चरित-लेखक के रूप में भी अपनी नीर-क्षीर-ग्राहिणी बुद्धि का परित्याग नहीं किया) स्वलिखित, छोटी-सी परन्तु विद्वत्तापूर्ण, 'लाइफ' (हेस्टिंग्स की जीवनी) में यह स्वीकार किया है कि "बनारस-विद्रोह को भड़काने का अपयश हेस्टिंग्स को अपने माथे लेना ही होगा.....उसने गरजमन्द भारतीय महाराजाओं द्वारा स्वीकृत प्रथा का ही पालन किया.....और जब कभी अंग्रेज भारत में, एशियाई महा-राजाओं में पायी जाने वाली राजनीतिक नैतिकता के सामान्य स्तर तक गिरे हैं तभी उन्हें उसकी विपरीतता से होने वाले लाभों का त्याग करना पड़ा है ।" जिन लोगों ने मूल ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन किया है वे सब ल्याल की इस घोषणा से सहमत ही होंगे कि 'चेतसिंह के विरुद्ध किये जाने वाले उसके कार्य-कलापों में अराज-नीतिक कठोरता और शीघ्रता का लेश था ' और 'एक हद तक प्रतिशोध और व्यक्ति-गत क्रोध की भावना ने ही उसे चेतसिंह के विरुद्ध प्रवृत्त किया था ।'[1]

हेस्टिंग्स का बचाव करने वाले अन्तिम तर्क पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए । उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति इतनी गम्भीर थी कि किसी भी प्रकार से धन प्राप्त करना उचित ही था । हेस्टिंग्स ने इस सम्बन्ध में शीघ्रता को ही एकमात्र आधार बनाया । यह उचित भी था । इस दशा में तो नैतिक मान्यताओं को अलग रखकर, यही कहा जा सकता है कि यह पूरा कदम बुरी तरह असफल सिद्ध हुआ । यदि उपयोगिता ही इसकी एकमात्र कसौटी है तो गवर्नर-जनरल की यह चेष्टा निन्द-नीय और तिरस्करणीय ही ठहरती है । वह राज्य के अपराध के बहाने धन ऐंठना चाहता था परन्तु उसे कुछ न मिला । उसने इस प्रकार अपनी सुरक्षा को भी संकट में डाल दिया । सर आयर कूट ने उसके इस तरीके की आलोचना की और 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' ने उसे 'अनुचित तथा अराजनीतिक' कहकर सम्बोधित किया । कलकत्ते से ४२० मील दूर, चेतसिंह की राजधानी में ही, उसके २००,००० देशवासियों के बीच में चेतसिंह को कैद कर लेने के शीघ्रतापूर्ण काम द्वारा तो मानो उसने स्वयं ही भिड़ों का छत्ता छेड़ दिया और राजा कुछ धन साथ लेकर बच निकला । इसके अतिरिक्त हेस्टिंग्स ने लूट से मिलने वाले धन की आशा दिलाकर सेना को उत्साहित करने के

१. वारेन हेस्टिंग्स, लेखक सर आल्फ्रेड ल्याल (इंगलिश मेन आफ़ एक्शन सीरीज़) पृष्ठ १२६, १२७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए जो अविवेकपूर्ण पत्र लिखा उसके अनुसार तो बाकी सब धन (तेईस लाख रुपया) सेनाओं में ही बंट गया । कम्पनी के लिए तो इन बातों का यही आर्थिक परिणाम हुआ कि उसे शीघ्र ही होने वाले युद्धों का खर्च सहन करना पड़ा । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में कम्पनी को उस विशाल शुल्क से बहुत लाभ हुआ जो बनारस के राजा से ऐंठा गया था परन्तु यह लाभ देश की अप्रसन्नता के मूल्य पर प्राप्त हुआ । स्वयं हेस्टिंग्स ने १७७५ में ऐलान किया था कि चेतसिंह का प्रान्त "भारत में उतने ही बड़े कदाचित् किसी भी ज़िले के समान ही धनवान और उपजाऊ प्रदेश है ।" १७८४ में जब वह वहां गया तो उसने लिखा कि "सब ओर असंतुष्ट प्रजाजन के कोलाहल ने ही (उसका) पीछा किया और (उसे) परेशान किया ।" उसने यह भी घोषणा की कि "यदि दूषित नहीं तो दमनशील और दोषपूर्ण शासन ही इस असंतोष का मुख्य कारण है ।"[1]

बेगमात - अवध →

दूसरी प्रसिद्ध घटना का सम्बन्ध अवध की बेगमों अथवा शहजादियों के साथ था । अवध का नवाब वजीर, आसफुद्दौला, कुछ वर्ष से कम्पनी को दिये जाने वाले शुल्क का भुगतान न कर सका था । उसकी मां और दादी (बेगमें) बहुत बड़ी जागीरों की स्वामिनी थीं और उन्हें स्वर्गीय नवाब से भी अत्यन्त मूल्यवान सम्पदा पैतृक धन के रूप में प्राप्त हुई थी (यद्यपि उस वसीहत की प्रामाणिकता पर कुछ सन्देह था) नवाब वजीर बहुत समय से इस सम्पत्ति का एक भाग मांग रहा था । उसका कहना था कि वह धन अन्यायपूर्वक ही उससे दूर रखा जा रहा है । बात चाहे कुछ भी हो, १७७५ में शुजाउद्दौला की विधवा ने, ब्रिटिश रेसीडेन्ट के अनुरोधों पर, अपने पुत्र को (पहले दिये गये २६०,००० पौंड के अतिरिक्त) ३००,००० पौंड और देना स्वीकार कर लिया । उसने शर्त यह रखी कि नवाब वजीर और कम्पनी उसे इस बात का आश्वासन दिलाएं कि वह फिर ऐसी कोई मांग न करेगा । हेस्टिंग्स ने उस समय ऐसा कोई वचन दिये जाने का विरोध किया परन्तु कौंसिल का बहुमत उसके विरुद्ध रहा और समझौता हो गया । १७८१ में आसफुद्दौला ने कहा कि बेगमों के साथ की जाने वाली सन्धियों को अब मान्य न माना जाए और उसे कम्पनी का ऋण चुकाने के लिए, बेगमों के खजाने पर कब्जा कर लेने दिया जाए । कठोर अर्थ-संकट में पड़ा होने के कारण हेस्टिंग्स ने यह बात मान ली । गवर्नर-जनरल ने इस आधार पर सन्धि में निहित अधिकारों के खण्डन का औचित्य स्थापित करना चाहा कि बेगमों पर से ब्रिटिश संरक्षण हटाया जाने का एक कारण विद्रोहपूर्ण व्यवहार था । यहां पहुंच कर नवाब वजीर के पैर डगमगाने लगे क्योंकि वह अपने स्त्री सम्बन्धियों के असामान्य रूप से हिंसात्मक स्वभाव से परिचित था । अस्तु, 'जागीरें' प्राप्त करने और खजाने पर कब्जा करने के प्रयत्नों में उसे हेस्टिंग्स द्वारा उकसाया जाना पड़ा । गवर्नर-जनरल ने अवध में अपने एजेन्ट को लिखा था : "तुम्हें किसी प्रकार का विचार-विनिमय अथवा सहनशीलता स्वीकार

---

१. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिस्पेचिज़, जी० डब्ल्यू० फ़ारेस्ट, खंड ३, पृष्ठ १०८२ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं करनी है लेकिन उस समय तक दोनों सेवाओं का पालन करते रहना है जब तक बेगमें पूरी तरह नवाब की दया के अधीन न हो जाएं।"[1] नवाब की सेनाओं का समर्थन करने के लिए अंग्रेजी सैन्य-दल फैजाबाद भेजे गये और बेगमों के कारिन्दों के रूप में कार्य करने वाले हिजड़ों को कैद, हथकड़ी, बेड़ियों, भूख और यदि कोड़ों की मार लगाकर नहीं तो उसका भय दिखाकर बेगमों का छिपा हुआ खजाना त्याग देने के लिए विवश किया गया। हेस्टिंग्स की कठिनाइयों को आवश्यक स्थान देते हुए भी उसके उस कदम के प्रति खेद और तिरस्कार प्रकट न करना असम्भव है। यदि हम यह मान भी लें कि बेगमें अन्यायपूर्वक राज्य का धन उसके न्यायोचित अधिकारी को न देकर दबाये बैठी थीं और कम्पनी के लिए भी स्वेच्छा से दिये गये आश्वासन का पाना अनिवार्य न था तब भी सर आल्फ्रेड ल्याल का हल्के शब्दों में व्यंजित यह निर्णय इस विषय में कदाचित् कोमलतम आलोचना का प्रत्यक्ष उदाहरण है: "औरतों और हिजड़ों के अधिकार में से धन निकालने के लिए ब्रिटिश सेनाओं की देखरेख में व्यक्तिगत सन्तापों और क्रूरताओं का प्रयोग वास्तव में नीचतापूर्ण कृत्य ही है; .....आश्वासन रद्द करके, नवाब को स्वेच्छापूर्वक उन हठी बेगमों से भुगतने के लिए छोड़ देना तो न्यायोचित माना जा सकता था परन्तु उसे बढ़ावा देना और स्त्रियों तथा हिजड़ों के विरुद्ध किये जाने वाले अत्याचारों में उसे सक्रिय सहयोग देना अशोभन और अक्षम्य कार्य ही था।"[2] यह बात तनिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में हेस्टिंग्स की प्रतिष्ठा बनाये रखने का तनिक अविचारपूर्ण प्रयत्न किया गया है। सर जी० डब्ल्यू० फॉरेस्ट का कथन है: "नवाब और उसके सेवकों द्वारा किये गये अत्याचारों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है परन्तु रेसीडेन्ट के हस्तक्षेप को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उतना ही पर्याप्त था। वजीर के आदेश पहुंचाकर उसका अनुमोदन करना एक भारी अपराध था परन्तु जो कुछ हुआ उसका उत्तरदायित्व कलकत्ते में बैठे हेस्टिंग्स पर नहीं डाला जा सकता। उसने तो रेसीडेन्ट को यह आज्ञा दे दी थी कि वह किसी प्रकार के पत्र-व्यवहार अथवा सहनशीलता की अनुमति न दे परन्तु न्यायोचित कठोरता और अत्याचार में बहुत अन्तर है।"[3]

इस विश्रान्तिदायक सिद्धान्त के लिए दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह है कि सर जी० फॉरेस्ट द्वारा सम्पादित उद्धरणों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि इस पूरे मामले का नियन्त्रण हेस्टिंग्स ही कर रहा था। उसने अनिच्छुक नवाब को लगातार उकसाया। नवाब ने तो विरोध प्रदर्शित करते हुए यहां तक कहा कि उसे विवशतापूर्वक वह सब कुछ करना पड़ा। गवर्नर-जनरल ने अपने जिन दो पत्रों में क्रमशः दो रेसीडेन्टों को आवश्यकता से अधिक नम्र होने के लिए डांटा था, उनका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि वे उस सीमा तक चले गये थे जहां तक जाना उन्होंने

१. वही, खंड ३, पृष्ठ ९५०।
२. वारेन हेस्टिंग्स, सर ए० ल्याल, पृष्ठ १३६, ३७।
३. सेलेक्शन्स फ्राम दि स्टेट पेपर्स आफ़ दि गवर्नर-जनरल, खंड १ पृष्ठ २५१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्भव समझा। मिडिल्टन ने, फरवरी १७८२ में एक 'अस्थायी सहनशीलता' की अनुमति के लिए क्षमा-याचना करते हुए लिखा : "मेरे लिए यह बता देना आवश्यक है कि मैंने जितनी कठोरता से काम लिया, उससे अधिक इस देश की स्त्रियों के साथ सम्भव ही न थी।"[1] ब्रिस्टो (Bristow) ने जून में, सेनाओं का संचालन करने वाले अफसर की सम्मति उद्धृत करते हुए कहा था कि 'बल द्वारा जो कुछ कराया जा सकता था वह करा लिया गया है'[2] हिजड़े जनवरी में पकड़े गये थे और दिसम्बर तक उन्हें नहीं छोड़ा गया। इस पूरी अवधि में रेसीडेन्ट लगातार गवर्नर-जनरल के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे। यह बातें तो स्पष्ट ही हैं कि उन्हें वह कार्य रुचिकर न था जो उन पर थोप दिया गया था: वे हेस्टिंग्स की इच्छानुसार अत्याचार करके उसे सन्तुष्ट न कर सके थे और उन्होंने नरमी से काम लेने के लिए अनुरोध किया। जब आसफुद्दौला ने बेगमों पर किये जाने वाले अत्याचारों के लिए पश्चात्ताप किया तो स्वयं गवर्नर-जनरल ने यह ऐलान किया था कि अपने मन्त्री से प्रभावित होने के कारण नवाब ने 'मेरे द्वारा सुझाये गये तरीकों और मेरे आदेशानुसार किये गये कामों का विरोध करने के लिए अस्वीकृति, तिरस्कार और क्रोध-प्रदर्शन का एक अत्यन्त अशोभन ढंग ही अपनाया।'[3]

एक और बात का भी संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। हेस्टिंग्स के समर्थकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि बेगमें चेतसिंह के साथ मिलकर षड्यन्त्र कर रही थीं और गवर्नर-जनरल को इस बात का पूर्ण विश्वास था। उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पहली बात तो यह है कि यदि बनारस के राजा के प्रति उसका व्यवहार उद्धतता और अत्याचारपूर्ण था—और वह व्यवहार निश्चित रूप से उस समय ऐसा ही जान पड़ा होगा—तो यह घटना किसी भी देशी नरेश के हृदय में आत्मरक्षा की भावना जाग्रत कर देने के लिए पर्याप्त थी। 'कोर्ट आफ़ डायरेक्टर्स' ने स्वयं ऐलान किया था कि 'हमारे अधिकार में इस समय जो कागजात हैं उनसे कहीं भी यह प्रकट नहीं होता कि चेतसिंह की गिरफ्तारी से पहले बेगमों ने किसी प्रकार के उत्पात को बढ़ावा दिया। उन्होंने केवल उस सौदे के परिणामस्वरूप ही अपने को ससैन्य किया। हो सकता है कि इसका कारण इस भय से अपनी रक्षा करने की भावना ही हो कि कहीं स्वयं उन पर भी इसी तरह के बे-सिरपैर के अभियोग न लगा दिये जाएं।' दूसरी बात यह है कि इस सम्बन्ध में दिये गये प्रमाण बिलकुल निरर्थक हैं, वे तो केवल सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा दिये गये अस्पष्ट वक्तव्यों और झूठी गवाहियों पर आधारित हैं और तीसरी बात यह है कि यदि यह सत्य था और हेस्टिंग्स को इसका पूर्ण विश्वास भी था तो सीधा और सही रास्ता तो यह था कि वह उसी समय आवश्यक प्रमाण उपस्थित कर देता और सार्वजनिक रूप से बेगमों से इस मामले की सफाई पेश करने की मांग करता।

---

१. सेलक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिस्पेचिज़ एट्सेट्रा, खंड ३, पृष्ठ ९६०।

२. वही, पृष्ठ ९६९।

३. वही पृष्ठ ९८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेस्टिंग्स के सामने आने वाली बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को उचित महत्त्व देने के उपरान्त भी, इन दो मामलों में तो उसे सर्वथा निर्दोष ठहराना असम्भव ही जान पड़ता है। इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि यदि चेतसिंह की सेनाएं अकस्मात् न भड़क उठतीं (क्योंकि उसने तो सब बात का फैसला तलवार के अधीन कर दिया) तो हेस्टिंग्स वह जुर्माना कम कर देता जो वह चेतसिंह पर करना चाहता था। विचारणीय बात तो यह है कि उसके कठोर और शीघ्रतापूर्ण व्यवहार के कारण (जिसका अन्त राजा के विनम्रतापूर्ण समर्पण के उपरान्त उसकी गिरफ्तारी में हुआ) उस अभागे व्यक्ति के हृदय में कोई आशा शेष ही न रही होगी। ब्रिटिश सेनाओं के हत्याकांड ने (जिसके लिए व्यक्तिगत रूप से चेतसिंह उत्तरदायी न था) पूरी स्थिति को ही अत्यन्त कटु बना दिया। यदि यह दुःखदायी घटना न होती तो कदाचित् 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' गवर्नर-जनरल की इस चेष्टा को अराजनीतिक ठहराकर बदल देते और राजा को उसके पहले स्थान पर फिर प्रतिष्ठित कर देते। बंगाल कौंसिल ने तो उस समय वास्तव में यह सुझाव रखा भी था।[1] यदि ऐसा हो जाता तो यह घटना हेस्टिंग्स के लम्बे और अन्यथा शानदार कार्य-काल में केवल निर्णय-सम्बन्धी कुछ भूलों के रूप में ही याद की जाती। अवध की बेगमों के मामले में तो हेस्टिंग्स ने स्वयं, डायरेक्टर्स की आज्ञानुसार, आंशिक रूप से धन वास्तविक अधिकारी को दिला भी दिया। हेस्टिंग्स स्वभाव से सदयतम व्यक्ति था परन्तु कठिनाइयों के अवसर पर उसके चरित्र में तनिक निर्दयता का प्रवेश हो जाता था। यह तो स्पष्ट ही है कि उस मामले में उसने अन्यायपूर्ण कठोरता से काम लेने के लिए अपने को दृढ़ बना लिया था। अपने प्रतिनिधियों पर इस काम का उत्तरदायित्व छोड़कर उसे प्रसन्नता ही होती। वह तो चाहता था कि उसका काम हो जाय और पूरी तरह यह बात न खुलने पाये कि वह हुआ किस तरह।

गवर्नर-जनरल की कार्य-प्रणाली की इतनी अधिक निन्दा करने का अर्थ, मुकदमे में हेस्टिंग्स के विरोधियों के कार्यों अथवा उनकी चेष्टाओं को क्षमा कर देना कदापि नहीं है। उन्होंने बहुत ही बुरी तरह वास्तविक तथ्यों को बढ़ा-चढ़ा कर और तोड़-मरोड़ कर ही सामने रखा। उन्होंने भाषा भी ऐसी अपनायी जिसका प्रयोग केवल किसी निम्नतम अत्याचारी के निकृष्टतम अत्याचारों के लिए किया जा सकता था। इनमें सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने यह मान लिया कि आदि से अन्त तक हेस्टिंग्स के उद्देश्य व्यक्तिगत उन्नति और भ्रष्टाचार पर आधारित थे। यह बात तो बिलकुल ही गलत थी। भारत में ब्रिटिश उपनिवेश और कम्पनी की सुरक्षा और हितकामना को ही हेस्टिंग्स ने अपना लक्ष्य बनाया परन्तु जब तक हम यह स्वीकार न कर लें कि केवल शीघ्रता की वेदी पर नैतिक और राजनीतिक औचित्य की बलि चढ़ायी जा सकती है तब तक हमें यह मानना ही पड़ेगा कि इन अवसरों पर हेस्टिंग्स का कार्य-व्यवहार 'पूर्व' में स्थापित होने वाली ब्रिटिश राजनीतिज्ञता की श्रेष्ठतम परम्पराओं

१. सेलेक्शन्स फ्राम दि लेटर्स, डिस्पेचिज़, एटसेट्रा, जी० डब्ल्यू फ़ारेस्ट, खंड ३, पृष्ठ ७९५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से बहुत भिन्न था।

१७७९ के अन्त तक शासन और न्याय-विभागों--कौंसिल और सर्वोच्च न्यायालय--(जिन्हें 'राजकीय वेषधारी आततायी' कहकर सम्बोधित किया जाता था) के बीच खुल्लम खुल्ला लड़ाई (जिसकी ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है) होने लगी। कौंसिल ने जमींदारों को आज्ञा दे दी कि वे जजों की अधिकार-सीमाओं को स्वीकार न करें और जजों ने गवर्नर-जनरल और कौंसिल को न्यायालय के अपमान का अपराधी घोषित कर दिया। यह तनाव अचानक ही स्पष्ट हो गया। १७८० में हेस्टिंग्स ने सर इलिजाह इम्पे को सदर दीवानी अदालत की प्रधानता प्रदान कर दी। इस पद पर रहकर उसे ६,५०० पौंड वेतन मिलना था (गवर्नर-जनरल और कौंसिल की इच्छा से यह वेतन वापिस भी लिया जा सकता था)। उस समय तक, ८,००० पौंड वेतन का, सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश-पद के साथ ही यह स्थान भी हेस्टिंग्स को ही प्राप्त था। इम्पे ने वेतन ले तो लिया परन्तु यह घोषणा कर दी कि यदि स्वदेश में उसकी नियुक्ति स्वीकृत न होगी तो वह वेतन वापिस लौटा देगा। हेस्टिंग्स के दृष्टिकोण से समस्या के इस चतुरतापूर्ण हल में कई लाभ थे। इसने एक असह्य परिस्थिति का अन्त कर दिया, इम्पे को शान्त कर दिया और कई साल पहले ही उस नीति को सम्भव बना दिया जिसके अनुसार सर्वोच्च न्यायालय का अपील-सम्बन्धी अधिकार-क्षेत्र प्रान्त की प्रान्तीय अदालतों तक बढ़ गया। स्वदेश में हेस्टिंग्ज के इस कदम के विरुद्ध बहुत शोर-गुल हो रहा था। वहां यह माना जा रहा था कि उसके इस कृत्य ने रेग्युलेटिंग एक्ट की मूल भावना का ही खंडन किया है जिसका मुख्य उद्देश्य सर्वोच्च न्यायालय को शासन-विभाग से स्वतन्त्र करना था। बाद में राजछत्र के कानूनी सलाहकारों ने यह मत प्रकट किया कि वह नियुक्ति किसी तरह भी गैर-कानूनी नहीं है। इस पर भी पार्लियामेंट को सन्तोष नहीं हुआ। पार्लियामेंट ने १७८१ में एक एक्ट पास करके गवर्नर-जनरल और कौंसिल को सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर कर दिया और एक वर्ष बाद इम्पे को भी वापिस बुला लिया। बाद में इम्पे पर मुकदमा चलाने का भी प्रयत्न किया गया परन्तु वह सफल न हुआ। सर जेम्स स्टीफन ने इस अभियोग से तो बहुत योग्यतापूर्वक इम्पे को बचाया है कि उसने दूषित उद्देश्य सामने रखकर काम किया। स्टीफन ने यह अवश्य स्वीकार किया कि कौंसिल के साथ इतने उग्र रूप से लड़ते रहने के बाद, चीफ जस्टिस के लिए एक ऐसा समझौता स्वीकार करना उचित न था जिससे कम से कम यह भ्रम तो हो ही सकता था कि उसने अपनी स्वाधीनता का मूल्य चुकाकर समझौता कर लिया। यह अस्वीकार करना तो असम्भव ही जान पड़ता है कि इम्पे भारत में बदनाम था। कार्नवालिस ने (जो स्वभाव से ही निन्दाप्रिय न था और हेस्टिंग्स के विरुद्ध एक शब्द भी कहने को तैयार न था) १७८६ में घबराकर डुन्डास (Dundas) को लिखा था : 'मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम सर इलिजाह इम्पे को नहीं भेजोगे। समस्त दलों और विचारों के लोग उसके सम्बन्ध में एकमत हैं।' १७८८ में उसने फिर लिखा, 'यदि तुम फांसी देने के इच्छुक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो तो किसी का तनिक ध्यान भी उस ओर आकृष्ट किये बिना सर इलिजाह इम्पे को फांसी पर लटका सकते हो।'[१]

हेस्टिंग्स ने १७८४ के आठ महीने बनारस और अवध में बिताये। इस अवधि में उसने इन प्रान्तों के आन्तरिक वित्तीय मामलों को फिर से व्यवस्थित किया जो कुछ तो अकाल और कुछ कुशासन के कारण अत्यन्त संकटपूर्ण स्थिति में थे। बनारस में नये राजा का शासन चेतसिंह के कोमल और अपेक्षाकृत समानतापूर्ण शासन का तुच्छ स्थानापन्न ही सिद्ध हुआ। कलकत्ता वापिस आने पर हेस्टिंग्स को पिट के इन्डिया एक्ट का समाचार मिला। उसने ऐलान किया कि 'पचासों बर्क, फॉक्स और फ्रांसिस' मिलकर भी इससे खराब उपाय की योजना नहीं बना सकते थे। १७८५ के आरम्भ में ही हेस्टिंग्स त्याग-पत्र दे चुका था। अब तुरन्त उसे क्रियात्मक रूप देकर वह फरवरी १७८५ में भारत छोड़कर चला गया।

राज्य द्वारा समय-समय पर, ईस्ट इण्डिया सम्बन्धी मामलों की जांच-पड़ताल होती थी। पिट का प्रसिद्ध कानून एक ऐसी ही पड़ताल की चरम सीमा बना। १७७३ में रेग्यूलेटिंग एक्ट पास होने के सात साल बाद तक सब लोगों का ध्यान उत्तरी अमरीकी बस्तियों के विद्रोह और फ्रांस के साथ होने वाली लड़ाई में ही आकृष्ट रहा परन्तु १७८० से राजनीतिज्ञों ने फिर भारत की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। १७८१ में एक नये चार्टर (एक्ट) ने कम्पनी के विशेषाधिकारों की अवधि दस वर्ष के लिए और बढ़ा दी और दो दिशाओं में कम्पनी पर राज्य का नियन्त्रण और बढ़ा दिया गया। आठ प्रतिशत लाभांश बांटने के बाद बचने वाले धन का तीन-चौथाई भाग राजकोष में दिया जाने का निश्चय किया गया और २. जिस तरह रेग्यूलेटिंग एक्ट के अनुसार कोर्ट के लिए यह आवश्यक कर दिया गया था कि वह भारत से आने वाले मालगुजारी तथा नागरिक और सैनिक मामलों से सम्बन्ध रखने वाले सब पत्रों की सूचना मन्त्रियों के पास भेज दें इसी तरह अब इस बात के लिए विवश कर दिया गया कि वे भारत भेजे जाने वाले ऐसे सब पत्रों को पड़ताल के लिए पेश करते रहें। उसी वर्ष पार्लियामेंट ने दो समितियां नियुक्त कीं, इनमें से पहली 'विशेष' थी और दूसरी 'गुप्त'। इन समितियों को बंगाल की न्याय-व्यवस्था की परख करनी थी और कर्नाटक में होने वाली लड़ाई के कारणों की जांच-पड़ताल करनी थी। इन समितियों ने अत्यन्त भारी भरकम रिपोर्टें पेश कीं और मई, १७८२ में हाउस आफ कामन्स ने यह निश्चय किया कि हेस्टिंग्स और बम्बई के प्रेसीडेन्ट को उनके पदों से वापिस बुला लिया जाए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रोप्राइटरों ने, दृढ़तापूर्वक केवल हाउस आफ कामन्स के एक मत के अनुकूल इस प्रस्ताव की पुष्टि करने से इन्कार कर दिया और राकिंघम (Rockingham) के मन्त्रिमंडल के पतन ने गवर्नर-जनरल को बचा लिया। फाक्स (Fox) और नार्थ (North) की सम्मिलित सरकार ने १७८३ में कार्य-

---

१. कारेस्पान्डेन्स आफ़ ····· मारक्विस कार्नवालिस, चार्ल्स रौस, खंड १, पृष्ठ २३८, ३१०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भार संभाला और फौक्स ने अपने 'इण्डिया बिल' प्रस्तुत किये। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बिल की मुख्य धाराएं ये थीं कि चार साल के लिए सम्पूर्ण राजनीतिक और सैनिक सत्ता उन सात डायरेक्टरों अथवा कमिश्नरों को सौंप दी जाए जिनकी नियुक्ति सर्वप्रथम पार्लियामेंट करेगी और बाद में राजछत्र द्वारा की जाएगी; समस्त व्यावसायिक मामलों का नियन्त्रण नौ 'सहायक डायरेक्टर' करें जिनके नाम भी पहले तो पार्लियामेंट ही निर्धारित करे और बाद में कोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स। पिट ने, इन बिलों का तीव्र विरोध करते हुए इस तथ्य पर बल दिया कि इस प्रकार भारत का अत्यन्त मूल्यवान संरक्षण क्रियात्मक रूप से सरकार के ही हाथ में चला जायगा और सदा उपस्थित रहने वाले इस भय से खिलवाड़ करना कि मन्त्रियों को भ्रष्टाचार का बढ़ावा देने वा शक्ति का विस्तार कर दिया जाएगा, अठारहवीं सदी में सार्वजनिक भावना को उद्दीप्त करने का निश्चिततम तरीका था। यदि जार्ज तृतीय लार्ड्स पर अपने प्रभाव के द्वारा सभा-भंग करने के लिए बाध्य न कर देता तो सम्मिलित सरकार की पार्लियामेंटरी प्रबलता के सामने पिट का यह विरोध अधिक लाभदायक सिद्ध न हो पाता। बिल 'कामन्स' में तो पर्याप्त बहुमत से स्वीकार हो गया परन्तु हाउस आफ लार्ड्स में रद्द हो गया। बादशाह ने तुरन्त सम्मिलित मंत्रिमंडल भंग कर दिया और कुछ महीने बाद देश से की जाने वाली अपील पर तो वह बिलकुल ही परास्त हो गया। ह्विग पार्टी तबाह हो गयी। बीस साल के लिए सत्ता पिट के हाथ में आ गयी। उसने १७८४ में अपना इण्डिया एक्ट पास करा लिया। इस एक्ट के बाद ईस्ट इन्डिया कम्पनी, संरक्षण और व्यापार के अतिरिक्त (जो बराबर धीमा पड़ता जा रहा था) और सब बातों में राज्य का एक आश्रित विभाग-मात्र रह गयी। अब नागरिक और सैनिक समस्याओं का नियन्त्रण भारतीय मामलों से सम्बन्ध रखने वाले ६ कमिश्नरों को ही करना था। इन्हें 'बोर्ड आफ कण्ट्रोल' कहकर पुकारा जाता था। इसमें चांसलर आफ दि एक्सचेकर, एक मुख्य सेक्रेटरी आफ स्टेट और चार प्रिवी कौंसिलर होते थे। क्रियात्मक रूप से शीघ्र ही 'कमीशन' का नाममात्र रह गया और पूरी वास्तविक सत्ता सीनियर कमिश्नर के हाथ में चली गयी। सीनियर कमिश्नर चांसलर आफ दि एक्सचेकर अथवा सेक्रेटरी आफ स्टेट न होता था। वह 'बोर्ड आफ कण्ट्रोल' का प्रेसीडेन्ट कहलाता था। कमिश्नरों के आदेश डायरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा भारत पहुंचते थे। 'कोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स' को यह अधिकार न था कि वह 'बोर्ड' द्वारा स्वीकृत डायरेक्टरों का कोई प्रस्ताव रद्द अथवा स्थगित कर सके। भारत के शासन का भार गवर्नर-जनरल और तीन व्यक्तियों की एक कौंसिल को सौंप दिया गया। आश्रित प्रेसीडेन्सियों को, लड़ाई, मालगुजारी और कूटनीति-सम्बन्धी मामलों में, निश्चित रूप से बंगाल के अधीन कर दिया गया।

उधर, भूतपूर्व गवर्नर-जनरल के शत्रु उसके पूरे कार्य पर ही एक भयंकर हमला करने की तैयारियां कर रहे थे। इस काम में बर्क की उदार और मानवीय सहानुभूतियों तथा गम्भीर और प्रायः पथ-भ्रष्ट क्षोभ ने फिलिप फ्रांसिस की असफल आकांक्षा और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तीव्र शत्रुता क साथ गठबन्धन कर लिया । हेस्टिंग्स जून, १७८५ में इंग्लैण्ड पहुंचा। कुछ समय तक तो ऐसा जान पड़ा मानो उसे भयभीत करने वाली आंधी कोई उत्पात किये बिना ही आगे बढ़ जाएगी । परन्तु १७८६ में बर्क ने हेस्टिंग्स के एजेन्ट की मूर्खतापूर्ण चुनौती के फलस्वरूप, पार्लियामेंट में उन कागजात की मांग की जिनका सम्बन्ध उसके शासन की बहुत सी बातों के साथ था । पहले तो यह हमला रोक लिया गया पर बाद में यह बहुत गम्भीर और तेज हो गया । 'हाउस' (सदन) ने मरहठों और रुहेलों के साथ की जाने वाली लड़ाइयों के लिए हेस्टिंग्स को निरपराध ठहरा दिया। दूसरी ओर उन्होंने कड़े प्रस्ताव पास करके चेतसिंह और अवध की बेगमों के साथ उसके लेनदेन की निन्दा की । अब तक पिट हेस्टिंग्स का ही साथ देता रहा था । इसके बाद दो अवसरों पर उसने भी उसके विरुद्ध मत देना ही अपना धर्म समझा । पिट के इस व्यवहार का कोई न कोई अनुचित कारण खोज निकालने के लिए धरती और आकाश के कुलाबे लगाये गये हैं । सच्ची बात तो यह जान पड़ती है कि पिट और डुन्डास ने यह अनुभव कर लिया था कि इतने स्पष्ट मामले के लिए सब आवश्यक प्रमाण इकट्ठे हो चुके हैं और वे अधिक समय तक वास्तविकता से आंख न मूंद सकेंगे । हेस्टिंग्स का बचाव करने वाली पूरी बातें तो मुकदमे में ही सामने आयीं। ऐसी दशा में मुकदमे से पहले होने वाली उन घटनाओं को चुनौती कैसे दी जा सकती है ? २१ मार्च, १७८७ को डुन्डास ने कार्नवालिस को एक पत्र लिखा था । उसका यह अंश प्रस्तुत वाद-विवाद को सदा के लिए शान्त कर देता है : "यह कदम (अर्थात् मुकदमा) हमारे बहुत से मित्रों को पसन्द नहीं है । अनेक परिस्थितियों के कारण स्वयं हम भी इसे अच्छा नहीं समझते परन्तु सत्य यह है कि उसके विरुद्ध लगाये गये अभियोगों और बचाव पक्ष की ओर से दिये गये उत्तरों की तुलना की गयी तो अभियोग बहुत सबल सिद्ध हुए और बचावों के लिए उचित प्रमाण नहीं मिले । ऐसी दशा में यह बात न मानना असम्भव ही था ।"[1]

मुकदमा १३ फरवरी, १७८८ को वेस्ट मिन्स्टर हाल में शुरू हुआ। अन्तिम रूप से मुकदमे की तीस धाराएं पेश की गयीं । इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध हेस्टिंग्स और अवध के लेनदेन के साथ था। हेस्टिंग्स पर नवाब के साथ की गयी सन्धि भंग करने, उसके घरेलू मामले में अनुचित हस्तक्षेप करने, उसे बहुत अधिक सेनाएं रखने के लिए लाचार करने, बनारस के राजा के साथ अत्याचार करने, बंगाल की मालगुजारी के बारे में मनमाना समझौता करने, खजाना मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ता ले जाने, ठेकों के बारे में छलपूर्ण व्यवहार करने और उपहार तथा घूस स्वीकार करने के अभियोग लगाये गये । मुकदमे के वास्तविक कर्णधार बर्क, फॉक्स और शेरिडन थे । फ्रांसिस उन्हें बराबर सहायता तथा प्रेरणा देता रहा । मुख्य रूप से साक्षी की ग्राह्यता के बारे में बहुत लम्बी बहसें होने के कारण मुकदमा बहुत समय तक चला । इसी धीमी चाल का फल यह हुआ कि अत्यधिक परिश्रम के कारण बर्क का मानसिक संतुलन बना न रह सका । धीरे-धीरे लोकमत भी बर्क की हिंसा और उग्रता का विरोधी होता गया।

---

१. कारेस्पान्डेन्स आफ···मारक्विस कार्नवालिस, चार्ल्स रौस, खंड १, पृष्ठ २८१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अब पूरे जोर के साथ यह बात मानी जाने लगी कि हेस्टिंग्स ने चाहे जो अपराध अथवा भूलें की हों परन्तु इतने लम्बे मुकदमे की परेशानी ने ही उनका पर्याप्त बदला ले लिया है। १७९१ में यह निश्चय किया गया कि चेतसिंह, अवध की बेगमों, छलपूर्ण ठेकों और घूस तथा उपहारों से सम्बन्ध रखने वाली धाराओं को छोड़कर अभियोग की और सब धाराएं रद्द कर दी जावें। मुकदमे का फैसला आठवें बरस में, २३ अप्रैल, १७९५ को सुनाया गया। हेस्टिंग्स को सब अभियोगों से मुक्त कर दिया गया। मत-गणना के अवसर पर सबसे कम मत बनारस और अवध के नरेशों से सम्बन्ध रखने वाले अभियोगों को मिले। ये अभियोग ६ के विरुद्ध २३ व्यक्तियों के बहुमत से निराधार ठहराये गये।

खेद की बात तो यह है कि मामला पार्लियामेंट द्वारा की गयी जांच-पड़ताल से भी आगे बढ़ा। हेस्टिंग्स के कामों में सबसे अधिक आपत्तिजनक था उसका बनारस और अवध के नरेशों के साथ व्यवहार। पड़ताल में इन दोनों बातों की पर्याप्त निन्दा कर दी गयी थी। हेस्टिंग्स के आलोचकों को इसी से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए था। क्लाइव के मामले में जो मिसाल कायम हुई थी उसी पर चलकर 'कामन्स' भूतपूर्व गवर्नर-जनरल के सामने आने वाली कठिनाइयों को स्वीकार करके उसकी भूलों को दरगुजर कर सकते थे। इसके साथ ही वे उन शानदार सेवाओं के प्रति प्रशंसा और सराहना भी प्रकट कर सकते थे जो हेस्टिंग्स ने 'पूर्व' में इतने समय तक रहकर ग्रेट ब्रिटेन के लिए की थीं। इस प्रकार इस मामले में न्याय हो जाता। बाद में राज-छत्र हेस्टिंग्स को कोई ऊंचा पद प्रदान करके पार्लियामेंट के इस व्यवहार का अनुमोदन भी कर सकता था। दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ। प्रति वर्ष हेस्टिंग्स का अशोभन और हीन चित्र प्रस्तुत किया जाता रहा। उस समय के तीन अधिकतम प्रभावपूर्ण वक्ता इसके विरुद्ध अपनी पूरी बुद्धि और कल्पना-शक्ति का प्रयोग कर रहे थे। यह सब होने पर भी हेस्टिंग्स ने अपना धैर्य, साहस और आत्म-संयम बनाये रखा।

एक बात अवश्य हुई। मुकदमे में अभियुक्त बरी तो हो गया परन्तु इस तरह उस शासन-प्रणाली की बहुत निन्दा हो गयी जिसके अनुसार हेस्टिंग्स ने काम किया था। इस मुकदमे में हेस्टिंग्स के कुछ अराजनीतिक और अनुचित कठोरतापूर्ण काम तथ उसके आर्थिक नियन्त्रण की कुछ कमजोरियां भी सामने आयीं। दूसरी ओर एक ऐसा लाभ भी हुआ जो किसी और तरीके से न हो सकता था। इस मुकदमे में उसकी प्रशंसनीय प्रशासनिक योग्यताओं, शान्त तथा निर्भीक साहस और क्रूरतापूर्ण उकसाहट में भी उसके अनुपम संयम पर भी प्रकाश पड़ गया। इस प्रकार उसके वे अनथक प्रयत्न भी सामने आये जिन्होंने उसकी पराजय को विजय में बदल दिया था। अपने अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप ही हेस्टिंग्स विश्व-व्यापी संकटकाल में भी अपने उत्तराधिकारी को, कम से कम, इतनी ब्रिटिश सम्पदा सौंपने में समर्थ हो सका जितनी उसने अपने पूर्वाधिकारी से प्राप्त की थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १६

आन्तरिक सुधार—भूमि-प्रबन्ध—लार्ड कार्नवालिस और सर जॉन शोर

हेस्टिंग्स के भारत से विदा होने पर उसके बदले कौंसिल का उच्च सदस्य, जॉन मेक्फर्सन (John Macpherson) अस्थायी रूप से गवर्नर-जनरल बना। अत्यन्त निकृष्ट युग में कम्पनी के कर्मचारियों का जो औसत चरित्र था, जॉन मेक्फरसन उससे ऊंचे धरातल पर न था। कंपनी की नौकरी में आने से पहले और बाद में उसने कर्नाटक के नवाब से मिलकर भद्दे षड्यन्त्र किये थे। फलतः लार्ड पिगॉट (Lord Pigot) ने उसे नौकरी से अलग कर दिया था। किन्तु संचालक समिति ने उसे फिर से नियुक्त कर लिया। वह लगभग डेढ़ साल तक गवर्नर-जनरल के पद पर रहा और इस बीच उसने केवल खर्च में मामूली कमी करने तथा पूना-स्थित मरहठा सरकार के सामने कुछ अविवेकपूर्ण प्रस्ताव रखने में सफलता प्राप्त की। उसके इन प्रस्तावों के फलरूप उसके उत्तराधिकारी को पर्याप्त बाधाओं का सामना करना पड़ा। संचालक समिति ने यद्यपि उसके शासन व प्रबन्ध का अनुमोदन किया था और उसे छोटे नवाब का पद देकर पुरस्कृत भी किया तथापि लार्ड कार्नलालिस ने, जो अतिशयोक्ति से सर्वथा दूर था, उसकी शासन-व्यवस्था को 'बुरी से बुरी कार्यप्रणाली'[1] ही बताया।

अब इंग्लैण्ड में यह विचार जोर पकड़ता जा रहा था कि एक ऐसे आदमी को गवर्नर-जनरल बनाया जाय जिसने ठेकेदारी के गन्दे वातावरण में अपना कार्य-काल न बिताया हो। समिति ने इस पद के लिए सर्वप्रथम लार्ड मेकार्टनी (Lord Macartney) को चुना। उसने कम्पनी की यथाक्रम साधारण सेवाओं में से उन्नत न होने के बावजूद भी मद्रास गवर्नर के नाते भारतीय मामलों में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था। यह पद स्वीकार करने के लिए उसने यह शर्त रखी कि उसे 'लार्ड' बना दिया जावे। यह शर्त न मानी जा सकी और वह पद लार्ड कार्नवालिस को सौंप दिया गया। कार्नवालिस इससे पहले भी दो बार (१७८२ और १७८५ में) यह पद अस्वीकार कर चुका था। गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति के रूप में लार्ड कार्नवालिस की नियुक्ति को पार्लामेंट ने ~~१७७९~~ १७८६ में एक विधेयक द्वारा स्वीकार कर दिया। गवर्नर-जनरल

१. कारेस्पान्डिन्स आफ चार्ल्स, फर्स्ट मारक्विस कार्नवालिस, चार्ल्स रौस, ३ खंड, १८५९, खंड १, पृष्ठ ३७१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को आपत्तिकाल में अपनी कौंसिल के बहुमत की उपेक्षा करने का भी अधिकार दे दिया गया।

लार्ड कार्नवालिस सच्चरित्र व्यक्ति था। यॉर्कटाउन (Yorktown) में वाशिंगटन के सामने आत्मसमर्पण करने के बावजूद (इस घटना ने अमरीका का स्वाधीनता-संग्राम ही समाप्त कर दिया था) उसे अपने देशवासियों का विश्वास और आदर प्राप्त था। लार्ड कार्नवालिस हेनरी डुन्डास (Henry Dundas) और प्रधान मंत्री, पिट, का घनिष्ठ मित्र था। (हेनरी डुन्डास सोलह साल तक नियन्त्रण समिति का प्रेसीडेंट रहा था।) कार्नवालिस को दूसरे किसी भी गवर्नर-जनरल से अधिक संचालक समिति का समर्थन प्राप्त था। इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त १७८६ के एक्ट द्वारा उसे असाधारण कानूनी अधिकार भी दे दिये गये। यह एक्ट तो मानो उसके व्यक्तिगत सदाचार का प्रशंसा-पत्र था। यह एक्ट इस बात का प्रमाण था कि राष्ट्र भारतीय शासन-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण तब्दीलियां जरूरी समझता है। अस्तु, कार्नवालिस की निजी विशेषताओं, डुन्डास और पिट की मित्रता, संचालक समिति का समर्थन और १७८६ के एक्ट—इन सबने मिलकर कार्नवालिस को इतनी अधिक शक्ति प्रदान कर दी, जितनी कम्पनी के अधिक से अधिक योग्य कर्मचारी को कभी नहीं मिली थी। ये सब विशेषताएं स्पष्टतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। फिर भी कार्नवालिस की पूरी सफलता इन्हीं का परिणाम न थी। आर्थिक मामलों में उसकी ईमानदारी का स्तर असाधारण रूप से ऊंचा था। इस दिशा में तो वह कदाचित् अपने समय के सब राजनीतिज्ञों से ऊपर उठ गया था। जान पड़ता है कि उसमें कोई निजी स्वार्थ तो था ही नहीं। किसी तरह के दिखावे के बिना भली प्रकार अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना ही उसका एकमात्र लक्ष्य था। इसीलिए वह अपनी सफलता के अवसर पर बिल्कुल शान्त बना रहता था और असफलता के अवसर पर पूरी तरह अप्रभावित। उस समय तो उस जैसे सुधारक की आवश्यकता भी बहुत थी। कुछ आधुनिक लेखक हेस्टिंग्स की नीति का समर्थन करते हुए बहुत दूर तक बढ़ गये हैं। उनकी रचनाओं में तो पाठक के हृदय पर यह छाप रह जाती है कि हेस्टिंग्स ने सुधारों की दिशा में सब कुछ कर लिया था और कार्नवालिस के लिए कोई काम बाकी नहीं रह गया था। वास्तव में ऐसी कोई बात न थी। हम पूर्वतः प्रकट कर चुके हैं कि हेस्टिंग्स धन की स्वतः बहुत कम परवाह करता था। अतः धन से सम्बन्धित उसकी सब बुराइयों का कारण लोभ नहीं था बल्कि लापरवाही और फिजूलखर्ची थे। हां, उसने उस गन्दे वातावरण के प्रति विद्रोह कभी नहीं किया, जो उसके चारों ओर फैला हुआ था। इतना ही नहीं, उसने कर्मचारियों को अपने हितों से परिबद्ध करने और उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए भी स्वाधीनतापूर्वक ऐसे साधनों का उपयोग किया, जो परवर्ती युग और अधिक ऊंचे नैतिक स्तर की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। सर जॉन मालकम (Sir John Malcolm) ने सत्य ही कहा है : "उसके प्रबल समर्थक यद्यपि उसकी निजी ईमानदारी की सराहना करते परन्तु उन्हें भी विवश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होकर यह मानना ही पड़ता कि वह पूरी शासन-प्रणाली (जिसका नेतृत्व वह स्वयं कर रहा था) भ्रष्ट और बुराइयों से पूर्ण थी।"[1]

कार्नवालिस ने अधिकतर अपने ही बल से इस शासन-प्रणाली पर हमला किया। संचालक समिति से तो यह आशा ही न की जा सकती थी कि वे आर्थिक सुधारों के बारे में किसी स्पष्ट और स्थायी नीति का पालन करेंगे। हम तो इंग्लैण्ड में स्थित डायरेक्टरों और उनके भारत-स्थित कर्मचारियों को दो ऐसे विभिन्न दल भी मान सकते हैं, जिनके स्वार्थ परस्पर विरोधी थे। एक निश्चित हद तक यह बात सत्य होने पर भी यह दोनों दल कुछ मामलों में एक दूसरे का स्पष्ट विरोध न करके दलबन्दी से काम लेने के अभ्यस्त थे। इस समय डायरेक्टर का पद मुख्यतः दो कारणों से महत्त्वपूर्ण माना जाता था: १. डायरेक्टर भारतीय नियुक्तियों का संरक्षक होता था और २. इस प्रकार मूल्यवान ठेके लेने के अवसर मिल जाते थे। इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि विदेश स्थित कम्पनी के कर्मचारियों और स्वदेश में उनके नाममात्र के स्वामियों के बीच आपत्तिजनक सहयोग था। उदाहरणार्थ समिति ने क्लाइव के साथ अन्य कारणवश झगड़ा शुरू होने तक उसकी विशाल 'जागीर' के बदले खुशी-खुशी भुगतान करना स्वीकार किया। १७६५ में बंगाल कौंसिल के सदस्य जॉन स्टोन (John Stone) और दूसरे लोगों ने डायरेक्टरों के स्पष्ट आदेशों के विरुद्ध अत्यन्त मूल्यवान उपहार स्वीकार किये थे। उन पर अभियोग लगाकर इस बात की मांग की गयी कि वे अनुचित ढंग से एकत्रित किया गया धन लौटा दें। उन अपराधियों का लीडन हाल स्ट्रीट में बहुत जोर था। इसी प्रभाव के बल से उन्होंने वे सब अभियोग विफल कर दिये। बदनाम पॉल बेन फील्ड (Paul Benfield) का असर तो संचालक समिति और पार्लमेंट दोनों पर इतना अधिक था कि उसने कई बरस तक अर्काट के नवाब के ऋणों के बारे में कोई जांच-पड़ताल ही न होने दी।" लाखों पौण्ड के ये ऋण बर्क के शब्दों में, "ऐसे कुछ लोगों के पक्ष में थे, जिनमें से अधिकतर के नाम तथा गुण विस्मृति के गर्भ में छिपे हैं या उनके पापों की अधिकता के कारण ही प्रकाश में आये हैं।"[2] स्वाभाविक अतिशयोक्ति-युक्त होने पर भी उसी वक्ता (बर्क) के इस कथन में कुछ सत्य है: "कम्पनी के भारत स्थित कर्मचारियों को डायरेक्टर नियुक्त नहीं करते; बल्कि कर्मचारी ही डायरेक्टरों का चुनाव करते हैं। इन्हीं की पूंजी से व्यापार होता है। देश का राजस्व उन्हीं के पास बंधक है। शासन का प्रधान केन्द्र कलकत्ता है। लीडन हाल का भवन तो उनके प्रतिनिधियों, कारखानेदारों और उप-अधिकारियों के मिलने का स्थान मात्र है।"[3] इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि डायरेक्टरों और 'पूर्व' में उनके कर्मचारियों के बीच

---

१. स्केच आफ पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया, जॉन मालकम, १८११, पृष्ठ ४०।

२. बर्क्स स्पीचिज़, खंड ३, पृष्ठ १०९।

३. वही, खंड २, पृष्ठ ४७३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आपसी दलबन्दी थी। ऐसा न होता तो बनारस के रेसीडेंट (जो पद गवर्नर-जनरल के उपहार में से एक था) को १,३५० पौंड के निश्चित वेतन के अलावा ४०,००० पौंड की आर्थिक आमदनी कैसे होने दी जा सकती थी? कार्नवालिस ने इन दूषणों को दूर करके लिखा था: "लखनऊ और बनारस के शानदार और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाले साधन नष्ट कर दिए गए हैं। इस अवसर पर मेरे लिए पिछले डायरेक्टरों के आचरण पर दृष्टि डालना अनिवार्य हो जाता है। वे लोग जानते थे कि ये भयकर बुराइयां मौजूद हैं। फिर भी, उनका दमन करने के बदले वे इसी बात पर झगड़ते रहे कि लूट के माल का उपभोग उनके मित्र करें अथवा मि० हेस्टिंग्स के।"[1]

कार्नवालिस को इस घटना-स्थिति का सामना करना पड़ा। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी पर केवल राजकीय नियन्त्रण कर देने से ही निश्चित रूप से यह दूषित वातावरण शुद्ध हो जाता। उस समय तक तो पार्लियामेंटरी सरकार भी अत्यधिक स्वार्थी थी। इंग्लैण्ड के कुछ बड़े आदमियों ने तो (जिनमें प्रिंस आफ वेल्स भी था) स्वयं कार्नवालिस से एक "अपमानजनक और अनुचित"[2] कार्य करने के लिए कहकर उसे पीड़ित किया था। १७९३ में कम्पनी के चार्टर की अवधि बढ़ाने का प्रश्न सामने आया। उस समय कार्नवालिस ने यह घोषणा की कि वह उस 'भयंकर चीख पुकार' से डरता है, जो भारत-संरक्षण को ताज के प्रभाव के साथ जोड़ने के विरुद्ध की जाएगी। इसी अवसर पर उसने अपना यह विचार भी प्रकट किया था कि संचालक समिति के विधान में तो आवश्यक सुधार सम्भव है परन्तु वह किसी भावी मन्त्री की महत्त्वाकांक्षा और भ्रष्टाचारपूर्ण योजनाओं को रोकने के लिए एक लाभदायक साधन सिद्ध हो सकती है।'[3]

प्रस्तुत इतिहास में प्रत्येक गवर्नर-जनरल के सब दिशाओं में किये कार्यों का पूरा ब्योरा नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना में अपनी ओर से क्या विशेष योग दिया। इस दिशा में विशेषकर भीतरी मामलों में तो बहुत थोड़े लोगों के भाग्य में ही लार्ड कार्नवालिस से अधिक स्थायी कार्य करना लिखा था। बाह्य रूप से कार्नवालिस के शासन की एकमात्र घटना मैसूर के टीपू सुलतान के साथ हुई लड़ाई है। इस युद्ध में उसकी विजय उल्लेखनीय होकर भी सर्वथा पूर्ण न थी। इसके विपरीत, भीतरी मामलों में तो उसका कार्यकाल अधिकतम महत्त्वपूर्ण शासन-कालों में से एक है। उसके महत्त्वपूर्ण कार्य ये हैं: (1) कम्पनी की नौकरी में सुधार, (2) बंगाल का स्थायी भूमि-प्रबन्ध (Permanent Settlement of the Land Revenue) और (3) बंगाल की अदालतों का सुधार।

अपने जीवन का सबसे अच्छा भाग 'पूर्व' में बिताने वाले अंग्रेजों का वेतन

१. कारेस्पान्डेन्स आफ · · · कार्नवालिस, चार्ल्स रीस, खंड १, पृष्ठ ३०६।
२. वही, खण्ड २. पृष्ठ ५१।
३. मारक्विस कार्नवालिस, डब्ल्यू० एस० सेट० कार, पृष्ठ ७६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सदा ही अपने उन देशवासियों से अधिक रखा गया जो अपेक्षाकृत सम-शीतोष्ण प्रदेशों में रहे। वेतन की आधुनिक प्रणाली पिछली अनेक भूलों और अनुभव का परिणाम है। इस प्रकार यह प्रश्न अच्छे ढंग से हल हो गया है। इस प्रणाली के अनुसार असैनिक कर्मचारियों को उनके कार्य-काल में पर्याप्त वेतन मिलता था और अपेक्षाकृत छोटी आयु में ही उदारतापूर्ण पेन्शन दे दी जाती। संचालक समिति की योजना के अनुसार (जिसे उन्होंने कार्नवालिस के अनुरोध पर ही छोड़ा) वेतन तो बहुत ही कम नाममात्र के लिए होते थे परन्तु कर्मचारियों को राजस्व में से एक निश्चित दर पर बहुत अधिक कमीशन मिल जाता था। वेतन की इस कमी का प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख किया गया है। यदि वेतन बहुत कम थे तो कमीशन आदि के रूप में होने वाली अतिरिक्त आय बहुत अधिक थी। हम पहले देख ही चुके हैं कि उस समय बनारस के रेसीडेंट को १००० रुपये मासिक अथवा प्रचलित दर के अनुसार १,३५० पौंड वार्षिक वेतन मिलता था। आजकल के मापदंडों के अनुसार तो यह उस पद का उचित वेतन था। परन्तु वह तो वेतन के अलावा अप्रत्यक्ष तरीकों से, कोई ४०,००० पौंड सालाना और कमा लेता था। यदि कार्नवालिस की बात पर विश्वास किया जाए तो इसके अतिरिक्त उसे और भी ऊपरी आमदनी थी। सत्य बात तो यही जान पड़ती है कि रिटायर होने के बाद पेन्शन मिलने की आशा न होने के कारण कम्पनी के सेवक पन्द्रह बीस वर्ष में ही इतना धन इकट्ठा कर लेना आवश्यक समझते थे, जिससे वे नौकरी छोड़ने के बाद सुखपूर्वक जीवन बिता सकें। अस्तु, उस समय बंगाल में कम्पनी के कर्मचारियों की आय के तीन स्रोत थे: १.संचालक समिति द्वारा निर्धारित वेतन, २. बंगाल के राजस्व से प्राप्त होने वाली कमीशन, ३. निषिद्ध निजी व्यापार। कार्नवालिस ने लिखा था: "मुझे यह कहते हुए खेद हो रहा है कि मेरे पास यह विश्वास करने के समुचित कारण हैं कि इस समय लगभग सब कलक्टर अपने किसी सम्बन्धी या मित्र के नाम पर बहुत अधिक व्यापार कर रहे हैं। कलक्टरों अथवा अदालत के जजों के रूप में प्राप्त अधिकारों के प्रभाव से ये लोग कम्पनी के हितों के सबसे अधिक भयंकर शत्रु बन गये। अपने इस विश्वास के लिए मेरे पास यथेष्ट कारण हैं।"[1] कार्नवालिस द्वारा किये गये सुधारों का विस्तार बहुत अधिक था। वह सब तरह के स्वार्थपूर्ण ओछे कामों, हरामखोरी, अथवा सन्देहजनक ठेकों का कड़ा दुश्मन सिद्ध हुआ। कमीशनों के भद्दे तरीके के बदले उसने निश्चित परन्तु पर्याप्त वेतन निर्धारित कर दिये। उसने कम्पनी के सेवकों के कानूनी और क्रियात्मक अधिकार भी अलग-अलग कर दिये। इस प्रकार उसने कलक्टर को उसी स्थिति पर लाकर खड़ा कर दिया, जिस रूप में हम प्रायः उसे आज देखते हैं।[2] उस तिथि से कम्पनी की नौकरी एक नवीन पथ पर बढ़ने लगी। आगे चल कर स्वाभाविक विकास के उपरान्त इसी ने भारतीय साम्राज्य की इम्पीरियल सिविल सर्विस का रूप ग्रहण किया।

१. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, एच० बेवरिज, खंड २, पृष्ठ ५७५।

२. यहां यह बता देना आवश्यक है कि कानूनी और क्रियात्मक अधिकार लगातार पूरी तरह अलग-अलग रह नहीं सकते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत में सार्वजनिक राजस्व का अधिकांश सदा ही भूमि द्वारा प्राप्त होता रहा है। १७६५ में (जब अंग्रेजों को बंगाल में 'दीवानी' मिली) प्रचलित तरीका यह था कि खेतिहर अपनी भूमि की उपज का एक निश्चित भाग नकदी अथवा अनाज के रूप में 'जमींदार' को देता था। आरम्भ में 'जमींदार' केवल मालगुजारी एकत्र करने वाले थे। धीरे-धीरे यह पद पैतृक बन गया। इस प्रकार 'जमींदारी' ने (जो अपने मूल रूप में एक पैतृक ठेकेदारी ही थी) भूमि-सम्पदा का-सा रूप धारण कर लिया। जमींदार खेतिहरों से राज्य की क्षेत्रीय मालगुजारी वसूल करता था। वह वसूली का दसवां भाग स्वयं ले लेता था और बाकी धन मुगल बादशाह अथवा उसके वायसराय को दे देता था। वैसे तो 'जमींदारी' पैतृक सम्पत्ति के रूप में (पिता से पुत्र को) प्राप्त हो जाती थी तथापि जमींदारी का उत्तराधिकार प्राप्त होने पर उसे जुर्माने के रूप में कुछ धन देना पड़ता था। आज्ञा पाकर जमींदार अपना पद बेच अथवा किसी को दे भी सकता था। यदि राज्य उसका पद छीनता था तो जमींदार उचित मुआवजा ले सकता था। जमींदार को यह अधिकार था कि वह बंगाल के हाकिम द्वारा लगाये गये करों के भार का नियन्त्रण करे। उस पर अपने अधीनस्थ प्रदेश में शान्ति बनाए रखने का भी उत्तरदायित्व था। १७६५ में 'दीवानी' मिल जाने पर राजस्व एकत्र करने का काम स्थानीय लोगों के हाथ में ही छोड़ दिया गया। १७६९ में कलक्टरों का नियन्त्रण करने के लिए अंग्रेज 'निरीक्षक' नियुक्त कर दिये गये। इन निरीक्षकों की सफलता संदिग्ध ही है।

हम यह देख ही चुके हैं कि हेस्टिंग्स ने भारतीय एजेन्टों के हाथ से 'दीवानी' का प्रबन्ध संभाल कर मालगुजारी वसूल करने का अधिकार पांच साल के लिए सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को ठेके पर दे दिया। यह पंचवर्षीय प्रणाली असफल ही सिद्ध हुई। देने वालों ने अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य से अधिक मालगुजारी दी। फिर भी २५ लाख का भुगतान बाकी ही रहा। स्वदेश से तत्सम्बन्धी आदेश पाकर हेस्टिंग्स ने फिर वार्षिक तरीका अपना लिया। सबने ही यह स्वीकार किया है कि यह भयंकर पट्टेदारी एक भूल ही थी। इसके फलस्वरूप भूमि की ओर पूंजी का प्रवाह रुक गया। राजकीय आय धीरे-धीरे कम होती गयी। कार्नवालिस ने यह सूचना दी थी कि जब वह भारत पहुंचा उस समय उसने कृषि और व्यापार को गिरते देखा। उस समय खेतिहर और जमींदार निर्धनता के गर्त में डूबते जा रहे थे और महाजन ही समाज के सबसे अधिक सम्पन्न अंग थे। भूपतियों की ब्रिटिश पार्लियामेंट ने वार्षिक पट्टेदारी प्रथा पसन्द न की। वे तो 'जमींदार' का सामान्य अर्थ ग्रहण करके उसे उसी रूप में देखते थे। १७८४ में पार्लियामेंट का एक एक्ट पास किया गया। उसके अनुसार कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को यह हिदायत दी गयी कि वे वार्षिक प्रणाली त्याग कर मालगुजारी वसूल करने के 'स्थायी नियम' बनावें।

लगभग दो बरस बाद, संचालक समिति ने कार्नवालिस से कहा कि वह जमींदारों के साथ एक दस-वर्षीय समझौता (प्रबन्ध) कर ले। सफल होने की दशा में इसी प्रबन्ध को अन्त में स्थायी बना दिया जाना था। उस वर्ष (१७८६) से लेकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७८९ तक कार्नवालिस जॉन शोर (John Shore) की सहायता से इस प्रश्न पर विचार करता रहा। जॉन शोर बंगाल का एक नागरिक था। भूमि-करों के संबंध में उसकी जानकारी बहुत विस्तृत और विशद थी। १७८९ में एक दस-वर्षीय समझौता कर लिया गया। १७९३ में कार्नवालिस ने (शोर के परामर्श के विरुद्ध) डुंडास से अनुरोध किया कि मौजूदा प्रबन्ध को स्थायी बना दिया जाए। डुंडास ने आतुरतापूर्वक इस सुझाव का स्वागत किया। वह प्रधान मंत्री पिट के साथ दस दिन तक निर्विघ्न विम्बल्टन में रहकर इस प्रश्न पर विचार करता रहा। दस दिन के बाद उन्होंने कार्नवालिस के पक्ष और शोर के विपक्ष में फैसला किया। २२ मार्च १७९३ को वर्तमान प्रबन्ध स्थायी कर दिया गया।

इस प्रसिद्ध स्थायी भूमि-प्रबन्ध के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने सर्वथा विरोधी विचार प्रकट किये हैं। मार्शमेन का कथन है कि यह एक 'साहस, वीरता तथा बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था। इस क्षेत्रीय चार्टर के सुखदायी प्रभाव ने लोगों के हृदय में पहली बार अपनी धरती के प्रति अटल अधिकार और अविचल लगाव के भाव पैदा कर दिये हैं। फलस्वरूप आबादी बढ़ी है, खेती-बाड़ी में विकास हुआ है और लोगों के स्वभाव तथा सुविधाओं में एक क्रमिक प्रगति स्पष्टतः दिखाई दे रही है।'[1] इसके विपरीत, होम्स (Holmes) ने कहा: 'स्थायी भूमि प्रबन्ध एक शोकजनक भूल थी.....निचले दरजे के किरायेदारों को उससे बिलकुल लाभ न हुआ। बार-बार जमींदार लगान चुकाने में असमर्थ रहे और उनकी जागीरें सरकार के लाभ के लिए बिकती रहीं।'[2]

ऊपर उद्धृत विचार दोनों विरोधी वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। देखने में तो ऐसा जान पड़ता है मानों इन विरोधी विचारों में किसी प्रकार का समझौता हो ही नहीं सकता। वास्तविकता इसके विपरीत है। स्थायी भूमि-प्रबन्ध ने मालगुजारी के जिस नियम का स्थान लिया था वह बहुत ही अनिश्चित और असंतोषजनक था। उस प्रचलित तरीके के मुकाबले में तो यह नया प्रबन्ध स्पष्टतः अनेक बातों में बहुत अच्छा था। इसने जमींदार की स्थिति बहुत सुधार दी। इस नियम के अनुसार जमींदार को यह पूरा भरोसा था कि वह जब तक मालगुजारी देता रहेगा तब तक उसकी जमींदारी उसके हाथ में ही रहेगी। अब जमींदार वसूल होने वाली मालगुजारी में से राज्य का भाग उसे देकर बाकी धन स्वयं काम में ला सकता था। अब पैतृक सम्पत्ति के रूप में जमींदारी मिलने के अवसर पर भी उसे जुर्माना नहीं भरना पड़ता था। जमींदारी बेचने के लिए उसे किसी से आज्ञा नहीं लेनी पड़ती थी। अपने जिले में शान्ति और अनुशासन बनाये रखने का भार भी अब उसके कंधों पर न था। स्थायी भूमि-प्रबन्ध ने ब्रिटिश सरकार को लोकप्रिय भी बनाया और स्थायी भी। इसने बंगाल को भारत का सबसे अधिक धनवान और सम्पन्न प्रान्त बनाने में भी सहायता दी। अब बार-बार मालगुजारी आंकने की आवश्यकता ही न रही। समय-समय पर भूमि-कर निर्धारित

१. दि हिस्ट्री आफ इन्डिया, जे० सी० मार्शमेन (१८७१) खंड २, पृष्ठ ३५।
२. हिस्ट्री आफ इन्डियन म्यूटिनी, टी० आर० ई० होम्स, पृष्ठ १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने से (चाहे वे कितनी भी देर के बाद क्यों न हों) आर्थिक ढांचा अस्त-व्यस्त हो जाता था, लोग कर से बचने की कोशिश करते थे, अपना धन छिपाते थे और जानबूझ कर भी भूमि को अनुपजाऊ पड़ा रहने देते थे। स्थायी भूमि-प्रबन्ध से ये बुराइयाँ अपने आप मिट गयीं। यद्यपि राज्य ने वृहद्मात्रा में भावी राजस्व खर्च कर डाला था तथापि उसे उद्योगों तथा सुधारों के अवरोधों का उन्मूलन करने और सम्पन्नता में सामान्य वृद्धि के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में लाभ ही हुआ। उद्योग तथा सुधारों विषयक अवरोध हमेशा तब प्रकट होते हैं, जब सरकार लाभ का भाग परित्यक्त करती है।

दूसरी ओर, स्थायी भूमि-प्रबन्ध का तात्कालिक प्रभाव जमींदारों पर भी बहुत बुरा पड़ा। बहुत से जमींदार खेतिहरों से लगान वसूल करने में असमर्थ रहने के कारण राजकीय कर न चुका सके। इस प्रकार उन्हें विवश होकर अपने पुराने वंशगत अधिकार नये स्वामियों के हाथों में छोड़ने पड़े। नये और प्रारम्भिक भार सहने में समर्थ पुराने जमींदारों को अन्त में खेतिहर और राज्य के मूल्य पर बहुत आर्थिक लाभ हुआ। ये लोग अपनी पूंजी का अधिकांश अपनी 'जागीरों' का विस्तार और सुधार करने में लगाना चाहते थे परन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। जमींदारों से कुल मिलाकर ३७ लाख ५० हजार पौंड की रकम ली जानी थी। इसके विपरीत जमींदारों ने अब १ करोड़ ३० लाख पौंड वसूल किये। राज्य परिश्रम के बिना ही प्राप्त होने वाले इस धन का कोई भी भाग अपने हाथ में लेने का अधिकार सदा के लिए छोड़ चुका था। इसका फल यह हुआ कि शेष भारत पर इसीलिए अनावश्यक और भारी टैक्स लगाये गये ताकि बंगाल के जमींदार विशेष रूप से अबाध रूप से सुख का जीवन बिता सकें। कार्नवालिस ने खेतिहरों के हितों का ध्यान रखते हुए आर्थिक लगान की कठिनाइयों को एक हद तक कम करने का प्रयत्न किया। फिर भी उसे इस काम में अधिक सफलता नहीं मिली। निस्संदेह, खेतिहरों की स्थिति बहुत बुरी हो गयी थी। (उन्हें वास्तविक सुख तो १८५९ के बंगाल लैण्ड एक्ट ने ही पहुंचाया था।) स्थायी भूमि-प्रबन्ध का यह अंश उन लोगों की दृष्टि में इसका सबसे बड़ा कलंक है, जो जमींदार को स्वतन्त्र गाँव का मूलतः मुखिया बना देता है। इन लोगों का विश्वास है कि जमींदार खेतिहरों का प्रतिनिधित्व करता है और सरकार उसे मालगुजारी वसूल करने तथा राज्य को सौंप देने के लिए नियुक्त करती है। इस विचार के अनुसार (यद्यपि कालान्तर में जमींदार को अपनी जमींदारी का मालिक ही माना जाने लगा) लगान देने वाले खेतिहर 'उसके किरायेदार अथवा आश्रित न थे।.....केवल जमींदारों के साथ समझौता करके और उन लोगों की सर्वथा उपेक्षा करके, एक बहुत बड़ी भूल की गयी और सर्वथा अन्यायपूर्ण कदम उठाया गया, जिनका अधिकार जमींदार से किसी तरह भी कम नहीं था।[1]

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि स्थायी भूमि-व्यवस्था के अधिकतर लाभ किसी दीर्घकालीन समझौते से प्राप्त हो सकते थे। उस दशा में सरकार का यह अधि-

१. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, एच० बेवरिज, खंड २, पृष्ठ ६३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार भी ज्यों का त्यों बना रहता कि वह परिश्रम के बिना ही भूमि से होने वाली अतिरिक्त आय पर विशेष कर लगा सके । मि० ई० डी० मैक्लेगन ने कहा है : "जिन इलाकों में स्थायी भूमि-प्रबन्ध लागू है, वहां 'भूमि-कर में, अंग्रेजी भूमि-कर की भांति' कोई विशेषता नहीं है । इस समय तो उसे अधिक से अधिक एक 'किराया' मात्र कहा जा सकता है। भूमि का विक्रय-मूल्य घट जाने के कारण लगान का भार भी बहुत पहले ही कम हो गया है ।" [१] यदि स्थायी भूमि-प्रबन्ध दस बीस बरस के लिए भी स्थगित कर दिया जाता तो भूमि से होने वाली आय का अधिक सहज ढंग से अनुमान लगाया जा सकता था । इस प्रकार बहुत सी झंझटों और भूलों से भी बचा जा सकता था। इतना ही नहीं, इस तरह उन सुधारों से भी पूरा लाभ उठाया जा सकता था, जो स्वयं कार्नवालिस ने सिविल सर्विस में किये थे । यदि आवश्यक समय मिल जाता तो आवश्यक शिक्षा तथा योग्यता पाकर अधिकारियों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो जाता जो इतने विस्तृत और विकट मामले को अधिक सफलतापूर्वक सम्हाल सकता था ।

दीवानी और फौजदारी अदालतों के पुनर्गठन में तो कार्नवालिस ने मानो वही काम पूरा किया, जिसका आरम्भ वारेन हेस्टिंग्स ने किया था । यह टेकनिकल तथा दुरूह विषय संक्षेप में यह है : उसने मालगुजारी वसूल करने और न्याय करने के अधिकार अलग-अलग व्यक्तियों को सौंप दिये । (लार्ड हेस्टिंग्स के शासन-काल में अनन्तर यह नियम भंग कर दिया गया था ।) दीवानी अदालतों की एक कड़ी सी स्थापित कर दी गयी जिसमें बड़ी को अपेक्षाकृत छोटी अदालतों से अधिक अधिकार प्राप्त थे : १. छोटी अदालतें, जिनकी सहायता से साधारण ऋण वसूल किये जाते थे । स्थानीय कमिश्नर ही उनके प्रधान होते थे । २. जिला और नगर की अदालतें । उनका प्रधान एक ब्रिटिश जज होता था, जिसकी सहायता स्थानीय परामर्शदाता करते थे । ३. चार प्रान्तीय अदालतें । इनमें से प्रत्येक में तीन यूरोपियन जज तथा स्थानीय परामर्शदाता होते थे । ४. सदर दीवानी अदालत, जिसमें गवर्नर-जनरल और कलकत्ता कौंसिल के सदस्य होते थे । दूसरी अदालतों के फैसलों की अपील सदर दीवानी अदालत में ही की जाती थी । फौजदारी के मुकदमों के लिए भी इसी तरह का संगठन था । इनमें भी लगभग वे ही जज थे । प्रान्तीय सिविल अदालतों के जज भी बारी-बारी फौजदारी की अदालतों में जाते थे । फौजदारी की सर्वोच्च अदालत 'सदर निजामत-अदालत' कहलाती थी । इस प्रकार फौजदारी अदालतों पर से स्थानीय डिप्टी नवाब अथवा 'नायब नाजिम' का अधिकार सदा के लिए समाप्त हो गया और नियमों की एक नई संविधि (Code of Regulations) निर्धारित कर दी गयी । यह संविधि जार्ज बार्लो ने तैयार की थी । नयी न्याय-प्रणाली के अफसरों का निर्देशन करने के लिए यह संविधि छपवा भी दी गयी थी ।

अस्तु, कार्नवालिस के कार्यों का वास्तविक महत्त्व मुख्य रूप से तीन बातों में है—सिविल सर्विस की स्थिति, मालगुजारी वसूल करने का तरीका और अदालतों

१. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इन्डिया, खंड ४, पृष्ठ २२० ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

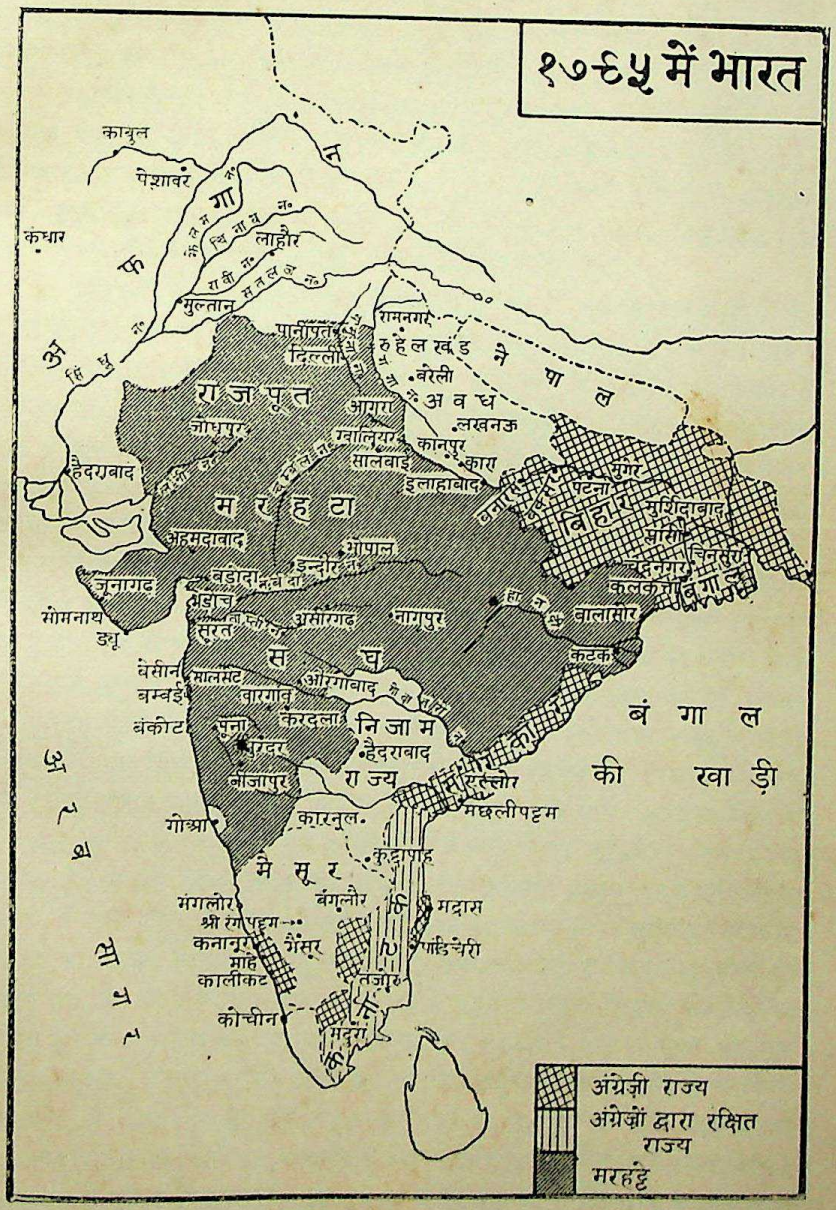

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का पुनर्गठन। 'उसने शासन के प्रस्तुत और बिखरे हुए अंशों को एक विशाल प्रणाली के रूप में संगठित किया। पहले हल्की तथा अस्थिर जान पड़ने वाली बातों को उसने गुरुता और स्थिरता प्रदान की। उसने आधुनिक भारतीय विधान की नींव रक्खी।'

अपनी विदेशी नीति में कार्नवालिस सबसे अधिक तटस्थता और शान्ति बनाए रखने में प्रयत्नशील था। यह भावना पार्लियामेंट के इस ऐलान के अनुकूल थी, जो १७८४ में पिट के एक्ट द्वारा स्वीकार किया गया था तथा जिसे फिर १७९३ में दोहराया गया। इसमें कहा गया था कि 'भारतीय उपनिवेश के विस्तार अथवा विजय सम्बन्धी योजनाएं इस राष्ट्र की इच्छाएं, प्रतिष्ठा तथा नीति के प्रतिकूल हैं।'

कार्नवालिस ने १७८८ में शाह आलम के पुत्र को, जो तब बनारस में रहता था, अपना दिल्ली सिंहासन प्राप्त करने में सहायता देना स्वीकार न किया। उसने चतुरतापूर्वक इस समझौते से भी छुड़ा लिया जो मेक्फरसन ने अविवेकपूर्वक पेशवा के साथ कर लिया था, और जो 'बहुत ही भद्दा और मूर्खतापूर्ण था।'[1] किन्तु कार्नवालिस मैसूर के शासक के साथ होने वाला झगड़ा न टाल सका। मैसूर कम्पनी का सबसे भयंकर प्रतियोगी था। मद्रास की सिरफिर सरकारों और स्थानीय शक्तियों में स्वाभाविक कपटता से जो मूर्खतापूर्ण सन्धियां पहले की गई थीं उनके कारण गवर्नर-जनरल का मार्ग जटिलतापूर्ण हो गया था। यहां एक प्रसंग का उल्लेख आवश्यक है। यह तो सर्वविदित बात है कि हैदराबाद का निजाम (देखने में तो) सदा ही कम्पनी का मित्र और प्रायः उसके लिए चिन्ता का कारण बना रहा। अब उसने १७६८ की मछलीपट्टम की सन्धि के अनुसार, टीपू से अपने कुछ विजित प्रदेश छुड़ा लेने के लिए अंग्रेजी सेनाओं की सहायता मांगी। इसके साथ ही साथ (जैसा कि बाद में पता चला) वह अंगरेजों के विरुद्ध टीपू से मिल गया। लार्ड कार्नवालिस ने इस मामले का गम्भीर अध्ययन किया। फलस्वरूप उसे पता चला कि १७६९ में हैदरअली के साथ एक सन्धि की गयी थी। इस सन्धि में स्पष्टतया उन प्रदेशों पर हैदरअली का अधिकार मान लिया गया था, जिनसे उसे मछलीपट्टम की संधि से वंचित किया गया। इसके अतिरिक्त, १७८४ में स्वयं टीपू के साथ जो सन्धि की गयी थी, उसमें भी ये अधिकार स्वीकार किये गये थे। इसके विपरीत, टीपू स्पष्टतः कम्पनी के प्रदेशों के विरुद्ध युद्ध करने का विचार कर रहा था। कार्नवालिस उस संघर्ष में पड़ने से पहले निजाम का सहयोग सुरक्षित कर लेना चाहता था। उसमें एक बाधा थी। १७८४ के पिट के एक्ट की एक धारा के अनुसार गवर्नर-जनरल अपने देश के अधिकारियों की आज्ञा के बिना किसी देशी नरेश से लड़ाई अथवा इस उद्देश्य से किसी के साथ सन्धि नहीं कर सकता था। (अपने प्रदेशों पर किसी का आक्रमण होनेपर गवर्नर-जनरल ऐसा कर सकता था।) कार्नवालिस ने तनिक निराशापूर्ण चतुराई पूर्वक १७६८ की शान्ति-संधि के सम्बन्ध में निजाम की अपील मान लेने का फैसला किया। उसका यह कदम परवर्त्ती १७६९ और १७८४ की संधियों के विरुद्ध था। इस काम में उसने अत्यन्त शीघ्रता भी की। उसने निजाम को एक पत्र लिखा। इसमें १७६८ की सन्धि की व्याख्या की गयी थी।

१. कारेस्पाण्डेन्स आफ़ मारक्विस कार्नवालिस, चार्ल्स रौस खंड १, पृष्ठ २१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें यह ऐलान भी किया गया था कि यदि वे जिले जिन पर निजाम अपना अधिकार जता रहा था, कभी अंग्रेजों के कब्जे में आये तो अंग्रेज वे निजाम को सौंप देंगे । निजाम को सेनाएं देने का भी निश्चय हो गया, किन्तु इन सेनाओं का प्रयोग अंग्रेजों की किसी मित्र-शक्ति के विरुद्ध नहीं किया जा सकता था। इन मित्र-शक्तियों की सूची साथ ही दे दी गयी थी । इस सूची में से टीपू का नाम जान बूझ कर निकाल दिया गया। कार्नवालिस के शब्दों में मैसूर की लड़ाई 'एक अनिवार्यता एवं निर्मम आवश्यकता' थी । अस्तु, स्वभावतया स्पष्ट होने पर भी उसे निजाम को अपने पक्ष में सम्मिलित करने के लिए इस प्रकार के उपायों से काम लेना पड़ा। वास्तव में तो इन सब बातों से तो यही सिद्ध होता है कि पार्लियामेंट के प्रस्तावों और भारत सरकार को दी गयी संचालक समिति की आज्ञाओं ने मध्यस्थता के मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित कर दी थीं । यह मानना ही पड़ेगा कि ये परिस्थितियां उन लोगों का भी किसी हद तक समर्थन करती हैं जिनका विचार है कि टीपू को आत्म-रक्षा के लिए हथियार उठाने को विवश होना पड़ा। इसी-लिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि शान्ति-प्रिय कार्नवालिस को भी भाव भरे स्वर में कहना पड़ा : 'अनिवार्य असुविधा यह है कि पहले से ही सुयोग्य मित्र-शक्तियों की सहायता प्राप्त किये बिना हमें लगातार लड़ाई छेड़ने की आवश्यकता प्रकट करनी पड़ती है ।'[1]

टीपू को स्वतः लड़ाई के लिए विवश होना पड़ा। १७८७ में उसने कुस्तुन्तुनिया और पेरिस तक अपने दूत भेजे ताकि वे अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ मित्र-शक्तियों को अपने साथ करें। उसे भांति-भांति की भ्रामक आशाएं दिला-दिला कर युद्ध करने के लिए उकसाया गया। दिसम्बर, १७८९ में उसने ट्रावनकोर पर हमला किया। ट्रावनकोर देश के बिल्कुल दक्षिण-पश्चिम में स्थित एक छोटी सी रियासत थी। यहां का राजा कम्पनी का मित्र था। अगले ही वर्ष टीपू ने अपनी स्वाभाविक लम्पटता तथा निर्दयता से देश को तबाह कर दिया। कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध पेशवा और निजाम के साथ क्रमशः जून तथा जुलाई, १७९० में समझौते कर लिये । इनमें से प्रत्येक को एक सैनिक दस्ता लड़ाई के लिए देना था। और विजय के परिणाम में भाग लेना था। दोनों ने ही अनिच्छापूर्वक समझौता किया था । अतः उन्होंने कोई लाभदायक सहायता न दी। हां, इस प्रकार वे मैसूर के साथ मिलने से अवश्य रोक दिये गए।

१७९० में जनरल मीडोज (Medows) के नेतृत्व में सेना ने कूच किया। यह असन्तोषजनक ही रहा। फलतः, दिसम्बर १७९० में स्वयं गवर्नर ने सैन्य-संचालन का कार्य संभाल लिया। उसने अगले ही वर्ष मार्च में बंगलौर ले लिया और राजधानी, श्री रंगापट्टम की ओर बढ़ा। यद्यपि उसने मई में एक घमासान युद्ध में टीपू को हरा तो दिया परन्तु युद्ध-सामग्री के अभाव से इसे अपनी बड़ी-बड़ी तोपों का मुंह बंद करके पीछे हटना पड़ा। १७९१ की गर्मियों में की तीसरी लड़ाई अधिक सफल रही। उसके पहाड़ी किले दुर्बल कर दिये गये थे। जनवरी, १७९२ में श्री

१. ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, एच० बेवरिज, खंड २, पृ० ५८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रंगापट्टम पर दूसरी बार पूरी शक्ति के साथ धावा बोल कर नगर के बाहरी भागों पर कब्जा कर लिया गया । टीपू ने आत्म-समर्पण कर दिया और गवर्नर-जनरल ने उसे स्वीकार कर लिया। कुछ आलोचकों का अनुमान है कि यदि कार्नवालिस चाहता तो उसी समय वह काम पूरा कर सकता था जो उसने वेलेजली के लिए छोड़ दिया ; परन्तु श्री रंगापट्टम पर उठने वाली वह आंधी रोक देने के लिए अनेक उचित कारण थे। ब्रिटिश सेनाओं में रोग फैल रहा था। तिस पर इस बात के प्रमाण थे कि निजाम और मरहठे छल कर रहे हैं। फ्रान्स के साथ लड़ाई अवश्यम्भावी थी और संचालक शान्ति के लिए चिल्ला रहे थे। इसके अलावा, स्वयं गवर्नर-जनरल भी मैसूर के पूरे देश का शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में लेने के लिए उत्सुक न था। इसीलिए उसने जानबूझ कर अपना हाथ रोक लिया। मार्च, १७९२ की सन्धि के अनुसार टीपू को अपना आधा राज्य छोड़ने, ३,०००,००० पौंड से अधिक हरजाने के रूप में देने, और अपने दो पुत्रों को जमानत के रूप में समर्पित कर देने के लिए विवश किया गया।

इस लड़ाई के फलस्वरूप कम्पनी को जो प्रदेश प्राप्त हुआ, वह १७६५ के बाद मिलने वाला पहला वास्तविक महत्त्वपूर्ण अधिकार था। मैसूर के पश्चिम में उन्हें मलाबार और कुर्ग का शासन प्राप्त हो गया। इन प्रदेशों के राजा ने कम्पनी का समर्थन किया था। दक्षिण में कम्पनी को डिन्डीगुल (Dindigul) और उसके आस-पास के इलाके मिल गये। उधर, पूर्व में बड़ा महल (Baramahal) और उन प्रसिद्ध दर्रों पर उनका अधिकार हो गया, जिनमें से होकर हैदरअली अपने भयंकर आक्रमण किया करता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने मैसूर के सुलतान को पश्चिम में समुद्र तक पहुंचने में असमर्थ कर दिया और उन दर्रों पर भी कब्जा कर लिया, जहां से होकर वह अपने अधीनस्थ प्रदेश तक जा सकता था। मैसूर के उत्तर-पश्चिम में स्थित भाग पर मरहठों ने कब्जा कर लिया और उत्तर-पूर्व में स्थित भाग पर निजाम ने। तीनों सम्मिलित शक्तियों में से प्रत्येक ने हरजाने का तिहाई भाग ले लिया। कार्नवालिस ने यह कहकर लड़ाई के परिणामों का सारांश प्रस्तुत किया था : "अपने मित्रों को अत्यधिक शक्तिशाली बनाये बिना ही हमने अपने शत्रु को बुरी तरह पंगु बना दिया है।"[1]

इसके उपरान्त कुछ समय के लिए शान्ति हो गयी परन्तु वह स्थायी न रह सकी। टीपू को दबा तो अवश्य दिया गया था परन्तु वह अपने राज्य का एक भाग छिन जाने का उचित बदला लेना चाहता था। उसके हृदय में विजेता के प्रति अपार क्रोध था। इसीलिए उसने तुरत ही अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों, अफगानिस्तान के अमीर और दक्षिण भारत की स्थानीय रियासतों के साथ दलबन्दी आरम्भ कर दी थी। पेशवा और निजाम एक दूसरे की ओर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। युद्ध-काल में भी ब्रिटिश सेनाओं के भय से मरहठे मैसूर के मैदानों पर टूट पड़ने से रह गये थे। अस्तु, जिस समय पेशवा के साथ मिलकर कार्नवालिस टीपू को हटा रहा था उसी समय मरहठा संगठन के नाम-

१. कारेस्पान्डेन्स आफ ···· मारक्विस कार्नवालिस, चार्ल्स रौस, खंड २ पृष्ट १५४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मात्र के सेनानायक, सिन्धिया और होल्कर उत्तरी भारत में एक दूसरे के साथ लड़ रहे थे। यह प्रतियोगिता पूना स्थित राष्ट्र की प्रधान सत्ता के लिए चिन्ताजनक थी और सम्पूर्ण भारत के लिए अशान्तिजनक।

सामान्य रूप से अब कार्नवालिस (जिसे 'मार्क्विस' बना दिया गया था) अक्तूबर, १७९३ में इस विश्वास के साथ भारत छोड़ सकता था कि निकट भविष्य में किसी प्रकार की उथल-पुथल की संभावना नहीं है। उसके रवाना होने से कुछ ही पहले फ्रांस के साथ क्रान्तिकारी युद्ध का ऐलान हो गया। असहाय फ्रांसीसी प्रदेशों पर अंग्रेजी सेनाओं ने अधिकार कर लिया।

संयोगवश, कार्नवालिस के रिटायर होने के समय ही १७९३ में कम्पनी के चार्टर की अवधि भी बढ़ा दी गयी। यदि उनके विशेषाधिकारों का समय दस बरस पहले समाप्त हो जाता तो सम्भवतः लोकमत इस एकाधिकार की अवधि बढ़ाने का कड़ा विरोध करता परन्तु कार्नलालिस के सुधारों ने वातावरण को कम्पनी के अत्यन्त अनुकूल बना दिया था। प्रमुख बन्दरगाहों और उत्पादक नगरों—लिवरपूल, ब्रिस्टल, ग्लास्गो, मान्चेस्टर, नारविच, पेसले और एक्सटर ने इस बात पर आपत्ति की कि सामान्य रूप से पूरे देश को भारतीय व्यापार में भाग क्यों नहीं लेने दिया जाता। फलस्वरूप, स्वतन्त्र अथवा सीमित व्यापार का पूरा प्रश्न उठाया गया। मन्त्रियों ने डायरेक्टरों का समर्थन किया और कम्पनी का विशेषाधिकार काल अगले चौबीस वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया। यह साधारण रियायत अवश्य दे दी गयी कि व्यक्तिगत रूप से माल भेजने वालों को प्रति वर्ष ३,००० टन माल जहाजों पर लादने की सुविधा मिलती रहेगी। डुंडास ने अपने पक्ष की पुष्टि में अनेक तर्क उपस्थित किये। उनमें से मुख्य यह था कि यदि भारतीय व्यापार सबके लिए खोल दिया गया तो इसका फल होगा देश में नयी-नयी आबादियों का उदय। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह होगा कि भारत ग्रेट ब्रिटेन के हाथ से निकल जाएगा।

लार्ड कार्नवालिस ने एक बार यह आशा प्रकट की थी कि भविष्य में वह कम्पनी के किसी सेवक को सर्वोच्च शासक के रूप में नहीं देखेगा। तथापि कम्पनी का ही एक सेवक, सर जॉन शोर, उसका उत्तराधिकारी बना। सर जॉन शोर बंगाल की भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध में कार्नवालिस का परामर्शदाता और सहकारी था। इस नियुक्ति का मूल कारण यह था कि इंग्लैण्ड में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं खोजा जा सका था, जो बादशाह जार्ज तृतीय के शब्दों में "अत्यन्त असाधारण रूप से योग्य तथा उचित" हो। इसी असमर्थता ने कुछ समय तक 'नियन्त्रण समिति' के प्रसिद्ध प्रधान डुंडास के हृदय में यह कल्पना पल्लवित होने दी कि उसी को भारत भेजा जायगा। कार्नवालिस के गवर्नर-जनरल बनने के बाद केवल कम्पनी के तीन कर्मचारियों—सर जॉन शोर, सर जार्ज बार्लो और सर जॉन लारेंस—को ही यह सर्वोच्च पद दिया गया। यह एक मनोरंजक बात है कि इन तीनों में से प्रत्येक के कार्यकाल में शान्ति और निष्पक्षता की नीति का ही पालन होता रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पार्लियामेंट और संचालक समिति ने निष्पक्षता की जो नीति निर्धारित की थी उसका पालन निस्संदेह सर जॉन शोर के शासन-काल में हुआ । भारत सरकार ने हृदय से यह इच्छा प्रकट की कि स्थानीय शक्तियां अपनी समस्याएं स्वतः हल करें। ब्रिटिश उपनिवेश की सीमा में कोई विस्तार न हुआ और सर जॉन शोर ने एक ऐसी परिस्थिति में भी निष्पक्षता बनाए रखी जब (कुछ लोगों के विचार में) ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी संकट में थी। सर जॉन मालकम (Sir John Malcolm) ने लिखा था : "इस शासन की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि राजनीतिक महत्त्व का कोई क्षेत्र छोड़ने का अर्थ था शत्रु को तुरन्त उस पर अधिकार करने देना। इसी प्रकार अपना प्रभाव त्यागने का अर्थ केवल शक्ति छोड़ना ही न होकर उस शक्ति को ब्रिटिश सरकार के शत्रुओं के हाथों में जाने देना था।"[1] शोर का कार्य-काल अंधड़ से पहले का शान्ति-काल सिद्ध हुआ । पांच वर्ष तक एक भयंकर शान्ति बनाए रखी गयी। इस अवधि में अमंगल के बादल भी इकट्ठे होते रहे। इनका परिणाम लड़ाइयों और लार्ड वेलज़ली द्वारा किये गये संयोजनों के रूप में प्रकट हुआ। जब अंग्रेजों के हस्त-क्षेप का समय आया तो इतनी देरी के कारण वह अधिक उग्र रूप में हुआ।

दो स्थानीय शक्तियों, अवध और हैदराबाद की मुस्लिम सरकारों ने प्रसन्नता-पूर्वक अपने को अंग्रेजों के संरक्षण में छोड़ दिया था । उन्होंने अपनी दुर्बलता के कारण ही ऐसा किया। उनके (विशेषतः निजाम के) साथ कम्पनी के गठ-बंधन का तर्कोचित परिणाम अंग्रेजों को भारतीय उपनिवेश के पथ पर और आगे जाना था परन्तु उस समय यह बात कल्पना से परे थी। उस समय तो सरकार ने पूरी तरह यह अनुमान नहीं लगाया था कि इन बातों का क्या फल हो सकता है। जहां तक उसने इस बात का अनुभव किया वहां तक वह आवश्यक उत्तरदायित्व से दूर ही भागती रही । मैसूर-युद्ध समाप्त हो जाने पर कार्नवालिस ने मरहठों और निजाम को समझाया कि वे टीपू सुल्तान के विरुद्ध एक दूसरे के प्रदेशों की रक्षा करने के लिए आपस में एक समझौता कर लें। दुर्बल होने के कारण निजाम तो यह बात मान गया परन्तु मरहठों ने यह स्वीकार न किया। निस्संदेह, इसका कारण यह था कि मरहठे पहले की भांति भविष्य में भी अवसर पाकर निजाम को अपना शिकार बनाना चाहते थे । इधर से निराश होकर निजाम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ऐसा आश्वासन मांगा परन्तु कार्नवालिस ने सहायता के अस्पष्ट वचन से अधिक कुछ देने में संकोच किया था। सर जॉन शोर ने भी दृढ़तापूर्वक, इस दिशा में, अपने पूर्वाधिकारी से अधिक कुछ भी करने से इन्कार कर दिया । निजाम को एक दूसरा सहायक ढूंढ़ना पड़ा। उसने, अपनी सेनाओं को शिक्षित और अनुशासित बनाने के लिए असाधारण योग्यता-सम्पन्न एक फ्रांसीसी अफसर रेमॉन्ड (Raymond) को नियुक्त कर लिया।

इसी दौरान में मरहठा राज्य हैदराबाद को लूटने की योजनाएं बना रहे थे।

---

१. स्केच आफ दि पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इन्डिया, जान मालकम, १८११, पृष्ठ २२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहां इस संगठन की संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक है। मानचित्र पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मध्य भारत पर उनका प्रभाव कितना अधिक था। पेशवा का अधीनस्थ प्रदेश भूमि की एक चौड़ी पट्टी के रूप में था। यह दक्खिन के पश्चिमी तट से (निजाम के इलाके और समुद्र के बीच में) लेकर नीचे की ओर मैसूर की उत्तरी सीमा तक फैला हुआ था। गायकवाड, होल्कर, और सिन्धिया के अधीनस्थ प्रदेशों के बीच की सीमाएं बिल्कुल अनिश्चित और अनिर्धारित-सी थीं। किन्तु मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि काठियावाड़ और गुजरात गायकवाड़ के अधीन थे, मालवा का दक्षिण-पश्चिमी भाग होल्कर के और उत्तर-पूर्वी मालवा, यमुना के पश्चिम में स्थित प्रदेश, गंगा का ऊपरी भाग, और यमुना का दोआबा सिन्धिया के अधीन था। बरार के राजा का राज्य उसकी राजधानी नागपुर से लेकर बंगाल की खाड़ी में कटक तक फैला हुआ था। इस प्रकार प्रायद्वीप के विस्तृत मध्य भाग पर मरहठों का अधिकार था। दूसरे शब्दों में, उनका आधिपत्य पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में उड़ीसा तक था। यह उत्तर में पंजाब की सीमाओं तक फैला हुआ था और इसकी दक्षिणी सीमाओं ने तीन ओर से निजाम-राज्य को घेरा हुआ था।

तत्कालीन मरहठा संघ की वैधानिक स्थिति अत्यन्त दुखद थी। यह तो वस्तुतः एक विचित्र राजनीतिक पहेली ही था। तथापि परवर्ती घटनाओं का समुचित अध्ययन करने के लिए उसके मुख्य भागों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। पूरे संघ का नाममात्र का प्रधान, शिवाजी का वंशज, अब भी मूल महाराष्ट्र में सतारा के बन्दीगृह तुल्य राज-महल में ही रहता था। पश्चिमी भारत की सम्पूर्ण वास्तविक सत्ता बहुत पहले ही पूना स्थित पेशवा (प्रधान मंत्री) के हाथों में पहुंच चुकी थी। अब तो पेशवा भी अपने योग्य मंत्री, नाना फड़नवीस के हाथ की कठपुतली मात्र बन गया था। इस दौरान में संघ के नाममात्र के आश्रित सदस्य नाम के अतिरिक्त और सब बातों में पूना के नियन्त्रण से अलग हो चुके थे। बरार का भोंसला राजा, जो शिवाजी के साथ अपना नाता बतलाता था, इन्दौर का होल्कर, ग्वालियर का सिन्धिया और बड़ौदा का गायकवाड़ क्रियात्मक रूप से स्वतन्त्र हो चुके थे। इनमें से प्रथम तीन पेशवा के वंश परम्परागत सेना-नायक थे। इन्हें वास्तव में वे प्रदेश सैनिक सेवाओं के बदले पुरस्कार के रूप में ही दिये गये थे। सिन्धिया और होल्कर के बीच एक पारिवारिक झगड़ा था। अपनी स्थिति के कारण बरार का राजा पूना के षड्यन्त्रों से सर्वथा अलग था। मरहठा शक्तियों में से केवल गायकवाड़ ने ही कभी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती नहीं दी। वारेन हेस्टिंग्स के मरहठा-युद्ध के समय से ही उसने तो किसी-न-किसी रूप में अंग्रेजों के साथ मित्रता सम्बन्ध बनाए रखे।

मरहठा सरदारों में व्यक्तिगत योग्यता और आश्रित प्रदेश के सीमा-विस्तार की दृष्टि से महादा जी सिन्धिया का स्थान सर्वोच्च था। १७८४ से ही वह सतलुज से लेकर आगरे तक 'हिन्दुस्तान' का नियन्त्रण कर रहा था और मालवा तथा 'दक्खिन' में भी उसके अधीन मूल्यवान प्रदेश थे। उसकी सेना भी बहुत अच्छी थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस सेना की भरती तथा इस के अनुशासन का भार डि बोइने (De Boigne) नामक एक सौभाग्यशाली सेवोयार्ड (Savoyard) सैनिक पर था। बूढ़े नरेश, शाह आलम को विवश होकर सिन्धिया का आश्रय लेना पड़ा। आश्रयदाता की अनुल्लंघनीय प्रार्थना पर उसने पेशवा को साम्राज्य का सर्वोच्च उपपदाधिकारी (Vicegerent) और स्वयं सिन्धिया को पेशवा का डिप्टी नियुक्त करने के लिए आवश्यक आज्ञा-पत्र जारी कर दिये। इस प्रकार असाधारण राजनीतिक कल्पनाओं तथा राजनीतिक घटना-चक्र की विचित्र गति के फलस्वरूप अब मुगल बादशाह हिन्दू संघ के एक सेना-नायक के नियंत्रण में जा पहुंचा। इस संघ का नियन्त्रक पेशवा का मन्त्री था। यह मंत्री स्वयं सतारा के राजमहल का अध्यक्ष (Mayor) था। ऐतिहासिक दृष्टि से मेयर की मांग का आधार मुगल सत्ता के विरुद्ध एक विद्रोह था। यह सत्य है कि सिन्धिया को कुछ समय तक भाग्य के उतार-चढ़ाव सहने पड़े। उसे १७८६ में एक राजपूत संघ ने हराया। १७८८ में अस्थायी रूप से उसका अधिकार दिल्ली पर से भी हट गया। यह उस समय की बात है जब एक बर्बर रुहेला सरदार ने दुःखी शाह आलम को कैद करके उसकी आंखें निकाल लीं। १७९२ तक सिन्धिया ने अपना विगत वैभव फिर पा लिया, बादशाह को भी छुड़ा लिया और उसे उसके अधिकार दिलवा दिये। इस प्रकार वह एक बार फिर सर जॉन मालकम के प्रभावशाली शब्दों में "दिल्ली के बादशाह का नाममात्र का गुलाम परन्तु वास्तव में कठोर स्वामी बन गया। वह होल्कर का मित्र बनने का ढोंग रच रहा था, परन्तु वास्तव में उस परिवार के विरुद्ध प्रतियोगितापूर्ण योजनाएं बना रहा था।.....राजपूत नरेशों का दमन करने वाला.....और पेशवा परिवार का उद्घोषित सिपाही परन्तु वास्तविक लुटेरा बन चुका था।"[1] १७९२ में उसने बादशाह से नये आज्ञा-पत्र ले लिये। इनके अनुसार उपपदाधिकारी (Vicegerent) और डिप्टी के पद वंशपरम्परागत और शाश्वत बना दिये गये। इन्हें साथ लेकर वह पूना के लिए रवाना हुआ। अब उसने एक गम्भीर कदम उठाया। उसने पेशवा को यह कहकर बहकाया कि पिछली लड़ाई में मैसूर के विरुद्ध अंग्रेजों का समर्थन करके एक भयंकर भूल की गयी है। उसने टीपू के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने का भी अनुरोध किया। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित कदम उठाया जाने से पहले ही १७९४ में अकस्मात् महादाजी सिन्धिया की मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी, दौलतराव सिन्धिया अभी बालक ही था। अस्तु, कुछ समय के लिए मरहठों से सम्बन्ध रखने वालों का नियन्त्रण फिर नाना फड़नवीस के हाथों में आ गया। अब भी निजाम के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली उग्रता में कोई तबदीली न हुई। निजाम ने सहायता के लिए सर जॉन शोर से अपील की। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि निजाम भी कंपनी का वैसा ही मित्र था जैसा १७९० में ट्रावन्कोर का राजा था। फिर भी गवर्नर-जनरल ने इस प्रकार सम्पूर्ण मरहठा-संगठन के साथ होने वाली लड़ाई में फंसने के डर से इस मामले में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया।

---

१. एच० बेवरिज द्वारा अपने ग्रन्थ 'कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ़ इण्डिया', खंड २, पृष्ठ ६६१ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सबने यह कहकर इस नीति की निन्दा की कि इस प्रकार निष्पक्षता का बहुत ही दीनता-पूर्वक पालन किया गया है। स्थानीय शक्तियों की आंखों में अंग्रेजों का सद्विश्वास हलका पड़ गया। वास्तविक बात तो यह है कि यदि भारतीय मिलकर आगे बढ़ने में असमर्थ न रहते (उनकी इसी असमर्थता ने बार-बार भारत में अंग्रेजों की स्थिति की रक्षा की) तो सर जॉन शोर की इस भीरुता के बहुत ही गम्भीर परिणाम होते। मार्च १७९५ में निजाम को खर्दा (Kharda) अथवा कर्दला (Kardla) नामक स्थान पर हरा दिया गया। जैसा कि मार्शमैन (Marshman) ने उल्लेख किया है, यह अन्तिम अवसर था जबकि मरहठा शक्तियां एक साथ संगठित हो गयीं। निजाम को अपमानजनक शर्तों पर आत्म-समर्पण करने के लिए विवश होना पड़ा। पेशवा पद के उत्तराधिकार-सम्बन्धी परिवर्तन के अवसर पर पूना में मरहठा शक्तियों में परस्पर भेदभाव पैदा हो गया। इसके बाद तो छल और कुचक्रों की जो उलझी हुई गुत्थियां सामने आयीं वे पूर्वीय देशों के इतिहास में भी अभूतपूर्व थीं। फलतः मरहठों को विजय के पुरस्कार से भी बहुत हद तक हाथ धोना पड़ा। नाना फड़नवीस ने अपने विरोधी दल के विरुद्ध निजाम का समर्थन प्राप्त करने के लिए खर्दा पर प्राप्त अधिकांश लाभ त्याग दिये।

दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में शोर ने अधिक उत्साह से काम लिया। १७९७ में अवध के नवाब की मृत्यु हुई। सर्वथा तुच्छ चरित्र तथा नीच वंश का एक व्यक्ति उसका उत्तराधिकारी बना। गवर्नर-जनरल ने इस मामले में हस्तक्षेप करके स्वर्गवासी नवाब के भाई को सिंहासन पर बिठा दिया। उसने इस अवसर से लाभ उठाकर अवध के नवाब के साथ एक सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार सम्पूर्ण अवध की रक्षा का भार कम्पनी को सौंप दिया गया। इस उत्तरदायित्व के बदले कंपनी को ७६ लाख रुपये वार्षिक प्राप्त होने निश्चित हुए और इलाहाबाद का किला भी कम्पनी को दे दिया गया। शोर ने नवाब पर यह भी पाबन्दी लगा दी कि वह किसी दूसरे राज्य के साथ पत्र-व्यवहार नहीं कर सकता। सर जॉन शोर के इस व्यवहार का कारण कदाचित् यह था कि कुछ समय से लाहौर में १७९६ में उत्तर पश्चिम से भारत की ओर आने वाला अन्तिम आक्रमणकारी, जमन शाह काबुली उपस्थित था। उसने कुछ समय के लिए हिन्दुस्तान में यह आशा और डर पैदा कर दिया था कि वह अपने दादा, अहमद शाह दुर्रानी के चरण-चिह्नों पर चलेगा। परन्तु उसे अफगानिस्तान की कुछ उलझनें सुलझाने के लिए वहां जाना पड़ा। उत्तर-पश्चिम के पर्वतों की ओर से होने वाले एशियाई आक्रमणों के दिन बीत चुके थे।

सर जॉन शोर की ईमानदारी असंदिग्ध थी। इस पर भी इसके कार्य-काल के अन्त में होने वाले बंगाल के अधिकारियों के विद्रोह ने कार्नवालिस की इस चेतावनी के औचित्य का प्रतिपादन भी किया, "भारतीय समुदाय के ब्रिटिश भाग का स्वभाव इस समय ऐसा है कि एक ऐसे व्यक्ति के अतिरिक्त जिसने पहले कभी नौकरी नहीं की, और कोई भी मनुष्य उतनी शक्ति और उत्साह के साथ हमारे अधीनस्थ प्रदेशों का शासन करने के योग्य सिद्ध नहीं हो सकता, जो हमारी राजनीतिक सुरक्षा और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आन्तरिक सम्पन्नता के लिए आवश्यक है।" विद्रोह के कारण ये थे कि लोग कार्नवालिस द्वारा किये गये आर्थिक सुधारों से असंतुष्ट थे और बादशाह (King) तथा कम्पनी के सेवकों में परस्पर ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी थी। स्थिति इतनी भयंकर पैदा हो गयी थी कि गवर्नर-जनरल को असंतुष्ट व्यक्तियों के लिए अनेक रियायतें देनी पड़ीं। इस पर जॉन शोर को अपने पद से हटा दिया गया। डुन्डास ने एक बार फिर अपने हृदय में भारत जाने के मनसूबे बनाये परन्तु फरवरी, १७९७ में कार्नवालिस को गवर्नर-जनरल बना दिया गया। संचालक समिति ने भी विद्रोहियों की बहुत-सी बातें मान ली थीं। इसीलिए कार्नवालिस ने इंग्लैण्ड से रवाना होने से पहले ही त्यागपत्र दे दिया। रिटायर होने के बाद शोर को लार्ड टेनमाउथ (Lord Teignmouth) बना दिया गया। १७९८ में अर्ल आफ मार्निगटन (Earl of Mornington) उसका उत्तराधिकारी बना।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २०

सीमा-विस्तार—लार्ड वेलेजली सहायक गठ-बन्धन और संयोजन

अर्ल आफ मार्निगटन (Earl of Mornington) रिचर्ड कोले वेलेज़ली (Rechard Colley Wellesley) "लार्ड आफ दि ट्रेजरी" और 'बोर्ड आफ कण्ट्रोल''' के कमिश्नर के रूप में काम कर चुका था। सैंतीस वर्ष की अवस्था में ही उसने प्राचीन साहित्य में पांडित्य, अंग्रेजी भाषा पर प्रभावोत्पादक अधिकार तथा प्रतिभाशाली और उत्साही स्वभाव अर्जित कर लिया था । उसके चरित्र में यद्यपि दृढ़ता कम थी परन्तु अपने छोटे भाई के मुकाबिल उसमें प्रतिभा की मात्रा अधिक थी। वह भारत के महत्तम शासकों में से एक था। केवल क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स और डलहौजी ही उसके साथ तुलना का दावा कर सकते थे परन्तु वास्तविक सफलताओं में तो वह उनसे कहीं आगे बढ़ गया। वह भारत में उस समय आया जब महत्त्वपूर्ण कार्य करने की इच्छा रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत उपयुक्त और शुभ अवसर था। हस्तक्षेप न करने तथा निष्पक्ष रहने की नीति अपने अन्तिम सांस ले रही थी। इस प्रकार वेलेजली ने घटना-प्रवाह को उस समय अपने अधीन किया जब वह अपनी चरम सीमा पर था। बड़े अच्छे अवसर उसके सामने आये और उसने उन अवसरों से अधिकतम लाभ भी उठाया। सुयोग्य सेनानायक और आश्रित प्रेसीडेंसियों के गवर्नर स्वप्न में भी विरोध न कर सके और पहले कुछ वर्षों तक तो उसे डुन्डास और पिट का भी सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। इन सब बातों से अधिक, उसकी उद्धत इच्छा-शक्ति, वास्तविकताओं की विस्तृत और उत्साहपूर्ण राजनीतिक पकड़ और महती कल्पना-शक्ति के फलस्वरूप उसने ब्रिटिश साम्राज्य का जो चित्र अपने सामने रखा वह अब तक सोचे गये लक्ष्यों से कहीं अधिक भव्य था। बाद में यह अनुभव किया गया कि जिस परिवर्तन का श्रीगणेश वेलेजली ने किया वह प्रत्येक दशा में अनिवार्य था। अन्तर यही था कि दूसरों ने इसे अपने सम्मुख आते देख कर भी हिचकिचाहट प्रदर्शित की परन्तु वेलेजली ने स्वयं साहसपूर्वक आगे बढ़कर इसका स्वागत किया। वह जान गया था कि ग्रेट ब्रिटेन को अब भारतीय मामलों में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण भाग लेना है। यह भी स्पष्ट था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विवेकपूर्ण समर्थन के बावजूद स्थानीय राज्यों के बीच शक्ति-संतुलन असम्भव था। जिस समय निजाम और पेशवा खर्दा (Kharda) में परस्पर लड़ रहे थे तब दोनों पक्षों में ब्रिटिश प्रतिनिधि सर्वोच्च शक्तियों के साथ थे। इधर सर जॉन शोर प्राणपण से इस प्रयत्न में था कि लड़ाई से बचा जाए और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्मानपूर्ण तटस्थता बनी रहे। किन्तु वेलेजली के लिए ऐसा करना असम्भव था। अपने सात साल के कार्यकाल में उसने उल्लेखनीय तबदीली कर दिखायी। उसने मैसूर की शक्ति का दमन किया, हैदराबाद और अवध के महान् मुस्लिम राज्यों में संरक्षात्मक परन्तु तानाशाही ब्रिटिश नियन्त्रण जारी किया और तंजौर, सूरत और कर्नाटक का शासन भी अपने हाथ में ले लिया। कर्नाटक तो शासन के लिए एक दुःखदायी फोड़ा ही बना हुआ था। वेलेजली ने साहसपूर्वक मरहठा शक्ति के केन्द्र पर हमला किया और पेशवा को ब्रिटिश सहायता का आश्रित मात्र बना दिया। उसने सिन्धिया से दिल्ली छीन ली और उसके शाही बन्दी (बादशाह) को भी अपने अधिकार में कर लिया। वह तो अपने एक उत्तराधिकारी, लार्ड हेस्टिंग्स का काम भी पहले से ही समझ-बूझ लेता परन्तु उसके सेना-नायकों ने अपने तरीकों में पहली बार भयंकर भूल करके उसकी प्रगति में बाधा डाली। एक कठिनाई और भी थी। उसकी सुयोग्य परन्तु तनिक अनवरत उन्नति ने आतंकित 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' को अपना शत्रु बना दिया। इतना ही नहीं, उसकी तरक्की अब तो ताज मन्त्रियों के लिए भी चिन्ता का विषय बन गयी।

वेलेजली के सामने सबसे पहला प्रश्न था—मैसूर। अपने को अपमानित करने वाले शत्रु के विरुद्ध मित्र-नरेशों की खोज में टीपू ने अरब, काबुल, कुस्तुनतुनिया और मारीशस तक, राजदूत भेजे। फ्रांस के टापुओं के गवर्नर ने असावधानी से फ्रांसीसी गणतन्त्र और मैसूर के आततायी के बीच होने वाली मित्रता का समाचार सब ओर फैला दिया। टीपू ने अपने ही हाथ से श्रीरंगपट्टम में स्वतन्त्रता का बीजारोपण किया। स्वाधीनता का यह बीज इस समय से पहले अथवा बाद में कभी भी ऐसे विरोधी वातावरण में नहीं रोपा गया था। टीपू को जेकोबिन क्लब (Jacobin Club) का एक सदस्य चुन लिया गया। सौ से कम फ्रांसीसी सिपाही दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट पर मंगलौर नामक स्थान पर उतरे। लगभग उसी समय लार्ड मार्निंगटन ने मद्रास में पदार्पण किया। गवर्नर-जनरल ने तुरन्त युद्ध करने का निश्चय किया। वह उसी समय मैसूर के विरुद्ध एक सैन्य-दल भेज देता परन्तु मद्रास-स्थित सेनाएं युद्ध के लिए तैयार न होने के कारण उसके लिए ऐसा करना असम्भव हो गया। फलतः उसने अपना तरीका तो अवश्य बदल दिया परन्तु इरादा नहीं बदला। उसने एक ही साल के लिए युद्ध तो स्थगित कर दिया किन्तु तैयारी पूरे जोर के साथ करता रहा। उसने निजाम तथा मरहठों की १७९० की, तीन दलों के बीच होने वाली सन्धि को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। सिन्धिया के प्रभाव और मरहठा संगठन की व्याकुल स्थिति के कारण पेशवा तो अलग ही रहा परन्तु वेलेजली ने अपने प्रसिद्ध 'सहायक गठबन्धनों' में से प्रथम के अनुसार हैदराबाद के हाकिम को प्रतिज्ञा-बद्ध कर ही लिया। यह 'गठ-बन्धन' (Alliance) १ सितम्बर १७९८ को हुआ। इस सम्बन्ध के अनुसार, मित्र बनने वाले शहजादे को बाह्य नीति और विदेशी सम्बन्धों के लिए ब्रिटिश सरकार के अधीन रहना था, कम्पनी की सेनाओं के एक दल को रखना और उसके सम्बन्ध में सब भुगतान करने थे और दूसरे यूरोपीय राष्ट्र के अधिकारियों को निकाल देना था। मद्रास सरकार ने अपनी स्वाभाविक भीरुता के साथ इस बात का विरोध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया परन्तु लार्ड मार्निंगटन ने यह बलहीन विरोध दबा दिया। मालकम (Malcolm) और कर्क पैट्रिक (Kirkpatrick) ने बहुत शान्ति और चतुरतापूर्वक निजाम की उत्कट फ्रांसीसी सेना भंग कर दी। काहिरा (Cairo) में रोके गए बोनापार्ट के पत्र ने कम से कम वेलेजली को तो यह सिद्ध कर दिखाया कि यह कदम उचित समय से एक भी क्षण पहले नहीं उठाया गया था। गवर्नर-जनरल ने, टीपू से कहा कि वह तुरन्त पूरी तरह आत्म-समर्पण कर दे और टीपू के यथावसर पत्रों को धृष्टतापूर्वक टालमटोल ठहरा कर वेलेजली ने अपनी सेनाएं उसके विरुद्ध बढ़ा दीं। इसके साथ ही साथ जनरल हैरिस के नेतृत्व में मुख्य सेना ने और गवर्नर-जनरल के छोटे भाई, आर्थर वेलेजली (जो बाद में ड्यूक आफ विलिंगटन बना) द्वारा नियन्त्रित निजाम के सैन्य-दल ने पूर्व की ओर से मैसूर पर हमला कर दिया। इधर बम्बई के सैनिक दस्ते ने पश्चिमी घाटों के रास्ते आक्रमण किया। टीपू को सबसे पहले पश्चिम की ओर से आने वाली सेना ने हराया। इसके उपरान्त हैरिस ने उसे मलावल्ली (Malavalli) पर ध्वस्त किया और उसे उसकी राजधानी, श्रीरंगपट्टम की चहारदीवारी में धकेल दिया। टीपू ने २,०००,००० पौंड और अपने शेष राज्य का आधा भाग देने से इन्कार कर दिया। फलतः टीपू द्वारा ये कड़ी शर्तें अस्वीकृत हो जाने के कारण ४ मई १७९९ को नगर पर धावा बोल दिया गया। इस झगड़े में स्वयं सुलतान भी मारा गया। मार्निंगन को आशा से अधिक सफलता मिली। उसने टीपू का राज्य हस्तगत करने की बजाय उसे सदा के लिए पंगु बना देने का विचार किया था। उसने बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रदेश पश्चिम में कनारा (Kanara), दक्षिण में कोयम्बटूर (Coimbatore), पूर्व के कुछ जिले और श्रीरंगपट्टम का किला—कम्पनी के उपनिवेशों में मिला दिये। इन बातों का सामान्य परिणाम यह हुआ कि उत्तर के अतिरिक्त और सब दिशाओं की ओर से मैसूर ब्रिटिश-सीमाओं द्वारा घिर गया। अब दक्षिण में कोरोमंडल-तट से लेकर मलाबार तक का अखंड प्रदेश कम्पनी के अधिकार में आ गया। उत्तर-पूर्व के कुछ इलाके निजाम को दे दिये गये। इधर पेशवा और न सही तटस्थ तो बना ही रहा। अतः उसे विशेष शर्तों पर कुछ जिले भेंट किये गये किन्तु उसने उन्हें स्वीकार न किया। इस पर वे जिले निजाम और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आपस में बांट लिये। मैसूर की गद्दी पर उस हिन्दू वंश का एक लड़का बैठा दिया गया जिससे हैदरअली ने राज्य छीन लिया था। मैसूर राज्य का विस्तार अब बहुत कम हो गया था। परन्तु अब भी उसका फैलाव उस राज्य से अधिक ही था जिस पर अन्तिम दो मुसलमान अत्याचारियों द्वारा किये संयोजनों से पहले उस बालक के पूर्वजों का अधिकार था। टीपू के पुत्रों को 'असमान ऐश्वर्य' प्रदान किया गया। इंगलैण्ड में इस विजय की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। जनरल हैरिस को 'बैरन' (Baron) बना दिया गया और गवर्नर-जनरल को आयरलैण्ड के कुलीन वर्ग में मारक्विस वेलेजली बना दिया गया। स्वयं वेलेजली ने इस प्रतिष्ठा को अपर्याप्त समझकर इसे तुच्छ ही ठहराया, सर आर्थर वेलेजली ने संक्षेप में गवर्नर-जनरल के प्रथम वर्ष के कामों का वर्णन इस प्रकार किया है: "हमारा मुख्य मित्र निजाम, हमें फिर मिल गया, भारत में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकसित होते हुए फ्रांसीसी राज्य की समाप्ति हो गयी। हमारा भयंकर स्थानीय शत्रु और फ्रांस का निश्चित मित्र, टीपू परास्त कर दिया गया.....।"[1]

पहले और दूसरे मैसूर-युद्ध का इतिहास वेलेजली की सफलता-प्राप्ति की महत्ता को आश्वस्त करता है। जिस हाकिम ने हेस्टिंग्स के शस्त्रों को चुनौती दी और जिसके साथ कार्नवालिस को तीन बार युद्ध करना पड़ा, उसे वेलेजली ने दो ही महीनों में परास्त कर दिया। टीपू एक असभ्य और क्रूर तथा निरंकुश शासक था, परन्तु वास्तविकता को उचित महत्त्व देने के लिए अंग्रेजों के प्रति उसकी अनवरत शत्रुता को उचित श्रद्धा की दृष्टि से देखना आवश्यक है। अपने पिता की भांति उसने भी यह समझ लिया था कि किसी भी स्थानीय शक्ति के बदले ग्रेट ब्रिटेन ही वास्तविक शत्रु है। इसीलिए उसने अपने पड़ोसियों के विरुद्ध कभी अंग्रेजों का साथ न दिया। यह स्वीकार करना ही होगा कि वेलेजली ने टीपू के दोषी होने के प्रमाण मिल जाने के बाद उसे एक बार भी अपना मत स्पष्ट करने का अवसर नहीं दिया। उसने उसके पत्रों को टाल-मटोल करने वाले और असंतोषजनक बताकर निर्दयतापूर्वक उन्हें अलग फेंक दिया। दूर-दूर अपने दूत भेजकर टीपू ने जिन लोगों को अपना मित्र बनाया था उन्होंने वास्तविक आवश्यकता के समय ही उसका साथ छोड़ दिया। इस प्रकार उसे किसी की सहायता के बिना ही उस आंधी का सामना करना पड़ा जो उसी ने उठायी थी। यदि मरहठा सरदार अपने आन्तरिक भेदभाव त्याग देते और उनके पास टीपू जैसी उद्देश्य की एकता और सर्वभक्षी घृणा होती तो ब्रिटिश सत्ता की अन्तिम प्रगति बहुत समय के लिए रुक सकती थी।

अन्यत्र वेलेजली ने कम्पनी का अधिकार अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण तरीकों से बढ़ाया। उन भागों में उसने उसी सिद्धान्त के अनुसार काम किया जिसका उल्लेख उसने कुछ वर्ष बाद इन साहसपूर्ण शब्दों में किया था: 'भारत-स्थित प्रदेशों के सम्बन्ध में कम्पनी की स्थिति सर्वोच्च सत्ता के समान समझी जानी चाहिए।' अक्तूबर, १७९९ में वेलेजली ने तंजौर के राजा के साथ एक अनुदानात्मक संधि कर ली। फलरूप राजा ने ४०,००० पौंड के वार्षिकी कर के बदले क्रियात्मक रूप से संपूर्ण शासन ही त्याग दिया। सूरत के उत्तराधिकार-परिवर्तन से लाभ उठाकर वेलेजली ने दोहरा शासन-प्रबन्ध समाप्त कर दिया। नवाब को पेन्शन दे दी और वहां अपना सर्वोच्च नियन्त्रण स्थापित कर दिया। इसके उपरान्त उसने इसी नीति का पालन अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में किया। कर्नाटक की सरकार बहुत समय से एक प्रत्यक्ष कलंक बनी हुई थी, दोहरे शासन ने नवाब को दूषित कर दिया था, उसकी प्रजा बरबाद हो चुकी थी और तदनुसार मद्रास की बस्ती को इतना भ्रष्ट कर दिया था कि उस प्रेसीडैन्सी के असैनिक कर्मचारी कम्पनी के प्रतिनिधियों में सबसे अधिक बदनाम हो गये। कार्नवालिस के साथ हुई सन्धि के अनुसार गवर्नर-जनरल को युद्धकाल में शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेने का अधिकार दे दिया गया था। वेलेजली इस कदम को टाल रहा था परन्तु श्रीरंगपट्टम पर अधिकार

१. ए सेलेक्शन फ्राम दि विलिंगटन डिस्पेचिज़—एस० जे० ओवेन, पृष्ठ १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के समय उसे इस बात का प्रमाण मिला कि नवाब और उसका पुत्र टीपू के साथ किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यह प्रमाण संतोषजनक न था परन्तु नवाब के शासन की बुराइयां तो प्रत्यक्ष थीं। इस प्रकार वेलेजली को मनमाना बहाना मिल गया। जुलाई १८०१ में नवाब का देहान्त हो गया। नवाब उसी मोहम्मदअली का पुत्र था जिसकी जड़ें जमाने के लिए १७४६—६३ की लड़ाइयों में इतना अधिक ब्रिटिश और फ्रांसीसी खून बहाया गया था। इसी नवाब के विरुद्ध यह प्रमाण पाकर वेलेजली ने कर्नाटक का सम्पूर्ण नागरिक और सैनिक शासन स्वयं संभाल लिया। उसने स्वयं ऐलान किया था कि "बंगाल की दीवानी" प्राप्त होने के बाद कदाचित् यह सबसे अधिक कल्याणकारी और लाभदायक कदम उठाया गया है। मालगुजारी का पांचवाँ भाग और अपना पद बनाये रखने का अधिकार नये नवाब को दे दिया गया।

इसके बाद वेलेजली ने अपनी उत्तरी सीमाओं की ओर ध्यान दिया। उसका विचार था कि बंगाल की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अवध का मध्यस्थ राज्य प्रतिरक्षा के लिए दुर्बल है। उसने नवाब से कहा कि वह अपनी बेकार सेना का एक भाग भंग कर दे और एक बड़ी सहायक सेना उसमें मिला ले। नवाब ने आरम्भ में इसका विरोध किया। अन्त में, उसने ब्रिटिश रेसीडेंट के आग्रह से खिन्न होकर राज्य त्याग देने की इच्छा प्रकट की। वेलेजली ने आतुरतापूर्वक इसका स्वागत किया और घोषणा की कि नवाब की इच्छा को "अत्यधिक प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता।"

परन्तु यह प्रस्ताव गम्भीरतापूर्वक पेश नहीं किया गया था और नवाब ने तो इसी विचार से इसे उपस्थित किया था कि उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी होगा। जब उसने देखा कि वेलेजली को उसमें आपत्ति है तो उसने अपना प्रस्ताव वापिस ले लिया। इससे वेलेजली के क्रोध की सीमा न रही। "उसने नवाब के व्यवहार में निहित बेवफाई और छल के विरुद्ध अपार घृणा प्रदर्शित की।" उसने नवाब के सामने एक संधि-पत्र का मसौदा रखा। इसमें अनुदानात्मक सेना की संख्या में वृद्धि कर दी गई और नवाब द्वारा चुकाया जाने वाला अनुदान बढ़ाकर १२ लाख ५० हजार पौंड कर दिया। नवाब ने योग्यतापूर्वक इसका विरोध किया। उसने पुरानी सन्धियों की दुहाई दी। गवर्नर-जनरल ने स्वेच्छाचारितापूर्वक विरोध-पत्र की उपेक्षा की। उसका कथन था कि वह विरोध-पत्र "वास्तविकता तथा तर्क दोनों दृष्टियों से निराधार आक्षपों तथा असत्यता" पर आधारित था। नवाब ने नम्रतापूर्वक सब सह लिया। इसके बाद उससे नयी मांगें की गयीं। वेलेजली ने अनुदानात्मक सन्धि (Subsidiary Treaty) के अपने प्रिय अस्त्र का एक नये ढंग से प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। १८०० के एक संशोधित समझौते के अनुसार, निजाम हैदराबाद ने वार्षिक अनुदान का आश्वासन देने के स्थान पर, अनुदानात्मक सेना का भार उठाने के लिए, वह प्रदेश अंग्रेजों को सौंप दिया, जो उसे १७९२ और १७९९ के मैसूर-युद्धों में प्राप्त हुआ था (इस प्रकार अंग्रेजों की सीमा कृष्णा नदी तक बढ़ गयी।) अंग्रेजों ने निजाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को औपचारिक रूप से सब बाहरी शत्रुओं से बचाए रखने का विश्वास दिलाया। वेलेजली ने अवध के साथ भी इसी उपाय से काम लेने की ठानी। यद्यपि नवाब बराबर अनुदान चुका रहा था तथापि गवर्नर-जनरल ने उसे रुहेलखंड और गंगा तथा यमुना के बीच के उत्तरी जिले अंग्रेजों को सौंप देने के लिए विवश किया। इस प्रकार अवध के नवाब से लगभग उसके आधे राज्य की मांग की गयी थी। छोड़े जाने वाले जिलों के निर्णय का भार एक कमीशन को सौंपा गया। गवर्नर-जनरल का भाई, हेनरी वेलेजली, उस कमीशन का प्रधान था। इस प्रकार वेलेजली ने अत्यन्त तीखेपन के साथ अवध के उस शासन के साथ बर्त्ताव किया, जिसे उसने "सन्ताप और कुशासन के दोषपूर्ण तथा सुधारे न जा सकने वाले तरीके से उत्पन्न भ्रष्टाचार, दुर्नीति और कुशासन" कह कर सम्बोधित किया। इस साधन के बारे में चाहे कुछ भी सोचा जाए परन्तु वास्तविक महत्त्व तो इसके फलस्वरूप होने वाले क्रियात्मक परिणामों का था। अब अवध ब्रिटिश प्रदेशों की एक पट्टी से घिरा हुआ था, जो हिमालय के साथ मिलकर उत्तरी भारत में सिन्धिया के साम्राज्य की अनिश्चित सीमाओं के साथ-साथ फैली हुई थी।

स्वभावतः इनमें से अनेक सौदों के विषय में अलोचना की गई। गवर्नर-जनरल का व्यवहार—विशेष रूप से सूरत और अवध के नवाब के साथ उसका बर्त्ताव—अत्यन्त निरंकुश था। फलतः तत्कालीन वादविवादों के बल पर उसके विरुद्ध एक प्रभावपूर्ण मामला बनाया गया, जिसका लिखित उत्तर देना बहुधा कठिन था। सत्य तो यह है कि उस समय के अभिलेखों का निष्पक्ष अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि वेलेजली विरोध से व्यग्र था। इसके अलावा वह स्थानीय नरेशों की इच्छाओं की परवाह नहीं करता था। वह सन्धियों के जो अर्थ लगाया करता वह प्रायः अनुचित होते थे। जो लोग उसकी योजनाओं का विरोध करने का साहस करते, उनके विरुद्ध वह निस्संदेह अपने कूटनीतिक दबाव का प्रयोग करता था। उदाहरणार्थ उसका पक्ष लेने वाले एक आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि अवध के मामले में उसने ब्रिटिश नीति की सर्वोच्च धारणाओं के सामने "अपने मित्र की भावनाओं और उसके हितों की उपेक्षा की। इस दिशा में उसने बहुत ही कम धैर्य, सहनशीलता अथवा उदारता का परिचय दिया।" केवल राजनीतिक आवश्यकता के आधार पर उसके व्यवहार को उचित ठहराने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में कुछ सफलता मिल जाने के कारण उसके इस कदम का समर्थन किया जाता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक दृष्टिकोण इस औचित्य का एकमात्र आधार न था। वेलेजली ने भारत के मानचित्र पर जो व्यापक और तनिक निर्दयतापूर्ण परिवर्तन किये उनसे न केवल यह कि भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थिरता मिली वरन् करोड़ों का उद्धार हुआ। गवर्नर-जनरल ने अपने सब भाषणों तथा पत्रों में, अयोग्य स्थानीय शासनों द्वारा अपनी असहाय प्रजा के साथ किये जाने वाले अत्याचारों और दुर्व्यवहारों के प्रति अत्यन्त क्रोध प्रकट किया। उसने सदा ही अराजकता और कुशासन की शक्तियों से अनवरत रूप से जूझने का संकल्प जारी रखा। इस विस्तृत और सामान्य दलील से लार्ड वेलेजली का मामला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साफ कर देना निश्चित रूप से विवेकपूर्ण भी है और कदाचित् आवश्यक भी। एक बात अवश्य है। ऐसा करते समय हमें स्पष्टतः पारिभाषिक और कानूनी बचाव का शिलाओं का त्याग करना होगा।

इस समय स्वदेश में सरकार को अधिकांश शक्ति फ्रांस के साथ होने वाले क्रान्तिकारी युद्ध में नैपोलियन बोनापार्ट की अतृप्त आकांक्षा का सामना करने में लगी हुई थी। साम्राज्य के एक सुदूर-स्थित प्रदेश में होकर भी वेलेजली ने अपने देश की सरकार की चिन्ताओं में हाथ बटाया। उसने अपने अधीनस्थ प्रदेश से भी कहीं अधिक दूर तक नजर दौड़ायी। वेलेजली पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि उसने फ्रांसीसी संकट के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से काम लिया। अंशतः इसका कारण यह था कि इस प्रकार उसने इस संकट की इतनी विशद प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी थी कि उसका वास्तविक महत्त्व तथा विस्तार ही लोगों की आंखों से ओझल हो गया। यह एक वास्तविकता है कि जिस समय उसने कार्यभार संभाला उस समय स्थानीय नरेशों के दरबारों तथा न्यायालयों में फ्रांसीसी प्रभाव बहुत अधिक था। उस प्रभाव का इतना विकास ब्रिटिश शक्ति के लिए एक भयंकर खतरा था। गवर्नर-जनरल ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक उस संकट का दमन किया। इससे पहले किसी को भी यह पता न था कि इसका अन्त किस प्रकार किया जा सकता है। टीपू "टापुओं" के गवर्नर के साथ लिखा-पढ़ी कर रहा था और फ्रांसीसी अफसर टीपू की सेना को आवश्यक शिक्षा देने की तैयारियां कर रहे थे। निजाम के राज्य में एक फ्रांसीसी सेनानायक १५,००० सैनिकों का नियन्त्रण कर रहा था। उधर सिन्धिया के पास एक फ्रांसीसी के नेतृत्व में ४०,००० शिक्षित सैनिक थे। इस प्रकार वेलेजली किसी प्रकार की अतिशयोक्ति के बिना यह कह सकता था कि 'एम० पेरोन (Perron) ने यमुना के तटों पर फ्रांसीसी राज्य के भवन का निर्माण कर दिया है।'

इस प्रकार वेलेजली ने क्रमशः फ्रांसीसियों की महत्त्वाकांक्षा से उत्पन्न होने वाले भय को दूर किया। हां, वह संरक्षात्मक कूटनीति से ही संतुष्ट न रह सका। अस्तु, उसने मारीशस पर धावा बोलने की एक योजना बनायी। मारीशस को आधार बनाकर फ्रांसीसी लुटेरे हिन्द महासागर में चलने वाले जहाजों को लूटा करते थे। एडमिरल रेनियर (Admiral Rainier) ने वेलेजली की इस योजना में भाग लेना स्वीकार न किया। वह स्वदेश से तत्सम्बन्धी आदेश प्राप्त किये बिना ऐसा कोई कदम उठाने के लिए तैयार न था। वेलेजली ने मन्त्रिमंडल से अनुरोध किया कि वे डचों से आशा अन्तरीप छीन लें। डच इस समय फ्रांसीसियों के साथ थे। उसने बराविया (Baravia) पर हमला करने का भी विचार किया। १८०० में उसने व्यग्रतापूर्वक इंग्लैण्ड से प्राप्त आदेशों का पालन करके एक भारतीय सेना मिस्र भेजी। जनरल बेयर्ड के नेतृत्व में यह सेना लाल सागर (Red Sea) पर स्थित कोसेर (Casseir) नामक स्थान पर उत्तरी रेगिस्तान से तथा नील नदी के ऊपरी किनारों पर से होती हुई भूमध्य सागर (Mediterranean) पर स्थित रोसेटा (Rosetta) की ओर बढ़ी। वहां जाकर उसे पता चला

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri. Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कि एलेक्जेंड्रिया में फ्रांसीसी सेना ने शत्रु के सामने आत्म-समर्पण कर दिया है और बोनापार्ट ने प्रत्यक्ष रूप से पूर्वी देशों की विजय के इरादे त्याग दिये हैं। मार्च १८०२ में एमीन्स (Amiens) की शान्ति-संधि हुई। इसने १३ महीने के लिए फ्रांस के साथ होने वाली लड़ाई रोक दी। वेलेजली ने अपने उत्तरदायित्व पर ही फ्रांसीसी बस्तियां लौटा देने का विचार स्थगित कर दिया। बाद में स्वदेश की सरकार ने भी वेलेजली के उस काम का समर्थन किया।

डायरेक्टर अपने अधीनस्थ प्रदेशों के निरन्तर बढ़ते हुए विस्तार से घबरा रहे थे। इस प्रकार वे तो वेलेजली के विरोधी ही रहे। परन्तु गवर्नर-जनरल यहां तक तो अपनी नीति में पिट के मन्त्रिमंडल का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ हो गया। वैसे वेलेजली के प्रति असंतोष के अन्य कारण थे। वेलेजली उन प्रारम्भिक राजनीतिज्ञों में से एक था जो एडम स्मिथ के विचारों के प्रशंसक थे। स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्तों की ओर भी वेलेजली का पर्याप्त झुकाव था। लीडन हाल स्ट्रीट में ये सिद्धान्त लोकप्रिय न थे। गवर्नर-जनरल के भाइयों—हेनरी और आर्थर—की नियुक्तियों और उन्हें दिये जाने वाले वेतनों की बुरी तरह निन्दा की जा रही थी। इस निन्दा ने उदार-चित्त व्यक्तियों को नाराज कर दिया परन्तु तानाशाह गवर्नर-जनरल ने 'कोर्ट' की टीका-टिप्पणियों के सम्बन्ध में यही कहा कि वह उसी के प्रति प्रत्यक्ष, विशिष्ट और 'घृणोत्पादक व्यक्तिगत अनादर' है। वेलेजली ने दूरदर्शितापूर्वक यह प्रयत्न किया कि कम्पनी के असैनिक कर्मचारियों की समुचित ट्रेनिंग और शिक्षण के लिए फोर्ट विलियम का कालेज स्थापित करे परन्तु उसके वे प्रयत्न व्यर्थ कर दिये गये। अपने विस्तृत राजनीतिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप उसने १७९९ में जान मालकम (John Malcolm) को एक व्यापारिक और राजनीतिक मिशन पर फारस भेजा। इस काम के लिए इण्डिया हाउस में—जिसे गवर्नर-जनरल ने डुन्डास के नाम लिखे अपने एक पत्र में 'इण्डिया हाउस नामक निकृष्टतम स्थान' कहकर सम्बोधित किया—अविश्वास और असहमति के भाव ही प्रकट किये गये। फलतः उसने जनवरी १८०२ में यह विचार व्यक्त किया कि वह शीघ्र ही त्याग-पत्र दे देगा। डायरेक्टर वेलेजली को हानि तो पहुंचाना चाहते थे परन्तु उस पर खुले आम कोई चोट करने से डरते थे। इसीलिए उन्होंने वेलेजली से अनुरोध किया कि वह कम से कम एक वर्ष और अपने पद पर काम करता रहे। वेलेजली भी देख रहा था कि मरहठा संगठन की ओर से किसी भी समय संकट उत्पन्न हो सकता है। ऐसी दशा में उसने डायरेक्टरों का अनुरोध स्वीकार कर लेना ही उचित समझा।

मरहठों के सम्बन्ध में वेलेजली ने जिस नीति का पालन किया उसने उसे एक लड़ाई में झोंक दिया। आरम्भ में तो यही सिद्ध हुआ कि वह लड़ाई भारत में अंग्रेजों द्वारा लड़ी जाने वाली लड़ाइयों में सबसे अधिक सफल थी परन्तु बाद में उसमें कुछ बड़ी भूलें भी हो गयीं और कुछ पराजयों का भी सामना करना पड़ा। इस प्रकार गवर्नर-जनरल के रूप में उसका यश कुछ समय के लिए फीका सा पड़ गया। डायरेक्टर उसे वापिस बुलाने के लिए शोर मचाने लगे। इस समय पहली बार उसे मन्त्रिमंडल का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहयोग न मिला। इन्हीं सब बातों का फल यह हुआ कि अपनी नीति के टूटे हुए तारों को जोड़ने और अपने अधूरे काम को पूरा करने से पहले ही उसने त्याग-पत्र दे दिया।

मरहठा शक्तियों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी और निजाम के बीच होने वाली संशोधित सहायक-संधि के प्रति व्यग्रता ही प्रकट की। इस सन्धि के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने निजाम को यह विश्वास दिला दिया था कि वह सब शत्रुओं से उसके अधीनस्थ प्रदेश की रक्षा करेंगे। इस प्रकार मरहठों के हाथ से वह इलाका ही निकल गया जहां वह सबसे अधिक लूट-मार कर सकते थे। इतना ही नहीं, मरहठों को यह भी भय होने लगा कि अंग्रेजों का प्रभाव उनके प्रदेशों तक बढ़ा चला आ रहा है। यदि वे लोग आपस में एकता बनाए रखते तो उनके लिए भय का कोई विशेष कारण न था। समस्त ब्रिटिश राजनीतिज्ञ स्वभावतया योद्धाओं की उस शक्तिशाली जाति को अपना शत्रु बनाने से डरते ही थे और डुन्डास ने तो १७८८ में यह विचार प्रकट किया था कि यदि मरहठों के साथ अंग्रेजों की मित्रता हो जाए और ब्रिटिश सैनिकों के साथ मरहठा अश्वारोही मिल जावें तो मानों उन्हें वह सब कुछ प्राप्त हो जाएगा 'जिसकी तैयारी शक्ति को पूर्ण करने के लिए आवश्यक है।' मरहठों के आपसी मतभेदों के कारण ही उन पर वह संकट आया जिससे वे डर रहे थे।

मार्च १८०० में चतुर तथा वृद्ध राजनीतिज्ञ, नाना फड़नवीस का पूना में देहान्त हो गया। ब्रिटिश रेसीडेंट के शब्दों में नाना फड़नवीस के देहान्त से तो मरहठा सरकार की सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता और संयम का ही अन्त हो गया। दौलतराव सिन्धिया और जसवन्तराव होल्कर, दोनों ने पूना पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया। फलतः दोनों में लड़ाई हुई। पीड़ित पेशवा, बाजीराव द्वितीय, ने पहले तो असीम अनिच्छा-पूर्वक ही अपने को सिन्धिया के हाथों में छोड़ दिया परन्तु उस समय तो होल्कर ही समस्त मरहठा सरदारों में सबसे अधिक साहसी और बलवान था। उसने अक्तूबर १८०२ में उन दोनों की सम्मिलित सेना को पूना में हराया। पेशवा जान बचाकर बसीन भाग गया। सर्वथा असहाय हो जाने पर उसने ब्रिटिश सरकार से सहायता मांगी।

लॉर्ड कार्नवालिस या सर जॉन शोर द्वारा काम में लाई जाने वाली नीति के बारे में ज्यादा शक की गुंजाइश नहीं है। वे मराठी शासकों को उनके अपने झगड़े खुद सुलझाने देते और अपनी तरफ से ज्यादा से ज्यादा, हैदराबाद की सीमाओं को सुरक्षित रखने की कोशिश करते। लॉर्ड वेलेजली ने इसके विपरीत तय किया। उसका उचित विश्वास था कि अ-हस्तक्षेप की नीति का अर्थ कुघड़ी का केवल टालना मात्र ही है। भागे हुए पेशवा की मदद की प्रार्थना अस्वीकार करने की कठोरता उसने न की, और स्पष्टतः यह खतरा देखा कि अगर पेशवा को ठुकरा दिया गया तो वह फ्रांसीसियों के हाथ में चला जायगा, जैसा कि १७९५ में निजाम ने किया था—हालांकि कहना पड़ेगा कि लार्ड वेलेजली के भाई आर्थर को मराठा फ्रांसीसी सन्धि की संभावना में विश्वास न था। फलतः ३१ दिसम्बर १८०२ की बसीन संधि द्वारा उसने मराठा संघ के नाममात्र के प्रधान के साथ मदद का करार किया, जिसके अनुसार पूना में स्थायी रूप से कम्पनी की फौज रखने, कब्जा करने वाली फौज का खर्चा उठाने के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य का कुछ इलाका देने, मित्र-राज्य की परराष्ट्र नीति पर नियंत्रण रखने की आम शर्तें थीं। साथ ही, सिंधिया और होलकर के लिए यह अपमानजनक शर्त थी कि निजाम और बड़ोदा के गायकवाड़ पर पेशवा की मांगें ब्रिटिश मध्यस्थता के अधीन पेश की जाएंगी। मई १८०३ में ब्रिटिश फौजों ने पेशवा को पुनः उसकी राजधानी में बिठाया और होलकर की फौजें शीघ्र ही हट गयीं।

इस सन्धि को भारत में ब्रिटिश आधिपत्य का एक अति महत्त्वपूर्ण सीमाचिह्न समझा जाना उचित ही है। "वेलेजली की सहायक सेनाएं" सर अलफ्रैड लायल ने लिखा है, "भारत की चार बड़ी ताकतों की राजधानियों में––मैसूर, हैदराबाद, लखनऊ और पूना में डेरा डाले हुए थीं।" लेकिन बसीन की संधि पहले की अन्य सहायता संधियों से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। अब कम्पनी को भारत की सबसे बड़ी ताकत पर काबू रखना था, या फिर उससे लड़ने के लिए तैयार रहना था। इंगलैण्ड में ब्रिटिश सरकार, जो अभी तक गवर्नर-जनरल का पक्ष लेती आई थी, अब अपनी शंका प्रकट करने लगी। बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष लार्ड कैसलरीघ ने इस नीति को "खतरनाक और नाजुक" बताया और उसके सबसे कमजोर पहलू पर ठीक ही उंगली रखी। मराठों के साथ संधि-सम्बन्ध स्थापित करने का मतलब है कि "यह मानना पड़ेगा कि उनकी सरकार परिश्रम और शान्ति में विश्वास रखती न कि लुटेरापन और लड़ाई-झगड़ा उसकी खसलत है।" लार्ड कैसलरीघ का विश्वास था कि इस सन्धि से युद्ध अनिवार्य हो गया है, और इसलिए उसने इस सम्बन्ध को त्याग देने या उसमें तबदीली करने का संकेत किया। वेलेजली का उत्तर था कि उसे शान्ति की पूरी आशा है, और अगर लड़ाई की नौबत आई तो इस सन्धि के कारण ही लड़ाई का मुकाबला करने में परिस्थिति ब्रिटेन के अत्यन्त अनुकूल होगी।

इस बारे में, शीघ्र ही, शक की गुंजाइश दूर हो गई। जैसा कि आर्थर वेलेजली ने तीखेपन के साथ कहा था, यह संधि 'सिफर के साथ' की गई थी। शीघ्र ही अन्य मराठा नेताओं का भय और क्रोध प्रकट होने लगा। यद्यपि वे अपने नाममात्र के नेता से अक्सर मतभेद रखते थे, पर वे चाहते थे कि उनके अलावा और कोई उसकी इज्जत न उतारे और इसलिए बसीन की संधि को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के खुला समर्पण के बराबर उनका समझना ठीक ही था। अतः वे अपने आपसी झगड़े निपटाने में लग गए। स्वयं पेशवा ने भी गुप्त रूप से उनकी कार्यवाही का समर्थन किया। सिंधिया और बरार का भोंसला राजा, जो कि आर्थर वेलेजली के अनुसार इस व्यापार के मुख्य कर्ताधर्ता थे, आपस में मिल गए। सौभाग्यवश, सिन्धिया और होल्कर के कुछ समय पूर्व के विनाशकारी युद्ध की याद दोनों राजाओं में ताजा थी और इसलिए उनके बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग की विशेष संभावना न थी। फिर भी उन्होंने आपस में शान्ति कर ली, और होल्कर ने अपनी फौजों को सिर्फ पहरेदारी तक महदूद रखा और गायकवाड़ अलग हो गया।

नर्बदा के दक्षिण में स्थित सिंधिया और भोंसला से कहा गया कि अगर वे शान्तिप्रिय हैं तो अपनी-अपनी सेनाएं अलग कर नदी पार कर लें। उन्होंने बात न मानी और युद्ध के अलावा और कोई चारा न रहा। भारत में अंग्रेजों को इतने भयंकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शत्रु से पहले कभी पाला न पड़ा था। लड़ाई में अंग्रेजों की फौजें कभी भी ५५,००० सिपाहियों से ज्यादा न थीं, जबकि मराठों की सेना में लगभग २५०,००० सिपाही थे, जिसके अलावा ४०,००० ऐसे सिपाही थे जो फ्रांसीसियों के अनुशासन में प्रशिक्षा पा चुके थे। वेलेजली ने युद्ध की एक विस्तृत योजना बनाई। । दुश्मन पर हर मोर्चे पर हमला किया जाना था। कर्नल आर्थर वैलेजली के नेतृत्व में दक्खिन और जनरल लेक के अधीन हिन्दुस्तान देकर युद्ध के दो मुख्य रणस्थल बनाए गए। लेकिन सामरिक कार्यवाही एक साथ गुजरात और उड़ीसा में भी की जानी थी, जहां कि बरार के राजा का इलाका समुद्र से मिलता हुआ बंगाल के दक्षिणी जिलों और मद्रास के उत्तरी इलाकों के बीच रुकावट पैदा करता था।

शत्रु पर वेग के साथ भीषण प्रहार किये गये। आर्थर वेलेजली ने अगस्त १८०३ में अहमदनगर पर कब्जा किया और हैदराबाद पर सिन्धिया और भोंसला की सम्मिलित सेनाओं के हमले होने से पहले ही औरंगाबाद से करीब पैंतालीस मील दूर असाये नामक गांव में उनसे २३ सितम्बर १८०३ को मुठभेड़ की। यद्यपि वेलेजली के पास ५००० सिपाही थे और शत्रु की सैनिक संख्या ५०,००० से ऊपर थी, फिर भी, वेलेजली ने—जैसा कि गवर्नर-जनरल ने खुशी के साथ कहा—"कमाल जीत" हासिल की, और एक भीषण युद्ध में मराठा सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। अंग्रेजों के १५०० से ऊपर सिपाही जख्मी हुए और मारे गए। शीघ्र ही दक्षिण में सिंधिया के बचे हुए किले फतह कर लिये गए और उसे बाध्य होकर २३ नवम्बर को एक संधि करनी पड़ी जिसके फलस्वरूप मराठा संघ भंग हो गया। इतना होने पर भी, सिंधिया भोंसला की गुप्त रूप से मदद करता रहा, लेकिन वेलेजली ने बरार तक उनका पीछा किया, २९ नवम्बर को आरगांव में उन्हें हराया और दिसम्बर १८०३ में गाविलगढ़ के महान् दुर्ग पर कब्जा कर लिया।

हिन्दुस्तान का सामरिक संघर्ष संभवतः और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। सिंधिया के राजप्रतिनिधि पैरों नामक एक फ्रांसीसी ने जमुना और गंगा के बीच दोआब के इलाके में प्रायः एक स्वतन्त्र शक्ति कायम कर रखी थी। जनरल लेक ने कानपुर से कूच करते हुए, अगस्त के अन्त में अलीगढ़ पर कब्जा कर लिया, जिससे पैरों इतना निरुत्साह हुआ कि उसने सिंधिया की नौकरी ही छोड़ दी। लेक ने सितम्बर में पैरों के उत्तराधिकारी को दिल्ली की लड़ाई में हराया, दिल्ली शहर में प्रवेश किया, और शाह आलम को अपनी हिफाजत में ले लिया, जो कि अब ८३ वर्ष का अन्धा बुड्ढा था और "एक छोटे-से फटे शामियाने के नीचे बैठा था।" लेक ने अक्टूबर में भरतपुर के राजा के साथ सन्धि की, १८ अक्टूबर को आगरे पर कब्जा किया और नवम्बर में लसवाड़ी नामक स्थान पर सिंधिया की बची-खुची फौज का खात्मा कर डाला। छोटी-मोटी लड़ाइयों में हर चीज वेलेजली की योजनानुसार हुई। गुजरात में भड़ौंच पर कब्जा किया गया और सिंधिया का सारा राज्य छीन लिया गया। उड़ीसा में कटक पर कब्जा किया जा चुका था और भोंसला की फौजें हार चुकी थीं। चार महीने की सामरिक कार्यवाही से मराठों की पूरी हार हो चुकी थी। एक सुसंयोजित सामरिक संघर्ष का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह अद्भुत फल था, जिसका अकलुषित श्रेय उस महान् मस्तिष्क को है जिसने इस संघर्ष की कल्पना और योजना की थी।

विजय भी किसी तुच्छ शत्रु पर न हुई थी। युद्ध घमासान हुए थे और दोनों ओर से जी-जान लड़ाकर संघर्ष किया गया था। शत्रु की हार का आंशिक कारण यह भी था कि लूटमार कर जल्दी से पीछे हट जाना और छिपकर फिर आक्रमण करने की परम्परागत मराठा नीति उन्होंने त्याग दी थी। मराठा सैनिकों का सच्चा भाग्य, होलकर के शब्दों में, जो कि अपने शत्रुओं की अपेक्षा अधिक सफल रहा था, उनके घोड़ों की काठी पर होता है। सिंधिया की प्रशिक्षित पलटनें और तोपखाने अन्य देशी ताकतों को चूर कर सकते थे, पर कम्पनी की फौजों का वे सिर्फ डटकर मुकाबला ही कर सकते थे। द बोयन, जिसने इन फौजों को तैयार किया था, हमेशा कहा करता था कि वे ब्रिटिश फौजों को कभी न जीत सकेंगे। सर टामस मनरो जैसे चतुर पर्यवेक्षक ने मराठा सेना के बारे में लिखा था कि "उसका अनुशासन, उसके हथियार और उसकी एकसी वर्दी, मैं समझता हूं, सिर्फ बलिदान के लिए सुसज्जित होने के निमित्त ही है।"

बरार के राजा के साथ देवगांव की सन्धि और सिंधिया के साथ सूरजी अर्जनगांव की सन्धि द्वारा युद्ध के फलों की पुष्टि की गई। वार्ता-कार्य सर आर्थर वेलेजली को सौंपा गया, जिसने सैनिक होने के साथ ही कूटनेता का भी श्रेय पाया। उसका दावा ठीक ही था कि उसने "दो महान् शान्ति संधियाँ सम्पन्न कीं।" ईस्ट इण्डिया कम्पनी के क्षेत्राधिपत्य में व्यापक विस्तार हुआ। अब मुगलों की गद्दी पर बैठने वाले अकबर के उत्तराधिकारी कम्पनी की छत्रछाया में रहने लगे। दोआब पर कब्जा और आगरा व दिल्ली पर आधिपत्य से ब्रिटिश राज्य की सीमा जमुना के ऊपरी भाग और हिमालय पर्वत तक पहुंच गई। कटक और बालासोर के हस्तांतरण से बंगाल और मद्रास परस्पर सम्बन्धित हो गए और समूचा पूर्वी समुद्र-तट ब्रिटिश नियन्त्रण में आ गया। बुन्देलखण्ड और गुजरात में कई मूल्यवान इलाके मिला लिये गए। दक्खिन में सिंधिया का सारा राज्य छीन लिया गया और राजपूताना का एक बड़ा भाग उसके अधिकार से मुक्त कर दिया गया। इसके अलावा सिंधिया और भोंसला दोनों ने बसीन की संधि स्वीकार की, अपने दरबारों में ब्रिटिश प्रतिनिधियों के रहने की इजाजत दी और अपनी नौकरियों में अंग्रेजों के अलावा अन्य किसी योरोपियन को न रखने का वादा किया। बरार के राजा ने वर्दा नदी के पश्चिम के अपने जिले निजाम के सुपुर्द किये और नागपुर में एक ब्रिटिश प्रतिनिधि रखना स्वीकार किया जबकि सिन्धिया ने फरवरी १८०४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से एक सुरक्षा-सन्धि की।

वेलेजली ने विजय की भावना के साथ घोषणा की कि इस शान्ति द्वारा 'युद्ध का प्रत्येक ध्येय प्राप्त किया जा चुका है।' वास्तव में यह सच था, लेकिन उसका यह कथन कि 'इस शान्ति में अमन कायम रखने की प्रत्येक व्यावहारिक सुरक्षा निहित है,' इतिहास द्वारा गलत सिद्ध हुआ। वास्तव में, युद्ध के बाद की मराठों की मलिन रोष, कटु अपमान और दहकती दुश्मनी की भावना के प्रति वेलेजली बिलकुल बेखबर था। गवर्नर-जनरल को जीत के जोश में, और निस्संदेह, इंग्लैण्ड में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ब्रिटिश सरकार का अनुमोदन प्राप्त करने की अवचेतन इच्छा से प्रतीत हुआ कि 'हैदराबाद और पूना के राज-दरबारों में ब्रिटिश सरकार के प्रभाव और प्रतिष्ठा में वृद्धि व उनकी स्थायी स्थापना हुई है—इन राज्यों के अधिकारों को सीमित कर, उनकी स्वाधीनता पर नियंत्रण रख या उनकी शक्ति कम करके नहीं, बल्कि ऐसे प्रबन्धों द्वारा यह किया गया है जिनसे इन राज्यों के अधिकारों और स्वतन्त्रता की पुष्टि हुई है, उनका राज्याधिकार बढ़ा है, शक्ति एकीकृत हुई है और साधनों में वृद्धि हुई है; उन्हें परेशान करने वाले दावों और मुकदमों तथा अन्य शक्तियों के सशस्त्र हस्तक्षेप से राहत मिली है, और उनके राज्यों की सीमाओं के अन्दर स्थायी शान्ति व समृद्धि के साधन स्थापित किए गए हैं। हमारे मित्रों के राज-दरबारों में अब हमारा प्रभाव और प्रतिष्ठा हमारे विचारों के औचित्य और उदारता तथा रक्षा करने की हमारी सामर्थ्य में उनके पूर्ण विश्वास की ठोस नींव पर आधारित है।'

इन उन्नत विचारों को अंगीकार न करने की देशी राज्यों की विकृत मनोभावना निश्चय ही उत्तेजना का कारण थी, लेकिन उनके वास्तविक मनोभाव उक्त भव्य विचारों से विशेष भिन्न नहीं हो सकते थे। न इंग्लैण्ड में ही गवर्नर-जनरल के इस वाक्-चातुर्य्य से पूरा यकीन हुआ। लार्ड कैसलरीघ ने अपने एक पत्र में, जो कि ऊपर उद्धृत पत्र के पहुंचने से पूर्व ही भेजा जा चुका था, शंका प्रकट की कि क्या इन राज्य-क्षेत्रों का हस्तांतरण पार्लियामेंट द्वारा अभी तक की प्रतिपादित नीति के प्रतिकूल नहीं है। (जैसा कि वह निश्चय ही था), और क्या हमारी सरकार का ढांचा इस हद तक पेचीदा और बोझिल नहीं बन जायगा 'कि लार्ड वेलेजली जैसे मार्ग-प्रदर्शक द्वारा सर्वोच्च नियंत्रण त्याग देने के बाद उसके अशक्त और आकुल होने की संभावना नहीं है।'[1]

और, दरअसल, शीघ्र ही शान्ति खतरे में पड़ गई। इसके लिए वेलेजली, अपने भाई तक की राय में, बहुत-कुछ जिम्मेदार था क्योंकि उसने सिंधिया और भोंसले के लिए इन सन्धियों की बहुत ही सख्त व्याख्या की। ये दोनों राजा शीघ्र ही असंतुष्ट होने लगे, लेकिन लड़ाई दरअसल होलकर से ही शुरू हुई, जिसने हाल की लड़ाई में कोई भाग न लिया था। होलकर द्वारा जयपुर के राजा का राज्य लूटे जाने पर वेलेजली ने उसके खिलाफ जंगी कार्यवाही शुरू किये जाने का हुक्म दिया। उसके सेनापतियों ने भी पहली बार गलती की। कर्नल मोनसन राजपूताने के मैदान में बहुत ज्यादा आगे बढ़ गए और बाद में, बाध्य होकर पांच बटालियन और छः टुकड़ियों की बरबादी कर पीछे लौटे। सिंधिया भी सशस्त्र उठ खड़ा हुआ पर मराठों की शक्ति पुनः क्षीण हुई। होलकर दिल्ली पर कब्जा करने में असफल रहा, जिसकी रक्षा ऑक्टरलोनी ने बड़ी कुशलता के साथ की। डीग में १२ नवम्बर को एक फौज की हार हुई और १७ नवम्बर १८०४ को लेक ने फर्रुखाबाद में स्वयं होलकर को खदेड़ भगाया। और फिर ब्रिटिश सेनापति ने एक बहुत बड़ी गलती की। भरतपुर के राजा ने अंग्रेजों का साथ छोड़ रखा था। और लेक ने उसके मशहूर किले व राजधानी पर कब्जा करना

१. एस. जे. ओवन रचित वेलेज़ली के पत्र, पृ० ४३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तय किया। वह, असल में, मैदानी अफसर था, घेरेबन्दी का उसे कोई अनुभव न था; साथ ही वह तेज, गर्ममिजाज था। उसने भरतपुर पर लगातार चार हमले किए और हर बार उसकी मात हुई, और आखिर उसे अप्रैल १८०५ में राजा से सन्धि करनी पड़ी और राजा को अपने उस किले पर काबिज रहने दिया गया जिसके लिए वह लड़ा था—ब्रिटेन की इज्जत के लिए यह एक बहुत बड़ा धक्का था।

यह एक ऐसी दुर्घटना थी जिसकी क्षतिपूर्ति न हो सकी। यद्यपि होलकर की ताकत को करारी चोट पहुंच चुकी थी, और बहुत संभव था कि एक और सामरिक कार्यवाही से वह बिलकुल गायब हो जाता, पर लेक की नाकामयाबी से गवर्नर-जनरल के विपक्षियों की चेतावनियां और आशंकाएं उचित प्रतीत होने लगीं। लार्ड कॉर्नवालिस को जो कि अपने जीवन के ६७वें वर्ष में थे, वेलेजली के स्थान पर नियुक्त किया गया। जुलाई १८०५ में वह भारत आए, और अगस्त में वेलेजली चले गए।

भूतपूर्व गवर्नर-जनरल की महान् सेवाओं की सराहना न करने के लिए डायरेक्टरों की निन्दा करना आसान है लेकिन उनके दृष्टिकोण से भी बहुत-कुछ कहा जा सकता था। लगातार फौजी कार्यवाहियों के कारण कम्पनी का ऋण १७९७ में १७० लाख से १८०६ में ३१० लाख तक बढ़ चुका था। दरबार के प्रति वेलेजली का रवैया तिरस्कार और अनादर का था, और कभी भी उसने अपनी इस भावना को छिपाने की कोशिश न की। इंग्लैण्ड में लोगों का यह विश्वास बढ़ता जा रहा था कि भारत में हमारी जीत इतनी अधिक हो चुकी है कि लाभपूर्वक, यहां तक कि कुशलता-पूर्वक उसकी व्यवस्था करना कठिन है। हमने देखा कि जीत के मौके पर भी ब्रिटिश मंत्रालय वेलेजली की कार्यवाहियों का अनुमोदन करने में हिचकता था, और हार होते ही उन्होंने अपना समर्थन वापस ले लिया। पिट ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा था कि गवर्नर-जनरल ने बहुत ही नासमझी के साथ नावाजिब काम किए हैं और उसे किसी भी हालत में सरकार में रहने नहीं दिया जा सकता।"[1]

घर पहुंचने पर लार्ड वेलेजली और उनके महान् पूर्वाधिकारी वारेन हेस्टिंग्स के साथ किए गए व्यवहार में बहुत अन्तर था। समस्त मालिकों और डायरेक्टरों ने हेस्टिंग्स का लगातार समर्थन किया था, पर पार्लियामेंट ने उस पर मुकदमा चला कर उसे दोषी सिद्ध करने की सात साल तक कोशिश की। वेलेजली के मामले में एक व्यक्तिगत सदस्य ने दो बार उस पर मुकदमा चलवाने की कोशिश की पर दोनों बार पार्लियामेंट ने उसे तुरन्त अस्वीकार कर दिया और लोक-सेवा के प्रति वेलेजली की लगन की प्रशंसा करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। दूसरी ओर, डायरेक्टरों और मालिकों ने भूतपूर्व गवर्नर-जनरल का सतत विरोध किया और एक बहुत बड़े बहुमत से उसे दोषी सिद्ध करने की राय दी। तीस साल बाद जाकर ही, उन्होंने उसे यह आश्वासन दिला कर कि वे भारत में उसके सफल और उज्ज्वल शासन-काल को अपने अन्य देशवासियों की भावना के साथ ही देखते हैं, अपने द्वारा किये गये दोषारोपण का खण्डन किया।

---

१. मार्क्विस कार्नवालिस का पत्र व्यवहार, खंड ३, पृ० ५२२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २१

हस्तगत करने की नीति की प्रतिक्रिया— लार्ड कार्नवालिस, सर जार्ज बारलो, लार्ड मिंटो

जैसा कि हम देख चुके हैं लार्ड वेलेजली का उद्देश्य एक ओर सूरत और कर्नाटक जैसे उन पतित और आश्रित राज्यों को जज़्ब करके भारत में ब्रिटिश आधिपत्य ज़माना और उसे पुष्ट करना था, जिनका प्रशासन पश्चिमी विचारों से प्रभावित लोगों की आंखों में खटकता था और दूसरी ओर कन्या कुमारी से सतलज तक के सब देशी राज्यों पर सामान्य नियन्त्रण प्राप्त कर और उनके राज्यों में सहायक सेनाएं रखकर उनकी वैदेशिक नीति नियमित करना था।

अब इतने अधिक व्यापक दायित्वों से अलग होने और कम्पनी का क्षेत्र एक सुनिश्चित क्षेत्र तक ही सीमित कर देशी शक्तियों को उस क्षेत्र के बाहर कर देना था जहां वे अपनी इच्छानुसार शान्ति से रह सकें या घरेलू लड़ाई में एक दूसरे पर टूट पड़ें।

कहना पड़ेगा कि कार्नवालिस और बार्लो दोनों इस नीति को तर्कसंकत एकरूपता के साथ अमल में लाने से हिचकिचाए। अब हैदराबाद या अवध, यहां तक कि पूना के लिए भी इन सहायता-सन्धियों को तोड़ देना संभव न था। अतः वेलेजली के तात्कालिक उत्तराधिकारियों के प्रयास सिंधिया और होलकर के साथ अकुलाहट पैदा करने वाले संबंधों को भंग करने, और फलस्वरूप इन राज्यों के साथ सहायता देने वाले ऐसे सम्बन्धों का बलिदान करने तक ही सीमित थे, जिनकी कल्पना वेलेजली ने की थी। इतना होने पर भी, मैटकाफ जैसे तीक्ष्ण पर्यवेक्षक की राय में, जो बाद में गवर्नर-जनरल बना, ये लोग जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये थे। मैटकाफ ने इनकी नीति को अलंकृत किन्तु अनुचित भाषा में "लांछना किन्तु क्षतिपूर्ति नहीं, संधि किन्तु सुरक्षा नहीं, शान्ति किन्तु स्थिरता नहीं" की नीति कहा था। मैटकॉफ के अनुसार अब ब्रिटिश 'बेलगांव' में रहने की आशा नहीं कर सकते थे, और शान्ति की भाषा में मराठों की महत्त्वाकांक्षा और दुस्साहस का उत्तर देना "गरजते समुद्र को शान्त रहने का उपदेश" देना था।

इस प्रकार की नीति की निन्दा करना आसान है, जो इतिहासकार के पुनरावलोकन में लार्ड वेलेजली के दूरदर्शी विचारों और अपूर्व योजनाओं के अनुकूल न थी, लेकिन यह न भूलना चाहिए कि उस समय की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। खजाना खाली हो चुका था। हर वर्ष राजस्व से अधिक व्यय हो रहा था, और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निर्यात-व्यापार प्रायः बिलकुल ठप्प था। कार्नवालिस ने कहा कि पिछले सालों, हर वर्ष, "कुमुक और रुपया भेजने की मांग होती रही है, जिसके फलस्वरूप "शानदार गजट प्रकाशित करने के अलावा और कोई लाभ नहीं हुआ है.....। हमारे पास सरकार का आम कामकाज चलाने तक के लिए भी सचमुच साधन नहीं हैं।" इसी कारण वह अनुभवी राजनेता, यह जानते हुए भी कि "छयासठ वर्ष की उम्र में भारत के लिए चल पड़ना खतरनाक है", एक अप्रिय नीति को अमल में लाने के लिए अपने कर्त्तव्य की पुकार सुनकर रवाना हो गया।

उसने पुनः जुलाई १८०५ में गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति का पद ग्रहण किया और वह हठी सिंधिया को, संभावनानुसार, शान्त करने तथा होल्कर के साथ युद्ध समाप्त करने के इरादे से तुरन्त ही चल पड़ा। कार्नवालिस ने सिंधिया को ग्वालियर और गोहद तथा आगरे के अलावा जमुना के पश्चिम का सारा राज्य देकर शान्त करना चाहा। लेकिन शान्ति कायम करने की अपनी इच्छा में वह निश्चय ही बहुत ज्यादा आगे बढ़ गया। नदी की सीमा तक ब्रिटिश दायित्व सीमित रखने का अर्थ, दुर्भाग्यवश, उन अनेक राजपूत सरदारों को ब्रिटिश सुरक्षा से वंचित करना था जिन्होंने पिछली लड़ाई में निष्ठा के साथ सेवा की थी। कार्नवालिस का इरादा सिंधिया को दिल्ली दे देना और बादशाह को वहां से हटाकर ब्रिटिश इलाके में ले आना था; यहां तक कि सिंधिया द्वारा 'सिर्फ इज्जत के सवाल' पर गिरफ्तार किए हुए ब्रिटिश बारह 'मिस्लों' में संगठित था। सब सच्चे सिखों ने "सिंह" की उपाधि पाकर, पहले घुड़सवारों और फिर पैदल सेना में अपने आपको इस प्रकार संगठित किया कि उनकी सेना सबसे अच्छी सेनाओं में हो गई। फारस के नादिरशाह (१७३९) और अहमदशाह दुर्रानी (१७५६) के हमलों के फलस्वरूप उत्तरी भारत में फैली हुई अराजकता से लाभ उठाकर उन्होंने पंजाब पर अपना अधिकार बढ़ाना चाहा। यद्यपि अहमद शाह ने १७६१ में सिखों की एक बड़ी सेना को हराया पर वह वापस अफगानिस्तान चला गया।

सिखों के सबसे बड़े सरदार रणजीतसिंह का जन्म १७८० में हुआ था, और पोन्टस के मिथरीडेट्स की तरह बारह वर्ष की उम्र में ही वह सैनिक बन गए। १७९९ में लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर धीरे-धीरे उन्होंने सतलज के पश्चिम की अन्य सब मिस्लों को अपने अधीन कर लिया। १८०५ में होलकर ने, लार्ड लेक की सेना के सामने भागते हुए, रणजीतसिंह से सहायता की याचना की पर होलकर के लिए अंग्रेजों से न लड़ने की इच्छा के कारण उन्होंने उसकी हिफाजत करने से इन्कार कर दिया। प्रतिनिधि की रिहाई की मांग छोड़ने के लिए भी वह तैयार था। उसने एक नई लड़ाई का खतरा जरूरत से ज्यादा समझा और यह जानने में वह सर्वथा असफल रहा कि होलकर की ताकत कितनी जल्दी खत्म होने वाली थी। मरणासन्न व्यक्ति की आलोचना करना बुरा है, और कार्नवालिस भी धीरे-धीरे मौत की ओर बढ़ रहा था। भयभीत हुए जनरल लेक को अपनी हिदायतें देकर, जिनकी लेक ने जोरशोर के साथ खिलाफत की, वह गंगा नदी के रास्ते चल दिया। सितम्बर के अन्त में, उसके एक कर्मचारी के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार, "उसकी मानसिक शक्ति, दुर्भाग्य से, क्षीण होती जा रही है । अब वह अपने जीवन का शेष भाग सोकर बिता रहा था ।" गाजीपुर में ५ अक्टूबर को उसका देहान्त हुआ। उसे अपनी सच्ची ईमानदारी और अपने चरित्र की कुलीनता व सरलता के लिए उन लोगों तक से आदर प्राप्त हुआ जिनकी नीति का वह विरोध कर रहा था। कार्नवालिस के स्थान पर जार्ज बारलो नामक काउंसिल का एक पुराना सदस्य अस्थायी रूप से नियुक्त किया गया । वह थोड़ी योग्यता का आदमी था, और अपने बुरे व्यवहार के लिए, बदनाम था, लेकिन मितव्ययता और अपनी इच्छा के खिलाफ भी अपने अफसरों की नीति को पूरी तरह अमल में लाने का सरकारी नौकर का गुण उसमें विद्यमान था और वह एक ईमानदार प्रशासक था । लार्ड वैलेजली के मातहत उसने बड़ी लगन से काम किया था, लेकिन कार्नवालिस द्वारा इंगित दिशा में चलने में उसे संकोच न हुआ ।

नवम्बर १८०५ में सिंधिया के साथ एक नई सन्धि की गई जिसके अनुसार सूरजी-अर्जन गांव की सन्धि की कुछ धाराओं में परिवर्तन किया गया । सन्धि दोबारा ताजा न की गई । 'दोस्ती के ख्याल से' ग्वालियर और गोहद उसे वापस दे दिए गए। चम्बल नदी के दक्षिण में ब्रिटिश और उत्तर में सिंधिया का कोई दावा न रहा, लेकिन अंग्रेजों ने राजपूताने के उन सरदारों को अपनी हिफाजत से बाहर कर दिया जिन्होंने उनकी मदद की थी (समझौते की यही सबसे अधिक निन्दनीय बात थी।)

इस बीच, लेक उत्तर में होलकर का पीछा करते हुए अमृतसर तक बढ़ गया। होलकर ने रणजीत सिंह से, जो कि उस समय सिख साम्राज्य की स्थापना कर रहा था, मदद मांगी और वह भी व्यर्थ ही। मराठा सरदार को उसकी अपनी उम्मीद से भी बढ़कर शर्तें दी गयी थीं। यद्यपि चम्बल के उत्तर में उसे अपना हक छोड़ने के लिए कहा गया, पर साथ ही अट्ठारह महीने बाद दक्षिण में उसके किले उसे वापस कर देने का भी वायदा किया गया । चूंकि गवर्नर-जनरल को डर था कि सिंधिया और होलकर के साथ सन्धि करने का अर्थ चम्बल के आसपास के आर-पार के राज्यों की रक्षा करना कम्पनी का आभार है, उसने होलकर को टोंक और रामपुर दे देने का, व बाकी सबको ब्रिटिश सुरक्षा से वंचित करने की घोषणा प्रकाशित की, जिसके फलस्वरूप कुछ समय में ही, अनेक राजाओं ने, जिनमें जयपुर का राजा भी था, जिसके प्रति हम विशेष रूप से आभारी थे—मराठा नेताओं का विनाशकारी प्रभाव अनुभव किया।

इन सब परिणामों के प्रति लार्ड लेक ने अपनी रोबपूर्ण आवाज उठाई लेकिन बारलो को तो इंग्लैण्ड की अपनी घरेलू सरकार की ही इच्छा पूरी करनी थी; और उसकी नीति दस साल तक चलती रही । स्थिरता की निस्बत बेहतर राजनीतिक बुद्धि के कारण उसने निजाम को अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया, जो कि मराठा ताकतों के साथ मिलकर इस तरह साजिश कर रहा था मानो सहायता सन्धि का अस्तित्व ही न हो । बारलो ने बासिन की सन्धि भंग करने का बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के हुक्म का सफलता के साथ विरोध किया। घरेलू मामलों में अपनी पर्याप्त प्रशासनीय

CC-0. Agamnigam. Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

योग्यता के कारण वह बहुत काफी बचत करने और वित्तीय स्थिति को संतुलित करने में सफल रहा ।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में वैलोर नामक स्थान में सिपाहियों के एक खतरनाक विद्रोह ने १८५७ के विप्लव का एक अजीब पूर्वाभास दिया। फौजी वर्दी में कुछ अनुचित परिवर्तन और बाल काढ़ने के नये कायदों को, चरबी के कारतूस काम में लाने के मशहूर हुक्म की तरह ही, जाति और धर्म पर आघात समझा गया। बड़े गदर की तरह ही यह आन्दोलन भी गद्दी से उतारे हुए राज्य वंश के राजा—मैसूर के टीपू के वारिसों द्वारा पोषित था, और इसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश अफसरों की हत्या हुई। इस विद्रोह के कारण ही भावी गवर्नर-जनरल, लार्ड विलियम वैन्टिक को मद्रास के गवर्नर-पद से बुलाया गया।

१८०६ के नए ह्विग मंत्रिमंडल के समय बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष, लॉर्ड मिन्टो १८०७ में अपने पुराने पद से गवर्नर-जनरल के पद पर आए। यह कदम एक अद्भुत अवरोध का फल था । बारलो की नियुक्ति, जोकि आरम्भ में स्पष्टतः अस्थायी थी, मन्त्रियों की सम्मति से बाद में स्थायी बना दी गयी थी । दस दिन बाद ही लार्ड मिन्टो ने लॉडरडेल के अर्ल के विचाराधीन नाम-निर्देशन की दरबार में घोषणा की। डायरेक्टरों ने इस बात को इस आधार पर मानने से इन्कार कर दिया कि बारलो की यथानियम नियुक्ति हो चुकी थी और कि लॉडरडेल स्वतन्त्र व्यापारी था, अर्थात् कम्पनी के एकाधिकार का विरोधी और फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तों का भूतपूर्व समर्थक था। मंत्रिमंडल ने, १७८४ के पिट के अधिनियम द्वारा प्राप्त अधिकार का पहली बार प्रयोग कर, डायरेक्टरों की इच्छा के विरुद्ध बारलो को वापस बुला लिया, और वे अपने पूर्व निर्णय के इस सहसा परिवर्तन के लिए यकीन दिलाने वाली कोई दलील भी न दे सके। लोगों का ख्याल था कि इस परिवर्तन का कारण बड़प्पन जतलाने की इच्छा के अलावा और कुछ न था। संवैधानिक प्रश्न पार्लियामेंट के दोनों सदनों में उठाया गया और एक भीषण, यद्यपि अल्पकालीन, वितण्डावाद उठ खड़ा हुआ। डायरेक्टर गण मन्त्रिमंडल के साथ झगड़ा करने के इच्छुक न थे, और लार्ड लॉडरडेल की वापसी व लार्ड मिन्टो की नियुक्ति द्वारा समझौता कर लिया गया।

नए गवर्नर-जनरल, सर गिलबर्ट इलियट के रूप में, वारेन हेस्टिंग्स और सर एलिजा इम्पे पर चलाए गए मुकदमे के संचालकों में से रह चुके थे, और इसलिए उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का विरोधी समझा जाता था।

लार्ड मिण्टो अ-हस्तक्षेप की नीति में विश्वास रखकर भारत आए, और देखा जाए तो, देशी राजाओं से वह अपने व्यवहार में कभी भी इस नीति से डिगे नहीं । यद्यपि उन्होंने भारत की भूमि पर कभी कोई महत्त्वपूर्ण युद्ध नहीं लड़ा और मराठों के साथ कार्नवालिस व बारलो द्वारा किए गए समझौते को कायम रखा, तो भी समय-समय पर उन्हें बाध्य होकर स्वतन्त्रताचार की कट्टर परिभाषा त्यागनी पड़ी। उन्हें किसी हद तक, गवर्नर-जनरल के रूप में, उन पाठों को भूलना पड़ा जो उन्होंने बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष होने के नाते सीखे थे, और जब उन्होंने अपना पद छोड़ा तो ब्रिटिश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्ति प्रत्यक्षतः एक और बड़ा कदम आगे उठाने वाली थी। लेकिन वह कदम लार्ड मिन्टो के काल में न उठा और इसलिए अगले दस वर्षों तक कम्पनी का राज्य प्रायः स्थिर ही रहा कहा जा सकता है। यह सच है कि भारतीय राजनीति की सतह उद्वेग-रहित न थी, पर पिछली लड़ाइयों में मराठों की शक्ति को इतनी जबरदस्त चोट पहुंच चुकी थी कि केवल स्थानीय और अस्थायी झगड़े ही हुए। लार्ड वेलेजली के जमाने के व्यापक और परस्पर सम्बन्धित आन्दोलन अब कहीं न दिखाई देते थे। इसके अतिरिक्त होलकर पागल हो गया, और इस तरह ब्रिटिश राज्य का सबसे भयंकर शत्रु नुकसान पहुंचाने लायक न रहा। बुन्देलखण्ड में, जो कि अब कम्पनी के कब्जे में था, दंगे हुए। बुंदेलखंड पूना के पास के उन कुछ जिलों के बदले कम्पनी ने प्राप्त किया था जो कि बासिन की सन्धि द्वारा पेशवा ने कम्पनी को दे दिये थे, और अब बुन्देलखंड देकर पेशवा ने उन जिलों को पुनः प्राप्त कर लिया। देश में अब शान्ति थी, कई उपद्रवी राजा हराए जा चुके थे और उनके किलों पर जिनमें अजयगढ़ और कालिंजर के मशहूर किले भी थे, अधिकार प्राप्त किया जा चुका था। गवर्नर-जनरल को बाध्य होकर पेशवा और उसके असंतुष्ट सामंतों के बीच मध्यस्थता करनी पड़ी। लेकिन अ-हस्तक्षेप की नीति से हट जाने का सबसे बड़ा उदाहरण बरार के राजा और सिखों से सम्बन्धित है। अब अंग्रेजों को सिखों से, पंजाब के इन भयंकर लोगों से पहली बार सम्पर्क में आना पड़ा।

१८०९ में अमीर खां नामक एक उपद्रवी पठान ने, जो कि होलकर का मित्र होने का दावा करता था, ४०,००० घुड़सवारों और २०,००० से अधिक पिंडारियों या लुटेरों को साथ लेकर बरार पर हमला कर दिया। बरार की सहायता करने का ब्रिटिश सरकार पर कोई आभार न था। वास्तव में, यदि अमीर खां, जैसा कि वह कहता था, होलकर का एक सेनापति था, तो किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप उस सन्धि का उल्लंघन करना होता जिसके अनुसार कम्पनी ने होलकर के मामलों में दखल न देने और कम्पनी के साथ संधि-सम्बन्ध न रखने वाले राज्यों के खिलाफ होलकर की लड़ाई में भाग न लेने का वादा किया था। फिर भी, लॉर्ड मिन्टो इस नतीजे पर पहुंचे कि निजाम की सीमाओं के निकट बरार जैसे प्रदेश में वह अराजकता नहीं होने दे सकते। अतः उन्होंने अमन कायम रखने की दलील पर ही बरार के राजा की मदद करने के लिए एक फौज भेज दी और बदले में किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता या संधि न चाही। उनके इस नम्र भाव और साथ ही होलकर द्वारा अमीर खां को प्रश्रय न दिए जाने के कारण एक आम मराठा युद्ध छिड़ने से बच गया, जो कि अन्यथा निश्चय ही छिड़ जाता। अमीर खां को बरार से भगा दिया गया और भारत की शान्ति पुनः सुरक्षित हो गई।

सिख सही अर्थ में, एक जाति नहीं बल्कि एक सम्प्रदाय हैं। सिख का अर्थ ही शिष्य है। नानक (१४६९–१५३८) नामक एक गुरु ने इस धर्म की स्थापना की और बाद में उनके उत्तराधिकारियों की लम्बी शृंखला ने, विशेषतः गुरु गोविन्दसिंह ने, जिनकी मृत्यु १७०८ में नादेरह में हुई, इस धर्म का विकास किया। सिख-धर्म एक ईश्वर में आस्था रखता है और मूर्ति-पूजा, जाति-भेद व ब्राह्मणों के सिद्धान्तों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विरोधी है। इस धर्म के अनुयायी, जिनकी उत्पत्ति अधिकांशतः जाटों से हुई थी, ऊपरी पंजाब के उस उपद्रवी इलाके में रहते थे जो कि मुगलों और अफगानों की लड़ाई का अक्सर मैदान बन चुका था। मुसलमानी दमन ने इस शान्तिपूर्ण सम्प्रदाय को धर्म-प्रधान सामरिक राज्य अथवा 'खालसाओं' के सम्मिलित राज्य में परिणत कर दिया, जो कि सरहिन्द कहलाने वाले सतलज के पूर्व जमुना तक के इलाके के सिख सरदारों के राज्य पर रणजीतसिंह की बहुत दिनों से ललचाई दृष्टि थी। इन राज्यों ने मराठों का प्रभुत्व स्वीकार कर रखा था, और अंग्रेजों द्वारा सिंधिया को बाहर निकाल देने पर यह राज्य अनौपचारिक रूप से कम्पनी की सुरक्षा में आ गए। १८०६ में, परस्पर झगड़ने वाले कुछ सरदारों ने रणजीत सिंह को लाया, जो कि पहले से ही अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने का इच्छुक था, और उसने उस वर्ष तथा अगले वर्ष दो बार नदी पार की। कुछ सरदारों ने सशंकित होकर दिल्ली स्थित ब्रिटिश प्रतिनिधि से सुरक्षा का आवेदन किया, और अब गवर्नर-जनरल के लिए एक बहुत बड़ा फैसला करना जरूरी हो गया। रणजीत सिंह ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "जमुना के इस पार की जमीन—अंग्रेजों द्वारा कब्जा की गई जगहों के अलावा—सब मेरे अधिकार में है। इसे ऐसा ही रहने दो।" यदि रणजीतसिंह को खुली छूट दे दी जाती, तो, निश्चय ही, कुछ वर्षों में सिस-सतलज के सिखों को वह अपने अधीन बना लेता। तो क्या उसे जमुना तक बढ़ने दिया जा सकता था? उसे रोकने का अर्थ युद्ध होता, और दरअसल, उस समय शायद ही कोई ऐसा हो जिसने मित्रता बनाए रखने की इस होशियारी की रणजीतसिंह से आशा की हो। लेकिन, फिर भी लार्ड मिन्टो ने खतरा मोल लेना तय किया। इतना नहीं, रणजीत सिंह को न सिर्फ सतलज के पश्चिम तक ही सीमित रखना तय किया गया बल्कि फारस से फ्रांसीसियों का आक्रमण होने पर आक्रमण और रक्षा दोनों में सहायता देने का सुझाव भी उसके सामने रखा जाना था। मैटकाफ नामक एक प्रतिभाशाली नवयुवक को यह कठिन काम सौंपा गया। फ्रांसीसियों के विरुद्ध संधि करने के एवज सतलज के पूर्व उसके काम में हस्तक्षेप न करने को शर्त पर रणजीतसिंह ने राजी होने को बुद्धिमानी दिखायी। लेकिन इसी बीच फ्रांसीसी हमले का खतरा दूर हो गया क्योंकि नेपोलियन ने स्पेन व पुर्तगाल में युद्ध आरम्भ कर दिया। फलतः सारी स्थिति बदल गई और अब ब्रिटिश राजदूत को केवल यही कहना था कि चूंकि सिंधिया की हार से सतलज के पूर्व के सिख राज्य ब्रिटिश प्रभुत्व में आ गए थे, सिख सेना हटायी जानी चाहिए। शुरू में, रणजीत सिंह ने, यह बात न मानी। लड़ाई छिड़ने को ही थी कि मैटकाफ ने अपने अडिग धैर्य के फलस्वरूप महाराजा को जीत लिया और अप्रैल १८०९ में अमृतसर की संधि हुई जिसके अनुसार रणजीतसिंह को सतलज के पश्चिम में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से बचाने का आश्वासन दिया गया, बशर्ते कि वह सतलज के पश्चिमी तट तक ही अपने आपको रखे।

रणजीतसिंह भारतीय इतिहास के महान् व्यक्तियों में से हैं। वह जन्म से ही नेता और लौह संकल्प के व्यक्ति थे। उनमें स्वार्थ, विश्वासघात, धैर्य, साहस और तृष्णा आदि अच्छे-बुरे गुणों का वह सम्मिश्रण था जो कि एक पूर्वी साम्राज्य निर्माण करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए आवश्यक है। उनमें और पूर्व के अन्य महान् राजाओं में केवल यही अन्तर था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शक्ति को उन्होंने एक राजनेता की तरह स्वीकार किया था, ब्रिटिश आश्वासनों में उन्हें विश्वास था और वह स्वयं अपनी बात के धनी थे। इसीलिए उनके अपने जीवन-काल में अमृतसर की संधि कभी भंग न हुई। अब उत्तर-पश्चिम में ब्रिटिश सीमा, जिसकी रक्षक-सेना की बाहरी चौकी लुधियाना में थी, सतलज के किनारे एक अत्यन्त सुनिश्चित रेखा के अनुसार थी और कम्पनी के इलाके व पहाड़ों से हो सकने वाले हमले के बीच एक शक्तिशाली मित्र-राज्य था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बहुत कुछ फ्रांसीसी हमले के डर के कारण ही ब्रिटिश दूत रणजीत सिंह के पास भेजा गया था। इसी कारण, लार्ड मिन्टो के शासनकाल में अन्य तीन प्रसिद्ध दूतावास खोले गये और भारत सरकार के वैदेशिक सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक बना। बाद में प्राप्त भौगोलिक और ऐतिहासिक, दोनों प्रकार की जानकारी की रोशनी में उत्तर-पश्चिमी दर्रों से फ्रांसीसी-रूसी आक्रमण का डर प्रायः अद्भुत मालूम हो सकता है, और वास्तव में, इस प्रकार का आक्रमण कभी भी संभव न था। लेकिन उस जमाने में जबकि यूरोप के प्राचीन राज्य बालू के ढेर की तरह ढह पड़ रहे थे, कोई भी नेपोलियन की शक्ति और महत्त्वाकांक्षा की हद नहीं बांध सकता था। १८०१ में ही अस्त्रा खां, बोखारा, खीवा, हेरत और कंधार होते हुए एक संयुक्त सेना भेजने का इरादा हो चुका था। कोपनहेगन के युद्ध और जार की हत्या ने नेपोलियन को एक दूसरे काम में लगा दिया। १८०५ में रूस और ब्रिटेन के बीच एक संधि हुई।

अब नेपोलियन ने फारस के साथ सन्धि करने की बात सोची। फारस के राजा ने, जो कि रूस से लड़ रहा था, १८०० की माल्कम की सन्धि के आधार पर भारत सरकार से सहायता की मांग की, पर चूंकि रूस की ब्रिटेन से दोस्ती थी, यह मांग आवश्यक रूप से अस्वीकार की गयी। फारस के राजा ने अब नेपोलियन से अपील की, और नेपोलियन ने अपने राजदूत जनरल गार्डेन को तेहरान भेजा। एक सन्धि हुई जिसके अनुसार फ्रांस ने रूस के खिलाफ मदद देने और फारस ने भारत पर आक्रमण करने वाली फ्रांसीसी सेना को अपने देश से गुजरते वक्त रसद और सिपाही देने का वादा किया। लेकिन शीघ्र ही यूरोपीय राजनीतिक स्थिति ने एक नया मोड़ पकड़ा। १८०७ में नेपोलियन ने रूसियों को फ्रायडलैण्ड में पराजित किया और टिलसिट की संधि द्वारा जार अलैक्जेंडर फ्रांस से बंध गया। भारत पर, एशिया माइनर और फारस होते हुए फ्रांसीसी-रूसी आक्रमण की पुनः योजनाएं बनाई जाने लगीं, और अब फ्रांसीसी हस्तक्षेप के कारण फारस को रूस के सामने झुकना पड़ा। लेकिन जार अलैक्जेंडर ने, यह देखते हुए कि सब लाभ उसके मित्र को ही मिलेंगे, और साथ ही रास्ते के निकट कठिनाइयों की नेपोलियन की अपेक्षा अधिक जानकारी होने के कारण, इस योजना का निष्क्रिय विरोध किया। अगले साल ही नेपोलियन किसी और काम में लग गया और पूर्व में फ्रांसीसी-साम्राज्य का स्वप्न विलीन हो गया। वास्तव में, जहां तक भारत का सम्बन्ध था, नैपोलियन के विध्वंसात्मक जीवन-क्रम ने विस्तार-शक्ति ही पैदा की, और यही वह शक्ति थी जिसके कारण लार्ड वेलेजली के महान् युद्ध हुए और वे युद्ध अनिच्छुक ब्रिटिश

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजनेताओं की दृष्टि में भी उचित प्रतीत हुए और लार्ड मिन्टो को एक विशुद्ध भारतीय नीति के स्थान पर एक एशियाई नीति अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा; जबकि नेपोलियन को, जैसा कि भावी घटनाएं सिद्ध करने वाली थीं, अपने जीवन के शेष वर्ष एक उस टापू के संकरे कारागार में बिताने थे जो कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ही टापू था।

खतरा दूर होने का खयाल पैदा होने से पहले जान माल्कम को, जो कि १७९९ में लार्ड वेलेजली द्वारा फारस भेजा गया था, गवर्नर-जनरल ने तेहरान भेज दिया और इंग्लैण्ड से गृह-सरकार ने भी, अपनी तरफ से सर ह्यारफर्ड जोन्स को रवाना किया। बहुत काफी गड़बड़ी और आपसी भद्दे झगड़ों का होना स्वाभाविक ही था; लेकिन अन्त में, भारत सरकार ने ब्रिटिश राजदूत द्वारा की हुई सन्धि स्वीकार की, जिसके अनुसार शाह अपने राज्य में से भारत पर आक्रमण करने वाली योरोपीय सेना को रोकने और अपने दरबार से फ्रांसीसी राजदूत को निकाल देने के लिए बंध गया, जिसके एवज में उसे यह आश्वासन मिला कि उसके देश पर किसी योरपीय देश का आक्रमण होने की स्थिति में आर्थिक और सैनिक सहायता दी जायगी।

इसी प्रकार के दौत्य के लिए माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिन्सटन को काबुल भेजा गया। वह हालांकि अफगानिस्तान में दाखिल न हो पाया क्योंकि काबुल के राजा शाह शुजा उससे पेशावर में ही मिलकर इस बात के लिए राजी हो गये कि यदि फ्रांसीसी और फारसी फौजें उनके देश से गुजरेंगी तो वह उनका मुकाबला करेंगे। लेकिन एल्फिन्सटन के वापस लौटने के पहले ही शाह शुजा घरेलू बलवे में गद्दी से उतार दिया गया, और अपने राज्यवंश के झगड़ों में नाहक ही ब्रिटिश समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। तीस साल बाद वह फिर गद्दी पर बैठाया गया, जिसका परिणाम स्वयं उसके अपने लिए और प्रजा पर उसके घृणित शासन को थोपने वालों, दोनों के लिए समान रूप से विनाशकारी सिद्ध हुआ। तीसरी सन्धि सिंध के अमीरों के साथ की गई जिन्होंने अपने राज्य से फ्रांसीसियों को निकाल देने का वादा किया।

यह सब संधियां कभी अमल में न आईं, क्योंकि १८१० तक फ्रांस और रूस आपस में फिर लड़ पड़े, और फ्रांसीसी संकट दूर हो गया। नेपोलियन ने जिन सेनाओं को पूर्व की विजय के लिए भेजने का स्वप्न देखा था, वे रूस के हिमपात में विलीन हो गईं। भारत सरकार अब रक्षा की कूटनीति से आक्रमण की कूटनीति का प्रयोग करने में समर्थ थी। न केवल पूर्व में फ्रांसीसी बस्तियों के खिलाफ ही बल्कि नेपोलियन के साथ अनिच्छापूर्वक संधि करने वाले अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध भी सफल युद्ध लड़े गए। फ्रांसीसी अधिकार में पुर्तगाल आते ही गोआ पर अधिकार कर लिया गया और चीन में मैकाओ नामक एक स्थान पर कब्जा किया गया जिसके फलस्वरूप चीनी साम्राज्य से कम्पनी का युद्ध छिड़ने की नौबत आ गई। फ्रांस के द्वीपों और बोरबों में अड्डा बनाने वाले फ्रांसीसी लड़ाई के जहाजों और निजी जहाजों ने अपने देश की प्रशंसनीय सेवा की और ब्रिटिश जहाजों को बहुत नुकसान पहुंचाया। बोरबों (१८१५ में लौटा दिया गया) और मौरिशस (स्थायी रूप से रखा गया) पर कब्जा कर लिया गया। डच लोगों से, जिनका देश उस समय नेपोलियन की दया पर निर्भर था, १८०६ में आशा अन्तरीप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमेशा के लिए छीन लिया गया । १८१० में एम्बोयना और स्पाइस द्वीप पर अधिकार किया गया, और अगले वर्ष लार्ड मिण्टो ने जावा पर, जो कि पूर्व में आखिरी डच अड्डा था, आक्रमण करने की गृह-सरकार से आज्ञा ले ली । सर सेमुअल ऑकमटी के सेनापतित्व में १२,००० सैनिकों को लेकर ९० जहाजों का एक बेड़ा जून मास में मलक्का में इकट्ठा हुआ । लार्ड मिन्टो भी इस सेना के साथ स्वयंसेवक के रूप में, पर वास्तव में, जीत के बाद नागरिक प्रशासन की व्यवस्था करने गये । नेपोलियन ने भी जावा द्वीप की रक्षक सेना को पुष्ट करने में कोई कसर न रखी और जनरल जान्सेन्स को, जो कि आशा अन्तरीप के युद्ध में अंग्रेजों से हार चुका था, इस चुनौती के साथ १७००० सिपाहियों का सेनापतित्व करने जावा भेजा कि 'फ्रांसीसी सेनापति दूसरी बार कभी नहीं हारता ।' अंग्रेजी फौज ने अगस्त मास में जावा पहुंच कर तुरन्त ही बाटाविया पर कब्जा कर लिया । मुख्य फ्रांसीसी सेना आठ मील दूर कार्नेलिस में मजबूत किलेबन्दियों के पीछे अपनी शंकाओं में ही फंसी रह गई । कर्नल जिलिस्पी ने अति दक्षता के साथ दुश्मन की किलेबन्दियों पर आक्रमण कर उसकी फौज को दस मील तक खदेड़ दिया । फ्रांसीसीयों ने ६००० सैनिक बन्दी जो कि अधिकांशतः योरोपीय थे, और ३०० तोपें इस लड़ाई में खोई । उन्होंने अपनी खाइयों के आसपास या मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हुए रास्ते में अपने १५०० मृत सैनिक छोड़े । अंग्रेजों के ९०० सैनिक बेकार हो गए जिनमें ८५ अफसर थे । जनरल जानसेन्स जावा द्वीप के पूर्वी भाग की ओर हट गये पर शीघ्र ही उन्हें हथियार डालने के लिए बाध्य होना पड़ा, और इस प्रकार हालैण्ड ने अपना समस्त पूर्वी साम्राज्य खो दिया । कम्पनी के डायरेक्टरों का हुक्म था कि यदि आक्रमण सफल हो तो उन डच किलेबन्दियों को ढहा कर अपनी फौजें वापस ले आनी चाहिएँ; लेकिन लार्ड मिन्टो ने, यह देखते हुए कि डच औपनिवेशिकवादियों को तंग आई हुई देशी जनता की दया पर छोड़ देना अमानुषिक कार्य होगा, उक्त आदेश पालन न करने का साहस और स्वतन्त्रता दिखायी । एक देशी राजा के खतरनाक बलवे को दबाकर उन्होंने जावा द्वीप का शासन सर स्टैनफर्ड रैफल्स के सुपुर्द किया, जिसका प्रशासन ब्रिटिश औपनिवेशिकवाद के इतिहास में एक उज्ज्वल अध्याय है । १८१४ में ब्रिटेन का पूर्वी राज्य, आशा अन्तरीप के सिवा, हालैण्ड को पुनः सौंप दिया गया, और १८१६ में जावा भी लौटा दिया गया ।

इन उल्लेखनीय सफलताओं ने लार्ड मिन्टो को सामरिक गौरव भी प्राप्त कराया । उन्हें अर्ल की उपाधि दी गयी और १८१३ में वह इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गए और घर पहुंचने के कुछ महीनों बाद ही उनकी मृत्यु हो गई । अपने कार्य से निवृत्त होते समय वे यह दावा करने की स्थिति में थे कि बुन्देलखण्ड में छोटी-मोटी लड़ाइयों के सिवा, देशी राजाओं के खिलाफ तलवार उठाए बिना ही उन्होंने भारत में एक सम्मानित शान्ति कायम रखी । लेकिन लक्षण दिखाई दे रहे थे कि उनके उत्तराधिकारियों को काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा । मध्यभारत में पिंडारियों जैसे एक जगह न टिकने वाले लुटेरों का उत्पात, नेपाल में गोरखों के आक्रमण और बर्मा द्वारा दिखायी गई उद्दण्डता से प्रकट हो रहा था कि अशांति और अराजकता का दौर फिर शुरू होने वाला है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २२

मराठा संघ की अंतिम पराजय, लार्ड हेस्टिंग्स

जिस वर्ष मोयरा के अर्ल (बाद में मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स) ने अपनी दीर्घ और उल्लेखनीय पदावधि आरंभ की, उसी वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास में एक नया चरण आरम्भ हुआ। १८०८ से कम्पनी के विधान (जो कि १० अप्रैल, १८१४ को समाप्त होने वाला था) के नवीकरण का प्रश्न उठा हुआ था और उनके प्रशासन के प्रत्येक अंग की जांच एक पार्लियामेंटरी कमेटी द्वारा की जा रही थी। बहुत कुछ स्पष्ट ही था कि न पार्लियामेंट और न लोकमत ही भारतीय व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार भविष्य में बर्दाश्त करेगा। इसके विपरीत, कम्पनी को उसकी राजनीतिक स्थिति से हटाने का इरादा न था, जिसके दो कारण थे। लोगों का खयाल था कि संचालक समिति, जो दलगत राजनीति से अलग थी, उन मंत्रियों की निस्बत, जो वोट खरीदने और अपने अनुयायियों का समर्थन प्राप्त करने के इच्छुक थे, भारत की नौकरियों में कम भ्रष्टाचार आने देगी; दूसरी ओर राजनेतागण भी केवल ऐसा ही संविधान चाहते थे जिससे उन्हें भारत के मामलों पर वास्तविक अधिकार प्राप्त हो, और साथ ही, अगर कोई गलती हो जाय तो उसकी बहुत कुछ जिम्मेदारी कम्पनी के कंधों पर थोपी जा सके।

संचालकों ने अपने अधिकारों के लिए डटकर मुकाबला किया, और जब उन्हें स्पष्टतया यह भी कह दिया गया कि लिवरपूल, ब्रिस्टल, हल आदि से भारत के लिए वस्तुओं के स्वतंत्र निर्यात को स्वीकार कर लिया जायगा, तो उन्होंने उग्रतापूर्वक तर्क किया कि भारत की सब आयातों को लन्दन की बन्दरगाह पर लाया जाना चाहिए। किन्तु बड़ी-बड़ी प्रान्तीय बंदरगाहों तथा निर्माण-कार्य करने वाले नगरों से इस प्रतिबंध के विरुद्ध अनेक दरख्वास्तें आईं, और अन्ततः यद्यपि चीन के व्यापार का लाभपूर्ण एकाधिकार संचालकों के पास ही रहने दिया गया तथापि भारत के व्यापार को मुक्त कर दिया गया। पार्लमेंट के दोनों सदनों में इस सारे प्रश्न की गहरी छानबीन की गई, और ८१ वर्ष के वृद्ध वारेन हेस्टिंग्स को गवाही देने के लिये बुलाया गया। ज्योंही वह पूज्य व्यक्ति भवन प्रतिवारक के सम्मुख, जहां वह चौथाई शताब्दी पूर्व अनेक थकावट पूर्ण वर्षों तक अपनी निन्दा, अपमान और गाली गलौज सुनता रहा था, अन्तिम बार उपस्थित हुआ और साक्षी देकर लौटा तो सदस्य स्वान्तः प्रेरणा से बारबार सम्मान प्रदर्शन के लिए खड़े हुए। उसकी गवाही परिवर्तन के विरुद्ध थी, इसीलिए, यद्यपि वह आदरपूर्वक सुनी गयी, परन्तु उसका श्रोताओं पर कोई प्रभाव न हुआ। वस्तुतः सारी जांच-पड़ताल दक्ष गवाही के मूल्य में एक उदासीन प्रशंसा सिद्ध हुई। लार्ड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तेन माऊथ मुनरो और मालकम आदि भारतीय मामलों के प्रमाणित अधिकारी एकाधिकार की समाप्ति के विरोधी थे और लार्ड वेलेजली भी कम्पनी के प्रशस्तिकार के रूप में प्रकट हुए। संचालकों ने राजनीतिक भविष्यवाणी के रूप में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन किया और चेतावनी दी कि यदि भारतीय व्यापार को मुक्त कर दिया गया तो यह उनका अपना सर्वनाश सिद्ध होगा, असैनिक और सैनिक सेवाओं का अन्त हो जाएगा, भारतीयों की शान्ति और प्रसन्नता संकट में पड़ जाएगी, एशिया में ब्रिटिश हितों को हानि पहुंचेगी और सुन्दर कल्पनापूर्ण घोषणा की कि इससे घरेलू विधान नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। इस विवाद में उठाया गया एक प्रश्न इस शृंखला में छोड़ा नहीं जा सकता। अन्तिम आश्रय के रूप में संचालकों ने भारत में यूरोपियन उपनिवेश बसाने के भय को खूब रंग चढ़ा कर चित्रित किया। व्यापारी, एजेण्ट, शिल्पी और श्रमिक पूर्व में जमा हो जाएंगे और उस देश में बस जाएंगे। यह उपनिवेशवादी उत्तरी अमेरिकन राज्यों के उदाहरण की तरह अंत में स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेंगे और भारत ग्रेट ब्रिटेन के हाथ से निकल जाएगा। इस प्रकार का भय केवल अपना हित देखने वाले विवादियों की जोशपूर्ण कल्पना में ही था और यूरोपियनों का उस देश में प्रवास संविधि द्वारा अब भी बहुत कठोरतापूर्वक सीमित किया हुआ था। कोई भी व्यक्ति कम्पनी अथवा नियंत्रण बोर्ड से लाइसेंस प्राप्त किये बिना भारत न जा सकता था; भारत सरकार यदि उचित समझती तो उन्हें वापिस इंग्लैण्ड भेज सकती थी और उन पर यह नियम लागू था जिसके द्वारा यूरोपियनों को भूमि के रूप में संपत्ति बनाने से रोक दिया गया था। १८१४ के पश्चात् १८ वर्ष की अवधि में वस्तुतः उपनिवेश बसाने की दिशा में इतना कम कार्य किया गया कि कम्पनी की सेवा के अतिरिक्त लाइसेंस लेकर भारत जाने वालों की संख्या कुल १३२४ थी। इस सम्बन्ध में कामन्स में सबसे महत्त्वपूर्ण भाषण कैनिंग ने किया। उन्होंने दोनों ओर के अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्यों पर तीखे हास्य और विशुद्ध तर्क से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि अधिनियम के अधीन प्रवासी संभवतः कुछ बर्तन बेचने वाले और जरूरतमंद चाकू छुरी तेज करने वाले होंगे और उनके लिए अत्यन्त प्राचीन पूर्व की पृष्ठभूमि में अमेरिकन आदर्श पर औपनिवेशिक विद्रोह करना असंभव होगा। सामंत सभा में अर्ल ग्रेनवाइल तो कंपनी पर सरकारी आक्रमण से भी आगे बढ़ गये और उन्होंने अपने भाषण में अपूर्व दूर दृष्टि से एक ऐसी योजना रखी जो आने वाली पीढ़ियों के लिए पूर्वकालिक सुलझाव थी। उन्होंने कहा कि कम्पनी को आधे विश्व के व्यापार और ६ करोड़ व्यक्तियों पर सर्वोच्चता के विशेषाधिकारों की २० वर्ष की अवधि और विशेष रूप से उस समय जबकि नेपोलियन सदृश युद्धों में ब्रिटिश साम्राज्य का भाग्य दाव पर है, बहुत लम्बी है। जो भी योजना अपनायी जाए वह शान्ति स्थापित होने की अवधि तक सीमित की जाए। उनका विश्वास था कि सम्राट् को निश्चितरूप में कम्पनी से राजनीतिक और क्षेत्रीय अधिकार लेने चाहिएं क्योंकि "किसी सम्राट् ने कभी लाभ के लिए व्यापार नहीं किया और न किसी व्यापारिक कम्पनी ने उसकी प्रजा की प्रसन्नता के लिए शासन-प्रबन्ध चलाया।" भारत में उच्च पद क्रियात्मक रूप से पहले ही सम्राट् की भेंट स्वरूप हैं और असैनिक सेवा में नियुक्तियां जनविद्यालयों और विश्वविद्यालयों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से साम्मुख्य द्वारा हों। कम्पनी की सेनाओं को सम्राट् की सेवा में ले लिया जाए और भारतीय मण्डियां ब्रिटिश पूंजी तथा व्यापार के लिए बिना किसी रुकावट के लिए खुली हों। परन्तु लार्ड ग्रेनवाइल की बात अपने समय से आधी शताब्दी पूर्व की थी। अन्ततः चार्टर एक्ट पास हुआ और अप्रैल १८१४ से भारत सरकार में कम्पनी की पुष्टि और भारत से व्यापार मुक्त कर दिया गया परन्तु चीन से लाभदायक व्यापार पर उसका एकाधिकार रहने दिया गया। प्रतिवर्ष शिक्षा, साहित्य और विज्ञान के प्रोत्साहन के लिए थोड़ी राशि (१० हजार पौंड) नियत की गयी। अनेक वर्ष तक इस धन का उचित रूप में प्रयोग नहीं हुआ परन्तु इस अधिनियम की धारा से प्रकट होता है कि सरकार ने भारतीय जनता के नैतिक और बौद्धिक उत्थान के प्रति अपने कर्त्तव्य को स्वीकार किया।

अर्ल आफ मोयरा साठ वर्ष की आयु में भारत आये। वे लार्ड वेलेजली की नीति के विरोधी थे, तो भी उन्हें भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का तानाबाना, उसी रूप में पूर्ण करने का काम दिया गया जैसा उसके महान् पूर्वाधिकारी की योजना थी।

उन्हें सबसे पूर्व बंगाल और अवध की उत्तरी सीमा पर स्थित, सतलुज से सिक्किम तक सात सौ मील लम्बे और १३० मील औसत चौड़े हिमालय की बर्फ से ढकी तराइयों तक चले जाने वाले देश नैपाल की समस्या से सुलझना था। यहां के मंगोलियन नस्ल के मूलनिवासियों को, अपने को राजपूत कहने वाले एक हिन्दू वंश ने जीत लिया था और कुछ सीमा तक उनमें मिलजुल गये थे। प्लासी युद्ध के लगभग दस वर्ष पश्चात् एक गोरखा कबीले ने अपने शक्तिशाली राजा के अधीन दूसरे शासक फिरकों को अपने वश में कर लिया और सारी जाति का नाम अपने नाम पर चालू कर दिया। गोरखा बहुत शूरवीर और योद्धा थे। उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि उनका पहाड़ी घर उनके लिए बहुत छोटा है। उत्तरी सीमा की ओर विशाल चीनी साम्राज्य द्वारा आक्रमण रोक दिये जाने पर वे उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल और अवध की अनिश्चित सीमाओं की ओर बढ़े तथा इस समय तक उन्होंने अपने दक्षिणी मैदान में कुछ जिलों पर अधिकार कर लिया था, जिन पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का दावा था। उन्होंने पीछे हटने से इन्कार कर दिया और नवम्बर १९१४ में आक्रमण आरम्भ हो गए।

अर्ल आफ मोयरा द्वारा चालित प्रथम युद्ध उनके मराठा राज्यों के विरुद्ध किये अनेक महान् युद्धों से बहुत ही विपरीत था। उन पर युद्ध की विचित्र कठिनाइयों को न समझने का दोषारोपण किया जाता है परन्तु यह याद रखना चाहिए कि युद्धों की दृष्टि से नैपाल संसार भर में बहुत कठिन देश है, भारत के सिखों को छोड़ गोरखा बहुत अच्छे योद्धा होते हैं और इस युद्ध में जिन सेनाओं ने भाग लिया है उन्हें पर्वतीय प्रदेश में युद्ध करने का अनुभव न था जिससे उन्हें सहायता मिलती तथा अचरलोनी को छोड़ अन्य नायकों ने भी अयोग्यता का प्रदर्शन किया। इस तथ्य के बावजूद कि जबकि गोरखा लोग बारह हजार से अधिक सेना न जुटा सके, आक्रमण करने वाली सेना की संख्या ३४ हजार थी, तो भी यह युद्ध संहारक रूप में असफल रहा था। जावा युद्ध का वीर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनरल गिलेस्पी एक पहाड़ी किले के प्रारम्भिक आक्रमण में ही पीछे धकेल दिया गया और मार दिया गया। पल्पा और राजधानी काठमाण्डू के मध्यवर्ती आक्रमण में जनरल मार्टिण्डल को जीतक पर रोक दिया और पीछे खदेड़ दिया गया, केवल अचरलोनी ही पश्चिमी नैपाल के आक्रमण में अपना मोर्चा संभाले रखने में सफल हुआ । इस वर्ष में कुछ समय पश्चात् अधिक सफलता मिली और दिसम्बर १९१५ में शासक मुखियाओं के दूतों ने कुछ क्षेत्रों को त्याग देने और काठमांडू में ब्रिटिश प्रतिनिधि के निवास की संधि को स्वीकार कर लिया। यद्यपि लार्ड मोयरा को अपनी शर्तें नरम करने के लिए कहा गया परन्तु केन्द्रीय सरकार ने अपने विशेषाधिकार प्राप्त दूतों के कार्य को अस्वीकार कर दिया और युद्ध फिर आरम्भ हो गया । इस बार अचरलोनी मुख्य सेनापति था और वह कठिन युद्ध के बाद राजधानी की ओर ५० मील अन्दर तक बढ़ा। उस समय गोरखा सरदारों ने मार्च १९१६ की सागौली की संधि को स्वीकार करने की घोषणा की। गवर्नर-जनरल इस सन्धि को स्वीकार करने में बहुत ही प्रसन्न हुआ और कठोर दंड देने का यत्न न किया गया। दोनों पक्षों ने एक दूसरे के युद्ध-कौशल को स्वीकार किया। ब्रिटिश साम्राज्य को जो प्राप्ति हुई वह कम महत्त्वपूर्ण न थी । गोरखा लोगों ने अपनी दक्षिणी सीमा के साथ तराई में अपने अधिकांश दावों का त्याग कर दिया । नेपाल के पश्चिम के कुमाऊं और गढ़वाल प्रान्त समर्पित कर दिये गये तथा ब्रिटिश भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी का स्थान, शिमला प्राप्त हुआ । कम्पनी का प्रभुत्व उत्तर-पश्चिमी सीमा के पर्वतों तक पहुंच गया । मध्य एशिया के क्षेत्रों के नवीन मार्ग खुले; अब तक के अज्ञात देशों का भूगोल में समावेश हुआ ; कुछ अगम्य भागों में विज्ञान ने प्रकृति की शानदार और अनोखी बातों का अन्वेषण किया ।.....अनेक ऊंचे पर्वतों पर मार्ग बनाये गये, पहाड़ी नद, नालों पर पुल बने, छावनियां बनीं जो बाद में नगरों के रूप में परिवर्धित हो गयीं और मानव-जीवन की हलचल ने एकान्तवनों के मौन और अविचल पहाड़ों की चिरनिद्रा को भंग किया।"[1] सिक्किम के राजा के साथ सुरक्षात्मक संधि के कारण नैपाल और भूटान की पूर्वी सीमा के मध्य एक निश्चलता व्याप्त हो गयी। अन्य आदिवासी रियासतों के असमान नैपालियों ने एक बार ब्रिटिश सत्ता की अवज्ञा के अतिरिक्त उसके बाद से कभी मित्रतापूर्ण स्वतन्त्र दृष्टिकोण न छोड़ा ।

युद्ध समाप्त हो गया था और गवर्नर-जनरल, अब मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स, जिसका धैर्य और स्थिरचित्त वृत्ति युद्ध के समय कभी-कभी नष्ट हो जाती थी, को सांस लेने का अवसर मिला। एक समय ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतीय शक्ति अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित हो रही है । गोरखा लोगों ने सिंधिया, रणजीतसिंह, पिण्डारी सरदारों और ब्रह्मा तथा चीनी साम्राज्य की राजधानियों में दूत भेजे। पहले प्रथम असंतोषपूर्ण संघर्षों के पश्चात् जब ब्रिटिश सेनाएं पर्वतीय प्रदेश में घिर गयीं तो मराठा राज्यों और स्वतन्त्र समुदायों के पठान नेता अमीर खान ने अवसर से लाभ उठाने का यत्न किया और हमारे महान् साथी सिखों ने भी संभवतः हमारी असमर्थता में संदेह करते हुए,

1. The History of British Indies, H. H. Wilson, Vol. II, P. 59.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

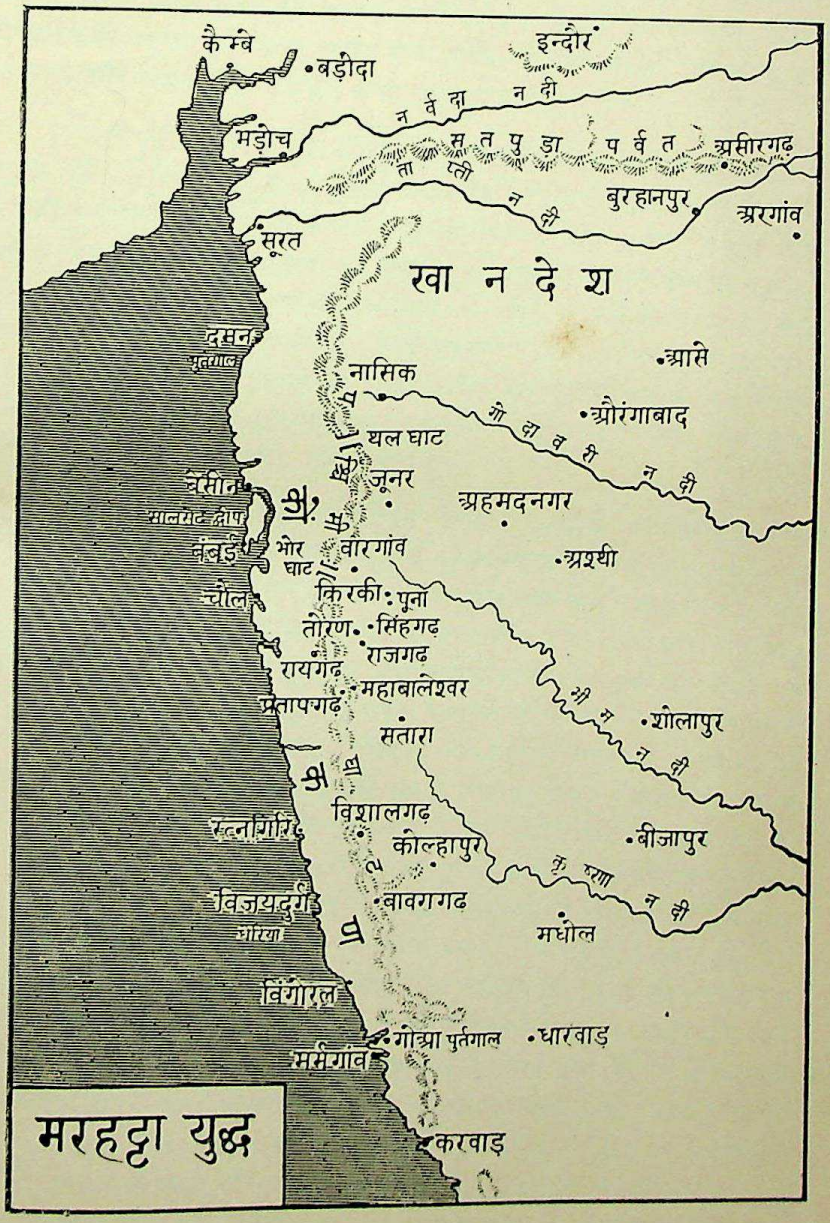

मरहट्टा युद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सतलुज के किनारे वीस हजार सेना एकत्र कर ली।

भारत सरकार ने कण्ट्रोल वोर्ड के नये प्रधान जार्ज कैनिंग की अनुमति से पठानों और पिण्डारी झुण्डों को वश में करने का यत्न किया। इन लोगों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा परिधि से बाहर मध्य भारत में किसानों के लिए नरक बना रखा था और बाद में वे ब्रिटिश क्षेत्र में भी आक्रमण करने लगे थे।

पहले पहल पिण्डारी लोग दक्षिण में औरंगज़ेब और शिवाजी के युद्धों में सुनाई दिये। वे विना वेतन के अनियमित सेना और झड़प करने वाले के रूप में मराठा सेनाओं के अनुवर्ती थे और शत्रु के क्षेत्र में लूट से निर्वाह करते थे। उनमें से कुछ पठान वंश के थे परन्तु यह ऐसे व्यक्तियों का समुदाय था जिनकी आशाएं भग्न हो चुकी थीं और १९वीं शताब्दी के आरम्भ से सिंधिया ने उनके नेताओं को नर्बदा के निकट मालवा में बसने की आज्ञा दे दी थी। लार्ड वेलेजली के युद्धों से संत्रस्त मराठा राज्य १८०५ के बाद से प्रायः शान्तिपूर्वक थे। पिण्डारी लोग युद्ध की उत्तेजना के बिना केन्द्रीय भारत में दूर-दूर स्थानों पर आक्रमण करते। इनमें केवल लूटमार होती और किसानों को कष्ट और अत्याचार का शिकार होना पड़ता।

हस्तक्षेप न करने की नीति को छोड़ने पर पिण्डारी लोगों के प्रति कोप ने ही सबसे अधिक विवश किया। उनके आक्रमण अधिक से अधिक साहस और अत्याचारपूर्ण हो रहे थे। १८१२ में वे बुन्देलखंड में घुस आये और कुछ समय तक उन्हें बाहर रखने का यत्न वहां से लेकर केम्बीरवाड़ी तक किलेबन्द चौकियों की पंक्ति द्वारा किया गया। यह अनुभव न तो आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त था और न प्रभावपूर्ण। १८१५ और १८१६ में उन्होंने निजाम के राज्य को लूटा और उसके आगामी वर्ष स्वेच्छा से उत्तरी सरकारों को। यह अन्तिम आक्रमण था जिसमें इंग्लैण्ड में अधिकारियों और कलकत्ता कौंसिल का धैर्य टूट गया। गवर्नर-जनरल बहुत देर से युद्ध के लिए कह रहे थे। अन्त में स्वेच्छा से कार्य का अवसर मिलने पर दूरदर्शितापूर्ण और उचित तैयारियां कीं। पिण्डारियों को मालवा में घेरने के लिए ११३,००० सैनिक और ३०० तोपों की सेना तैयार की गयी। सेनाएं हिन्दुस्तान सेना (चार-डिवीजन) जिसका नेतृत्व वह स्वयं कर रहे थे और सर थामस हिस्लोप के अधीन दक्षिण की सेना के रूप में विभक्त थीं। लुटेरों की सेना को घेरने और नष्ट करने के लिए ऐसी सेना बहुत अधिक प्रतीत हो सकती है परन्तु वह यह अनुभव करता था कि कार्नवालिस के विचारों पर आधारित रामभरोसे रहने की नीति को परिवर्तित किया जाए क्योंकि वह प्रत्येक मराठा राज्य में एक शक्तिशाली सेना समझता था जो उसके सेनापतियों की असफलता की ताक में थी। उसकी सेना की एक पांत का मुंह जिसने लुटेरों को घेरना था, घेरे के अन्दर की ओर था जबकि एक ओर रक्षा चक्र उसके चारों ओर था, परन्तु उसका मुंह बाहर को था और उसका कार्य मराठा रियासतों द्वारा लुटेरों की सहायता को रोकना था। उसने पहले ही विचार कर जो कुछ किया वह औचित्यपूर्ण था। "पिण्डारियों का पीछा तृतीय मराठा युद्ध के रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में संयुक्त हो गया।"[1] यद्यपि अन्तिम रूप में उसे सफलता मिली, परन्तु उसके पास न तो अधिक आदमी ही बचे और न तोपें। जो शब्द ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनसे युद्ध की उलझन का वास्तविक ज्ञान और दो प्रमुख घटनाएं स्पष्ट प्रकट होती हैं। एक तो केन्द्रीय भारत में पिण्डारी समूहों पर सेनाओं का एक केन्द्र में संयुक्त होना और सिंधिया, होल्कर, भोंसले और पेशवा की पराजय अथवा तटस्थीकरण।

गत दो वर्ष से पूना की ओर से भयंकर संकट का भय था। अपने वंश में से अत्यन्त अधर्मी और डरपोक पेशवा त्र्यंबक जी नामक एक विवेकशून्य मंत्री के प्रभाव में आ, अपने आपको मराठा संघ का मुखिया बनाने के लिए चालें चल रहा था। जुलाई १८१५ में बड़ोदा के गायकवाड़ का मंत्री जो दो मराठा सरकारों के दावों और प्रति-दावों के निपटारे के लिए ब्रिटिश सुरक्षा में पूना गया तो उसकी हत्या कर दी गयी। त्र्यम्बक जी का अपराध तो स्पष्ट था और पेशवा के सहयोग का दृढ़ संदेह किया गया। सौभाग्य से इस संकट के समय पूना में रैजीडेंट माऊण्ट स्टूअर्ट एलफिन्सटन था जिसमें विद्वत्ता, कूटनीतिज्ञता और कार्यपरता के गुणों का समन्वय था। उसने शीघ्र ही त्र्यंबक जी को बंदी बनाने की मांग की और छल-कपट के बाद पेशवा को सितम्बर १८१५ में उसे ब्रिटिश अधिकारियों को सौंपने का साहस किया। एक वर्ष पश्चात् त्र्यंबक जी बंदी-गृह से रोमांचकारी रूप में भाग गया और फिर न मिला, यद्यपि इस बात का दृढ़ संदेह रहा कि पेशवा का उससे संबंध है। इसी मध्य पेशवा अपनी सेनाओं को एकत्र करता रहा। उसका आचरण इतना कपटपूर्ण था कि एलफिन्सटन ने उसे खुले युद्ध की धमकी दी और १३ जून १८१७ को एक अधिक कठोर सहायक संधि पर हस्ताक्षरों के लिए विवश किया। उसमें मराठा राज्यों में उसकी सर्वश्रेष्ठता के दावों का परित्याग करने की बात भी थी। हेस्टिंग्स ने लिखा है, "निरंतर अपनी सुरक्षा के लिए हमारे पास और कोई विकल्प न था कि यदि हम उसे गद्दी पर रहने दें तो उसे पूर्णतया अपंग बना दें।" एक वर्ष पूर्व (मई १८१६) उसकी प्रार्थना पर नागपुर के अशक्त राजा, जो अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए ब्रिटिश बंदूकों पर इतना आश्रित था कि वह उसको सेना को सुरक्षा में रहने के लिए राजधानी छोड़ कैम्प में आ बसा था, की ओर से अप्पा-साहिब से सहायक सन्धि की गयी।

इसीलिए जब जुलाई १८१७ को गवर्नर-जनरल अपने महान् अवगुण्ठीकरण कार्य के लिए कलकत्ता से चला तो उसने अनुभव किया कि सतलुज के दक्षिण की ओर भारत में अंग्रेजों को सर्वोच्च सत्ता न मानने और अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को नष्ट करने के अधिकार को स्वीकार करने में दोनों मराठा राज्य दोषमुक्त नहीं। सिंधिया लुटेरों के अन्त के प्रति बहुत बेचैन था क्योंकि आंशिक रूप में उसने उनकी सुरक्षा की थी। लार्ड हेस्टिंग्स ने उसकी संदिग्धता को और अवसर न दिया। यमुना पार करके वह ग्वालियर की ओर बढ़ा। उसने सिंधिया से यह स्पष्ट कर दिया कि

1. The Oxford Student's History of India, By Vincent A. Smith, p. 204.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब हस्तक्षेप न करने के दिन समाप्त हो गये और ब्रिटिश सरकार मालवा तथा राजपूताना की रियासतों को अपने संरक्षण में लेना चाहती है। ५ नवम्बर १८१७ को क्रियात्मक रूप से विवश हो सिंधिया ने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके आधीन वह पिण्डारियों को सहायता न देने और सुरजी-अर्जनगांव की संधि की उस धारा को त्याग देने पर विवश हुआ जिससे राजपूत सरदारों से अंग्रेजों की संधि में उसे रुकावट डालने का अधिकार था। राजपूतों ने प्रसन्नता और स्वेच्छा से ब्रिटिश संरक्षण का स्वागत किया तथा जयपुर, उदयपुर, जोधपुर और बूंदी आदि सहित १९ राजपूत रियासतों ने दिल्ली में मैटकाफ से संधियां कीं।

जिस दिन सिंधिया को संशोधित सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर करने को विवश किया गया, उसी दिन पेशवा ने अन्तिम विद्रोह किया और यह आशा की कि सभी मराठा राज्य इस उदाहरण का अनुकरण करेंगे। ब्रिटिश रैजीडेंसी पर आक्रमण किया और उसे स्वाहा कर दिया गया। एलफिन्स्टन भाग गया और उसने अपनी सेनाओं को एकत्र किया, यद्यपि उसकी सेनाएं भयावह रूप से संख्या में अधिक थीं परन्तु उसने शत्रु को बड़ी वीरता से किरकी में पराजित कर दिया। पेशवा दक्षिण की तरफ भाग गये और अपने को शिवाजी के वंशज सतारा के राजा के रूप में नामधारी स्वतन्त्र कहते रहे। उनका पीछा किया गया और उन्हें अनेक युद्धों में पराजित किया गया। बरार में घुसने के व्यर्थ प्रयत्नों में इधर उधर भागने के कारण कई मास तक वे पकड़े जाने से बचते रहे। मध्य प्रान्त की मराठा रियासतें स्वयं बड़ी कठिन स्थिति में थीं। नागपुर में अप्पा साहिब, जो वहां के राजा की हत्या कर गद्दी पर बैठ गये थे. इन्दौर में होल्कर, अथवा उसकी सरकार ने, क्योंकि वह अभी अल्पवयस्क था, मूढ़ता से उस समय विद्रोह किया जबकि ब्रिटिश सेनाओं का घेरा उनके निकट आता जा रहा था। उन्होंने निराश हो युद्ध किया, परन्तु व्यर्थ था। नागपुर रैजीडेंसी की सेनाओं ने २७ नवम्बर को सीतावाल्डी पहाड़ी की लड़ाई को वीरता से जीता। होल्कर की सेनाएं २१ दिसम्बर को मेहिदपुर में बुरी तरह कुचल दी गयीं। दोनों रियासतों को संधि करने के लिए विवश होना पड़ा जिससे उनका बहुत-सा क्षेत्र उनसे छिन गया और क्रियात्मक रूप से उन्हें दास बना दिया।

इसी मध्य ब्रिटिश कैम्प में भयंकर हैजा फूट पड़ने और मराठा विद्रोहों के कारण विकर्षण पर भी आग और लोहे का चक्र पिण्डारियों के अधिक निकट होता जा रहा था। पहले वे उत्तर की ओर लपके परन्तु उन्हें ग्वालियर से दूर भगा दिया गया तथा दक्षिण पूर्व की ओर घेर लिये गये। इनमें से बहुत से मार दिये गये और अनेक तितर-बितर हो गये परन्तु उनके आश्चर्यपूर्ण युद्ध-चातुर्य के कारण उनमें से कुछ को बच निकलने से न रोका जा सका। इस युद्ध में बहुत पहले ही पठान नेता अमीर खान, जिसके पास नियमित सेना और १५० तोपें थीं, अपनी सेनाएं टोंक का नवाब स्वीकार कर लिये जाने पर भंग करने पर विवश कर दिया गया। एक पिण्डारी नेता को गोरखपुर में जमींदारी दी गयी परन्तु अधिकांश ने दासत्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। सबसे धूर्त चितू का शिकार जंगल में हुआ और एक व्याघ्र ने उसे खा लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तिम युद्ध पराजित मराठा राज्यों के भगोड़े के विरुद्ध था। कोरे गांव और आष्टी में उसके नायक गोकला द्वारा दो भयंकर युद्धों के बाद, अनेक बार अपने पीछा करने वालों को सताने और बचने के बाद पेशवा ने १८ जून को सर जान माल्कम को आत्म-समर्पण कर दिया जबकि इस महान अधिकारी ने बड़ी उदारता से इस भगोड़े को ८० हजार पौंड वार्षिक पेन्शन देना स्वीकार कर लिया। यह बात गवर्नर-जनरल के लिए बड़ी निराशापूर्ण थी। इसके पश्चात् भूतपूर्व पेशवा कानपुर से उत्तर-पश्चिम में १२ मील दूर बिठूर में रहने लगे, जिस नगर को उनके अयशस्वी दत्तक पुत्र नाना साहिब ने मानव अपराधों में निन्दनीय कार्य द्वारा अपवित्र कर दिया। दो सौ मील दूर बनारस के निकट चुनार के किले में उसका साथी त्र्यंबक जी अपने पापों का प्रायश्चित्त कर रहा था।

पेशवा का पीछा करने में सतारा का अभागा राजा अंग्रेजों के हाथों पड़ गया। भारत सरकार ने मैसूर के मामले में वेलेजली द्वारा अनुसृत मार्ग अपना शिवाजी के वंश के प्रतिनिधि के रूप में, बाजीराव के किले-बंदी युक्त राज्य में से छोटा-सा सामन्त राज्य बनाकर उसे दे दिया। उसे विधिवत् ११ अप्रैल १८१८ को सतारा के राजा के रूप में गद्दी पर बिठा दिया गया। यह सिद्धान्त अपने परिणाम के कारण उचित सिद्ध न हुआ; पुनर्स्थापित वंशों का राज्य एक बुराई और अयोग्य सिद्ध हुआ और सतारा एक रियासत थी जहां डलहौजी ने लाप्से सिद्धान्त को' अपनाया, परन्तु, यदि भारत सरकार ने कोई भूल की तो वह उदारता की दिशा में थी। पुराने वंशों की पुनर्स्थापना के विकल्प में सर थामस मनरो का एक मनोरंजक विकल्प यह था कि कंपनी स्वयं पेशवा का पद संभाले जैसा कि बंगाल में वह दीवान के रूप में काम करती रही है।

बरार के भोंसले राजा अप्पा साहिब जिन्हें सीतावाल्डी के पश्चात् क्षमा कर दिया गया था और राज्य दे दिया गया था, गद्दार सिद्ध हुए और उनका राज्य उनके घर के दूसरे सदस्य को सौंप दिया गया। वह ब्रिटिश संरक्षण में से भाग गये और महादेव पहाड़ियों में गौंड आदिवासी जातियों में सेना में से बचे हुए लोगों को एकत्र करने लगे। आरम्भ में उन्हें कुछ सफलता मिली परन्तु उनकी सेना भंग कर दी गयी और वह पहले जोधपुर के राजा के पास भागे और उसके पश्चात् रणजीतसिंह के पास। ब्रिटिश सरकार ने शरण देने की आज्ञा दे दी, परन्तु वह क्रियात्मक रूप में बन्दीगृह में ही था। मार्च १९१९ में असीरगढ़, जहां के सेनापति ने अप्पा साहिब को सहायता दी थी, के पतन के साथ युद्ध की हलचल बन्द हो गयी।

भारत की राजनीतिक स्थिति में एक महान् क्रान्ति हुई। इन गहन और उलझनपूर्ण संघर्षों का परिणाम संक्षेप में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

पिण्डारी लोग समाप्त हो गये। सिंधिया ने अपनी सुरक्षा का यत्न छोड़ दिया और उसे किसी हानि पहुंचाने के अयोग्य बना दिया गया। होल्कर के पास अपने मूल राज्य से आधा रह गया। नागपुर को क्षेत्रीय रूप में दण्ड दिया गया और एक दास की स्थिति में रह गया। पेशवा को गद्दी से उतार दिया गया और वंशानुगत पद समाप्त कर दिया गया। जिलों को छोड़ उसका राज्य सतारा के राजा को दे दिया गया जो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाद में बम्बई प्रैजीडेंसी का अंग बना । ब्रिटेन के कुछ शत्रुओं को पेन्शनर अथवा बन्दी के रूप में कलकत्ता की पहुँच के निकट रख दिया गया। राजपूत राज्यों के प्राचीन घरानों को उसका संरक्षण मिला और उसका राज्य कुमारी अंतरीप से सतलुज के किनारे तक विस्तृत हो गया । सतलुज के दूसरी ओर सिखों का सैन्य-समूह अपनी उन्नति के शिखर पर था तथा इसके योग्य शासक के नियन्त्रण में मित्र और सहयोगी के रूप में विद्यमान था। ऐसी शान्ति और व्यवस्था जो मुगल साम्राज्य के महान् दिनों के पश्चात् देखने में नहीं आयी, मध्य प्रान्त में स्थापित हो गयी ।

सम्भवतः इस युग में, ब्रिटिश नीति के मृदुकरण में सदा न्याय नहीं हुआ । सहिष्णुता और दृढ़ता का शायद ही कभी ऐसा अच्छा सम्मिश्रण हुआ हो । पेशवा और अप्पा साहिब आदि बुरे शासकों को बार-बार संभलने और सुधार का अवसर दिया गया। पिण्डारियों के लुटेरे नेताओं को जो शर्तें पेश की गयीं, उन्हें अत्यधिक मृदु कहा जा सकता है। असीरगढ़ के पतन से सिंधिया की ओर से विश्वासघात के षड्यन्त्र का पता चला जिसके कारण उसका गद्दी से उतारा जाना भी उचित सिद्ध होता और यदि वेलेजली गवर्नर-जनरल होता तो हम उन दिनों का अनुमान लगा सकते हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता सीमित कर दी गयी होती, परन्तु हेस्टिंग्स ने उसके प्रति घृणायुक्त मौन बनाये रखा।

लार्ड हेस्टिंग्स के युद्ध की स्थिति के शासन-काल में भी कुछ असैनिक और प्रबन्ध सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए । किसी गवर्नर-जनरल के पास अब तक इतने चतुर चार सहयोगी न थे, जैसे सर जान माल्कम, सर थामस मनरो, माऊण्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन और सर चार्ल्स मैटकाफ । और इन चारों ने भारतीय इतिहास में अपने चरित्र की छाप छोड़ी । प्रान्तों में एलफिंस्टन के शान्ति-स्थापन से पेशवा जीते जा सके और मनरो का मद्रास के भू-राजस्व का रैयतवारी प्रबन्ध, ऐसा बन्दोबस्त जिसका सीधा सम्बन्ध किसान से हो और बीच के दलाल की आवश्यकता न हो, यह दो चीजें उस समय के ब्रिटिश शासन के स्मारक हैं । पूना में एलफिंस्टन को सतारा के रैजीडेंट ग्राण्ट डफ का समर्थन प्राप्त था, और इस प्रकार अनोखे दैव योग से दो महान् इतिहासज्ञ एक ही प्रान्त में शासनसम्बन्धी कार्यों में लगे हुए थे ।

बंगाल में न्यायालयों में भीड़-भड़क्के की स्थिति के कारण कुछ कानूनी सुधार किये गये । दीवानी मुकदमों में कार्यवाही बहुत संक्षिप्त कर दी गयी जबकि फौजदारी सम्बन्धी मामलों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ । लार्ड कार्नवालिस का यह नियम, कि कलक्टर और मजिस्ट्रेट का कार्य किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जाना चाहिए, की कई क्रियात्मक हानियां थीं । प्रबन्धाधिकार और न्यायाधिकार का पूर्ण पृथकत्व उत्तम रूप से संगठित अवस्था पर ही लागू होता है । आदिम सभ्यता की अवस्था में तो दोनों काम एक ही अधिकारी को सौंपना लाभदायक सिद्ध हो सकता है बशर्ते कि अधिकारियों का विश्वास किया जाए । अब से लार्ड कार्नवालिस द्वारा लगायी गयी पाबन्दी समाप्त कर दी गयी । संभवतः लार्ड हेस्टिंग्स ने साधारणतः यह अनुभव किया कि कम्पनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के सेवकों की नयी पीढ़ी अपनी उच्च परम्परा के कारण उन आकर्षणों के प्रति श्रेष्ठ सिद्ध होगी जिनके शिकार उसके पूर्वाधिकारी हुए। जहां अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि स्थायी बन्दोबस्त के कारण खेतिहर को बहुत श्रम करना पड़ता है और वह बहुत दुःखी है, वहां उनके अधिकारों की रक्षा के लिए प्रयत्न किये गये। उन्हें कुछ ऐसे परम्परागत भूमि पर दखल के अधिकार प्रथागत लगान देते रहने की अवस्था में दिये गये और यह लगान स्वच्छन्द रूप में बढ़ाया भी न जा सकता था।

देशी लोगों की शिक्षा के लिए कलकत्ता के निकट वर्नाकुलर स्कूलों की स्थापना से देशी लोगों की शिक्षा का श्रीगणेश किया गया और सिररामपुर के ईसाई प्रचारकों ने प्रथम समाचार-पत्र देशी भाषा में प्रकाशित करना आरम्भ किया। भारत की वित्त-व्यवस्था बहुत उन्नत थी, शासन-व्यवस्था पर निजाम सरकार से विलियम पालमर एण्ड कम्पनी के सन्देहपूर्ण लेनदेन का ही एक धब्बा था। उनकी ओर से निजाम को ऋण देने की स्वीकृति गवर्नरजनरल ने दे दी थी परन्तु प्रश्न इस बात का था कि क्या उनका यह कार्य देशी राज्यों से यूरोपियनों के आर्थिक व्यवहार न करने के संसद के नियम का भंग करना नहीं है। लार्ड हेस्टिंग्स पर केवल यही एक आरोप किया जा सकता है कि उसने इस मामले की ब्योरेवार जांच न की और अनेक अच्छाइयों के होने पर भी उस पर यह धब्बा लगा। संचालकों ने नेपाली युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ६० हजार पौंड की राशि पहले ही स्वीकार कर दी थी, परन्तु इस समय के बाद से उससे उनके सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गये—यद्यपि वे उसके ध्येय की सत्यता को स्वीकार करते थे। उसने १८२१ में पद-त्याग किया परन्तु वास्तविक रूप में प्रथम जनवरी १८२३ तक काम न छोड़ा।

लार्ड हेस्टिंग्स ने एक महान् और आवश्यक कार्य की पूर्ति की। उसकी भौतिक सफलता लार्ड वेलेजली की सफलता की तुलना में चुनौती हो सकती है, परन्तु निश्चय ही वह न इतना महान् था और न प्रभावशाली व्यक्ति। उसके शासन-प्रबन्ध की सफलता का अधिकांश श्रेय उसके सहयोगी व्यक्तियों को था जिन्हें उसके महान् पूर्वाधिकारी ने प्रशिक्षित और प्रेरित किया था। हेस्टिंग्स में लार्ड वेलेजली जैसी न महत्ता, न वक्तृत्व शक्ति और न मौलिकता थी; उसके आदरणीय चरित्र में एक अहंकार की भावना थी और इस बात के चिह्नों की कमी न थी कि यदि परिस्थिति इससे उलट होती तो वह वेलेजली जैसी स्थिरता न दिखा सकता और न अपने पराजित जनरलों के प्रति ही ऐसा विचार रख सकता। इसके विपरीत उसने भारत में युद्ध-सम्बन्धी अपूर्ण कार्य को पूर्ण किया जिसमें २८ लड़ाइयां लड़ी गयीं और १२० किलेबन्दियों पर बिना पीछे हटे कब्जा किया गया। वह लार्ड वेलेजली की अपेक्षा कम साहसी और उद्धत देशी नरेशों के प्रति कम कठोर था तथा उनके विरुद्ध तब तक कदम न बढ़ाता था जब तक कि उसका पक्ष पूर्णतया दृढ़ न हो। वह योग्य प्रशासक, कठोर तथा न्यायपूर्ण कार्यकर्त्ता और व्यक्तियों को पहचानने वाला था। उसका नाम महान् गवर्नर-जनरलों की गणना-सूची के ही थोड़ा-सा नीचे रहेगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २३

ब्रह्मा का प्रथम युद्ध, लार्ड एमहर्स्ट

लार्ड हेस्टिंग्स के त्याग-पत्र के बाद, चतुर वक्ता और नीतिज्ञ जार्ज केनिंग गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया, परन्तु उसके भारत प्रस्थान से पूर्व ही मार्क्विस ऑफ लण्डनडरी (लार्ड कैसल रे के नाम से प्रसिद्ध) द्वारा आत्म हत्या कर लेने के कारण उसके लिए विदेश सचिव और हाउस आफ कामन्स के नेतृत्व का द्वार खुल गया। इस पर उसने अपनी भारतीय नियुक्ति से त्याग-पत्र दे दिया। संचालकों ने लार्ड विलियम बैन्टिक के दावों पर विचार करने के पश्चात् लार्ड एमहर्स्ट को मनोनीत किया जिसने चीन के एक मिशन में दृढ़ता और चतुराई का प्रदर्शन किया था। एमहर्स्ट के भारत पहुंचने से पूर्व सात महीने तक सरकार की बागडोर कौंसिल के बड़े सदस्य जान एडम के हाथ में रही। वह अधीन कार्य करने वाले अधिकारी के रूप में योग्य था परन्तु सरकार के मुखिया के रूप में उपयुक्त न था। जैसा कि हम देखेंगे राजनीतिक कार्यों को समाचार-पत्रों में विचार करने से रोकने के उसके यत्न का क्या दुष्परिणाम हुआ। ब्रिटिश राज्य का जाल उत्तर में सतलुज तक पूर्ण हो चुका था, जो शान्ति और सन्तुलन चाहते थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि अब स्थिरता का काल आ गया है। परन्तु यह आशाएं व्यर्थ सिद्ध हुई। उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा और २० वर्ष तक अतिक्रमित न हुई परन्तु उत्तर-पूर्व की ओर सीमा अभी तक भयावह रूप में अनिश्चित थी।

बंगाल की विस्तृत खाड़ी दक्षिण-पश्चिम में कुमारी अंतरीप से आरम्भ होकर दक्षिण-पूर्व में मलय प्रायद्वीप तक घोड़े की नाल के रूप में अव्यवस्थित रूप में फैली हुई थी। ब्रिटिश राज्य खाड़ी के पश्चिमी मोड़ की ओर भी फैल रहा था, चूंकि चटगांव जिला नाफ नदी तक फैला था, बंगाल प्रान्त का भाग था और खाड़ी के पूर्वी तट पर सौ मील के लगभग फैला हुआ था। साधारण रूप में बंगाल की पूर्वी सीमा रेखा चटगांव से उत्तर की ओर पहाड़ियों तक पायी जा सकती थी परन्तु यह अनिश्चित और परिवर्तनशील थी। इस रेखा के ठीक पूर्व की ओर अनेक छोटी स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र रियासतों वाला आसाम राज्य था। न कम्पनी और न उसके सेवकों की कभी इच्छा अपनी चटगांव की चौकी से दक्षिण और पूर्व में क्षेत्र विस्तृत करने और अधिक उत्तरदायित्व लेने की हुई। और यह बेखटके कहा जा सकता है कि अधिक आक्रामक गवर्नर-जनरल ने भी ऐसा न विचारा था कि अब से तीस वर्ष के अन्दर ब्रिटिश राज्य की लाल-रेखा बिना किसी रुकावट के खाड़ी की पूर्वी दिशा की ओर उसी समानान्तर में उसी अक्षांश तक बढ़ती जायगी जैसी भारत के दक्षिणी कोने में मदुरा तक। चूंकि बंगाल के पूर्व में किसी नदी अथवा पर्वत की रुकावट न थी अतः ब्रिटिश शक्ति के प्रसार का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतीत का नियम इधर भी कार्यरूप में आने लगा । इस प्रकार भारत में ब्रिटिश राज्य का सामना तिब्बती-चीनी वंश के लोगों से हुआ, जो वेगवती इरावती की उपजाऊ घाटियों से बाहर की ओर फैल रहे थे और जिन्होंने मलय प्रायद्वीप के दक्षिणी तट तथा उत्तर की ओर चटगांव तक के क्षेत्र को जीत लिया था। वे इससे आगे आसाम और ब्रह्मपुत्र की घाटी हिमालय के उत्तर-पूर्वी मोड़ की ओर बढ़ना चाहते थे। जिस दशक ने प्लासी पर क्लाइव की विजय को देखा, उसी ने इरावती के मुहाने में तेलंगों से ब्रह्मी सरदार अलोम्प्रा को पेगू प्रान्त जीतते हुए देखा। १७६६ में ब्रह्मियों ने स्याम से तेनासरीम छीन लिया । १७८४ में उन्होंने अब तक के स्वतन्त्र अराकान राज्य को अपने प्रदेश में मिलाया, उत्तरी तथा पश्चिमी ब्रह्मा को भी हड़प लिया और चटगांव तक पहुंच गये। ब्रह्मी सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेशों से भागने वाले ब्रिटिश सीमा पर शरण लेने लगे और कई बार वहीं से विजित प्रान्तों पर प्रतिकारात्मक आक्रमण करते । ब्रह्मी लोग भगोड़ों के समर्पण की मांग करने लगे । चटगांव स्थित अंग्रेज अधिकारी जब कभी अपराधी के रूप में उन्हें सौंपना चाहते थे, परन्तु स्वाभाविक रूप में युद्धरत पराजित व्यक्तियों के शरण में आने के अधिकारों से विशेष रूप से शत्रु की निर्दयता के कारण इन्कार भी नहीं करना चाहते थे। १८१७–१८ में ब्रह्मी लोगों से आसाम को संकट उत्पन्न हो गया और दूसरे वर्ष उन्होंने भारत सरकार को एक धृष्टतापूर्ण पत्र लिखा जिसमें चटगांव, ढाका, मुर्शिदाबाद और कासिम बाजार पर अपने आधिपत्य का दावा किया। पत्र बहुत सावधानीपूर्ण समय पर भेजा गया था क्योंकि ब्रह्मियों का विश्वास था कि अंग्रेज पिण्डारी युद्ध में फंसे हुए हैं। इसके पहुंचने से पूर्व संकट टल चुका था और हेस्टिंग्स ने बहुत सहिष्णुता से इस पत्र से चातुर्यपूर्ण व्यवहार की सोची। इसी मध्य ब्रह्मियों को स्याम वालों ने परजित किया, जैसा कि गवर्नर-जनरल ने पहले ही विचार कर लिया था, "वे ब्रिटिश सरकार की चुप्पी पर बहुत प्रसन्न हुए।" यह शान्ति का समय अस्थायी था; १८२२ में ब्रह्मियों ने आसाम को पराजित किया और सारी अनिश्चित उत्तर-पूर्वी सीमा पर अंग्रेजों के आमने-सामने आ डटे ।

अब तक की अक्षुण्ण सफलताओं के कारण ब्रह्मियों को अपने पराक्रम का बहुत अहंकार हो गया था। उनका विश्वास था कि कोई भी सेना उनका सामना नहीं कर सकती और "राजा से लेकर रंक तक अंग्रेजों से युद्ध करने को उत्सुक थे।" निश्चय ही पूर्व का ऐसा कोई युद्ध न था जिसमें हमें स्वेच्छा से उत्तेजित होना पड़ा। सितम्बर १८२३ में कम्पनी से सम्बन्धित चटगांव से दूर एक छोटे द्वीप शाहपुरी पर उन्होंने आक्रमण किया और वे आसाम सीमा पर आक्रमण करने लगे। धैर्य रखने की अंग्रेजों की मांग की सर्वथा उपेक्षा की गयी और लार्ड एमहर्स्ट ने २४ फरवरी १८२४ को युद्ध-घोषणा कर दी। इसके पश्चात् जो युद्ध आरम्भ हुआ शत्रु के युद्ध-कौशल की दृष्टि से कम्पनी के इतिहास में बहुत दीर्घ और सबसे कम सफल रहा। ब्रह्मियों का सबसे अच्छा बचाव विशाल जंगल और दलदल से पूर्ण और लम्बान में पर्वत शृंखलापूर्ण देश की प्राकृतिक अवस्था थी और सितांग तथा सालवीन की इरावती की घाटियों से घिरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। मुख्य ब्रह्मा का मध्य भाग बरसात के दिनों बाढ़ों से पूर्ण और वाष्प के बादलों से घिरा रहता था जिसमें सांस लेना यूरोपियन सेनाओं के स्वास्थ्य के लिए घातक था। खुले मैदान में लड़ने के लिए ब्रह्मी सेना बहुत कम मात्रा में थी परन्तु उसका प्रत्येक सैनिक अपना फावड़ा उठाये अद्भुत चातुर्य से अपना मोर्चा बना लेता अथवा लकड़ी का मजबूत बाड़ा बनाकर डट जाता था।

युद्ध की ब्रिटिश योजना यह थी कि समुद्र के रास्ते से पहुंच कर रंगून पर अधिकार कर लिया जाए और एक जंगी बेड़ा इरावती के ऊपर की ओर राजधानी तक पहुंचा दिया जाए, परन्तु इस प्रकार के युद्ध-सम्बन्धी दाव के लिए यह ऋतु उपयुक्त न थी। सर आर्चीबाल्ड कैम्पबैल ने मई में रंगून पर अधिकार कर लिया परन्तु उसके पश्चात् वर्षाऋतु ने नौ वहन के उपयुक्त धारा को एक भयंकर बरसाती नद का रूप दे दिया, इससे ६ महीनों के लिए प्रगति रुक गई। शत्रु के नगर में प्रकट होते ही ब्रह्मी लोग वहां से भाग कर पेगू के जंगल में चले गये। ब्रिटिश सेना को कलकत्ता के छली ठेकेदारों द्वारा भेजी खाद्य सामग्री पर रहना पड़ा और रंगून के चारों ओर के दलदलपूर्ण प्रदेश में बुखार के कीटाणुओं से युक्त धुंध में उसका दसवां भाग शीघ्र ही नष्ट हो गया।

इसी मध्य योग्यतम तथा आसाम विजेता ब्रह्मी जनरल बांदुला को उत्तर-पूर्व की ओर से बंगाल पर आक्रमण के लिए भेजा गया। उसने चटगांव से आगे बढ़ी हुई ब्रिटिश टुकड़ी को रामू नामक स्थान पर अन्य सेना से अलग-थलग कर दिया परन्तु इसी समय उसे रंगून के छुटकारे के लिए बुला लिया गया। दिसम्बर में वह ६० हजार सैनिक लेकर नगर के सम्मुख प्रकट हुआ. परन्तु उसे पीछे खदेड़ दिया गया और वह नदी के ऊपर की ओर ४० मील डोनाब्यू तक पीछे लौट गया।

अन्य स्थानों पर जब यह ज्ञात हुआ कि कैम्पबैल रंगून में घिर गया है तो भारत सरकार ने दो आक्रमणों, एक दक्षिण की ओर से केचर और मणिपुर की राह तथा दूसरा अराकान की ओर से और इरावती की ऊंची घाटी तक अवा पहुंचने के लिए यत्न किया परन्तु दोनों यत्न असफल हुए। पहली चढ़ाई केचर और मणिपुर के मध्यप्रदेश की कठिनाइयों के कारण असफल रही और उन्हें बंगाल लौट जाना पड़ा। दूसरी में बिना अधिक कठिनाई के अराकान पर अधिकार कर लिया गया, परन्तु अयोग्य नेतृत्व में प्रगति इतनी धीमी थी और ताप से लोग मरने लगे और इतने कम रह गये कि अन्ततः उन्हें भी लौटना पड़ा।

यद्यपि मुख्य सेना रंगून में निरुद्योग पड़ी थी अथवा छोटे-छोटे युद्धों में लगी थी, १८२४ की शरद में कैम्पबैल ने सेना को तेनासरीम पहुंचाने के लिए एक बेड़े का प्रबन्ध किया और वह प्रदेश शीघ्र ही उनके अधिकार में आ गया। यहां से उसे रंगून में कष्ट उठा रही सेना के लिए सामग्री और पशुओं की प्राप्ति हो गयी। यद्यपि उसने व्यापक तैयारियों में बहुत-सा समय गंवा दिया परन्तु फरवरी १८२५ में उसने इरावती में बेड़े और स्थल पर सेना द्वारा बहुत देर से रुकी प्रगति को फिर आरम्भ किया। बांदुला ने वीरतापूर्वक एक माह तक सामना किया परन्तु अप्रैल में डोनाब्यू में वह पराजित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ और मारा गया। तीन सप्ताह पश्चात् कैम्पबैल ने दक्षिणी ब्रह्मा की राजधानी प्रोम पर अधिकार कर लिया और वहां पर उसने वर्षा ऋतु बितायी। अगस्त में संधि वार्ता आरम्भ हुई परन्तु ब्रह्मी लोगों ने शर्तें अस्वीकार कर दीं। संभवतः उन्हें अभी शिक्षा नहीं मिली थी। नवम्बर में युद्ध फिर आरम्भ हो गया और शत्रु की पंगा की एकमात्र आशा को भी समाप्त कर दिया। वे राजधानी से ६० मील यान्दाबू तक बढ़ गयीं। तब २४ फरवरी १८२६ में संधि हुई। अवा के राजा ने अराकान और तेनासरीम के प्रान्तों को पूर्णतया छोड़ देने, आसाम और केचर से हट जाने, मणिपुर की स्वतन्त्रता स्वीकार करने, व्यापार-सन्धि में सम्मिलित होने, अवा में ब्रिटिश रैजीडेन्ट के रहने तथा क्षतिपूर्ति में दस लाख पौंड देने की शर्तें स्वीकार कर लीं। मानचित्र पर दृष्टि डालने से इन परिणामों के महत्त्व का पता चलता है। ब्रह्मी साम्राज्य के समुद्र का अग्रभाग दो लम्बे तंग प्रान्तों के समर्पण से कट गया। तेनासरीम दक्षिण की ओर इतनी दूर तक फैला हुआ है जैसा कि बंगाल की खाड़ी के दूसरी ओर कुमारी अंतरीप—जिन्हें १४ सौ मील का समुद्र पृथक् करता है। आसाम, केचर और मणिपुर अबसे ब्रिटिश संरक्षण में आ गये और इस क्षेत्र में ब्रह्मी लोगों का हस्तक्षेप रोक दिया गया। परन्तु इरावती का सारा भाग उनके अधिकार में रहने दिया गया और समुद्र और तट तक उनकी पहुंच इरावती के मुहाने और अंग्रेजों को दिये गये दो प्रान्तों के बीच के टुकड़े से होती थी जो इन दोनों को पृथक् करता था।

इन दिनों युद्ध अत्यन्त व्ययसाध्य था। इस पर एक करोड़ तीस लाख पौंड व्यय हुआ अथवा पिण्डारी और मराठा युद्ध से १२ गुणा अधिक। यह दो वर्ष तक चला और इसमें आने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में प्रत्येक बात स्वीकार कर ली जाए तो भी इससे न तो भारत सरकार और न युद्धक्षेत्र के जनरलों को श्रेय मिलता है। जनरल इतने अधिक सावधान न थे और अपने काम में बहुत ढीले थे तथा पहल करने में पूर्णतया असमर्थ थे। गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी की कोई निश्चित अथवा स्पष्ट नीति न थी। सेना को सामग्री पहुंचाने और यातायात की कठिनाइयों का हल हो सकता था तथा युद्ध के आरम्भ से अन्त तक सेना को संगठित करने और उसके उपयुक्त प्रयोग में पश्चात्ताप योग्य असफलता रही। क्या मद्रास के गवर्नर सर थामस मनरो का यह शानदार काम न होता कि वह कुमुक और सामग्री भेजता रहता। यह एक बड़ी असफलता थी। युद्ध की समाप्ति पर लार्ड एमहर्स्ट को अर्ल की पदवी दी गयी; यह ऐसा सम्मान था जिसके लिए कहा जा सके कि उसने इसके योग्य कार्य किया है। वह सामान्य योग्यता वाला व्यक्ति था और उसने अपने समय की भारतीय समस्याओं को ठीक तरह नहीं समझा।

इसी मध्य इस धारणा के आधार पर कि अंग्रेज ब्रह्मा के मध्य युद्ध में पराजित हो जाएंगे, भारत में कुछ छोटे-मोटे उपद्रव हुए। सबसे प्रमुख भरतपुर, वह प्रसिद्ध गढ़ जिस पर लार्ड लेक ने सिर-धड़ की बाजी लगा आक्रमण किया था, की घटना थी, जहां राज्य को बलात् ग्रहण करने वाले ने अपने वंश के एक अल्पवयस्क को अपना अधिकृत उत्त-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राधिकारी नियत करके ब्रिटिश शक्ति की अवज्ञा की। सर डेविड अचर लोनी बहुत तेजी में उसके विरुद्ध कार्यवाही करने गया परन्तु शीघ्र ही उसे गवर्नर-जनरल ने वापिस बुला लिया और उसके शीघ्र ही पश्चात् बहुत कुछ निराशा के कारण वह रुग्ण होकर गया। विशेषकर अचर लोनी को वापस बुला लिये जाने पर मालवा, बुन्देलखंड और मराठा क्षेत्र में अशान्ति के स्पष्ट चिह्न दिखायी दिये, जिसके सम्बन्ध में कहा गया कि अंग्रेज इस दुर्गम गढ़ पर आक्रमण करने से डरते हैं। सर चार्ल्स मैटकाफ ने एक प्रसिद्ध स्मरण लेख में वर्णन किया है कि "तटस्थता स्वीकार करने में हमारा प्रभाव अत्यधिक व्यापक है।" सरकार ने उसके विचार को स्वीकार किया और जनवरी १८२६ में लार्ड काम्बर मेर ने तूफान की तरह उस महान किले पर अधिकार कर लिया।

एक अधिक अशुभ घटना कलकत्ता के निकट बैरकपुर में १८२४ के सिपाही विद्रोह की थी। देशी सैनिकों को यह भय था कि ब्रह्मा के लोग जादूगर हैं और यदि उन्हें जहाज़ की यात्रा करनी पड़ी तो वे जाति से पृथक् कर दिये जायेंगे। इन कारणों के साथ एक कारण यह भी था कि अफ़सरों ने उन वास्तविक कष्टों का प्रतिकार करने में अपराध रूप में मूर्खता की जो उनके सामने सैनिकों ने रखे। विद्रोह तो केवल बग़ावत करने वाली रैजीमेंट को ब्रिटिश तोपखाने से उड़ा देने से दब गया और कवायद का मैदान बूचड़खाना बन गया। बंगाल की ४७वीं देसी सेना का देसी सेना की सूची से नामोनिशां मिटा दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २४

लार्ड विलियम बैन्टिक और आन्तरिक सुधार

लार्ड एमहर्स्ट की अवकाश-प्राप्ति के साथ ही १० वर्ष के लिए बड़े-बड़े युद्ध बन्द हो गये । नया गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैन्टिक अपने समय में सन्तुष्ट रहा। उसे अपनी उदार मानवीयकरण की नीति को कार्यरूप में परिणत करने का इससे कोई और उपयुक्त अवसर कठिनाई से ही मिलता। इस दशक के पश्चात् भारत के भाग्य में फिर एक अशान्त युग में प्रवेश बदा था। यह एक सौभाग्यपूर्ण बात हुई कि इस विराम में देश की उन्नति और जनता की अवस्था में सुधार पर जोर दिया गया। लार्ड आकलैण्ड के गवर्नर-जनरल काल के बाद संघर्ष आरम्भ हो जाने से सुधार-कार्य कुछ देर के लिए रुक गये परन्तु उनकी गति पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई और युद्ध-काल के समाप्त हो जाने पर लार्ड डलहौजी ने फिर उन्हें नये जोश के साथ आरम्भ किया। एक दृष्टि से देखने में बैन्टिक की सफलता के चिह्न बहुत उज्ज्वल न थे। उसे १८०७ में मद्रास के गवर्नर पद से वेल्लौर के विद्रोह का पूरी तरह मुकाबिला न कर सकने के कारण अलग कर दिया गया था। कम से कम एक सैनिक के रूप में एक बड़े युद्ध को देखने का अवसर तो उसे मिला क्योंकि वह मारेंगो में था। परन्तु उसका अपना सैनिक कार्य बहुत अप्रसिद्ध-सा रहा क्योंकि द्वीप-सम्बन्धी संघर्ष में वह विलिंगटन के ड्यूक को प्रभावित न कर सका कि उसमें युद्ध और कूटनीति सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण गुण हैं। वह अपने समय का सच्चा उदार था और वस्तुतः ध्येयों में विश्वास रखता था जिनके द्वारा कैथोलिकों के उद्धार और संसदीय सुधारों के युग को प्रेरणा मिली। उसका व्यक्तिगत स्वभाव बहुत सरल था। वह उन अवस्थाओं से घृणा करता था जो उसकी स्थिति के लिए आवश्यक समझी जाती थीं, जो उसे प्राप्त थीं। भारतीय जनता के हित की इच्छा, शासन-प्रबन्ध में बचत और शान्ति स्थिर रखने की सत्य धारणा के दृष्टिकोण से उसकी अपने पश्चात् आने वाले उदार गवर्नर-जनरलों में रिपन से तुलना की जा सकती है। कुछ सीमा तक बैन्टिक के चरित्र में उत्साह और सजीवता की कमी थी। अनेक व्यक्तियों ने उसके उदासीन स्वभाव और कृपालुता की कमी के कारण उसका विरोध किया। निस्सन्देह वही पहला गवर्नर-जनरल था जिसने स्पष्ट रूप में इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया कि अपनी प्रजा के लोगों का कल्याण ही भारत में अंग्रेजों का प्रमुख और सम्भवतः आरम्भिक कर्त्तव्य है, यद्यपि एलफिन्स्टन और मनरो आदि महान् शासकों का कार्य इसी धारणा से प्रेरित हुआ था। व्यक्तिगत मित्रता का उत्साह और शिलालेख की-सी शैली में स्तुतिमय शब्द-रचना का ध्यान रखते हुए भी, मैकाले की प्रभावपूर्ण भाषा में यह सच है कि लार्ड विलियम बैन्टिक ने भारत का शासन, "बुद्धिमत्ता, सचाई और सुजनता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से किया। वह कभी यह नहीं भूला कि शासक का चरम लक्ष्य शासित का कल्याण है····· निर्दयतापूर्ण रीति-रिवाजों को दूर किया·····अपमानजनक भेदभाव को नष्ट किया (और) जनता के विचारों को प्रसार की स्वतन्त्रता दी।" यह प्रसिद्ध वक्तव्य कि उसने, "प्राच्य स्वेच्छाचारिता में ब्रिटिश स्वतन्त्रता की भावना की पुट दी" गवर्नर-जनरल की पवित्र मनोकामना, उसकी नीति की अन्तिम मनोवृत्ति और वस्तुतः उसकी सफलता का प्रतिनिधित्व करता है।

उसकी आन्तरिक नीति संक्षेप में, आर्थिक, प्रशासनिक और सामाजिक सुधारों के तीन शीर्षकों के अधीन संक्षेप में वर्णन की जा सकती है। ब्रह्मा के युद्ध के व्यर्थ के भयंकर व्यय के कारण उसका पहला कर्तव्य छटनी था। बैन्टिक ने यह कार्य सामान्य नैतिक उत्साह और अपनी निजी अप्रियता का ध्यान न रखते हुए किया। असैनिक और सैनिक सेवाओं में मितव्ययता से डेढ़ करोड़ रुपये की बचत की गयी। यह सुधार कितना आवश्यक था इसका पता इस तथ्य से चलता है कि इस परिवर्तन के पश्चात् भी कौंसिल के सदस्य से लेकर लेखक तक प्रत्येक असैनिक अधिकारी की औसत आय दो हज़ार पौंड प्रति वर्ष थी। सेना में वेतन दर कभी इतने ऊंचे न हुए थे जैसे असैनिक सेवा में। हमने देखा है कि किस प्रकार क्लाइव ने द्वेष और विद्रोह का भय होने पर भी दोहरे 'भत्ते' (अधिकारियों को उनके वेतन के अतिरिक्त दिया जाने वाला धन) की प्रथा को बन्द किया। कलकत्ता से चार सौ मील की दूरी पर रहने वाली सेनाओं के मामले में नया नियम लागू करने से उन्हें केवल आधा 'भत्ता' दिया जाना था। इससे बैन्टिक को अनुचित घृणा प्राप्त हुई। अनुचित इसलिए कि वह इंग्लैण्ड से मिली आज्ञा का ही पालन कर रहा था। बंगाल के भू-राजस्व का कुछ भाग जो सरकार की उपेक्षा और कागजों में चालाकी करने वाले देशी लोगों के कारण कपट से हस्तान्तरित कर दिया जाता था, राज्य के लिए वसूल किया गया। यद्यपि उसे कोष रिक्त मिला और दस लाख का घाटा था, इन और अन्य आर्थिक सुधारों के कारण उसने डेढ़ करोड़ की अतिरिक्त राशि छोड़ी।

दूसरे, प्रशासन, सम्बन्धी सुधारों के क्षेत्र में उसने कार्नवालिस द्वारा स्थापित प्रान्तीय अपील और दौरा अदालतों को समाप्त किया। इनकी दोहरी कार्यविधि से न्याय-मार्ग अवरुद्ध होता था और "इस सेवा के लोगों जो कि ऊंचे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के अयोग्य थे, के लिए यह अदालतें विश्राम-गृह बन गयी थीं।" लार्ड कार्नवालिस के न्याय-सम्बन्धी सुधारों में निम्नतम स्तर के अतिरिक्त योग्य देशी लोगों को नौकरी का अवसर न मिला था। उस समय से अब तक इस दोष का बहुत कुछ सुधार हो गया था और बहुत से भारतीय जज नियुक्त हो चुके थे; परन्तु इंग्लैण्ड सरकार और भारत में असैनिक सेवक इस सिद्धान्त को और व्यापक बनाने के पक्ष में थे। अब देशी जजों के क्षेत्र को बढ़ाने और उनके वेतन उन्नत करने के सम्बन्ध में कार्य किया गया। इसी समय मुकदमा करने वालों को यह वरदान भी मिला कि वे आज्ञा लेकर फारसी के स्थान पर अपनी देशी बोली का प्रयोग कर सकते हैं। अब तक ऊल-जलूल फारसी ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अदालतों की वैधानिक परम्परा थी। लार्ड विलियम बैन्टिक के अधीन उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों का राजस्व बन्दोबस्त हुआ। यह कार्य राबर्ट बर्ड ने आरम्भ किया था और दस वर्ष में पूर्ण हुआ। प्रदेश के अनुसार यह खेतिहर अथवा ज़मींदार और कई स्थानों पर ग्राम पंचायतों से तीस वर्ष के लिए नियत कर दिया गया। इसका प्रभाव २३,०००,००० जनसंख्या वाले प्रदेश पर पड़ा।

तीसरे, उसने जो सामाजिक सुधार किये उससे तो उसका नाम अमर हो गया। १८२९ में उसने हिन्दुओं की सती प्रथा को समाप्त किया। यह विधवा का अपने मृत पति की चिता के साथ बलिदान था। यह कहा जाता है कि इस अमानवीय प्रथा के कारण १८१७ में अकेले बंगाल में ७०० महिलाएं जीवित जला दी गयीं थीं। सती प्रथा को रोकने के लिए संचालकों ने लार्ड एमहर्स्ट से कहा था, परन्तु वह ब्राह्मण की सहमति से होने वाले इस कार्य में हस्तक्षेप करने से कतराया। एलफिन्स्टन जैसे व्यक्ति, जिनकी मानवता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, इस आधार पर यह परिवर्तन करने से डरते रहे कि यह कम्पनी की परम्परागत सहिष्णुता की नीति का भंग होगा। ऐसी अनेक बेहूदा भविष्यवाणियां की गयीं कि यदि इस प्रथा को बन्द किया गया तो अशान्ति उत्पन्न हो जाएगी। परन्तु बैन्टिक ने, जिसमें वास्तविक सुधारक का साहस था, सारा उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लिया और जैसा कि प्रायः होता है, भविष्यवक्ताओं की कोई भी अशुभसूचक बात पूर्ण न हुई। १८३० में कर्नल स्लीमैन द्वारा ठगों की समाप्ति का कार्य आरम्भ करवाया गया। यह हत्यारे व्यक्तियों की मौरूसी बिरादरी थी, और जिन्होंने अपनी एक जाति बना ली थी। यह लोग काली की पूजा करते थे तथा शान्त यात्रियों की हत्या करते, उन्हें लूटते हुए देश में घूमते थे। इन कार्यों द्वारा बैन्टिक ने जनता के नैतिक और भौतिक कल्याण की ओर अपनी आस्था प्रकट की। जनता की बौद्धिक उन्नति एक परिवर्तन द्वारा प्रभावित की गयी जिसका दूरगामी परिणाम हुआ। १८३३ में यह निर्णय किया गया कि सरकार ने शिक्षा के लिए जो धन स्वीकार किया है वह प्राच्य शिक्षा के लिए नहीं वरन् भारत के लोगों को अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा देने के लिए व्यय किया जाए। इस परिवर्तन के बहुत से विरोधी थे। उनके नेता इतिहासकार एच० एस० विल्सन थे। परन्तु यह प्रश्न लार्ड मैकाले के प्रसिद्ध स्मरण लेख द्वारा सुनिश्चित हो चुका था—जबकि वह गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी का सदस्य था और उसने बहुत तीव्रता से प्राच्यवादियों को समाप्त कर दिया था। मैकाले ने लाक्षणिक रूप में प्रश्न का एक ही पहलू देखा। पश्चात्वर्त्ती अनुभव से यह पता चला कि यदि वह उसे स्वीकार करने को तैयार होता तो दूसरे पक्ष के प्रति भी बहुत कुछ कहा जा सकता था, परन्तु केवल वास्तविक परीक्षण ही इस तथ्य को प्रकट कर सका कि इस परिवर्तन से जो आशाएं की गयी थीं वे निराशाजनक सिद्ध हुईं। यही इसका इतना कारण न था कि अंग्रेजी सरकारी और साहित्यिक भाषा बना दी गयी थी जितना कि बाद में चुने गये आदर्श और पढ़ायी जाने वाली पुस्तकें। विवेकपूर्ण बात यह होती कि अधीनस्थ लोगों को नियम की मान्यता और नियन्त्रण की भावना उत्पन्न करके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वायत्त शासन के लिए शिक्षित किया जाता। आगामी ५० वर्ष अंग्रेजी विचारों का सारा झुकाव व्यक्तिवाद और सब प्रकार के प्रतिबन्धात्मक बन्धनों से मुक्ति रहा। नियमपालक आदतों और मंद स्वभाव के कारण अंग्रेज लोग अपने आचरण में कोई स्पष्ट प्रभाव आने दिये बिना अपने को क्रान्तिवादी सिद्धान्तों में डाल सकते हैं परन्तु प्राच्य लोगों का तीव्र और सूक्ष्म मस्तिष्क विचार और कार्य को पृथक् रखने का अभ्यस्त नहीं। भारतीय शिक्षा का अनेक वर्षों तक जो आदर्श रहा वह बर्क, बैन्थम, मिल और दार्शनिक उग्र सुधारवादी लोगों का था। यह काफी अनर्गल-सी बात है कि पूर्वी अधीनस्थ लोग उन लेखकों के अध्ययन से शासन में भाग लेने के लिए तैयार हो रहे हैं जिन्होंने स्वयं सरकार को एक आवश्यक बुराई बताया था। हमने विद्रोह के साहित्य द्वारा प्रशासकों की जाति बनाने का यत्न किया। इस दुर्भाग्यपूर्ण लक्षण का प्रभाव ज्ञान की एक शाखा पर ही पड़ा। विज्ञान, विधान और साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में परिणाम अच्छा रहा।

विदेशी कार्यों और देशी राज्यों से सम्बन्ध के प्रश्न पर बैन्टिक यत्नपूर्वक, हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त पर दृढ़ रहा--इंग्लैण्ड के अधिकारी इस सम्बन्ध में उस पर दबाव डालते रहे। इस पहलू में उसे इतिहासकारों से बहुत कम प्रशंसा मिली। निस्सन्देह यह सत्य है कि हस्तक्षेप न करने के कारण ब्रिटिश राज्य की सीमा की रियासतों के दोषों की कुछ सीमा तक उपेक्षा करनी पड़ी। देशी राजाओं को वहां तक छूट दी गयी जहां तक वे कम्पनी से हुई सन्धि के दायित्व को पूर्ण करते थे। विलसन कहता है, "एक दुराग्रही और स्वार्थी महाजन के चरित्र की एवजी में सुजन और शक्तिशाली रक्षक दिया जा रहा था।"[1] परन्तु यह उपयुक्त था कि सिद्धान्त का और अधिक परीक्षण होता और बैन्टिक के समर्थक उचित रूप में यह दावा कर सकते कि शान्तिकाल में ब्रिटिश भारत को जो लाभ पहुंचाने में वह समर्थ हो सका वह उन बुराइयों के मुकाबिले में रखा जा सकता है जो उसे देशी राज्यों में सहन करने को विवश होना पड़ा। आवश्यक मामलों में तो वह हस्तक्षेप से भी नहीं झिझका। परन्तु उसका उद्देश्य सदा ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाना अथवा क्षेत्र को अपने राज्य में मिलाना न होकर कुशासन के प्रति घृणा था। तीन मामले विशेष रूप से उल्लेख्य हैं--पहले में तो उसने एक सामन्तशाही रियासत का पूर्ण शासन-प्रबन्ध ही संभाल लिया और दूसरे में केवल उसे ब्रिटिश राज्य में मिलाया। मैसूर में वेलेजली द्वारा निश्चित राजा जब वयस्क हुआ तो वह उस भरोसे के सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुआ जो उस पर रखा गया था। परन्तु वेलेजली ने यह अधिकार सुरक्षित रखा था कि कुप्रबन्ध की दशा में शासन की बागडोर सरकार फिर अपने हाथ में ले लेगी, इसीलिए १८३१ में बैन्टिक ने राजा को पेन्शन देकर पृथक् कर दिया और ५० वर्ष तक रियासत का प्रबन्ध ब्रिटिश अधिकारी करते रहे। कहा जाता है कि ऐसा करने के लिए बाद में वह पछताया। १८३२ में बंगाल की सीमा के उत्तर-पूर्व स्थित छोटी-सी जागीर केचर को, जहां से ब्रह्मी लोग यान्दाबू सन्धि के कारण हटे थे, के

1. History of India, H. H. Wilson, Vol. III, p. 365.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवासियों की प्रार्थना पर ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। घने जंगल से घिरा प्रदेश साफ किया गया और चाय की खेती आरम्भ की गयी। जनता की एकमत इच्छा को ध्यान में रखते हुए, १८३४ में कुर्ग के निर्दयी राजा को गद्दी से उतार दिया गया और उसका प्रदेश ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। कुर्ग, दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट पर मैसूर और समुद्र के मध्य स्थित है। यह समुद्र की सतह से ३००० फुट ऊंचा है। इसका जलवायु स्वास्थ्यप्रद और विशेष रूप से कहवे की खेती के उपयुक्त पाया गया।

भोपाल, ग्वालियर और जयपुर में अशान्ति उत्पन्न हो गयी। गवर्नर-जनरल की स्थिति उलझन में थी क्योंकि वह जैसे-तैसे अपनी तटस्थता की नीति का त्याग न करना चाहता था। परन्तु सब चिह्नों से यह प्रतीत होता था कि उसे बहुत शीघ्र ही अधिक क्रियाशील विदेश नीति अपनानी होगी। भारत से अपनी विदाई से कुछ पूर्व १८३५ में उसने यह विश्वास प्रकट किया कि भारत की सीमा की ओर रूस की प्रगति से पूर्व में हमारे साम्राज्य को महान् भय है। सर आल्फ्रेड ल्याल ने यह ठीक ही लिखा है कि रणजीतसिंह के साथ उसकी व्यापार-सन्धि और सिंध के अमीरों के साथ समझौते (जिनका वर्णन आगे होगा) अफगान युद्ध के प्रारम्भिक कारण बने। परन्तु यदि उस कार्य के समय उसे प्रेरित करने वाला बैन्टिक होता तो वह इतना घातक और संहारक मार्ग न अपनाता।

इस शान्तिपूर्ण आर्थिक रूप में समृद्ध शासन-प्रबन्ध ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की निस्सन्देह बहुत बड़ी सेवा की क्योंकि यदि भयंकर युद्ध और घाटा रहता तो १८३४ में समझौता समाप्त हो जाने के बाद उस पर नये सिरे से विचार करने का अवसर आने पर वह समाप्त कर दी जाती।

उसका भारतीय व्यापार का एकाधिकार तो १८१३ में समाप्त हो चुका था। संसद् के लम्बे विवादों और न्यायालय तथा नियंत्रण बोर्ड के मध्य समझौतों की चर्चा के समय यह स्पष्ट हो गया था कि कम्पनी चीनी व्यापार पर एकाधिकार की आशा को भी स्थिर नहीं रख सकती। सुधार और मुक्त व्यापार के विचारों का प्रत्येक स्थान पर बोलबाला था और हस्किसन ने स्वयं कम्पनी पर चोट करने में नेतृत्व किया। यह भी स्वीकार न किया गया कि कम्पनी व्यक्तिगत व्यापारियों से समान स्तर पर भी चीन के व्यापार में मुकाबिला करे, परन्तु उसे विवश किया कि वह अपने व्यापारिक रूप को समाप्त कर दे और मूल्य निरूपण के आधार पर समस्त सम्पत्ति से पृथक् हो जाए। एक समय तो यह बहुत ही कठिन प्रतीत हुआ कि कम्पनी शासक संस्था के रूप में रह सकेगी भी या नहीं। परन्तु मंत्री लोग ही भारत के सारे शासन को संभालने से हिचकते रहे और वह आधी व्यक्तिगत निगम और आधा सरकारी विभाग के रूप में अनियमित अवस्था में बनी रही। भारत के राजस्व में से इसका लाभांश १०½ प्रतिशत नियत किया गया। लार्ड एलिन बरो के शब्दों में यह "बन्धक रखने वालों के अधिकार की अप्रतिष्ठा-पूर्ण और अप्रिय स्थिति थी।" समझौता अधिनियम में आगरा की चौथी प्रैजीडेंसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनायी गयी (१८३५ में शीघ्र ही उपरान्त उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के लैफ्टीनेंट गवर्नर के अधीन कर दिया गया), भारत सरकार को नियमों के स्थान पर अधिनियम पास करने का अधिकार मिला, गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में चौथा (वैधानिक) सदस्य बढ़ाया गया, (मैकाले सर्वप्रथम नियुक्त हुआ) भारत सरकार के मुखिया को सर्वप्रथम भारत के गवर्नर-जनरल की पदवी मिली (बंगाल में फोर्ट विलियम प्रैजीडेंसी के गवर्नर-जनरल के स्थान पर) और इस प्रकार निश्चित और अन्तिम रूप में बम्बई और मद्रास प्रैजीडेंसियां उसके अधीन आ गयीं। इस अधिनियम से शासक गवर्नर-जनरल की उदार नीति के निर्धारण की राष्ट्रीय और संसदीय सहमति प्राप्त हुई कि "किसी भी भारतीय और सम्राट् की जन्मतः प्रजा को अपने धर्म, जन्मस्थान, वंश अथवा रंगभेद के कारण किसी स्थान, पद अथवा नौकरी के अयोग्य न ठहराया जा सकेगा", और इस सिद्धान्त की पूर्ति केवल हमारे समय में ही हो सकती है।

अन्ततः ब्रिटिश प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को बिना लाइसेंस भारत सरकार में उच्च प्रमुख पदों पर पहुंचने और भूमि क्रय करने और रखने का अधिकार प्राप्त होना था। इसीलिए इसके उपरान्त प्रैजीडेंसी नगरों में साधारण अर्थ में बस्तियां बसाने पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध न रहा। १८३५ में लार्ड विलियम बन्टिक के त्याग-पत्र पर, भारत में कम्पनी के योग्यतम सेवक सर चार्ल्स मैटकाफ, जिन्हें अभी नयी आगरा प्रैजीडैन्सी का गवर्नर नियुक्त किया गया था, अस्थायी गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। संचालक संघ ने पहले तो सोचा कि सितम्बर में भारतीय समाचार-पत्रों पर से सब प्रतिबन्ध हटाने के अधिनियम लागू करने तक इस नियुक्ति को स्थायी ही कर दिया जाय। समाचार-पत्रों के नियमों का प्रारम्भिक इतिहास बहुत उलझनपूर्ण है और उसका संक्षेप में वर्णन बहुत सरल नहीं। १८०१ में फ्रांस से युद्ध के समय सैन्य कारणों से आरम्भ में लार्ड वेलेजली ने सैन्सरशिप आरम्भ की थी। एक सरकारी अधिकारी इस बात के लिए नियुक्त किया गया था कि प्रकाशन से पूर्व सब पत्रों को पढ़े और जो अयोग्य चीज हो उसे निकाल दे। समाचारों के इस नियंत्रण को १७ वर्ष पश्चात् नाममात्र के लिए समाप्त कर दिया—नाममात्र इसलिए कि उसने यद्यपि कार्यालय के इस नाम को तो समाप्त कर दिया परन्तु उनके लिए इतने कठोर नियम बना दिये कि वे केवल कुछ ही विषयों के सम्बन्ध में लिख सकते थे। वे शासन की आलोचना न कर सकते थे—इस अपराध का दंड-देश निकाला था। १८२३ में जान एडम ने एक सम्पादक को वापिस इंग्लैण्ड इसलिए भेज दिया था कि उसने स्वयं लार्ड हेस्टिंग्स की चेतावनियों के बावजूद भी, इन प्रतिबन्धों का उल्लंघन किया था। इसी वर्ष एक नया नियम बनाया गया कि बंगाल में पत्र-प्रकाशन से पूर्व प्रकाशक अनुमति पत्र प्राप्त करे। चार वर्ष पश्चात् यही नियम बम्बई में भी अपनाया गया। यह नियम उस समय तक बने रहे जब तक मैटकाफ ने उनके स्थान पर दूसरे लागू नहीं कर दिये।

गवर्नर-जनरल का पद माऊण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन को पेश किया गया परन्तु उन्होंने अस्वास्थ्य के कारण अस्वीकार कर दिया। टोरी सरकार ने सैण्ट पीटर्स बर्ग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थित भूतपूर्व राजदूत लार्ड हेट्सवरी को मनोनीत किया, परन्तु उसके भारत प्रस्थान से पूर्व ही सरकार का पतन हो गया और उदार मतवादियों ने उसकी नियुक्ति को रद्द कर दिया। इस पर खूब आलोचना हुई। भारत और ब्रिटेन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में उन्होंने गवर्नर-जनरल का पद लार्ड आकलैण्ड को दिया। मैटकाफ ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों का लैफ्टीनेंट गवर्नर बनना स्वीकार कर लिया परन्तु उसने अनुभव किया कि संचालकों का अब उसमें विश्वास नहीं रहा, इसलिए उसने मद्रास के गवर्नर का पद त्यागते हुए सेवा से त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार संचालकों ने अपने एक योग्यतम अधिकारी को भारत छोड़ने को विवश किया। मैटकाफ सम्राट् के अधीन और यश प्राप्त करने को, क्रमशः १८३९ में जमैका का गवर्नर और १८४२ में कनाडा का गवर्नर-जनरल बना।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २५

प्रथम अफ़गान युद्ध, लार्ड आकलैण्ड और लार्ड एलिन बरो

लार्ड आकलैण्ड का इस पद से सम्बन्ध होते ही राजनीतिक घटनाओं का केन्द्र-बिंदु भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमान्त बन गया। इसीलिए १८०९ की रणजीतसिंह से प्रसिद्ध सन्धि के पश्चात् की घटनाओं का संक्षेप में वर्णन आवश्यक है। इस सन्धि से सरहिन्द के राजपूत और सिखों पर सतलुज के तट तक रक्षित राज्य के रूप में ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत हो गया। सतलुज के दूसरे पार विजेता के रूप में रणजीतसिंह को खुली छूट थी। सम्पूर्ण पंजाब ने उसकी प्रभुता को स्वीकार कर लिया। मूलतः तेज भालों से सशस्त्र घुड़सवार खालसा सेना पैदल और तोपखाने के रूप में परिवर्तित कर दी गयी थी। दूसरे सिख सरदारों को अपने अधीन करने के उपरान्त रणजीतसिंह का सामना अफ़गानिस्तान की पूर्वी चौकियों से हुआ। उसने सिन्धु स्थित अटक पर अधिकार कर लिया। १८१८ में मुलतान और १८१९ में काश्मीर को जीत लिया तथा आगामी दो वर्षों में सिन्धु और पर्वतों के मध्य के सपाट मैदान वाले लम्बे प्रदेश देराजत को अपने वश में कर लिया। १८२२ में वाटरलू के मध्य में युद्ध में भाग लेने वाले नेपोलियन के दो अफ़सरों अल्लार्ड और वेन्तुरा को अपनी सेवा में लिया। कोर्ट और अवितावाइल अन्य दो अफ़सरों ने भी उनका अनुसरण किया और इन लोगों ने सिख सेनाओं को और भी उग्र बना दिया। यद्यपि अफ़गानों ने उसे दो बार पराजित किया परन्तु अन्ततः उसने पेशावर को अपने आधिपत्य में कर लिया और अफगान गवर्नर को भेंट देने को विवश किया। अब उसके पास पंजाब और काश्मीर युक्त तथा उत्तर-पश्चिम में अफ़गान पहाड़ियों तक विस्तृत एक ठोस राज्य था।

सिख सरदार की इन विजयों से भारत सरकार का ध्यान उत्तर-पश्चिम की ओर गया। बहुत देर से सिन्धु घाटी पर अपना कुछ प्रभाव रखने की उसकी इच्छा थी। १८३१ में भाषाविज्ञ और यात्री चतुर युवक कैप्टन अलेक्जेंडर बर्ने को लार्ड एलिन बरो की ओर से रणजीतसिंह को गाड़ी के अंग्रेजी घोड़ों की भेंट के बहाने से सिन्धु और चिनाब की ओर से लाहौर भेजा। उपरान्त वर्ष में आडम्बर के प्रति उपेक्षा भावना पर अधिकार कर लार्ड विलियम बैन्टिक राजनीतिक कारणों से सतलुज के किनारे शान-शौकत से रणजीतसिंह से मिला और मित्रता की सन्धि फिर से दोहरायी गयी।

सिख राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा के परे गहरी कन्दराओं और चारों ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ऊंची पर्वत-श्रृंखलाओं से घिरा हुआ, उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर ढलान वाला काला पठार अफगानिस्तान पड़ता था। इसमें तीन प्रमुख नगर––समुद्र की सतह से ६००० फुट की ऊंचाई पर उत्तर-पूर्व में काबुल, दक्षिण-पूर्व में कंधार और उत्तर-पश्चिम में हिरात थे। अफ़गानिस्तान की राजनीतिक अवस्था बहुत पहले से अव्यवस्थापूर्ण थी। यहां षड्यंत्र और राजवंशीय क्रान्ति के उलझे हुए जाल का सुलझाना कठिन है। १८०९ में जिस अमीर शाह शुजा अब्दाली अथवा दुर्रानी के पास लार्ड मिण्टो ने माऊण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन को भेजा था, वह १८३६ में लुधियाने में ब्रिटिश सरकार से पेंशनभोगी के रूप में रहता था। बरकज़ई फिरके के दोस्त मुहम्मद ने काबुल में अपना राज्य स्थिर कर लिया था और उसके तीन भाई जो कठिनाई से ही उसकी सत्ता को स्वीकार करते थे, कंधार के स्वामी थे। हिरात पर अभी दुर्रानी वंश का राज्य था जिसे दोस्त मुहम्मद ने काबुल से उखाड़ दिया था। अफ़गानिस्तान पूर्व में सिखों तथा उत्तर-पश्चिम में ईरान से परिवृत्त था। जिस प्रकार रणजीतसिंह लार्ड मिण्टो की १८०९ की सन्धि द्वारा पूर्व की ओर विस्तार से रोक दिया गया था परन्तु वह अपने उत्तरी पड़ोसी के क्षेत्र मे फैलना चाहता था––इसी प्रकार ईरान का शाह जिसे विवश हो अपने उत्तरी प्रदेश का कुछ भाग रूसियों को देना पड़ा था, अतः वह भी अपनी पूर्ति दक्षिण पूर्व की ओर से करना चाहता था। इस प्रकार दो राज्यों में घिरे अफ़गानिस्तान को अपनी सत्ता समाप्त होने का सन्निकट भय था। १८३३ में शाह शुजा ने अपना राज्य प्राप्त करने के यत्न में रणजीत सिंह से सन्धि का निष्फल प्रयास किया और सिख शासक ने अवसर से लाभ उठाकर पेशावर पर अधिकार कर लिया। चार वर्ष पश्चात् रूसियों द्वारा प्रशिक्षण और उनके नायकत्व में ईरानी सेनाएं हिरात की चारदिवारी के इर्दगिर्द इकट्ठी हो रही थीं।

लार्ड आकलैण्ड की अफ़गान नीति की इतिहासकारों ने क्रियात्मक रूप में व्यापक निन्दा की है और इन प्रमाणों का बार-बार अध्ययन इस धारणा को अधिक दृढ़ बनाता है कि अंग्रेजों द्वारा किया युद्ध राजनीतिक रूप में दुर्भाग्यपूर्ण और नैतिक रूप में बहुत ही कम औचित्यपूर्ण था। इस निर्णय में कोई परिवर्तन कठिन है। यह मानना भी कम संभव है कि १८३७ में लार्ड आकलैण्ड के सम्मुख अनेक कठिनाइयां थीं। यह स्वीकार करने की अपेक्षा, कि यह क्यों चालू रही, यह समझना कठिन है कि यह नीति आरम्भ कैसे की गयी जबकि इनमें से अनेक कठिनाइयां स्वयं हल हो गयी थीं और प्रभावशाली तथा अनुभवी व्यक्ति ने इसके विरुद्ध विरोध प्रकट किया था। संभवतः इस सारे काम का मुख्य उद्देश्य एशिया में रूसी प्रभाव का भय था। हम देख चुके हैं कि १८०९ में हुई और १८१४ में पुनर्संशोधित तेहरान-सन्धि द्वारा ब्रिटेन इस बात पर सहमत हुआ था कि किसी भी यूरोपियन आक्रान्ता के विरुद्ध वह सेना और धन से ईरान की सहायता करेगा। इस अबुद्धिमत्तापूर्ण समझौते से हमारी स्थिति बहुत उलझन और रहस्यपूर्ण हो गयी। जब १८२६ में ईरान और रूस लड़ रहे थे तो शाह ने अपने मित्र से अपील की परन्तु सुदूर मध्य एशिया के राष्ट्र के प्रति आभार के अनुबन्ध में यह स्पष्ट भूल होती। अंग्रेजों ने यह बहाना बना दिया कि ईरान आक्रान्ता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सहायता न दी, यद्यपि यह पूर्णतया स्पष्ट था कि उन्होंने रूसियों की उत्तेजना पर ही युद्ध घोषणा की है। जब युद्ध समाप्त हो गया और ईरानी पराजित हुए तो ब्रिटिश सरकार ने अपने मित्र को क्षतिपूर्ति की महान् राशि इसलिए दी कि १८१४ की संधि की धारा द्वारा उस पर ईरान को सहायता देने की लगी पाबन्दी समाप्त हो जाए। इस प्रकार उसने अपने राजनीतिक विवेक प्रदर्शन का यत्न किया।

शीघ्रता में किया हुआ उनका यह कार्य बहुत प्रभावपूर्ण न था और संधि-आभार के कारण ब्रिटिश नीतिज्ञों में रूसी साम्राज्य की ओर से भय की भावना उत्पन्न कर दी गयी और यह आगामी ५० वर्षों में आश्चर्यप्रद रूप में बढ़ती गयी। १८३६ में ईरान स्थित ब्रिटिश मंत्री मैकलिन ने इस बात की ओर इंगित किया कि, "कैस्पियन सागर के पश्चिमी तट पर अपनी सबसे सुदूर की सीमान्तीय चौकी से रूसी सेना को पीछे मास्को लौटने की बजाय आगे को सिन्धु पर अटक तक पहुंचने की दूरी कम और यह वास्तव में यह सिखों की राजधानी की अपेक्षा सेंट पीटर्जबर्ग से दूर पड़ता है।" अंग्रेज लोग राजनीतिक दूरदर्शिता से उस समय की प्रतीक्षा करने लगे कि कब उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर हमारी और रूस की एक ही सीमा होगी। उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि यह महान् दूरियां जितनी ही निर्बलता की प्रमाण हैं उतनी ही शक्ति-मत्ता की। रूस की चौकियां भारतीय सीमा से हज़ारों मील दूर थीं और उनके अड्डों से भी बहुत अन्तर था। मंत्रिमंडल का भय अधिक प्रतीत न होता था क्योंकि हम मध्य एशिया से भारत के उत्तर-पश्चिमी प्राकारों तक पहुंचने की कठिनाइयों को अच्छी तरह जानते थे। परन्तु यह स्पष्ट था कि रूसी एजेन्ट ईरान वालों को अफ़गानिस्तान की ओर प्रगति के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे, और हम यह बुद्धिमत्तापूर्ण समझते थे कि इस प्रगति को जितना सम्भव हो ब्रिटिश राज्य की सीमा से दूर ही रोका जाए।

दोस्त मुहम्मद ब्रिटिश सरकार के सहयोग का इच्छुक था। उसकी योजना स्वीकार करने में प्रमुख कठिनाई यह थी, वह चाहता था कि ब्रिटिश कूटनीति रणजीत-सिंह से उसे पेशावर वापिस दिलवाने में अपना प्रभाव डाले। इस समय लार्ड आकलैण्ड निस्संदेह यह निश्चय करने में उपयुक्त मार्ग पर था कि सिख शासक से मित्रता रखी जाए, जो भारतीय इतिहास में एक विलक्षण व्यक्ति था। उसने यह स्वीकार किया कि अशिक्षित, शराबी, निर्दयी, स्वेच्छाचारी और विवेकशून्य होने पर भी पूर्व का और कोई महाराजा ऐसा नहीं जो अपने संधि-दायित्वों के प्रति पूर्णतया निष्ठावान् रहा हो और हमारी मित्रता के मूल्य को समझता हो। यह निश्चय ही उपयुक्त नहीं कि दोस्त मुहम्मद की सहायता के लिए इस मित्रता को समाप्त किया जाए। दोस्त मुहम्मद यद्यपि एक योग्य शासक था, और वस्तुतः वह हमसे मित्रता चाहता था, परन्तु वह कैसा सिद्ध होता यह तो घटनाएं बतातीं, परन्तु हम उससे उस समय अधिक परिचित न थे। जैसा कि यह हुआ, कठिनाइयां इतनी दुर्दान्त न थीं जितनी वे प्रकट होती थीं। बर्नें तथा अन्य लोगों का विचार था कि पेशावर का प्रश्न कूटनीतिक व्यवहार से सुलझ जाता और उसने लार्ड आकलैण्ड को चेतावनी दी कि यह पूर्णतया संभव है कि रणजीत-सिंह को बिना खोये, दोस्त मुहम्मद से मित्रता स्थापित कर ली जाए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब यह विचार छोड़ दिया गया तो बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग यही था कि अफ़गानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप छोड़ दिया जाय और दोस्त मुहम्मद को अपनी रक्षा का स्वयं उत्तरदायी रहने दिया जाय, सतलुज पर ब्रिटिश रक्षा पंक्ति की सुरक्षा के यत्न किये जायँ और यदि सम्भव हो तो आक्रान्ता के विरुद्ध रणजीतसिंह को सेना और धन से सहायता दी जाय। ईरानी और रूसी सेनाओं को हमारी सीमा तक पहुंचने से पूर्व अफ़गानिस्तान को जीतना होगा और उस भयंकर पठार को पार करना तथा नैपोलियन के जनरलों द्वारा प्रशिक्षित शक्तिशाली खालसा सेना को पराजित करना होगा। इस नीति के सम्बन्ध में एक आपत्ति की बात यही है कि उस समय के प्रायः सभी राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में यह धारणा बैठ गयी थी कि केवल हिरात के पतन से ही, राजनीतिक और भौगोलिक दोनों दृष्टियों से भारत में ब्रिटिश सम्मान को हानि पहुंचेगी। सर टी० एच० होल्डिच का कहना है कि "अगम्य पर्वतों की दीवार में हिरात के निकट ही बेरिंग खाड़ी से कैस्पियन सागर को एक दरार है जहां से एशिया को पहुंचा जा सकता है। हिरात के निकट ही रूसी चौकियों को पार करना संभव है और उसके पश्चात् भारत की ओर किसी भयंकर ऊंचाई का सामना नहीं करना पड़ता, तथा यह बात और कहीं संभव नहीं।"[1]

लार्ड आकलैण्ड की अपनी नीति के वर्णन से पूर्व, संक्षेप में, घटना-क्रम का वर्णन करना आवश्यक है। भारत पहुंचने के शीघ्र ही पश्चात् दोस्त मुहम्मद ने ईरान और रणजीतसिंह के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की। इसका उत्तर यह दिया गया कि ब्रिटिश सरकार दूसरे स्वाधीन राज्यों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती। इसी समय अथवा उसके फौरन बाद दोस्त मुहम्मद ने ऐसा ही प्रस्ताव ईरान और रूस के सम्मुख रखा। संभवतः इससे उसका विचार केवल अंग्रेजों पर कूटनीतिक दबाव डालना था। परन्तु लार्ड आकलैण्ड ने हस्तक्षेप न करने के बहाने के बावजूद दोस्त मुहम्मद को अपनी इच्छानुसार मार्ग पर न चलने दिया।

कैप्टिन बर्ने को नाममात्र के व्यापारिक मिशन पर काबुल भेजा गया। रूसियों की सहायता से ईरानी सेनाएं पहले ही हिरात पर धावा बोल रही थीं और बर्ने के काबुल पहुंचने के दो मास पश्चात् नगर घेर लिया गया। यदि नगर का पतन हो जाता तो अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में स्थिति की भयंकरता बढ़ जाती, परन्तु एलड्रैड पोटिंगर नामक युवक अंग्रेज अफ़सर, जो अफ़गानिस्तान का भ्रमण कर रहा था, एक मुस्लिम संत के रूप में नगर में प्रविष्ट हुआ और उसने वीरतापूर्वक सुरक्षा का उपाय किया।

बर्ने के दो मास पश्चात् रूसी राजदूत काबुल पहुंचा, परन्तु दोस्त मुहम्मद उससे बचता ही रहा। यह पूर्ण स्पष्ट था कि अमीर रूस से मित्रता के बजाय अंग्रेजों से मित्रता को प्राथमिकता देता है, और बर्ने ने स्वयं लिखा कि यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि हम उसके साथ मिलकर कार्य नहीं कर सकते, परन्तु यह प्रतीत होता था कि गवर्नर-जनरल और परामर्शदाता अयुक्तियुक्त रूप में इस योग्य शासक के विरुद्ध मत्सरित हैं। उन्होंने एक

1. The Imperial Gazetteer of India, Vol. I, p. 14.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अशिष्ट पत्र में उससे यह मांग की कि वह रूस से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले और इस कार्य का जो परिणाम होगा उससे हम न बचा सकेंगे, परन्तु उन्होंने इस बात का केवल वचन दिया कि पेशावर की वापसी के लिए रणजीतसिंह से अच्छे सम्बन्धों से लाभ उठाने का यत्न करेंगे। स्वाभाविक रूप में दोस्त मुहम्मद का झुकाव रूस-ईरानी पक्ष की तरफ हो गया। अब तक जिस रूसी दूत से उपेक्षापूर्ण व्यवहार हो रहा था, अब उत्साह से उसका स्वागत किया गया और पांच दिन पश्चात् बर्ने काबुल से चल दिया।

लार्ड आकलैण्ड ने घातक कार्य किया। उसने निश्चय किया कि लाहौर के वृद्ध महानुभाव रणजीतसिंह की सहायता से दोस्त मुहम्मद को गद्दी से उतार दिया जाय और लुधियाना के अप्रतिष्ठित पेंशनभोगी शाह शुजा, जो केवल चार वर्ष पूर्व अपना राज्य प्राप्त करने में असफल रहा था, को गद्दी पर बिठा दिया जाए। इस सम्बन्ध में उसने अपनी कार्यकारिणी से परामर्श किये बिना, सेनापति की मंत्रणा के विरुद्ध और संचालक बोर्ड के विरोध पर भी कार्य किया। इसका दोष इंग्लैण्ड के मंत्रिमंडल पर भी है क्योंकि नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष सर जान हाब हाउस ने गवर्नर-जनरल की नीति को स्वीकार करने की घोषणा करते हुए उस संदेश को मान्य किया। सरकार के सचिव बुद्धिमान और बर्ने जैसे योग्य भाषाविज्ञ तथा भारतीय मामलों में प्रवीण मैकनाटन को लाहौर भेजा गया, और सिखों, शाह शुजा तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी में २६ जून १८३८ को त्रिदलीय संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि से अंग्रेजों पर सिन्धु को पार करने का दायित्व न आता था। आकलैण्ड का प्रथम विचार शिकारपुर में शक्ति प्रदर्शन का था जबकि शाह शुजा को उसके अपने साथियों और सिख दोस्तों ने ही गद्दी से हटा दिया था। यह शीघ्र ही निश्चय किया गया कि यदि प्रभावपूर्ण सहायता न मिली तो उसे गद्दी पर न बिठाया जा सकेगा। जब मैकनाटन लाहौर से लौटा तो उसने पाया कि गवर्नर-जनरल तो पहले ही अफगानिस्तान पर आक्रमण आरम्भ कर चुका है। इस नीति पर अत्यधिक अपत्ति की गयी। नैतिक रूप में भी यह अयुक्तियुक्त थी। एक स्वतंत्र राजा के रूप में दोस्त मुहम्मद को पूर्ण अधिकार था कि वह चाहे ईरान के साथ मित्रता करे अथवा रूस के साथ, भले ही यह बात ब्रिटिश हितों के कितने ही विरुद्ध क्यों न हो। राजनीतिक रूप में यह अनुचित कार्य था, क्योंकि दोस्त मुहम्मद योग्य शासक था और उसने बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने वाले अफगान प्रजा के सहयोग को प्राप्त कर लिया था, यद्यपि शाह शुजा में योग्यता की कमी न थी, परन्तु उसका जीवन एक दीर्घ असफलता का प्रतीक था। १८०९ में वह गद्दी से हटा दिया गया और राज्य प्राप्ति के उसके दो यत्न पूर्णतया असफल रहे। उसे अफगानिस्तान में न कोई चाहता था और न उसका विश्वास करता था। उसके ध्येय के प्रति वहां किसी ने उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया। हिन्दू सिखों की सहायता से धर्मान्ध मुसलमानों, जो लोग केवल पांच वर्ष पूर्व जिनके विरुद्ध जिहाद अथवा धर्मयुद्ध कर रहे थे, पर उसे शासक बनाना बड़ा ही आश्चर्य-प्रद और हठपूर्ण आयोजन था। प्रत्येक व्यक्ति ने इस नीति का खंडन किया जिसकी सम्मति का कुछ महत्त्व था। बैन्टिक, एलफिस्टन, वेलेजली तो एकमत से इसके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विरोधी थे और विलिंगटन के डयूक ने भविष्यवक्ता के शब्दों में घोषणा की कि, "यह उस देश में एक सुदीर्घ कूच होगा।" अंततः इस सिद्धान्त के निर्माताओं का निर्मूल बहाना पूर्णतया अपनाये जाने से पूर्व ही घटना-क्रम में पड़कर समाप्त हो गया। रूसी सरकार ने लन्दन के दबाव से अपने एजेन्टों को वापिस बुला लिया। काबुल-स्थित उनका दूत सैण्ट पीटर्जबर्ग लौट आया और निराशा में उसने आत्महत्या कर ली। ईरानी खाड़ी में कराक पर ब्रिटिश अभियान से भयभीत हो ईरान के शाह ने ९ सितम्बर १८३८ को हिरात का घेरा उठा लिया और अपने देश लौट गया। इस प्रकार रूसी षड्यंत्रों का भय पूर्णतया समाप्त हो गया और उन्हें अपनी अनियंत्रित स्थिति से पीछे लौटने का स्वर्णावसर उपस्थित हो गया, परन्तु गवर्नर-जनरल और उनके समर्थक अपनी योजना से इतने मोहित थे कि युद्ध कार्यों के लिए संसार के कठिन देशों में से एक पर अपने प्रस्तावित आक्रमण को सैन्य-विहार के रूप में वर्णन करने लगे। प्रथम अक्तूबर १८३८ को लार्ड आकलैण्ड ने अपनी नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए एक स्मरण लेख प्रसारित किया। सर हर्बर्ट एडवर्ड्स के कठोर परन्तु उपयुक्त विचार में "दोस्त मुहम्मद के विचारों और आचरण को साहसपूर्वक ग़लत रूप में उपस्थित किया गया, संभवतः जिसे रूसी नीतिज्ञ ईर्ष्या की दृष्टि से देखते।"

संघर्ष का इतिहास संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक है। "सिंधु की सेना" फिरोज़-पुर में एकत्र की गयी। रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सेनाओं को अपने प्रदेश में से जाने देने में आपत्ति की। अतः यह निश्चित किया गया कि शाह शुजा के पुत्र के साथ मिल सिख सेना अफ़गानिस्तान पर खैबर दर्रे द्वारा पंजाब से आक्रमण करे जबकि अंग्रेज सेना सर जान कीन और सर विलोबी काटने के नेतृत्व में स्वयं शाह शुजा के साथ सिन्ध पार करने के पश्चात् बोलान दर्रे द्वारा अफ़गानिस्तान में घुसी। शाह शुजा के दरबार में दूत और मंत्री के रूप में कनाटन के आधीन अभियान का राजनीतिक विभाग था और कैप्टिन बर्नेस (अब सर अलैक्जेण्डर) उसका प्रमुख नायक था। एक राजनीतिक अपराध अन्य अपराधों का कारण बनता है और सिन्ध से गुज़रना उस देश के अमीरों से की गयी संधि का स्पष्ट भंग था। इन मंदभाग्य अमीरों से हमारे सम्बन्धों का वर्णन बाद में किया जाएगा। बहुत कठिनाई और चारे की कमी के कारण अनेक पशुओं की हानि उठाने के पश्चात् सेना बोलान दर्रे को पार कर सकी। अप्रैल में कंधार पर अधिकार कर लिया और जुलाई में गज़नी ले लिया गया। अप्रैल १८३९ में दोस्त मुहम्मद ने क़ाबुल खाली कर दिया और विजयोन्मत्त शाह शुजा उसकी राजधानी में प्रविष्ट हुआ। अभियान में सफलता के कारण असैनिक और सैनिक अधिकारियों पर खिताबों की बौछार कर दी गयी। आकलैण्ड को अर्ल और सेनापति सर जान कीने को लार्ड और मैकनाटन को बैरन की उपाधियां दी गयीं। परन्तु इस उज्ज्वल आशा पर शीघ्र ही घटाएं घिर आयीं। इस अभियान के ध्येय की पूर्ति के पूर्व ही जून में रणजीतसिंह की मृत्यु हो गयी। उसी की दृढ़ता और दृढ़ व्यक्तित्व के कारण सिख संयुक्त थे; उसकी मृत्यु से सिखों में फूट पड़ गयी और इससे ब्रिटिश संचार-सम्बन्धों के लिए संकट उप-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थित हो गया। उपरान्त उसी वर्ष (नवम्बर में) खीवा पर रूसी अभियान की असफलता से यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध-नीति को उत्तेजना देने वाला रूसी भय कितना अतिशयोक्तिपूर्ण था।

शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि शाह शुजा पूर्णतया अंग्रेजों की संगीनों की सहायता पर ही आश्रित है। केवल इसी तथ्य द्वारा कि उसे बाहर से थोपा गया है, जनता ने उसका समर्थन न किया। अधिकार करने वाली अंग्रेजी सेना का व्यय अत्यधिक था, अतः भीषण दुविधा उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजों के लिए दो मार्ग थे। अरक्षित विधि के समान शाह शुजा के पतन के पश्चात् या तो अंग्रेजों को वहां से लौट आना चाहिए था अथवा यदि वह अपनी गद्दी स्थिर रख सके तो उन्हें भारतीय कोष के महान् व्यय पर स्थायी रूप में वहां रहना चाहिए था। १८४० में दोस्त मुहम्मद के आत्म-समर्पण और सम्मान्य पेंशनभोगी के रूप में कलकत्ता भेज दिये जाने पर भी जनता की भावनायें इतनी उत्तेजनापूर्ण थीं कि उनके लिए वह देश छोड़ना भी असंभव हो गया।

संभवतः इस सारे अप्रिय व्यवहार में श्रेष्ठ उपाय यह था कि शाह शुजा समेत वहां से इस आधार पर हटा जाता कि वह अपनी प्रजा को स्वीकार्य नहीं––परन्तु इसका भाव यह मानना था कि यह सारी नीति ही असफल रही। परिणाम यह हुआ कि एक दुर्भाग्यपूर्ण मध्य मार्ग अपनाया गया। यह निश्चय किया गया कि अफ़गानिस्तान में स्थित सेना को रहने दिया जाए और जितना सम्भव हो, पूर्वी अफ़गानिस्तान के सरदारों को सरकार द्वारा भारत से संचार-संबंध बनाये रखने के लिये जो वजीफा दिया जाता है, उसमें बचत की जाये। स्वाभाविक परिणाम हुआ कि सरदार धृष्ट बन गये और उन्होंने दर्रों को बन्द कर दिया।

सारे देश में निरंतर विद्रोहों के कारण यह स्पष्ट हो गया कि स्थिति शीघ्रता से बिगड़ रही है। काबुल-स्थित कुछ ब्रिटिश अफ़सरों के दुराचारी होने के कारण वहां के नागरिकों का क्रोध और भी बढ़ गया। अंग्रेजों ने दो घातक भूलें कीं: पहली थी काबुल-स्थित सेनाओं की कमान वीर परन्तु वृद्ध और अस्वास्थ्य के कारण अयोग्य अफ़सर जनरल एलफिंस्टन की नियुक्ति। इस संकटापन्न पग के लिए प्रत्यक्ष रूप में लार्ड आकलैण्ड स्वयं उत्तरदायी था क्योंकि उसने सेनापति की इच्छा के विरुद्ध उसे नियुक्त किया था। सेनापति कंधार के कमांडर जनरल नाट, जोकि वीर सैनिक था, वहां नियुक्त करना चाहता था। दूसरी भूल, एक बहुत ही मूर्खतापूर्ण कार्य, काबुल का बालाहिसार नामक महल-गढ़ शाह शुजा को उसके हरम के लिए दे देना और अपनी सामग्री और अन्य सामान्य से पृथक् कर सेना की खुले मैदान में छावनी बना देना था जो चारों ओर से आक्रमण के लिए खुली थी। १८४१ की शरद् तक सारा देश विद्रोह और षड्यंत्र से खदबदा रहा था, परन्तु नेताओं को ज्ञान न था कि उनके अनेक अधीनस्थ अधिकारी क्या कर रहे हैं। मैकनाटन का उपजाऊ मस्तिष्क हिरात की प्राप्ति और सिखों के भी विरुद्ध था, आक्रमण की योजना बनाने में व्यस्त था। नवम्बर में वह बम्बई का शासन संभालने के लिए अफ़गानिस्तान छोड़ने की तैयारी कर रहा था और उसके उत्तराधिकारी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बर्ने ने, जो कि उसके स्थान पर काबुल में दूत बन रहा था, उसे "देश की शांत अवस्था" के समय देश छोड़ने के सम्बन्ध में बधाई दी। दूसरे ही दिन क्रोध में गुर्राती हुई भीड़ ने बर्ने के मकान को घेर लिया और उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिया, जबकि एलफिस्टन के अयोग्य नेतृत्व में डेढ़ मील दूर स्थित ब्रिटिश सेना ने बहुत देर तक कोई हस्तक्षेप न किया इसके पश्चात् ब्रिटिश अयोग्यता का दयनीय तथा अविश्वसनीय और अफ़गान निर्दयता का रिकार्ड आरम्भ होता है। सेना के नेताओं में आपसी और मैकनाटन से मतभेद था। गण्डामक-स्थित जनरल सेल और कंधार-स्थित जनरल नाट से उद्धार की प्रार्थनाएं की गयीं। परन्तु सेल ने यह जान कर कि उसके पास यातायात के काफी साधन नहीं, भारत से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए जलालाबाद लौट जाना उचित समझा और नाट ने जिस कारण यह घोषणा की कि बरफ में से होकर काबुल की ओर कूच करना असंभव है। काबुल में पड़ी सेना ने स्वीकार करने योग्य प्रत्येक महान् भूल की। एलफिस्टन ने कुछ भी हानि पहुंचाये बिना अपने भण्डारों पर अधिकार कर लेने दिया और मैकनाटनने भूखे मर जाने के भय से ११ दिसम्बर को अपमानपूर्ण संधि की। उसने वचन दिया कि अंग्रेज अफ़गानिस्तान खाली कर देंगे, दोस्त मुहम्मद स्वतन्त्र कर दिया जाएगा और शाह शुजा को पेंशन लेकर अफ़गानिस्तान में रहने अथवा अंग्रेजों के साथ चले जाने की छूट होगी। दोस्त मुहम्मद के पुत्र अक़बर खान को ब्रिटिश सेना की रक्षा में सीमा तक जाना था। परन्तु कुछ दिन पश्चात् अक़बर खान पर अविश्वास करते हुए मैकनाटन ने विरोधी सरदारों से संदिग्ध समझौता वार्ता आरम्भ कर दी। अक़बर खान से मुलाकात के प्रलोभन में उन्होंने उसे धोखा दिया और क़त्ल कर दिया।

अफ़गानिस्तान खाली कर देने की अफ़गान सरदारों से नवीन संधि हो जाने पर भी मेजर एलड्रैड पोटिंगर ने इस बात का समर्थन किया कि उनके साथ की गयी सब सन्धियों का परित्याग कर दिया जाय और सेना या तो बालाहिसार पर अधिकार कर ले और सहायता मिलने तक वहां रहे अथवा लड़ती-मरती जलालाबाद जाए, जहां सेल वीरतापूर्वक डटा हुआ है। परन्तु केवल मात्र संभव और सम्मानपूर्ण इन मार्गों में से कोई भी न अपनाया गया। बहुत-सा भंडार और तोपों के परित्याग के बाद सेना और दलानुयायी १६००० व्यक्तियों ने अक़बर खान की सहायता पर निर्भर रहते हुए, ६ जनवरी को पीछे हटना आरम्भ किया। सेना के पीछे हटने के मार्गों के चारों ओर गिलजई और दूसरे कबाइलियों के झुण्ड आक्रमण के लिए इकट्ठे हो जाते थे, अक़बर खान सेना को उनके आक्रमणों से बचाने में अनिच्छुक अथवा असमर्थ सिद्ध हुआ। आरम्भ से ही बहुत ही व्यवस्था और नियंत्रण रखने के लिए साधारण सावधानी भी न रखी गयी। सेना नायक मारे गये और सेना का उत्साह समाप्त हो गया। कुछ समय पश्चात् स्त्रियां, बच्चे और पोटिंगर तथा एलफिस्टन सहित कुछ अधिकारी अक़बर खान को बन्धक के रूप में समर्पित कर दिये गये। और शेष बरफीले तूफ़ानों और गोलियों की निरंतर बौछार में दुर्गति और अभाव में लड़ते रहे। सेना का पीछे हटना भगदड़ में बदल गया और भगदड़ निर्दयतापूर्ण क़त्लेआम में। कोई भी लेखनी इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तिम संघर्ष की भयंकर कपकपी पैदा करने वाली घटनाओं का वर्णन करने में असमर्थ है। अन्तिम मोर्चा जगदालक में लिया गया और वहां १२ अफ़सर मारे गये। एक सप्ताह पूर्व काबुल से चलने वाले १६ हज़ार व्यक्तियों में से शेष, अक़बर खान के पास १२० बन्दियों को छोड़, डा० ब्रीडन नामक एक व्यक्ति घावों और थकावट से अर्ध-मृत अवस्था में घिसटता हुआ जलालाबाद पहुंचा।

यह आश्चर्यपूर्ण नहीं कि इस कार्य के लिए मुख्यतया उत्तरदायी लार्ड आकलैण्ड इस भयोत्पादक आपत्ति से पूर्णतया निराश और उद्विग्न हो उठा। उसने इस सम्बन्ध में अपनी एक घोषणा में इसे एक "आंशिक विपर्यय" और "ब्रिटिश सत्ता की स्थिरता और साहस प्रकट करने का" नया अवसर प्रदान करने की दृढ़ता प्रकट की। परन्तु वस्तुतः वह सेल के पेशावर लौट आने के अतिरिक्त कुछ सुझाव न दे सका। उसके अधीनस्थ अधिकारी ब्रिटिश सम्मान को पुनर्स्थापित करने के लिए जो कुछ कर सकते थे, उन्होंने किया। वील्ड के आधीन पहली सहायक सेना ने खैबर में प्रविष्ट हो अली मस्जिद के किले पर अधिकार कर लिया परन्तु उसे लौटने के लिए विवश होना पड़ा। एक योग्य अधिकारी जनरल पोलक को पेशावर भेजा गया परन्तु जलालाबाद को मुक्त करने का कार्य आरम्भ करना ही चाहता था कि आकलैण्ड ने शासन की बाग-डोर छोड़ दी। नया गवर्नर-जनरल लार्ड एलिनबरो उचित ख्याति सहित भारत आया। वह अपने पूर्वाधिकारी की अपेक्षा योग्य व्यक्ति था। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष के पद पर रह वह तीन अवसरों पर अपने साहस और चरित्र का परिचय दे चुका था। वह चमत्कृत ढंग का प्रत्युत्पन्न और वक्तृत्व कला में प्रवीण, अपने में भरोसा रखने वाला और अपेक्षाकृत हठी था, इसीलिए उसके मित्र विलिंगटन के ड्यूक ने उसे सचेत करना आवश्यक समझा कि, "सावधानी और शील स्वभाव की आवश्यकता है।"

ज्यों ही वह भारत पहुंचा त्रिदलीय समझौते के समर्थन के लिए उसने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार "अपनी सेनाओं को अब और अधिक संकट में न डालेगी और न उन सेनाओं द्वारा भारतीय साम्राज्य को।" उसका ध्येय अफ़गानिस्तान में अपनी सेनाओं को बचाने और "शत्रु को संकेत करने तथा निर्णयात्मक चोट पहुंचाने से था।" परन्तु महीने के अन्दर ही हाकलजई में जनरल इंग्लैण्ड की पराजय और पालमर द्वारा गज़नी का समर्पण, उसके निश्चयों के लिए घातक घटनाएं थीं। अन्तःप्रेरणा से उसने निश्चय किया कि बिना किसी प्रतिशोध और बन्दियों की मुक्ति के यत्न के शीघ्र ही सेनाएं वहां से बुला ली जायँ। नाट को आज्ञा दी गयी कि वह कंधार छोड़ दे और पोलक पेशावर आ जाय। सेना के लिए यह आज्ञा "वज्रपात के समान" थी क्योंकि उस समय तक उसकी स्थिति काफी दृढ़ हो चुकी थी। पोलक ने ५ अप्रैल को खैबर की राह कूच किया था, उसी दिन मन्द भाग्य शाह शुजा एक हत्यारे के हाथ पड़ गया। वह दस दिन बाद जलालाबाद पहुंचा। जैसा कि एलिनबरो ने नाम दिया है, उसे वहां "महत्त्वपूर्ण रक्षक सेना" मिली परन्तु वह उस पर बुरी तरह झपटा और भयंकर युद्ध में उसे पराजित कर दिया, जबकि नाट का भी पहले की अपेक्षा कंधार पर दृढ़ अधिकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। पोलक और नाट ने पीछे हटने की आज्ञा का पालन किया और देरी का कारण यातायात के साधनों की कमी बताया। भारत में रोष फैल गया और एलिनबरो ने अनुभव किया कि उसने भूल की है। संभवतः गवर्नर-जनरल ने यह निर्णय करने में भूल की, क्योंकि उसे भारत में आये अभी एक मास भी न हुआ था और उसने सारे तथ्यों को पूरी तरह समझा भी न था। परन्तु एलिनबरो ने विशेषज्ञों की सम्मति हठपूर्वक मानी और आज्ञा वापिस न लेकर स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। जुलाई में उसने अपनी आज्ञा को फिर दोहराया, परन्तु नाट को यह सुझाव दिया कि यदि वह उपयुक्त समझे तो बोलान दर्रे की अपेक्षा खैबर द्वारा गज़नी और काबुल होकर भारत लौटे। पोलक को छूट दी गयी कि वह उसे सहयोग दे। मानचित्र पर एक दृष्टि डालने से गवर्नर-जनरल की आज्ञा की शब्द रचना की ओछी वक्रोक्ति प्रकट हो जाती है। आलोचकों ने शीघ्र ही अनुभव किया कि जनरलों पर किस प्रकार अनुदारतापूर्वक निर्णय करने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया। परन्तु उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस पर अमल किया। पोलक ने २० अगस्त को जलालाबाद से प्रयाण किया, जगदालक और तेजिन में अफ़गानों को पराजित किया तथा १६ सितम्बर को एक बार फिर बालाहिसार पर अंग्रेजी पताका फहरायी। दूसरे दिन नाट उससे आ मिला। उसने अपने मार्ग में गज़नी की किलेबन्दियों को नष्ट कर दिया और एलिनबरो की आज्ञा से महमूद गज़नी के मक़बरे के दरवाजे ले आया, जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि गज़नी ई० सन् १०२४ में गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर से ले गया था। यूरोपियन बंदियों को मुक्त करवा लिया गया जिन्हें अनेक रक्षक एक स्थान से दूसरे स्थान पर भगाये लिये फिरते थे। भवनों को नष्ट करने के अक्षम्य कार्य द्वारा काबुल का बड़ा बाज़ार तोपों से उड़ा दिया गया तथा ध्वस्त करने के उपरान्त १२ अक्तूबर को नगर खाली कर दिया। गवर्नर-जनरल लौटती हुई सेनाओं को महान् ऐतिहासिक जय ध्वनि के साथ फिरोजपुर में मिला। उसने एक धुआंधार घोषणा में भारतीय राजाओं से कहा कि, "हमारी विजयी सेनाएं अफ़गानिस्तान से सोमनाथ मन्दिर का द्वार ले आयी हैं और लुटा-पिटा महमूद का मक़बरा गज़नी के अवशेषों की ओर निहार रहा था। आठ सौ वर्ष का बदला चुका दिया गया।" परन्तु इस निरर्थक उक्ति की मुसलमानों ने अवहेलना की और हिन्दुओं को अपने प्राचीन इतिहास की याद हो आयी —जबकि पुरातनवेत्ताओं ने बताया कि वह द्वार ११वीं शताब्दी से बहुत बाद का बना है। प्रसिद्ध घोषणा के अनुसार सफल युद्ध का यह "शानदार विजयोपहार" आगरा किले के काठ-कबार वाले कमरे की भेंट हो गया और भारत स्थित अंग्रेजों को यह अनुभव हुआ कि गवर्नर-जनरल और संसार की दृष्टि में उपहास की वस्तु बन गये हैं। दोस्त मुहम्मद को बन्धन मुक्त कर दिया गया और उसने अफ़गानिस्तान जाकर शीघ्र ही अपना राज्य स्थिर कर लिया। उसका पश्चाद्वर्ती जीवन यह निर्देश कर रहा था कि २० हज़ार जानें और डेढ़ करोड़ पौंड नष्ट करना कितना व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण कार्य था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २६

लार्ड एलिनबरो के आधीन सिन्ध को ब्रिटिश राज्य में मिलाना

अफ़गान युद्ध के पश्चात् सिन्ध की विजय का कार्य आरम्भ हुआ। यह कार्य इस युद्ध का नैतिक और राजनैतिक परिणाम था।

सिन्ध उस प्रदेश का नाम है जो पंजाब के दक्षिण में सिन्धु नदी के दोनों ओर तथा समुद्र तक विस्तृत है। यह नदी इस प्रदेश का जीवन है और इसे उपजाऊ बनाती है, परन्तु यह दोनों ओर से बंजर और तप्त रेगिस्तानों से घिरा हुआ है। सिन्ध क्रमानुसार पहले मुग़लों और ईरान के नादिरशाह के आधीन रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् कुछ समय अफ़गानिस्तान से इसका सम्बन्ध रहा।

१८वीं शताब्दी से लेकर इस देश में मूलतः बलोचिस्तान से आये हुए तालपुर क़बीले के अनेक सरदारों अथवा अमीरों का राज्य था। इनमें से महत्त्वपूर्ण राज्य करीमपुर, मीरपुर और हैदराबाद में थे, और इनमें से प्रथम अन्य शेष पर अपनी व्यर्थ की सत्ता का दावा करता था।

भारत स्थित अंग्रेज अनेक वर्षों से सिन्धु की ओर ललचायी दृष्टि से देख रहे थे, परन्तु थट्टा में पहले जो कारख़ाना बनाया गया था उसका परित्याग कर दिया गया। १८०९ में (१८२० में पुनः नवीकरण) अमीरों से संधि की गयी कि वे अपने देश में "फ्रांसीसी जाति के लोगों" को बसने न देंगे। परन्तु जैसा कि पहले ही वर्णन किया गया है, १८३१ में बर्ने से पूर्व यूरोपियनों ने सिन्ध की खोज न की थी, जबकि वह सिन्धु की ओर से लाहौर गया था। एक सैयद ने कहा, "ओ हो, बड़े दुःख की बात है, अब सिन्धु हाथ से गया क्योंकि अंग्रेजों ने नदी को देख लिया है।" यह भविष्यवाणी पूर्णतया सच हुई। १८३१ में रणजीतसिंह ने लार्ड विलियम बैन्टिक के सामने यह प्रस्ताव रखा कि कम्पनी और वह दोनों मिलकर सिन्धु का विभाजन कर लें परन्तु गवर्नर-जनरल ने इस सुझाव पर बात करने से भी इन्कार कर दिया। १८३२ में अमीरों ने अनिच्छापूर्वक सन्धि की (१८३४ में नवीकरण) कि सिन्ध के मार्ग और नदियां "हिन्दुस्तानी व्यापारियों" के लिए खोल दिए जायँ, परन्तु सशस्त्र जलयान और सैन्य भण्डार देश में से न गुज़र सकेंगे। एक और अधिकरण में, जिससे अंग्रेजों द्वारा अपने राज्य को हड़पे जाने का भय स्पष्ट है, इस प्रकार लिखा है कि, "दोनों अनुबंधित दल अपने को इस बन्धन में बांधते हैं कि वे एक दूसरे के राज्य की ओर ललचायी दृष्टि से न देखेंगे।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८३४ और १८३६ में रणजीतसिंह पुनः सिन्ध को जीतने का इरादा कर रहा था, जो स्पष्टतः उसकी कृपा पर आश्रित था। भारत सरकार ने सिख शासक को यह चेतावनी देकर कि वह सिन्ध को उसे अपने अधिकार में न करने देगी; अमीरों को क्रियात्मक रूप में अपने संरक्षण में ले लिया था। इस सेवा के बदले में अंग्रेज सोचते थे, और संभवतः उनका यह सोचना ठीक ही था, कि वे अमीरों से ऐसी शर्तें निश्चित कर सकते हैं जो उनके लिए लाभदायक हों और उन्होंने १८३८ में हैदराबाद में ब्रिटिश रैजीडेंट रखने की अनिच्छामिश्रित स्वीकृति प्राप्त कर ली। दुर्भाग्य से उन्होंने वहीं तक बस न की। लार्ड आकलैण्ड और उसके मंत्रिमंडल के सचिवों के आधीन भारत में ब्रिटिश नीति विवेकशून्यता के निम्न स्तर तक पहुंच गयी और यह स्पष्ट तथ्य है कि इसके पश्चात् सिन्ध से जो व्यवहार हुआ यदि वह राजनीतिक रूप में कार्यसाधक था तो नैतिक रूप में समर्थन करने योग्य न था।

अफ़गान युद्ध के फूट पड़ने पर यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सेनाएं सिन्ध की राह कूच करें। यह कार्य १८३२ की संधि का भंग था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत सरकार का यह विचार था कि वह किसी निर्बल पक्ष के साथ की गयी संधि में वैधानिक रूप में परिवर्तन केवल भंग करने की घोषणा द्वारा कर सकती है। तदनुसार अमीरों को सूचित कर दिया गया कि, "जब तक यह संकट है,.....संधि के जिस अधिकरण द्वारा सिन्धु का प्रयोग सैन्य भण्डारों के यातायात के लिए नहीं हो सकता, आवश्यक रूप में स्थगित किया जाता है।" इससे आगे बढ़ उसने शाह शुजा के मैट के दावे के अनुसार उनसे भारी राशि मांगी जो उसके काबुल में न होने के कारण अमीरों ने स्वाभाविक रूप में बंद कर दी थी। इस पर अमीरों ने हस्ताक्षर और मुहरयुक्त कागज़ात उपस्थित किये जिनमें शाह शुजा ने उन्हें स्वयं १८३३ में यह अधिकार दिये थे। ब्रिटिश रैजीडेंट ने कहा कि, "इसका क्या निबटारा हो, मुझे कुछ नहीं सूझता।" परन्तु आकलैण्ड इतना शीघ्र निराश होने वाला न था। उनसे राशि बलपूर्वक मांगी गयी और अभागे अमीरों को हैदराबाद पर आक्रमण के भय से फरवरी १८३९ की संधि करने पर विवश किया गया। इसके अनुसार उन्हें तीन लाख रुपया प्रतिवर्ष, उनके देश में सहायक सेना रखने के लिए देना था। उन्हें यह सूचित कर दिया गया कि "यदि आंग्ल-भारतीय राज्य और उसकी सीमा को थोड़ा भी भय हुआ तो उन्हें कुचलने और दास बनाने के लिए प्रस्तुत शक्ति देरी न करेगी।" जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त का यह निर्दयतापूर्ण समर्थन, सौभाग्य से हमारी राष्ट्रीय साख के लिए भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास में अपूर्व है। अमीरों द्वारा स्वीकृत होने पर आकलैण्ड और उसके परामर्शदाताओं ने इस संधि में स्वेच्छापूर्वक अपने लाभ के लिए परिवर्तन कर दिये और सिन्ध के सरदारों के पास हस्ताक्षरों के लिए भेज दिया। उन्होंने "इस पर आपत्ति की, गिड़गिड़ाये और अन्त में घुटने टेक दिये।" [1]

---

1. The History of the British Empire in India. By Edwarel Thornton, Vol, VI, p. 411.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिन्ध अफ़गान युद्ध के समय मूल आक्रमण और उस देश की पुनर्विजय, दोनों के समय अंग्रेजों का अड्डा था। सम्पूर्ण रूप में अमीरों ने सचाई से संधियों को निभाया और हमारी सेनाओं पर जो भयंकर संकट आया उससे भी उन्हें हमारा विरोध करने की उत्तेजना हुई। उन पर विरोध के कुछ व्यर्थ आरोप किये गये परन्तु अब प्रमाण द्वारा वे असंतोषपूर्ण मान लिये गये हैं। यह कार्य अमीरों के लिए बहुत उत्तेजक थे और लार्ड एलिनबरो ने स्वयं यह घोषित किया था कि उनका हमारे प्रति मित्रभाव बनाये रखना कठिन होगा; यदि यह आरोप सत्य भी होते तो भारत में ब्रिटिश राज्य की परम्परा के अनुसार इनकी उपेक्षा कर दी जाती। दुर्भाग्य की बात थी कि इसका निर्णय हैदराबाद स्थित रैजीडेंट औटरम पर नहीं छोड़ा गया, वह अमीरों को अच्छी तरह समझता था और वे उसे चाहते भी थे, परन्तु यह कार्य सर चार्ल्स नेपियर को दिया गया। उसे सितम्बर १८४२ में पूर्ण सैनिक और असैनिक अधिकार देकर सिन्ध भेजा गया। नेपियर वीर सेनापति था परन्तु वह हठी, शीघ्र ही क्रोध में आने वाला और अत्यन्त लड़ाका था। उसने शीघ्र ही घोषणा कर दी कि उनके विरुद्ध जो आरोप किये गये हैं वे सिद्ध हो चुके हैं और उसे १८३९ की सहायक संधि में संशोधन का अधिकार दिया गया है। नयी शर्तें जो उनके सामने उपस्थित की गयीं अथवा उन पर ठोंस दी गयीं यह थीं कि सेना को रखने के लिए तीन लाख रुपया जो नज़राना वार्षिक लिया जाता है उसके स्थान पर उन्हें कुछ प्रदेश देना पड़ेगा, सिन्धु नदी में चलने वाले ब्रिटिश जहाजों के लिए ईंधन देना होगा तथा मुद्रा निर्माण का अपना विशेषाधिकार छोड़ना होगा। भारत सरकार की ओर से रुपये का चलन होना था और उसके एक ओर "इंग्लैण्ड के सम्राट् का चित्र" रखने का निश्चय हुआ। यह अन्तिम शर्त स्पष्ट रूप में अमीरों के लिए अपने राष्ट्रीय अधिकारों का पूर्णतया समर्पण न था और इसीलिए संभवतः वे युद्ध आरम्भ करने के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में दीर्घकाल तक संधि वार्ता करते रहे। इससे पूर्व कि अमीर संधि को स्वीकार करते, नेपियर ने कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया, और उसने अपनी घोषणा से ऐसा कार्य किया कि मानो सिन्ध उसके अधिकार क्षेत्र में है। अमीरों को भयभीत करने के लिए, युद्ध घोषणा के बिना रेतीले क्षेत्र के प्रसिद्ध किले इमानगढ़ को उसने ध्वस्त कर, कूच का अनोखा मार्ग अपनाया। उन पर सबसे अधिक बुरी बात जो बीत सकती थी यह हुई कि औटरम ने उन्हें संधि पर हस्ताक्षरों के लिए विवश किया। उन्होंने ऐसा कर दिया, परन्तु ईमानदारी से हैदराबाद छोड़ देने की उसे चेतावनी दे दी। उन्होंने कहा कि वे अपने देशवासियों के कोप के प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे। तीन दिन पश्चात् उनकी चेतावनी पूर्ण हुई जबकि एक भयंकर भीड़ ने रैजीडेंट के निवास स्थान पर आक्रमण किया और वीरतापूर्ण बचाव के पश्चात औटरम को एक स्टीमर पर शरण लेने को विवश होना पड़ा। खुला युद्ध आरम्भ हो गया और १७ फरवरी को मियानी में ३००० से भी कम सेना से ३०,००० सैनिकों का सामना किया। उनके पांच हज़ार आदमियों को मार और घायल कर उन्हें बुरी तरह पराजित किया। हैदराबाद का पतन हो गया और खैरपुर के अमीर पर डाबा में एक और विजय प्राप्त की। यद्यपि अभी युद्ध होना शेष था परन्तु वह क्रियात्मक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में समाप्त हो गया। कोई भी व्यक्ति अब तक सिन्ध के सम्बन्ध में नैतिक आधार पर अंग्रेजों की नीति का सफलतापूर्वक समर्थन नहीं कर सका। यह विश्वास करना कठिन है, जैसा मि० आइनस कहते हैं, कि सिन्ध को ब्रिटिश राज्य में मिलाने का कार्य, कम या अधिक, जानबूझकर नहीं किया गया।"[1] एक योग्य और महत्त्वाकांक्षी, सम्मान प्राप्त करने को इच्छुक तथा ब्रिटिश शासन के लाभों में विश्वास करने वाले जनरल ने उसे विस्तृत करने के प्रत्येक कार्य को उचित ठहराया। इस प्रकार सूक्ष्म प्रशासनिक प्रश्न का मोटा और सीधा-सादा हल निकाला। उसने मनमानी नीति निर्धारित की और गवर्नर-जनरल ने कम्पनी के योग्य, जानकार तथा उच्चाधिकारी के विरोध पर भी उसका समर्थन किया। सर जेम्स औटरम ने सारे कार्य को अनौचित्य-पूर्ण कह कर विरोध किया। उसने हैदराबाद की लूट में से एक भी रुपये को हाथ नहीं लगाया—जिसमें से सर चार्ल्स नेपियर को ७० हज़ार पौंड हाथ लगे। संचालकों ने इस नीति का खंडन किया। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष सर जान हाबहाउस ने बाद में कहा कि यदि सब तथ्यों से परिचित होता तो एलिनबरो स्वयं इस काम की आज्ञा न देता। जब नीति के निर्माण करने वाले ने अपने पक्ष के बचाव का यत्न ही छोड़ दिया तो इसका नैतिक औचित्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। सर चार्ल्स नेपियर ने केवल यही देखा कि अमीरों की सरकार निर्बल और अयोग्य है। वह विवेकपूर्वक यह विश्वास करता था कि ब्रिटिश शासन से देश को अनेक लाभ प्राप्त होंगे और उसने इन बातों की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि सिन्ध के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें लाभ पहुंचाने में उसने कितने वैधानिक, प्रविधिक और नैतिक विचारों को नष्ट कर दिया। उसमें एक कटुहास्य भावना थी जो इस कठोर उदारता के लिए राजनीतिक मंगलभाषित को अवहेलना की दृष्टि से देखती है। वह अपनी दैनिन्दनी में लिखता है, "हमें सिन्ध पर अधिकार का कोई अधिकार नहीं, तो भी हम ऐसा करेंगे और यह शठता का बहुत लाभदायक उदारतापूर्ण कृत्य होगा.....मेरी वर्तमान स्थिति मेरी रुचि की नहीं; हमें यहां आने का कोई अधिकार न था और हम पर अफ़गान कूंची से रंग पोता जा रहा है।"[2] सिन्ध को अगस्त १८४३ में ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया और अमीर निर्वासित कर दिये गये। देश में सर चार्ल्स नेपियर ने शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर दी। उसने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय उत्साह और योग्यता का परिचय दिया।

यद्यपि एलिनबरो ने ग्वालियर के सामन्त राज्य के प्रति सौम्यता प्रदर्शन में भूल नहीं की परन्तु वहां उसने जो कार्य किया वह औचित्य के उपयुक्त है। अन्ततः उसने वहां किसी प्रदेश की मांग न की, परन्तु उसे ब्रिटिश सत्ता के प्रति भयंकर संकट का सामना हुआ। १८१८ के मराठा युद्ध की समाप्ति पर मराठा सरदारों में अत्यधिक शक्तिशाली सिंधिया ही रह गया था। सतलुज के दक्षिणी भाग में केवल उसी के पास

1. A Short History of the British in India, By A. D. Innes.

2. The life & opinions of General Sir C. J. Napier, Ed. By Sir W. Napier, Vol VI, p. 218, 290.

CC-0. Agamnigam Research Foundation Chandigarh.

दुर्दान्त देशी सेना थी। दौलतराव सिंधिया १८२७ में मर गया और १८४३ में नाबालिग़ गद्दी पर बैठा ; भूतपूर्व राजा की विधवा रानी ने लार्ड एलिनबरो की स्वीकृति से रीजेन्ट को कार्य से पृथक् कर दिया । उसके पश्चात् षड्यन्त्र-प्रति-षड्यन्त्र आरम्भ हो गये——उनसे प्रतीत होता था कि इनका परिणाम गृहयुद्ध होगा। अत्यधिक भय तो सेना की स्थिति से था । इसमें ४० हज़ार सैनिक थे । यह सेना एक छोटे-से सामन्त राज्य के लिए बहुत बड़ी थी तथा राज्य के आपसी झगड़ों और मतभेद में उसका महत्त्व और प्रभाव सरकार पर बढ़ता जा रहा था । भले ही यह भयंकर और दुर्दान्त थी परन्तु यदि वह सिख युद्ध को सन्निकट न देखता तो वह उस सम्बन्ध में हस्तक्षेप न करता। सितम्बर १८४३ में सिख महाराजा की हत्या कर दी गयी । राजप्रासाद संबंधी क्रान्तियां आरम्भ हो गयीं; वहां भी खालसा सेना राज्य की नीति में भाग ले रही थी और बाग़वत करने को ही थी। एलिनबरो ने निश्चय किया कि वह इन दो अव्यवस्थित सेनाओं के सहयोग का अवसर दे, संकट मोल नहीं ले सकता। उसने घोषणा की कि, "कम्पनी सिंधिया के प्रदेश में अमित्र सरकार की आज्ञा नहीं दे सकती और इन प्रदेशों को ऐसी शासन-व्यवस्था के बिना भी नहीं देख सकती जो व्यवस्था स्थिर करने योग्य और इच्छुक हो।" जो अंग्रेज सिन्ध के मामले में संधि-दायित्वों के प्रति इतने दृढ़ न थे, यहां एकाएक प्राचीन परम्परा के सम्बन्ध में भी इतनी सूक्ष्म नियमबद्धता पर उतर आये। एलिनबरो ने अप्रत्याशित रूप में लार्ड वेलेजली की सिंधिया से १८०४ की संधि के अनुसार सहायक सेना रखने की प्रार्थना की। यह संधि हस्ताक्षरों के उपरान्त ही रद्दी कागज़ के समान थी और पश्चाद्वर्ती संबंधों के कारण उसकी उपेक्षा कर दी गयी थी। दो ब्रिटिश सेनाएं चम्बल की ओर बढ़ीं, यद्यपि एलिनबरो इस प्रश्न को शान्तिपूर्ण संधि वार्ता से सुलझाना चाहता था परन्तु ग्वालियर की सेना ने मामला अपने हाथ में ले लिया। इसने गवर्नर-जनरल और रियासत के शासक में बैठक होने ही न दी तथा २९ दिसम्बर १८४३ को ब्रिटिश सेना से दो युद्ध किये। ग्वालियर के उत्तर में महाराजपुर में सर ह्यूज गफ ने सामने की आशा न करते हुए अचानक शत्रु पर धावा बोल दिया। यहां सेनापतित्व के लिए कोई स्थान न था, परन्तु केवल कठोर युद्ध द्वारा ही विजय प्राप्त की। शत्रु के तीन हज़ार सैनिक मरे और घायल हुए, परन्तु अंग्रेजों की हानि भी कम न थी——उधर भी हताहतों की संख्या ७९७ तक पहुंची। उसी दिन जनरल ग्रे ने पनियार में द्वितीय और कम व्यय साध्य युद्ध जीता।

परिणाम महत्त्वपूर्ण थे। यद्यपि सिंधिया के राज्य समग्र रूप में सम कर दिये गये थे, ग्वालियर निश्चित रूप में रक्षित राज्य बना लिया गया । उसका शासक उस समय नाबालिग़ था। इसका भाव यह था कि आगामी दस वर्ष के लिए रियासतें ब्रिटिश शासन-प्रबन्ध में आ गयीं और राजा की अभिभावक कार्यकारिणी को रैजीडेण्ट के आदेशानुसार कार्य करना पड़ा। दो भयंकर पराजयों से सेना भयभीत हो गयी और उसमें कटौती करके केवल ९ हज़ार सैनिक रखे गये तथा १० हज़ार सैनिकों की ब्रिटिश सेना भरती की गयी। इस प्रकार लार्ड एलिनबरो की दूरदर्शिता से ग्वालियर और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाहौर की दो असंतुष्ट सेनाओं की एकता का भय समाप्त हो गया। यह पर्याप्त आश्चर्य की बात है, जबकि विद्रोह के दिनों में प्रसिद्ध मंत्री दिनकर राव के आधीन संरक्षण में सिंधिया की सेनाएं राज्यभक्त रहीं, ब्रिटिश सेना ने विद्रोह कर दिया, अफ़सरों की हत्या कर दी और कानपुर में नवम्बर १८५७ को जनरल विधम को करारी शिकस्त दी। विजयोन्मत्त लार्ड एलिनबरो को कलकत्ता पहुंचते ही जब यह समाचार मिला कि संचालकों ने अपने वैधानिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए उसकी वापिसी की आज्ञा दी है, तो वह स्तम्भित रह गया। उन्होंने उसकी अस्थिर बुद्धि पर अविश्वास किया; उन्होंने उसकी सिन्ध सम्बन्धी नीति से असहमति प्रकट की और उन्होंने उस पर यह आरोप लगाया कि वह नियमित रूप में असैनिक हितों को सैनिक सेवा के आधीन करता जा रहा है। उसके इंग्लैण्ड लौटने पर उसे अर्ल की पदवी दी गयी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २७

प्रथम और द्वितीय सिख युद्ध और पंजाब विजय : लार्ड हार्डिंग और लार्ड डलहौजी

लार्ड एलिनबरो, जो कम से कम दूर की बात विचार सकता था, ने यह अनुभव किया था कि निकट भविष्य में सिख युद्ध होगा। संचालकों ने यह स्वीकार कर लिया था कि संकट को अधिक देर तक टाला नहीं जा सकता, परन्तु वे नहीं चाहते थे कि एलिनबरो उसे आरम्भ करे, उन्होंने विलिंगटन के ड्यूक के सुझाव पर ६० वर्षीय वीर सर हेनरी हार्डिंग को उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

जून १८३९ में रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब में दीर्घ स्थायी क्रान्ति की-सी अवस्था थी। संपूर्ण-वास्तविक शक्ति खालसा सेना के हाथ में थी, जो अपने प्रतिनिधियों जिसे पंचायत अथवा पांच की समिति कहते थे और जो बहुत कुछ अंग्रेजी गृहयुद्ध में चार्ल्स प्रथम की सेना के विरोधी आन्दोलन कर्ताओं के समान थे, लाहौर के नाममात्र के शासकों को अत्यधिक भयभीत किये हुए थे। क्रान्ति और हत्याओं की निराशाजनक शृंखला जारी थी, इसके बदले में सेना राज्यवंश के उन सदस्यों को गद्दी पर बिठाने और उतारने में लगी हुई थी जो अधिक से अधिक उसके पक्ष का समर्थन करते थे। यह कठपुतली राजा इतने निस्सहाय थे कि १८४१ में सिख राज्य की गद्दी पर बैठे हुए शेरसिंह ने अपनी राजद्रोही सेना के विरुद्ध लार्ड आकलैण्ड से सहायता की प्रार्थना की। एक के बाद दूसरे राजा और मंत्रियों की हत्याएं की जा रही थीं। सेना ने अपने यूरोपियन कैप्टिनों कोर्ट और अविताबाइल को भी दूर सीमा पार भगा दिया था जिन्होंने उसको आश्चर्यपूर्ण संबद्धता और नियन्त्रण प्रदान किया था। अन्ततः सेना ने अपने महान् सरदार के सम्माननीय पुत्र दलीपसिंह के गद्दी के दावे को स्वीकार किया जिसकी मां अर्थात् रानी जो योग्य, षड्यन्त्रकारिणी और लम्पट स्त्री थी, अपने अभीष्ट मंत्री और उपपति लालसिंह की सहायता से नाममात्र के लिए रीजेन्ट के रूप में कार्य कर रही थी। यद्यपि उसने सेना को वश में कर लिया था और उसकी चापलूसी करती थी पर उसकी महान् शक्ति से भयभीत भी थी। उसे अपनी सुरक्षा की एक आशा इस बात में दिखायी देती थी कि वह उसे ब्रिटिश शक्ति को चुनौती देने के लिए उकसाये। उसका विचार था कि या तो सैना अपनी असीम शक्ति से विजयी होगी और हिन्दुस्तान का राज्य सिखों के पास आ जाएगा अथवा वह संघर्ष में पड़कर नष्ट हो जाएगी जिसके बाद वह स्वयं अंग्रेजों से शान्ति की बात कर लेगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसकी स्थिति और अधिक बिगड़ न सकती थी, अच्छी ही हो सकती थी। प्रथम सिख-युद्ध की इस महत्त्वपूर्ण बात को निरन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है। नेताओं के उत्साह भंग हो चुके थे। वे विजय से उतना ही घबराते थे जितना पराजय से। हम एक ऐसी श्रेष्ठ सेना से युद्ध कर रहे थे जो बिना सेनानायक अथवा एक सर्वोच्च नियंत्रक से रहित थी।

१३ दिसम्बर १८४५ को सिखों ने सतलुज पार करना आरम्भ किया। फिरोजपुर-स्थित ब्रिटिश कमांडर ने उनके इस कार्य पर आपत्ति करने का यत्न न किया क्योंकि उस समय और उस स्थान पर हम कुछ सीमा तक युद्ध के लिये तैयार न थे। इससे ब्रिटिश नीति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यद्यपि कुछ वर्षों से एलिनबरो और हार्डिंग की दूरदर्शिता के कारण सीमा शनैः-शनैः दृढ़ कर दी गयी थी और सेना ४० हज़ार सैनिकों तथा सौ तोपों तक बढ़ा दी गयी थी। तथापि कुछ आलोचकों का कहना है कि सेना को एकत्र करने और हलचलों के कारण ही युद्ध को उत्तेजना मिली, परन्तु इस सम्बन्ध में अभी अधिक कुछ न किया गया था, इसीलिए विरोधियों ने इस असावधानी की कड़ी आलोचना की। जब युद्ध मूलतः अपने लक्षण प्रकट करता है और अन्ततः फूट पड़ता है तो नीतिज्ञों को सदैव ऐसी दुविधा का सामना करना पड़ता है। यदाकदा राजनैतिक कारणों से सामरिक अनुशासन ढीला कर देना चाहिए। शान्ति के सब अवसरों को समाप्त होने से बचाने के लिए कुछ संकट मोल लेना भी उचित है क्योंकि शान्ति के प्रति तब तक निराश नहीं होना चाहिए जब तक आवेश में प्रथम गोली न दाग़ दी जाए।

सिखों की प्रगति के समाचार पर गवर्नर-जनरल ने सतलुज से पूर्व के सब स्थानों को ज़ब्त करने की घोषणा की तथा अम्बाला और लुधियाना से फिरोजपुर की रक्षा के लिए सेनाएं भेजीं। पहला युद्ध १८ दिसम्बर को मुदकी नामक स्थान पर हुआ। ब्रिटिश सेना सर ह्यूज गफ के आधीन थी और २२ मील के कूच के पश्चात् उसका शत्रु सेना से सामना हुआ। "तारों के धुन्धले प्रकाश में डेढ़ घण्टे के इस भयंकर युद्ध में" सत्रह तोपों की हानि के साथ सिख पराजित हुए, परन्तु ब्रिटिश सेना को बहुत हानि उठानी पड़ी। उसके ८७२ सैनिक हताहत हुए। मृत सैनिकों में जलालाबाद का रक्षक जनरल सर राबर्ट सेल भी था। विजयी सेना फिरोजपुर की ओर बढ़ी, जहां लालसिंह ३५ हज़ार सिख सेना सहित दृढ़ परिखाओं के पीछे प्रतीक्षा कर रहा था। यद्यपि मुदकी के युद्ध के पश्चात् गवर्नर-जनरल ने सर ह्यूज गफ के आधीन द्वितीय सेनापति का पद अपेक्षाकृत दुष्कल्पनाशीलता से सम्हाल लिया तथापि अब उसने सर जॉन लिटलर के फिरोजपुर से कुमुक लेकर आने तक आक्रमण करने में गफ को देरी करवा दी। सैनिकों की संख्या वृद्धि में समय नष्ट करना उचित न था। अतः युद्ध शीत ऋतु के छोटे दिन के कारण दिसम्बर २१ की सायंकाल के चार बजे तक आरम्भ न हो सका। ब्रिटिश सेना ने पहले भयंकर आक्रमण किया परन्तु दो डिवीज़न अस्थायी रूप में पीछे धकेल दिये गये और गहन अन्धकार हो जाने के कारण युद्ध बन्द करना पड़ा तथा अंशतः मोर्चे बंदी तोड़ दी गयी। सेना ने रणक्षेत्र में ही पड़ाव डाल दिया। उनका एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे से सम्बन्ध नहीं रह गया था और उस पर शत्रु की तोपों की गोलाबारी किसी भी समय हो सकती थी। जैसा कि सेनापति ने स्वीकार किया है कि, "उस काल-रात्रि में हमारी अवस्था अत्यन्त संकटापन्न तथा भयानक थी", और हम विनाशकारी पराजय के सन्निकट थे। सिख सेना के नेताओं के विश्वासघाती चरित्र के कारण उनमें फूट पड़ चुकी थी। २२ दिसम्बर की प्रभात होते ही अनेक मोर्चों पर धावा बोल कर पूर्ण रूप से उन पर अधिकार कर लिया गया। जो भी हो, संकट टला तो नहीं था, क्योंकि एक और ताजा सिख सेना तेजसिंह के नेतृत्व में उपस्थित हो गई परन्तु सेना की जांच के पश्चात् यह जाने बिना पीछे लौट गयी कि ब्रिटिश सैनिक भूखे मर रहे हैं, थकावट में चूर हैं और गोले बारूद की भी उनके पास कमी है। अंग्रेजी सेना के १०३ अफसरों सहित ६९४ सैनिक मरे और १७२१ आहत हुए। अनुमानतः आठ हजार सिख खेत रहे और ७३ तोपें अंग्रेजों के हाथ लगीं।

इस कठोर पराजय के पश्चात् सिख सतलुज पार लौट गये, परन्तु जब उन्होंने देखा कि अंग्रेज सेना दिल्ली से आने वाली भारी तोपों और गोला बारूद की प्रतीक्षा में हैं और पीछा नहीं कर रही, वे फिर लौट आये और उनकी एक डिवीजन ने लुधियाना पर आक्रमण कर दिया। उन्हें रोकने के लिए सर हैरी स्मिथ (उपरान्त केप कालोनी का गवर्नर) को भेजा गया। बद्दोवाल नामक स्थान पर उन्हें रोकने में असमर्थ रहने पर उसने वीरतापूर्वक अलीवाल में २८ जनवरी १८४६ को उन्हें पराजित किया। उसने ६७ तोपों पर अधिकार कर लिया और उन्हें सतलुज तक पीछे धकेल दिया।

अंतिम युद्ध नदी के ब्रिटिश तट के एक गांव सोब्राओं में १० फरवरी को हुआ। सिखों ने असाधारण रूप में मोर्चेबन्दी की और आवश्यकता पड़ने पर नावों के पुल द्वारा प्रत्यावर्तन का भी प्रबन्ध कर लिया। दो घंटे की भयंकर गोलाबारी के पश्चात् सिख मोर्चा भंग हो गया, यद्यपि इसके लिए सिर-धड़ की बाजी लगा देनी पड़ी। सिख सेनाओं के बोझ से नौकाओं का पुल टूट गया और भयंकर हिंसक मारकाट का दृश्य उपस्थित हो गया। नदी की धारा के मध्य लगभग दस हजार शत्रु सैनिकों को मार दिया गया—उनके खून से नदी की धारा रक्तवर्ण हो गयी। पूर्व युद्धों में अंग्रेज मृतकों के शवों से दुर्व्यवहार के कारण अंग्रेज सैनिक और भी उत्तेजित हो गये और उन्होंने शरण में लेने की चीख-पुकार को भी नहीं सुना। हमारी अपनी हानि भी अत्यधिक हुई। हताहतों की संख्या २३८३ तक पहुंची।

खालसा सेना नष्ट हो गयी, परन्तु यह युद्ध वीरतापूर्ण कृत्यों को प्रकट करने वाला सिद्ध हुआ। सिखों के सैनिक गुणों, तोपची और इंजीनियरों के रूप में उनके चातुर्य का प्रथम बार आभास मिला। युद्ध केवल ५४ दिन तक चला परन्तु इसी बीच सेना को जमकर चार भयंकर युद्ध करने पड़े—ब्रिटिश सेना को ऐसे कठोरतम युद्धों का सामना अब तक नहीं हुआ था। यह कहा जाता है कि गफ आक्रमण में पहल करने को अत्यधिक उत्सुक था और उसने सिख-सेना के मोर्चों का अन्दाज़ा पूरी तरह नहीं किया था। यद्यपि ब्रिटिश सेना काफी अधिक थी, परन्तु यूरोपियन सैनिकों की संख्या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कम होने पर भी युद्ध आनुपातिक रूप में निर्णायक था और उसका सामना एक श्रेष्ठतम सेना से था ।

हार्डिंग राजधानी लाहौर में प्रविष्ट हुआ । सिखों ने बिना उत्तेजना के ही ब्रिटिश प्रदेश को भंग किया था । उनका ख्याल था कि उनकी पूर्ण स्वतन्त्रता ही नष्ट हो जाएगी । परन्तु दो कारणों से हार्डिंग ने पंजाब का समायोजन कार्य न किया—प्रथम तो ग्रेट ब्रिटेन के वफादार और पुराने मित्र रणजीतसिंह के प्रति सम्मान प्रदर्शन के कारण; दूसरे इसलिए कि गवर्नर-जनरल को सारे प्रदेश पर अधिकार करने योग्य अपनी शक्ति में संदेह था । उनके कुछ प्रदेश को उनसे पृथक् कर और सेना की स्थायी संख्या सीमित कर सिखों को अपना राष्ट्रीय अस्तित्व बनाये रखने का एक और अवसर दिया । मार्च १८४६ की संधि द्वारा सतलुज के बायीं ओर के सारे सिख प्रदेश, जालंधर दोआब सहित (सतलुज और व्यास के मध्य का क्षेत्र) त्याग दिये गये । डेढ़ करोड़ रुपया दण्ड के रूप में देना अथवा ५ लाख में काश्मीर को त्याग देना निश्चित किया गया । सिखों ने दूसरे विकल्प को स्वीकार कर लिया । जम्मू के राजा गुलाबसिंह को काश्मीर १० लाख पौंड में दे दिया गया । वह पंजाब युद्ध के समय तटस्थ रहा था । अब से उसकी सेना २० हजार पदातियों तथा १२ हजार घुड़सवारों तक सीमित कर दी गयी । संधि की यह प्रमुख धाराएं थीं । अब छोटे महाराजा की सरकार के समर्थन का यत्न किया जाना था और इस बात पर सहमति हुई कि सरकार के पुनर्निर्माण के समय वर्ष के अन्त तक ब्रिटिश सेना राजधानी लाहौर में रहेगी । कर्नल हेनरी लॉरेन्स को रैजीडेण्ट के रूप में वहां रखा गया । लालसिंह प्रमुख मंत्री था । गवर्नर-जनरल, जिसे इस समय तक बाइकाऊण्ट और सेनापति गफ, जिसे लार्ड की पदवी मिल चुकी थी, २५० सिख तोपों सहित खालसा सेना की भयंकर पराजय का भारतीयों पर प्रभाव डालते हुए कलकत्ता लौटे ।

परन्तु पंजाब की राजनीतिक स्थिति अभी शोचनीय थी । सौभाग्य से हेनरी लारेन्स ने सहानुभूतिपूर्ण शासन-प्रबन्ध और व्यक्तित्व द्वारा अनेक सरदारों अथवा मुखियाओं पर आश्चर्यपूर्ण प्रभाव डाला, यद्यपि पहले-पहल राजमाता और उसके दरबारियों ने इसका विरोध किया । शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि लालसिंह का काश्मीर के महाराजा पर विश्वासघातपूर्ण हत्या के यत्न में हाथ है, अतः उसे मंत्रि-पद से हटाना आवश्यक समझा गया । मित्र सरदारों ने अभ्यर्थना की कि ब्रिटिश सेना वर्ष की समाप्ति पर भी नहीं हटायी जाए, अन्यथा फिर खालसा सेना अधिरूढ़ हो जाएगी ।

परिणामस्वरूप दिसम्बर १८४६ में, आठ सरदारों की शासक-सभा नियुक्त करने और महाराजा के वयस्क होने अर्थात् आठ वर्ष तक ब्रिटिश सेना रखने की नयी संधि की गयी । हैनरी लॉरेन्स इस शासक-सभा का अध्यक्ष और वस्तुतः पंजाब का शासक बना । यह पद महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का था । उसने अपने सहोदर जार्ज और जान लारेन्स, एबट, एडवर्ड्स, हडसन, निकलसन और लम्सडन आदि प्रसिद्ध सीमान्तीय अधिकारियों को अपने यहाँ एकत्र किया और पंजाब को सभ्य तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

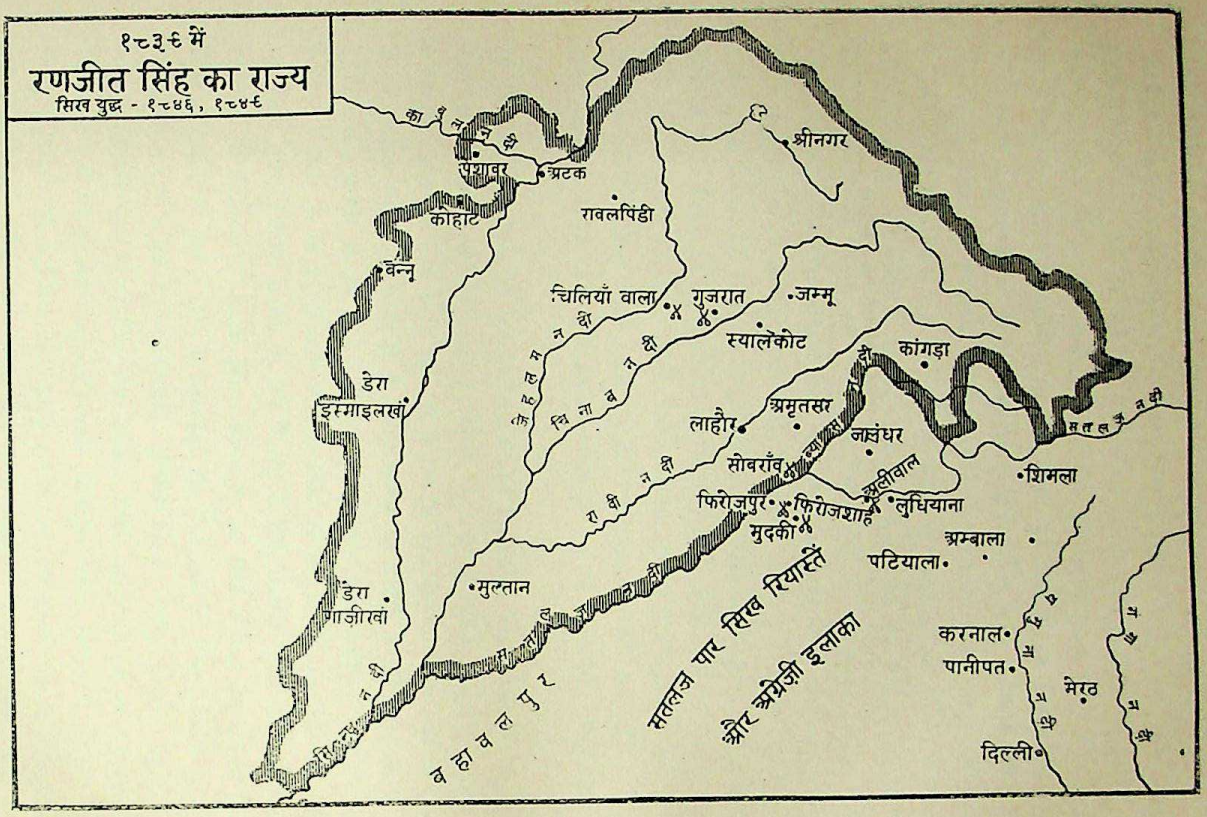

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुशिक्षित बनाने का काम आरम्भ कर दिया, जो अन्ततः उनके अधिकार में ही आ गया। सती प्रथा, बाल-वध और अंग-भंग करके दंड देने तथा सिख राज्य के अन्य दोषों के विरुद्ध धर्म-युद्ध आरम्भ किया गया। भू-राजस्व का बोझ हल्का किया गया और रोषजनक आगम-शुल्कों को समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इन सुधारों से जन-साधारण को राहत मिली परन्तु मुखिया सरदारों के लिए यह अप्रिय थे। राजमाता ने षड्यंत्रों और कपट योजनाओं द्वारा राष्ट्रीय और विदेशी विरोधी दल का समर्थन किया। इसलिए अगस्त १८४७ में यह आवश्यक समझा गया कि उसे लाहौर से हटा दिया जाए। शेष खालसा सेना ने इस कार्य को उद्विग्नता से देखा। उसे अभी ब्रिटिश सेना से अपनी हीनता का बोध न हुआ था और वह अपनी पराजयों को अपने नेताओं का विश्वासघात कहते थे। संभाव्य रूप से विद्रोह देर से अथवा शीघ्र होता, परन्तु यह संभवतः अस्थायी रूप में लॉरैन्स के वहाँ से हट जाने के निकट आ गया। लॉरैन्स जनवरी १८४८ में अवकाश पर इंग्लैण्ड चला गया। लार्ड हार्डिंग उसके साथ लौटा। उसके अल्पकालीन शासन-प्रबन्ध का केवल पंजाब से ही संबंध था। उसे केवल विजेता के रूप में ही नहीं वरन् अर्थशास्त्री के रूप में भी यश प्राप्त हुआ था और युद्धोपरान्त उसने सेना में भारी कमी कर दी थी। ५० हजार पदाति सेना इस आधार पर भंग कर दी गयी कि ग्वालियर और पंजाब की दुर्दान्त सेना समाप्त हो चुकी और नष्ट कर दी गयी है।

डलहौज़ी जनवरी १८४८ में कलकत्ता पहुंचा। वह अपनी आयु के ३६वें वर्ष में था और अब तक के गवर्नर-जनरलों में छोटा था। उसने व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष के रूप में अतीव ख्याति प्राप्त की थी परन्तु उसके मानसिक गुणों का अभी कुछ ही लोगों को ज्ञान था। यह चाहे भलाई के लिए अथवा बुराई के लिए परन्तु लार्ड वैलेजली के पश्चात् से उसे अपने अन्य पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा भारतीय घटना-चक्र पर अधिक गहरी छाप छोड़नी थी। बिलकुल आरम्भ में ही उसका परीक्षण हो गया क्योंकि उसके आगमन के तीन मास में ही सिखों के संबंध में उन्हें आंशिक स्वायत्तता देने की "परीक्षणात्मक नीति" असफल रही और पंजाब में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। सिख मुखियाओं का राष्ट्रीय दल ब्रिटिश प्रभाव के उपकारी प्रभावों को, जो उनके लिए अरुचिकर थे, बहुत बेचैनी और अविश्वास से देख रहे थे। प्रथम विस्फोट पंजाब के दक्षिण-पश्चिम स्थित मुलतान में हुआ। वहाँ के गवर्नर मूलराज ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया। उसके पश्चात् उसके अनुयायियों ने संभाव्य रूप में उसकी अनुमति से दो युवक ब्रिटिश अधिकारियों की निर्दयतापूर्ण हत्या कर दी। यद्यपि मूलराज ने धर्म-युद्ध की घोषणा की और सब सच्चे सिखों को अपने झंडे के नीचे संगठित होने का आवाहन किया, तथापि डलहौजी ने लार्ड गफ के परामर्श से, जो इस सम्बन्ध में काफी सावधान था, शीत ऋतु तक कोई कार्यवाही स्थगित रखने का निश्चय किया। अनेक अधिकारियों का कहना है कि यदि हेनरी लॉरैन्स लाहौर और लार्ड हार्डिंग कलकत्ता होता तो सेनाएं फौरन कूच कर देतीं और यह विद्रोह की आग और आगे न भड़कने पाती। जैसे-तैसे गवर्नर-जनरल के इस प्रश्न पर कुछ निश्चय करना बहुत कठिन था क्योंकि उसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस देश में आये तीन माह ही तो हुए थे और वह अभी इस देश के मामलों से पूर्णतया परिचित भी नहीं हुआ था, जैसा कि वह बाद में हो गया। इस बात की शंका की जा सकती है कि एक वर्ष पश्चात् तो डलहौजी अपनी प्रत्युत्पन्न और दृढ़ धारणा से सेनापति के पक्ष समर्थन के स्थान पर उसे प्रत्यादेश देता। उस समय तक कोई कार्यवाही न करने का एक राजनीतिक कारण था—जिसे कभी-कभी भुला दिया जाता है—जब तक लाहौर की सिख सरकार ब्रिटिश प्रजा की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए मांग करने में असमर्थ अथवा अनिच्छुक सिद्ध न हो जाये, क्योंकि सैद्धान्तिक रूप में यह उसी का कर्तव्य था जिसकी सत्ता के विरुद्ध वह विद्रोह कर रहा था, तब तक ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप का वैध अधिकार न था।

यद्यपि सर्वोच्च सरकार ने उचित रूप में कुछ समय के लिए अपना हाथ रोके रखा, एक युवक सैन्य अधिकारी हर्बर्ट एडवर्ड्स ने, जो सिख रीजेंसी कौंसिल के अधीन सिन्धु पार कुछ जिलों में व्यवस्था स्थापित करने का काम कर रहा था, कुछ सेना को इकट्ठा किया और मूलराज पर आक्रमण कर दिया। जैसा कि उसने अपने संबंध में कहा है कि, "यह ऐसा ही था जैसे छोटा स्काच शिकारी कुत्ता व्याघ्र पर भौंक रहा हो।" उसने दो झड़पों में सिख विद्रोहियों को पराजित कर दिया और जुलाई में उन्हें मुलतान में घुसेड़ दिया। डलहौजी ने जितना वह कर सकता था, इन कार्यों में सहायता की, यद्यपि उसने इस सम्बन्ध में कोई अधिकार न दिया था। जनरल व्हिश और एडवर्ड्स ने ७ सितम्बर को मुलतान के दृढ़ किले का नियमित घेरा डालना आरम्भ कर दिया। इसी मध्य सारे पंजाब में विद्रोह विस्तृत हो रहा था। यह ज्ञात हुआ कि महारानी मूलराज से पत्र-व्यवहार कर रही है, उसे बनारस भेज दिया गया। लाहौर स्थित ब्रिटिश रैजीडेंट ने एक बड़ी सेना देकर शेरसिंह को मुलतान का घेरा डालने वाली सेना की सहायता के लिए भेजा परन्तु वह १४ सितम्बर को शत्रु की ओर मिल गया। नाकेबन्दी करने वाली सेना को शीघ्र ही अपनी परिखाओं से वापिस हटा लिया गया और तीन मास तक घेरा न डाला गया। लाहौर स्थित रैजीडैण्ट ने बहुत कठिनाई से अपनी स्थिति बनाये रखी। खालसा सेना के पुराने सैनिक शेरसिंह की सहायता के लिए सब स्थानों पर एकत्र होने लगे और सिख नेताओं ने पेशावर के समर्पण द्वारा, एक समय के उनके कट्टर शत्रु दोस्त मुहम्मद से सहायता प्राप्त करने के लिए मैत्री की।

विद्रोह ने अब राष्ट्रीय रूप ले लिया और ब्रिटिश सरकार विवश हो गयी कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका सामना करे। १० अक्तूबर को गवर्नर-जनरल ने प्रसिद्ध घोषणा की कि "बिना चेतावनी और बिना किसी कारणवश सिख राष्ट्र ने युद्ध का आवाहन किया है तो श्रीमानो, उन्हें प्रतिहिंसा सहित यह प्राप्त होगा।" कुछ समय तक इन वीरतापूर्ण शब्दों के अनुसार आवश्यक कार्यवाही न हो सकी। १६ नवंबर तक लार्ड गफ रावी को पार न कर सका। ६ दिन पश्चात् उसने चनाब स्थित रामनगर में अपनी लाक्षणिक तीव्रता में शेरसिंह पर आक्रमण किया और अनिर्णीत युद्ध लड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनवरी में वह जेहलम तक बढ़ गया और १३ तारीख को तेरह हजार सिख सेना, जिसने परिखाओं द्वारा बढ़िया मोर्चे बन्दी की हुई थी, पर आक्रमण किया। वहाँ हमारी घुड़सवार सेना के लिए बहादुरी दिखाने का अवसर न था। चिलियांवाला का युद्ध स्पष्ट रूप में, यदि बहुत कुछ अनुचित रूप में, "एक वृद्ध वीर व्यक्ति द्वारा भावना में लड़ा गया सांध्यकालीन युद्ध", के रूप में वर्णित है। बहुत पहले यह विश्वास किया गया था कि एक सिख तोपची ने सेनापति पर गोली दागी। इस पर कुपित हो आगामी दिन की सामरिक जांच और एक ओर से आक्रमण का इरादा छोड़ दिया तथा एकाएक आक्रमण की आज्ञा दे दी। उसकी इन युक्तियों का उसी समय एकमत से खण्डन किया गया और डलहौजी ने नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष को अपने निजी पत्र में लिखा कि "इस कार्य के परिणाम की आलोचना देशरक्षक सेना का मेरे जैसा सैनिक भी करता है।"[1] मि० आर० एस० राइट ने लार्ड गफ़ की जीवनी में इस संबंध में उसके अधीन काम करने वाले की दैनंदिनी और पत्र-व्यवहार के प्रमाण पर यह दावा किया है कि युद्ध की योजना में एकाएक कोई परिवर्तन नहीं किया गया और गोली के निकट आ पड़ने से उसके "आयरिश रक्त" के खौल उठने की कथा असत्य है। वह यह भी कहता है—यद्यपि इस सम्बन्ध में उसका पक्ष-समर्थन विवादास्पद है—कि सिख मोर्चेबन्दी में परिवर्तन के कारण पीछे लौटना असम्भव हो गया और पड़ाव असुरक्षित रह गया, और जो भूलें युद्ध में हुईं वे उसके अधीनस्थ व्यक्तियों के कारण हुईं।[2] उत्तरदायित्व किसी पर भी पड़े, भूल निश्चित रूप में हुई। युद्ध का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि सिखों ने कड़े मुकाबिले के बाद अपनी मोर्चे की रेखा को छोड़ दिया परन्तु वे केवल तीन मील पीछे हटे और उन्हें १२ तोपों की हानि हुई। दूसरी ओर सिख सेना ने एक ब्रिटिश ब्रिगेड को भयंकर हानि के साथ पीछे भगा दिया, चार तोपों पर अधिकार कर लिया, तीन रैजीमेंटों के झंडे छीन लिये गये और कुछ घुड़सवार दस्तों को अपमानजनक रूप में नष्ट कर दिया गया। ब्रिटिश हानि में हताहतों की संख्या २३५७ सैनिक और ८९ अधिकारियों तक पहुंची।

युद्ध के परिणाम की इंगलैण्ड की सरकार पर कष्टपूर्ण छाप पड़ी और शीघ्रता से सर चार्ल्स नेपियर को लार्ड गफ़ के स्थान पर सेनापति नियत कर दिया, परन्तु उसके पहुंचने से पूर्व ही एक वीरतापूर्ण आक्रमण करके उसने अपनी खोई ख्याति प्राप्त की और युद्ध को समाप्त कर दिया। गुजरात का युद्ध अर्थात् "तोपों का युद्ध" २२ फरवरी को हुआ। सिख सेना में ५० हज़ार बलवान सैनिक थे, परन्तु इस बार स्थिति की भली प्रकार जांच कर ली गयी थी और गफ़ को अपने तोपखाने के उचित प्रयोग का सुअवसर मिल गया। पदाति सेना को तब तक आक्रमण के लिए नहीं भेजा गया जब

1. The Life of Marquis of Dalhousie, by Sir William Lee-warner, Vol. I, p. 188.

2. The Life and Campaigns of Hugh, first Viscount Gough, Vol. II, p p. 211-44.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक भयंकर बम वर्षा से सिख तोपों के मुँह बन्द न कर दिये गये। शत्रु रणक्षेत्र छोड़कर भाग खड़ा हुआ और निरन्तर पीछे हटा युद्ध पूर्णतया निर्णयात्मक रहा। इसी मध्य तीव्र मुकाबिले के पश्चात् मुलतान पर गोले बरसाये गये और मूलराज, जो किले में लौट गया था, आत्म-समर्पण के लिए विवश हुआ। १२ मार्च को शेरसिंह और खालसा सेना के बचे सैनिकों ने हथियार डाल दिये तथा दोस्त मुहम्मद की अफ़गान सेनाएं, जिन्होंने युद्ध में कोई प्रभावपूर्ण भाग न लिया था, वापिस पहाड़ियों में भगा दी गयीं।

डलहौजी, जिसे मार्क्विस की पदवी मिली, को इस प्रदेश का भविष्य निश्चित करना था। प्रथम कार्य मुलतान के ब्रिटिश क्षेत्र में समायोजन के साथ विद्रोह से पूर्व की स्थिति को पुनस्स्थापित करना था, दूसरा, ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा देश का स्थायी शासन-प्रबन्ध, महाराजा की नाममात्र प्रभुता रहने देना और तीसरा कार्य सारे पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिला लेना था। सर हेनरी लॉरेन्स और लार्ड एलिन-बरो दृढ़तापूर्वक समायोजन के विरोधी थे परन्तु डलहौजी को उनकी बात से कोई उचित दिशा-निर्देश न प्राप्त हुआ। डलहौजी का विचार था कि यदि प्रथम मार्ग द्वारा सिक्खों के साथ अच्छी शर्तें निश्चित की गयीं तो यह ग्रेट ब्रिटेन की निर्बलता समझी जाएगी। और दूसरे मार्ग के सम्बन्ध में उसे नाममात्र की शान-शौकत और प्रभुत्व से कोई प्रेम न था क्योंकि इससे अतीत ब्रिटिश नीतिमत्ता के सम्मुख अनेक उलझनें उत्पन्न होती रही थीं। तदनुसार उसने अपने उत्तरदायित्व पर सारे पंजाब को २९ मार्च १८४९ की घोषणा द्वारा ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। इस महान् पग से ब्रिटिश भारत की सीमाएं अफ़गानिस्तान के पर्वतों के मूल तक पहुंच गयीं। उसने इस तर्क, कि अल्पवयस्क होने के कारण दलीपसिंह अपनी प्रजा के दुष्कृत्यों का उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, का उत्तर उसे ५० हजार पौंड की उदारतापूर्ण पेन्शन देकर दिया। बालक को अंग्रेजी शिक्षा दी गयी, अंततः उसने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और नार-फाक की जागीर में एक इंगलिश जागीरदार के रूप में जीवन बिताया। सिक्खों ने अपने भाग्य में जो कुछ लिखा था उसे बहुत शान्ति से स्वीकार किया, इसकी किसी ने पूर्व संभावना भी न की थी। भौतिक परिणामों के सम्बन्ध में समायोजन नीति पूर्ण-रूप से औचित्यपूर्ण रही।

नये प्रांत की व्यवस्था के लिए तीन व्यक्तियों का एक बोर्ड बना दिया गया। इसमें सर हेनरी लॉरेन्स, अध्यक्ष के रूप में, उनका भाई जान और चार्ल्स मैसल जिनके स्थान पर १८५१ में राबर्ट माण्टगुमरी को नियत किया गया, थे। डलहौजी एक ही मुखिया व्यक्ति को पसन्द करता परन्तु उसने अनुभव किया कि वह सर हेनरी लॉरेन्स को त्याग नहीं सकता, यद्यपि वह उसके वीरतापूर्ण चरित्र की प्रशंसा करता था परन्तु उसे सारे अधिकार देने के योग्य भी न समझता था। उसे विशेष रूप में 'राज-नीतिक' कार्य दिया गया; यह था—मुखिया लोगों से संधि वार्ता करना, देश को निरस्त्र करना और नयी सिख रैजीमैण्ट बनाना। उसके भाई जान को भू-राजस्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का बन्दोबस्त और तीसरे सदस्य को न्याय-संबंधी कार्य सौंपे गये । ५६ अधीनस्थ सैनिक और असैनिक सेवाओं में अधिकारियों की नियुक्तियां पंजाब की व्यवस्था में सहायता और स्थिर करने के लिए हुईं, जो व्यवस्था पूर्व में अंग्रेजों की बहुत उत्तम प्रशासनिक प्रगति थी । जनता को निरस्त्र किया गया । उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के साथ किलेबन्दियों की शृंखला बनायी गयी । सारे प्रांत में सड़कें बनायी गयीं । सबसे महत्त्वपूर्ण लाहौर से पेशावर को मिलाने वाली थी—जो इंजीनियरिंग के चातुर्य की विजय थी । यातायात और सिंचाई के लिए नहरें बनायी गयीं । लगान कुल उत्पादन के आधे से एक चौथाई तक कम कर दिया गया । सामान के यातायात पर सब आंतरिक कर समाप्त कर दिये गये । दासता, ठगी और डाकेज़नी का पूर्णरूप से अंत कर दिया गया तथा दूसरे प्रान्तों के सूक्ष्म नियमों और विधान के स्थान पर आरम्भिक राजनीतिक संगठन के उपयुक्त सरल और स्पष्ट दण्ड तथा अर्थ-विधान बनाया गया । इन कार्यों की सफलता की सबसे आश्चर्यपूर्ण प्रशंसा जनता की भौतिक उन्नति और संतोष था । चिलियांवाला के भयंकर हत्याकांड और युद्ध के तीन वर्ष के मध्य ही सिख सैनिकों ने कम्पनी की ओर से बर्मा में युद्ध किया और जब बाद में विद्रोह के समय भारत में ब्रिटिश राज्य के लिए संकट उत्पन्न हो गया, जबकि सब लोगों को अपने विजेताओं से प्रतिकार लेने का अवसर उपस्थित था, पंजाब ने राज्य-भक्ति का त्याग न किया ।

इस महत्त्वपूर्ण परिणाम का श्रेय लार्ड डलहौजी और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों को प्राप्त होना चाहिए, परन्तु गवर्नर-जनरल ने प्रमुख भाग अदा किया । यद्यपि बोर्ड की योजना को अपनाया नहीं गया परन्तु इससे सदस्यों को अपनी नीति को प्रेरणा और नियंत्रण मिला । एक मुख्य बात यही हुई कि लॉरैन्स बन्धुओं में आरम्भ में विचार मतभेद उत्पन्न हो गया । बड़ा भाई सरदारों अथवा विशेष सुविधा-प्राप्त लोगों के पक्ष में था । वह राजस्व के बलिदान पर भी उनकी भौतिक उन्नति चाहता था । वह अपना व्यक्तित्व इस कार्य में लगा रहा था । जान लॉरैन्स की सहानुभूति सरदारों की अपेक्षा किसानों से थी और जनता के धन के संरक्षक के रूप में उसने अपने भाई की प्रिय योजना के विरोध में क्रियात्मक आपत्तियां कीं । तीन वर्ष भी न बीते थे कि यह मतभेद शासन-प्रबन्ध के लिए गम्भीर रुकावट बन गये । परन्तु १८५३ में दोनों भाई आपस में सहमत हो गये कि एक का चला जाना ठीक रहेगा । डलहौजी ने हेनरी के उत्तम गुणों के बावजूद भी जान को 'श्रेष्ठ व्यक्ति' समझा और बड़े भाई को राजपूताना में गवर्नर-जनरल का प्रतिनिधि बना कर भेज दिया—यह उसके लिए निराशा की बात थी । बोर्ड समाप्त कर दिया गया और जान लॉरैंस को पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २८

द्वितीय बर्मी युद्ध, लार्ड डलहौज़ी, कालात्यय का सिद्धांत

(The Second Burmese War, Lord Dalhousie, the Doctrine of Lapse)

डलहौजी के शासन-काल में दूसरा युद्ध सुदूरपूर्वीय सीमा पर हुआ। यह युद्ध उसके उन व्यापारियों के हितों की रक्षा-संबंधी निश्चय से उत्पन्न हुआ जो १८२६ की संधि पर विश्वास करके बर्मा के दक्षिणी तट पर बस गये थे। वे कुछ समय से रंगून के गवर्नर के छोटे-मोटे अत्याचारों के शिकार बन रहे थे। उसने उनके व्यापार में रुकावट डालने के प्रत्येक संभव उपाय किये और १८५१ में उन्होंने कलकत्ता से प्रतिकार की प्रार्थना की। डलहौजी ने एक युद्धपोत क्षतिपूर्ति की मांग के लिए रंगून भेजा। अनेक व्यक्तियों ने इस कार्य को अनावश्यक उत्तेजना माना और जॉन लॉरेन्स ने भी साभिप्राय लिखा "यदि आप शान्ति चाहते थे तो नौसेना के प्रधान अधिकारी को बर्मा क्यों भेजा ?" दूसरी ओर डलहौजी ने स्वयं स्वीकार किया कि यह नौसेना अधिकारी समझौता वार्ता के लिए बहुत उत्तेजना पैदा करने वाले होंगे।"[1] लेकिन चूंकि ब्रिटिश सरकार ने अपने तई अपमानपूर्ण व्यवहार के कारण अवा के दरबार में अपना रैजीडैण्ट रखना बंद कर दिया था, संभवतः इसीलिए बर्मा के अधिकारियों को इस मामले की महत्ता प्रकट करने का और कोई उपाय न था। उन्होंने नौसेना अधिका रीकी क्षतिपूर्ति की मांग की उपेक्षा ही नहीं की वरन् उस शाही पोत को कैद कर लिया और बन्दरगाहों की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। इस प्रकार उन्होंने स्वयं गवर्नर-जनरल को कठोर कार्यवाही करने का आमंत्रण दिया। फलतः अवा के दरबार को युद्ध की धमकी के साथ एक लाख पौंड की जमानत देने तथा क्षतिपूर्त्ति का अल्टीमेटम दिया गया। इंग्लैण्ड में अधिकारियों ने इस संदेश की ध्वनि को अत्यधिक सुनिश्चित समझा परन्तु डलहौजी ने इस आधार पर इसका समर्थन किया कि, "कोई भी भारतीय नरेश यूरोपीय शक्ति द्वारा प्रेषित आज्ञा का शब्दशः पालन नहीं करेगा," और इसमें कोई संदेह भी नहीं दिखायी देता कि वह सहज ही उस युद्ध को रोक सकता था जिसे उसने "युद्ध की लानत" (mortification of war) कहा। साथ ही उसने यह निश्चय किया कि यदि युद्ध होगा ही तो वह

---

1. Life of the Marquis of Dalhousie, Sir William Lee Warner Vol. I, pp. 417-18.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

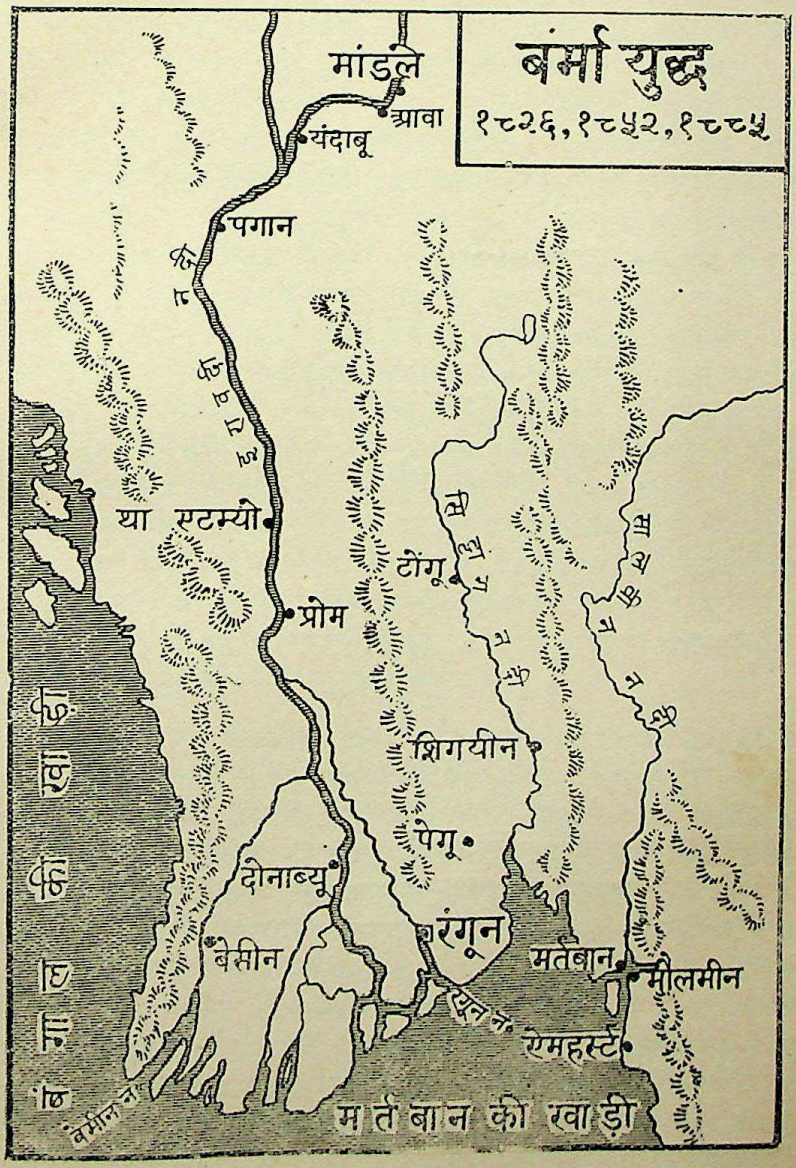

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्षा ऋतु आरम्भ होने से पूर्व ही आरम्भ किया जाएगा। ब्रिटिश अंतिमेत्थम का कोई उत्तर न आता देखकर डलहौजी ने अत्यन्त उत्साह और पूर्णता के साथ युद्ध की तैयारियों पर बल देना आरम्भ कर दिया। उसने प्रत्येक ब्योरे का स्वयं निरीक्षण किया क्योंकि वह पहले युद्ध की-सी भूलों की पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहता था। युद्ध-सामग्री और यातायात का ठीक से प्रबन्ध किया गया। सैनिकों की सुख-सुविधा और आराम पर उचित ध्यान दिया गया। युद्ध-समान तैयारियों की शुरूआत से आठ सप्ताह के भीतर ही समुद्री बेड़ा रंगून के निकट पहुंच गया। मरतावन पर तत्काल अधिकार कर लिया गया। १४ अप्रैल को रंगून के महान पगोडा पर गोले बरसाये गये। बेसीन का पतन एक माह पश्चात् हो गया। सेनापति जनरल गाडविन ने प्रोम की घेरेबंदी के लिए एक टुकड़ी भेजी लेकिन अपने संचारण प्रबन्धों को खतरे में पड़ने के भय से वह उधर प्रगति न कर सका। सितम्बर में गवर्नर-जनरल स्वयं रंगून गया और प्रोम पर अधिकार का दृढ़ निश्चय प्रकट किया। अक्तूबर में उस पर अधिकार कर लिया गया। पेगू पर पहले ही अधिकार हो चुका था परन्तु बर्मा के सैनिकों ने उसे घेर रखा था। अंततः नवम्बर में उसे मुक्त कर लिया गया—इस प्रकार सैन्य हलचलें समाप्त हो गयीं। डलहौजी ने संचालक समिति से पेगू प्रांत के ब्रिटिश राज्य से समायोजन की आवश्यकता पर बल दिया। अंशतः इसलिए कि हम उस प्रांत के अधिकारियों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे जिन्होंने बर्मियों के निर्दयतापूर्ण कृत्यों से तंग आकर स्वयं ब्रिटिश सुरक्षा चाही थी। समिति ने इस सुझाव को मान लिया परन्तु उसे एक कठिनाई में डाल दिया। उन्होंने चाहा कि या तो पेगू का विलयन नियमित रूप से संधि द्वारा हो अथवा अवा पर आक्रमण कर सारे देश को अधीन कर लिया जाए।

डलहौजी जान चुका था कि यातायात और सामग्री उपलब्धि का प्रबन्ध हो भी जाय, जो वस्तुतः था नहीं, तो भी अपने अड्डे से ६०० मील दूर अवा पर चढ़ाई करना निर्मूल योजना है। दूसरी ओर अवा के बर्बरतापूर्ण दरबार से सन्धि, उस कागज के टुकड़े के समान तुच्छ होगी जिस पर वह अंकित की जायेगी; इसलिए उसने अपना ही दृढ़ मार्ग अपनाया और जब संधि के उसके यत्नों का कोई परिणाम न निकला तो उसने २० दिसम्बर १८५२ को पेगू अथवा उत्तर बर्मा के समायोजन की घोषणा कर दी। उसके इस कार्य को परिमाणों ने सर्वथा उचित सिद्ध किया। यद्यपि बर्मियों ने औपचारिक रूप में उस प्रदेश के विलयन को स्वीकार नहीं किया था परन्तु वे इतने अधिक भयभीत हो गये थे कि उसका सशस्त्र विरोध न कर सके। नये प्रांत का शासन-प्रबन्ध मेजर आर्थर फयरे के अधीन बहुत सफल रहा, परन्तु यह स्पष्ट रूप में सिद्ध हो गया कि वह प्रदेश इतना बड़ा था कि उसे कई वर्ष तक श्रम करना पड़ेगा। यह निश्चित था कि अन्ततः बर्मा ब्रिटिश अधिकार में आ जाएगा, अतः, जैसा कि डलहौजी ने घोषित किया, उचित था कि साहसिक कार्य का दूसरा दौर भी आरम्भ किया जाए। वह यह जानता था कि नीतिज्ञों पर चोट अथवा आलोचना तो दोनों दशाओं में होती है। क्योंकि एक ओर तो कुछ ने कहा कि वह काफी आगे नहीं बढ़ा; दूसरों ने सोचा कि वह बहुत आगे बढ़ गया था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और वह तथा संचालक समिति औपनिवेशिक विस्तार के नशे में चूर थे परन्तु सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो गवर्नर-जनरल और न ही इंग्लैण्ड के अधिकारी उक्त मोहवश समायोजन के इच्छुक थे। नया प्रांत प्रोम से नीचे ५० मील दूर उत्तर में मिडे तक फैला हुआ था। पश्चिम की ओर यह अराकान की पहाड़ियों और पूर्व की ओर मोटे तौर पर सालवेन नदी तक विस्तृत था। स्वतन्त्र बर्मा का अब समुद्र से प्रायः संबंध कट गया था और कुमारी अन्तरीप से मलयद्वीप तक बंगाल की खाड़ी का समुद्र-तट ब्रिटिश नियंत्रण में आ चुका था।

सर विलियम ली-वारनर ने देशी राज्यों के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों के तीन युगों का वर्णन किया है। प्रथम १८१३ तक "घेरा डालने की नीति" (Ring fence) जबकि देशी राज्यों से वास्तविक रूप में विदेशी के समान व्यवहार किया जाता था और उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। दूसरा युग था—१८१३ से १८५७ तक "अधीनस्थ लोगों से अलगाव" का, जबकि रियासतों को संरक्षण तो दिया गया परन्तु उनके आन्तरिक मामलों का प्रश्न पूर्णतया उन्हीं पर छोड़ दिया गया; और १८५७ से वर्तमान तक का तीसरा था "अधीनस्थ संघ" जबकि किसी को भी उसके मुखिया सामन्तों के दुर्व्यवहार का शिकार नहीं होने दिया गया। पहली अवस्था में अत्याचार पीड़ित प्रजा के पास विद्रोह का एकमात्र उपचार था जबकि अंतिम में वह बलशाली प्रभुसत्ता से प्रार्थना कर सकती थी। माध्यमिक अवस्था में उसके छुटकारे का कोई भी उपाय न था। ब्रिटिश सरकार के सम्मुख अनेक बार, देशी रियासतों द्वारा संधियों को भंग करने अथवा उनकी प्रजा का उत्पीड़न देखते रहने की अप्रिय घटनाएं समुपस्थित हुईं।

इन अवस्थाओं के विरुद्ध कटिबद्ध होते हुए, डलहौजी को कालात्यय के प्रसिद्ध सिद्धान्त (Doctrine of Lapse) द्वारा इनके हल का मार्ग मिला। यह सिद्धान्त उससे पूर्व स्पष्ट रूप में स्वीकार किया जा चुका था। इसका आशय यह था कि वे आश्रित राज्य अथवा जिनका अस्तित्व ब्रिटिश शक्ति पर आधारित था, उनमें जब शाही वंश के उत्तराधिकारी का अन्त हो जाय, तो उनकी सत्ता सर्वोच्च सत्ता में विलीन हो जाएगी। परन्तु दत्तक-ग्रहण के द्वारा यह प्रश्न बहुत जटिल बन गया था। निस्संतान हिन्दुओं में दत्तक पुत्र ग्रहण करने की प्रथा थी, जिसका मुख्य कर्त्तव्य दाह-क्रिया सम्बन्धी वे क्रियाएं करना होता था, जिनके बिना मृतक को मुक्ति नहीं मिल सकती थी। डलहौजी ने यह दावा किया, और यह ठीक भी था कि शासक के प्रभुत्व सम्बन्धी अधिकार सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति के बिना दत्तक पुत्र को नहीं दिये जा सकते। देशी शासन के दोषों के विषय में उसकी सम्मति थी कि, "अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण और गम्भीर नीति के पालन में ब्रिटिश सरकार प्रदेश अथवा राजस्व प्राप्त करने के ऐसे किसी अवसर की उपेक्षा नहीं कर सकती जो अधीन राज्यों में कलात्यय (lapse) के आधार पर भले ही किसी भी प्रकार के उत्तराधिकारी की असफलता के कारण अथवा उस प्राकृतिक उत्तराधिकारी के दायाधिकार के आधार पर उत्पन्न हुआ हो, जिसमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दू-नियम के अनुसार दत्तक-ग्रहण का समारोह सरकार की अनुमति द्वारा हो सकता था। कर्त्तव्य और नीति की दृष्टि से सरकार बाध्य है कि यह ऐसे अवसर पर बहुत सद्-भावना, पूर्ण विवेक और विशुद्ध न्यायनिष्ठा से कार्य करे। और जब इसमें तनिक भी संदेह की झलक दिखाई दे तो उस दावे को शीघ्र ही त्याग दिया जाए।"[1] प्रथमावस्था में यह याद रखना चाहिए कि इस सिद्धान्त का आविष्कार डलहौजी ने नहीं किया था। एक हद तक यह सिद्धान्त तो १८४३ में स्वीकार कर लिया गया था। द्वितीयतः, उसने इसे उन आश्रित राज्यों में ही लागू किया, जो ब्रिटेन द्वारा विजित किसी सर्वोच्च सत्ता पर वफादारी के साथ आश्रित थे अथवा जो वस्तुतः उसी के द्वारा स्थापित किये गए थे। तृतीयतः, इस सिद्धान्त को लागू करने में वह सामंतशाही राज्यों की जनता के प्रति दयालुता के भावों और औपनिवेशिक वृद्धि की इच्छा से अनुप्राणित था। जैसा कि प्रायः कहा जाता है और यह ठीक भी नहीं कि सब देशी राज्यों के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व में आ जाने का खतरा हो गया था क्योंकि डलहौजी ने उन राज्यों द्वारा उत्तरा-धिकारी ग्रहण करने की स्वतन्त्रता को स्पष्टतया स्वीकार किया है, जिनकी सत्ता ब्रिटिश शासन-काल से पूर्वतः विद्यमान थी।

दूसरी ओर यह भी समान रूप में स्मरण रखना चाहिए कि कुछ पारिभाषिक कठिनाइयां थीं कि कौनसी रियासतें आश्रित हैं और कौनसी नहीं। कभी-कभी गवर्नर-जनरल के निर्णय को अमान्य भी कर दिया जाता था, जैसा कि करौली अवस्था में हुआ भी। द्वितीयतः, चाहे जो भी तथ्य हों, देशी लोगों को असंदिग्ध रूप में यह विश्वास था कि सभी छोटे देशी राज्यों का अस्तित्व खतरे में है। जैसा कि मि० आइनस ठीक ही कहता है कि, "प्रत्येक के सामने उसके समायोजन के पुष्कल प्रमाण थे। परन्तु उसके पूर्वाधिकारी उस सामान्य नियम से काम करते थे कि यदि समायोजन से बचा जा सके तो बचा जाए और डलहौजी समायोजन के सामान्य नियम के अनुसार काम करता था कि यदि न्याय-संगत रूप में यह हो सकेगा तो किया जाए।"[2] निस्संदेह, यह बात आकस्मिक थी कि ठीक इन्हीं दिनों अनेक देशी राजा उत्तराधिकारियों के बिना ही मर गये, परन्तु ऐसा होने पर सर्वोच्च सत्ता के लिए कभी-कभी यह बात अधिक कार्य साधक होती है कि वह अपने पूर्ण अधिकारों का प्रयोग न करे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि "कालात्यय" का सिद्धान्त ही केवल ऐसा साधन न था, जिससे डलहौजी ने ब्रिटिश उपनिवेश का विस्तार किया हो। संभवतः किंचित् सत्याभास के साथ विरोधी यह कहेंगे कि यदि कालात्यय का सिद्धान्त सब राज्यों पर लागू नहीं किया गया था, तो ग्रेट ब्रिटेन बहाना करने का इच्छुक होने पर, अवध के मामले की तरह, तत्परतापूर्वक अन्य सिद्धान्तों का आश्रय ले सकता था। कोई भी निष्पक्ष आलोचक गवर्नर-जनरल के उच्च एवं विशुद्ध मुद्दों को मानते हुए इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि देशी राजाओं

1. The Life of the Marquis of Dalhousie, Sir W. Lee-Warner Vol. II, p. 116.

2. A Short History of the British in India.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के दिलों में जो बेचैनी थी, उसके पर्याप्त कारण थे और ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे प्रकट होता है कि यह बेचैनी वास्तविक रूप में थी। अन्ततः जैसे कि उसका नवीनतम जीवनी लेखक स्वीकार करता है कि कभी-कभी लार्ड डलहौजी ऐसी भाषा का प्रयोग करता था जो असंगत और विवेक रहित होती थी। वस्तुतः कालात्यय द्वारा जो रियासतें ब्रिटिश-प्रभुत्व में आई वह ये थीं : सतारा १८४८ में, जयपुर और संभलपुर १८४९ में, बघाट १८५०, उदयपुर १८५२, झांसी १८५३, और नागपुर १८५४ में। इनमें से कम से कम उन तीन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रियासतों के बारे में लार्ड डलहौजी की नीति विषयक न तो औचित्य की पूर्णता और न ही वैध अधिकारों पर कोई उचित आपत्ति की जा सकती है। सतारा की रचना तो सर्वथा ब्रिटिश सरकार ने ही की थी। यह तो पेशवा के शासन की समाप्ति के बाद १८१९ में लार्ड हेस्टिंग्स ने इसे शिवाजी के घराने के प्रतिनिधि को जागीर के रूप में दिया था और इसका अस्तित्व बंबई में प्रैजीडेंसी के लिए सदैव संकट का कारण बना रहा किन्तु अब तो उसे उसी में मिला दिया गया था। झांसी बुन्देलखंड में कर देने वाला और आश्रित राज्य था जो बाजीराव के अन्य राज्यों के साथ ब्रिटिश प्रभुत्व में आ गया। इसका एक से अधिक बार पुनरुज्जीवन हुआ परन्तु अन्तिम राजा के दत्तक ग्रहण के समय इसे समाप्त कर दिया गया। विधवा रानी को पेन्शन दी गयी परन्तु विद्रोह के समय उसने हर उस यूरोपियन की हत्या की, जो उसके हाथ पड़ा, और इस प्रकार उसने अपनी गद्दी छीनने का भयंकर बदला लिया। विलीन रियासतों में नागपुर सबसे महत्त्वपूर्ण था। १८१८ में जीतकर हेस्टिंग्स ने इस जब्त राज्य को राजवंश के एक युवराज को दे दिया था। अंतिम राजा १८५३ में मर गया। उसके बाद न तो कोई उसका निकट उत्तराधिकारी ही था और न ही उसका कोई दत्तक पुत्र था। फलतः ब्रिटिश सरकार के अब फिर से उसे स्वतन्त्रता देने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। ब्रिटेन को, निस्संदेह इसके समायोजन से राजनीतिक लाभ हुआ। नागपुर ८० हजार वर्ग मील का प्रदेश था और उसकी जनसंख्या ४० लाख थी। इस पर अधिकार हो जाने से हमें भारत में सर्वोत्तम कपास उत्पादक भूमि मिली और कलकत्ता से बम्बई तक के स्थल-मार्ग पर हमारा पूर्ण नियंत्रण हो गया। दूसरी ओर यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि मराठा संघ की महान् रियासतों में से एक के समायोजन के कारण अन्य उन देशी नरेशों के हृदयों में संदेह पैदा होना स्वाभाविक था, जो संभवतः "आश्रित" और "संरक्षित मित्र" के बीच के सूक्ष्म भेद को समझ नहीं सकते थे और यह बात पश्चिम वालों पर भी स्पष्ट नहीं हुई थी। तिस पर भी सम्पूर्ण रूप में इस मामले में समायोजन के लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक थे। शाही भवन के रत्नों और फर्नीचर की खुले आम नीलामी का अत्यधिक बुरा प्रभाव पड़ा और यह एक ऐसी अनुचित भूल थी, जिसे रोका जा सकता था। यहाँ वर्णित अन्य चार के सम्बन्ध में कुछ-कुछ उचित संदेह था कि वे आश्रित राज्यों की व्याख्या में आती हैं या नहीं, और संभाव्य रूप में मध्य प्रान्तों में उदयपुर की रियासत के विषय में यह स्पष्ट था कि यदि उत्तराधिकारी न हुए तो उसकी सत्ता सरगुजा के राजा को प्राप्त होगी और कम्पनी को नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह रियासतें छोटी-छोटी थीं और उन्हें ब्रिटिश शासन में मिलाने का लाभ आसपास के सरदारों में फैली बेचैनी का प्रतिकार नहीं कर सकता था। सतलुज की घाटी में बसी बघाट की रियासत और उदयपुर के सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी ने जो निर्णय किया था, उसे लार्ड केनिंग को बदलना पड़ा। अन्ततः इंगलैण्ड की सरकार ने छोटी राजपूत रियासत करौली के विलयन की डलहौजी की योजना को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह एक "संरक्षित राज्य" है और "आश्रित" नहीं। निस्संदेह, उसकी बात ठीक थी और डलहौजी ने शीघ्र ही इसे स्वीकार भी कर लिया। उच्च राजनीतिक आधार पर इन प्राचीन राजपूत रियासतों का विलयन अत्यधिक अशिष्टतापूर्ण था और संभवतः यह बहुत आश्चर्य की बात है कि गवर्नर-जनरल ने इस बात का सुझाव दिया था।

नये प्रदेश की इन वास्तविक प्राप्तियों के साथ लार्ड डलहौजी ने नाममात्र की उन सत्ताओं का, जिनका कोई वास्तविक महत्त्व भी नहीं रह गया था, इस आधार पर समाप्त कर दिया कि ऐसा न हो कि वे किसी भी समय राज-विद्रोहात्मक आंदोलन के अड्डे बन जाएँ। १८०१ से कर्नाटक का नवाब Roi faineant बना हुआ था। १८५३ में राज्याधिकारी की मृत्यु पर डलहौजी ने मद्रास सरकार के इस मत का समर्थन किया कि किसी भी उत्तराधिकारी को स्वीकार नहीं किया जाएगा। उसका मत था कि १८०१ की संधि केवल एक व्यक्ति तक ही सीमित थी। उसे वंशगत नहीं बनाया जा सकता; इसे तो केवल ब्रिटिश सरकार की सौम्यता के कारण ही १८१९ और १८२५ में पुनः-पुनः स्वीकार किया गया था। इस निर्णय को १८६७ में तब आंशिक रूप में पलट दिया गया था। जब नवाब पद के दावेदार को पैन्शन और उसे अरकाट के युवराज की अर्ध शाही ढंग की पदवी अपनाने की आज्ञा दी गयी थी। तंजौर के राज-पद का भी अब अन्त कर दिया गया था—जब वहाँ का अन्तिम राजा १८५५ में केवल बेटियां छोड़कर मर गया था। डलहौजी दिल्ली के मुगलिया खिताबों को भी समाप्त करने का यत्न करता परन्तु इस संबंध में संचालकों ने उसकी बात न मानी। अन्ततः १८५३ में भूतपूर्व पेशवा बाजीराव की मृत्यु पर डलहौजी ने ८० हजार पौंड की वह भारी भरकम पेन्शन उस दत्तक पुत्र को देने से इन्कार कर दिया, जो अनन्त नाना साहब के नाम से कुख्यात हुआ और सर जॉन मैल्कम ने जिसकी अविवेकपूर्ण स्वीकृति दी थी।

अवध का समायोजन न विजय, न कालात्यय और न ही विशुद्ध नाममात्र के प्रभुत्व की समाप्ति के अन्तर्गत आता है। १८०१ की लार्ड वैलेजली की प्रसिद्ध संधि की बात से अवध एक संरक्षित सामन्त राज्य था। उसे सब प्रकार की आंतरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इस तरह अवध के शासन को उत्तरदायित्व के बिना अधिकार दिया गया था, (लार्ड हेस्टिंग्स ने १८१९ में उसे राजा की पदवी दी थी) और ऐसी अवस्थाओं में देशी शासन का अधःपतन अपने मंद एवं सामान्य क्रम में गतिशील होने लगा। दरबार घृणित भोग-विलास और तुच्छ मनोरंजन का साधन रह गया। जनता का दमन किया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता था। अवध के कुशासन की एक विशेष बात यह थी कि अनेक राजपूतवंश के जागीरदार अथवा ताल्लुकेदार अपने दृढ़ सुरक्षित गढ़ों में अधिकारियों और राजा की अव्यवस्थित सेना के काम में बाधा डालते थे और अपने ही जाति के गरीब किसानों को सताते थे। अनेक वर्षों तक यह अव्यवस्था अधिकाधिक बिगड़ती गयी। एक के बाद एक गवर्नर-जनरल ने राज घराने को चेतावनी दी थी—विशेषकर १८३१ में लार्ड विलियम बैंटिक ने और १८४७ में लार्ड हार्डिंग ने। परन्तु इनका रत्ती भर भी प्रभाव न हुआ। पद-दलित जनता की ओर से कठोर हस्तक्षेप की आवश्यकता के बारे में संदेह नहीं रह गया था। १८५१ में कर्नल स्लीमैन (यद्यपि डलहौजी के आलोचकों ने कहा है कि उसे "पूर्व निश्चित निष्कर्ष के दूत" के रूप में भेजा गया था) और १८५४ में कर्नल आऊटरम ने जो सिद्धान्ततः देशी राजवंशों के समर्थन और कालात्यय नीति के विरोधी थे, सूचना दी कि अवध की स्थिति चिन्ताजनक है, और अत्यधिक बुरी है। लार्ड डलहौजी स्वयं इस पक्ष में था कि राजा की नाममात्र की सत्ता महल और दर्जा तथा उसकी पदवियों को छोड़ शासन-प्रबन्ध पर अधिकार कर लिया जाए। परन्तु इंगलैण्ड की सरकार ने उसे प्रत्यादेश दिया और समायोजन का निर्णय किया। विशेष रूप से इस मामले में निस्संदेह सरकार गलती पर थी और गवर्नर-जनरल सही था। यदि इसके पक्ष में प्रबल रूप में संतुलित कारण न होते तो लार्ड डलहौजी ने नाममात्र की उस सत्ता का कभी सुझाव न दिया होता, जिसका, हम देख चुके हैं कि, वह सामान्यतः अत्यधिक विरोधी था। इनमें से प्रथम था १८०१ की संधि से लेकर अवध राजवंश की ब्रिटिश शासन में पूर्ण निष्ठा; दूसरा तथ्य यह था कि अवध का राजा किन्हीं कारणों से समायोजन के संधि-बंधनों को भंग करना मानता था। ये तथ्य हैं तो जटिल और अस्पष्ट लेकिन संक्षेप में इन्हें इस तरह उपस्थित किया जा सकता है: १८३७ में लार्ड आकलैण्ड ने अवध के राजा से इन शर्तों के साथ संधि की थी कि या तो वह अपने राज्य में सुधार करें अथवा अपनी सत्ता को स्थिर रखते हुए शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश सरकार को सौंप दे। संचालक समिति ने इस सन्धि को अस्वीकार किया लेकिन लॉर्ड आकलैण्ड ने राजा को केवल एक धारा की अस्वीकृति की ही बात बतायी और अक्षम्य असावधानी के कारण सन्धि अनन्तर के सरकारी प्रकाशन में सम्मिलित कर ली गयी। उसके बाद के गवर्नर-जनरलों ने उसे निरंतर प्रचलित माना। लार्ड डलहौजी पर राजा को स्पष्ट करने का यह अप्रिय कार्य ठूंसा गया कि जिस संधि को वह और पूर्ववर्त्ती गवर्नर-जनरल १८३६ से प्रचलित मानते आए हैं, वह वस्तुतः उस तिथि के दो वर्ष पश्चात् ही रद्द कर दी गयी थी और इस बात पर अफसोस करे कि इस तथ्य की सूचना देने में प्रमादवश अवहेलना की गयी है। इस प्रकार के हीन और अक्षम्य कुप्रबन्ध के कारण उन लोगों को दृढ़ आधार मिल गया, जो कहते थे कि अवध का समायोजन "राष्ट्रीय विश्वास को पूर्णतया भंग करने के समान है।" परन्तु इसके लिए लार्ड डलहौजी नहीं, इंगलैण्ड के अधिकारी उत्तरदायी थे। वह समायोजन पूर्ण करने की आवश्यकता को सहज ही टाल सकता था, लेकिन भारत में नये आये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए उत्तराधिकारी पर छोड़ने की बजाय उसने अपने आठ वर्ष के अनुभव से इस समस्या को सुलझाने के लिए साहसपूर्वक अपने-आपको पेश किया। आउटरम ने राजा को गद्दी छोड़ने की प्रेरणा की व्यर्थ चेष्टा की; १३ फरवरी १८५६ को समायोजन की घोषणा कर दी गयी और सिंहासनच्युत राजा के लिए एक खासी पैन्शन नियत कर दी गयी।

लार्ड डलहौजी ने जिन आंतरिक सुधारों का श्रीगणेश एवं विकास किया था, उनका संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है। उसने लार्ड हार्डिंग द्वारा आयोजित प्रथम भारतीय रेल का उद्घाटन किया और प्रथम तार-घर की स्थापना की। तार-घर की तार के बारे में एक विद्रोही ने कहा था—"यही वह निर्दय रस्सी है, जिसने हमें फांसी दी।" उसने जन कार्य विभाग (Public Works Department) की स्थापना की और सारे भारत में सस्ती तथा समान डाक सेवा प्रचलित की; उसे कहा गया था कि वह जुलाई १८५४ के शिक्षा सम्बन्धी संदेश को चालू करे, जिसमें "सरकार द्वारा शिक्षा के नियंत्रण, सहायता और अंशतः राज्य द्वारा प्रबंधित सार्वजनिक शिक्षा-योजना की रूप-रेखा दी गई थी।"

जब लार्ड डलहौजी ने भारत छोड़ा तो निरन्तर श्रम से उसका स्वास्थ्य नष्ट हो चुका था और चार वर्ष की शारीरिक यातना और दुःख सहने के बाद वह १८६० में मर गया। ये वर्ष उसके लिए शोकपूर्ण थे क्योंकि उसके जीवन भर का कार्य विद्रोह द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यद्यपि यह बहुत सीमा तक अन्यायपूर्ण है तथापि स्वभावतया उसके समायोजन कार्यों, नवीन पद्धतियों और सुधारों को ही मुख्यतः विद्रोह का कारण ठहराया गया। उस पर ये आरोप लगाये गए कि उसने देशी परम्पराओं और भावनाओं की उपेक्षा की, सेना के सिपाहियों की बेचैनी की ओर ध्यान नहीं दिया और देसी सैनिकों के मुकाबले में योरोपीय सैनिकों का अनुपात अत्यधिक कम कर दिया। उसने अपने पक्ष में कुछ तो इसलिए कहने से इन्कार कर दिया कि भावी संतति उसके कार्य का स्वतः निर्णय करेगी और कुछ अपने इस निश्चय के कारण कि विवाद को आरम्भ करने से उसका उत्तराधिकारी अथवा इंगलैण्ड की सरकार उलझन में न पड़े। उसके निजी कागजात ५० वर्ष तक मुहरबन्द रहे और इसी अन्तिम दशक में वे विश्व के सम्मुख रखे गये हैं।[1] उनके प्रकाशन से अनेक संदेहपूर्ण तथ्यों का निराकरण हो गया है परन्तु उसकी ख्याति तो बहुत पहले से ही पुनस्स्थापित की जा चुकी थी। उसके विरुद्ध अनेक आरोप अतिशयोक्तिपूर्ण और बहुत से पूर्ण असत्य सिद्ध हुए। उदाहरण के लिए, यह ज्ञात हो गया है कि उसने मंत्रिमंडल को अत्यावश्यक रूप में अनुरोध किया था कि योरोपीय सेनाओं को अधिक संख्या में भारत भेजा जाए परन्तु उसकी चेतावनियों पर ध्यान नहीं दिया गया। उसके चरित्र के महान् लक्षणों के बारे में अब कोई विवाद नहीं रह गया। वह कर्त्तव्य के स्पष्ट आदर्श से प्रेरित था, जिसके लिए उसने अपने स्वास्थ्य

1 By Sir William Lee-Warner in his Life of the Marquis of Dalhousie.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सुविधा की भी बलि चढ़ा दी। उसकी कार्य-शक्ति महान् थी, और यद्यपि उसे भारत आने के समय यहाँ की समस्याओं का क्रियात्मक अनुभव नहीं था तथापि थोड़े ही समय में वह विलक्षण रूप में उनसे पूर्ण परिचित हो गया। उसके स्मरण-लेख और संदेश, स्पष्ट वक्तव्य और निस्पृह तर्क शानदार आंग्ल भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वह चरित्र के गुण-दोषों को पहचानने में बहुत चतुर था। उसके अधीन काम करने वालों में से एक, सर रिचर्ड टैम्पल कहता है, "एक शाही शासक के रूप में इंगलैण्ड ने जिन योग्य व्यक्तियों को शासन-प्रबन्ध के लिए भारत भेजा, उनमें से कोई भी उसका अतिक्रमण न कर सका और शायद ही कोई कभी उसकी समानता कर सका।" दूसरी ओर एक सामान्य किन्तु उपादेय मुहावरे में कहा जा सकता है कि उसके गुण ही इसके लिए दोषी सिद्ध हुए। एक योग्य से योग्य आदमी के लिए जितना काम कर सकना सम्भव है, उसने उससे भी अधिक कार्य किया, जिसके फलस्वरूप उसके सहायकों के लिए सिवा इसके अधिक कार्य नहीं रह जाता था कि वे उसकी उदात्त इच्छा का ही पालन करें। यद्यपि वह उन लोगों का मुक्त समर्थक था, जिनसे वह पूर्णतया सहमत होता था तथापि वह मौलिक विचारों के प्रति थोड़ा असहनशील था। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उसकी नीति की अनेक दिशाओं के प्रति भारत में भी विरोध था। यह केवल कल्पित विरोध नहीं था प्रत्युत यह विरोध युक्तिसंगत सिद्धान्तों पर आधारित था। हैनरी लॉरैन्स, लो, स्लीमैन और आऊटरम जैसे व्यक्तियों ने उसके विलक्षण गुणों को स्वीकार करते हुए कहा है कि, यदि वह अपने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सुधारों का बलिदान करके भी देशी जनता की भावनाओं पर अधिक ध्यान देता तो वह अधिक अच्छा काम कर सकता था। उसके कुछ अधिक स्पष्ट विरोधी भी थे। सर चार्ल्स नेपियर के पत्रों और डायरियों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि योग्य और उदार चेता व्यक्तियों में भी कैसे कट्टर शत्रुता चलती है। उन दोनों के बीच जो विवाद था, उसे समक्ष रखते हुए कुछ ही को संदेह हो सकता है कि समग्र रूप में डलहौजी ठीक था और नेपियर गलत। जैसा कि हम सिंध के विषय में देख चुके हैं कि नेपियर में केवल अपने ही पक्ष को सही देखने की अपरिमित क्षमता थी और अपने विरोधियों को वह नितान्त गलत समझता था। किन्तु इन दोनों प्रबल व्यक्तियों के बीच इस तथ्य के कारण जो टक्कर हुई वह दोहरे रूप में दुर्भाग्यपूर्ण थी कि नेपियर ने सैनिकों के वेतन में फेर बदल किया और गवर्नर-जनरल के परामर्श बिना कुछ रैजीमैण्टों को भंग कर दिया। निस्संदेह, यह सत्य प्रतीत होता है कि सर चार्ल्स नेपियर ने सिपाही सेना के विद्रोहात्मक असंतोष की चेतावनी को पहले ही भांप लिया था। इस सम्बन्ध में वह अपने वक्तव्यों में संगत नहीं था और विवादास्पद कारणों से उसने उन्हें अतिशयोक्तिपूर्ण कर दिया। इसी कारण डलहौजी ने उन पर विचार करने से भी इन्कार कर दिया था। यदि नेपियर अपनी चेतावनियों में अधिक संगत होता और डलहौजी उसके परामर्श पर विचार करता तो जोशीले घोषणा-पत्रों, तीक्ष्ण स्मरण-लेखों और कटु शत्रुता से अस्पष्ट होने के स्थान पर सारे प्रश्न पर विचार हो पाता और निर्णय हो जाता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २९

विद्रोह के कारण । लार्ड कैनिङ्ग

फरवरी १८५६ में लार्ड केनिंग मार्क्विस डलहौजी का उत्तराधिकारी बना। उसने आक्सफोर्ड के विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त की और पोस्ट मास्टर जनरल के पद पर रहते हुए उसने नीतिज्ञों समान योग्यता हासिल की थी। वह योग्य और उद्यमी था, किन्तु निजी शक्तियों के सम्बन्ध में कुछ शंकित था और व्यक्तिगत रूप में महत्वाकांक्षी नहीं था। किसी विशिष्ट कार्य को करने का दृढ़ निश्चय करने में वह मंद और भूल स्वीकर करने में जागरूक था। जब वह किसी बात का निश्चय कर लेता था तो चतुरता और दृढ़ता से उसकी पुष्टि करता था। प्रत्येक प्रश्न को अनेक पहलुओं से देखने और प्रमाणों को जांच कर स्वीकार करने में प्रशासनिक स्वभाव की अपेक्षा उसमें न्यायबुद्धि अधिक थी। उसके संयम और उदासीन स्वभाव के पीछे उत्साह और सहानुभूतिपूर्ण दिल छिपा हुआ था। यदि उसे शान्ति-काल में कार्य का सुअवसर मिलता तो वह भारत सरकार का आदर्श मुख्याधिकारी होता परन्तु उसे अत्यधिक ऐसे भयंकर संकट का सामना करना पड़ा जो अब तक किसी भी नीतिज्ञ के सम्मुख नहीं आया था। उसके कुछेक कार्य आलोचना के विषय बने और उनकी मुक्त आलोचना भी हुई, परन्तु समग्र रूप में देखने पर ज्ञात होता है कि वह उस भयंकर संकट में से बड़े शानदार ढंग से पार हुआ। यदि उसमें डलहौजी का-सा उत्साहपूर्ण निश्चय, दृढ़ इच्छा और व्यक्तित्व शक्ति का अभाव था, पर उसने अपने प्रति असत्यकथन और तानों के समय महत्त्वपूर्ण स्थिरता का प्रदर्शन किया। उसमें जटिल समस्याओं को सुलझाते समय भावना के प्रभाव से अपने को पृथक् रखने की विचित्र शक्ति थी।

प्रथमतः यह प्रतीत हुआ कि नये गवर्नर-जनरल को अपना ध्यान विशेष रूप से मध्य एशिया के प्रश्न की ओर लगाना पड़ेगा। १८५५ में तेहरान स्थित ब्रिटिश मंत्री को अपमानजनक व्यवहार द्वारा वहां से खदेड़ दिया गया था। उससे अगले वर्ष ईरानी सेनाओं ने हेरात पर अधिकार कर लिया--यह कार्य १८१४ की सन्धि का भंग था। केनिंग को इंगलैण्ड सरकार ने आज्ञा दी कि वह कम्पनी की ओर से युद्ध-घोषणा कर दे। ईरान की खाड़ी में एक ब्रिटिश बेड़ा भेजा गया, उसने बुशायर पर अधिकार कर लिया और शत्रु को कई स्थानों पर पराजित किया। अंततः, मई में संधि हो गयी, जिसमें ईरान हेरात खाली करने और अफ़गान-मामलों में हस्तक्षेप न करने पर सहमत हो गया। यह अल्पकालीन युद्ध और दोस्त मुहम्मद से १८५५ और १८५७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की संधियां (इन पर हस्ताक्षर तो सर जान लारैन्स के थे परन्तु वस्तुतः हर्बर्ट एडवर्डस के कारण ही यह हुई थी) अफ़गान सरदार की मित्रता प्राप्त करने तथा विद्रोह के समय हमारी स्थिति को अधिक जटिल न बनने देने में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। विजयोन्मत्त सेनाएं जब वहां से लौटीं तो उन्हें एक संकटपूर्ण क्षेत्र में काम करना था क्योंकि इसी बीच सिपाही विद्रोह आरम्भ हो चुका था।

भारतीय विद्रोह की उत्पत्ति और भावना के सम्बन्ध में दो प्रमुख विचार हैं : प्रथम यह कि यह विशुद्ध सैन्य विद्रोह था, और दूसरा यह कि ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए यह व्यापक और बड़ी सावधानी से संगठित षड्यन्त्र था। जिन व्यक्तियों को इसके निरीक्षण का उत्तम अवसर मिला, इसके बारे में उनके पारस्परिक विरोधी मत हैं। सर जान लारैन्स का विचार था कि विद्रोह का मूल सेना ही हुआ और कारतूसों वाला मामला इसका एकमात्र कारण था। इसका सम्बन्ध किसी पूर्वगामी षड्यन्त्र से नहीं था यद्यपि बाद में कुछ असंतुष्ट व्यक्तियों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इससे लाभ उठाया। सर जेम्स आऊटरम का विचार इससे सर्वथा विपरीत है। उसका विश्वास था कि यह मुसलमानों के षड्यन्त्र का परिणाम था जो हिन्दुओं की शिकायतों के बल पर अर्थ-सिद्धि करना चाहते थे। कारतूस वाली घटना ने केवल "विद्रोह को समय से पूर्व ही भड़का दिया जबकि अभी वह भली प्रकार संगठित भी नहीं हुआ था और उसे लोकप्रिय राजविद्रोह का रूप देने के लिए पर्याप्त प्रबन्ध भी नहीं किये गये थे।"

समग्र रूप में, इस तथ्य के बावजूद कि कुछ ज़िलों में सिपाहियों से पूर्व ही जनता ने विद्रोह कर दिया था, लारैन्स का विचार वास्तविकता के अधिक निकट प्रतीत होता है। इसलिए हम मान लेते हैं कि विद्रोह का मूल सेना से ही था, परन्तु जिस समय यह हुआ, अनेक कारणों से, देश में सामाजिक और राजनीतिक बैचैनी थी और उसी समय अवसर से लाभ उठाने वाले स्वार्थी लोग इसमें सम्मिलित हो गये। उन्होंने अपनी योजनाओं के अनुसार इसे विशेष दिशा में प्रेरित किया। सौभाग्य से भारत में ब्रिटिश उपनिवेश के लिए ऐसा कोई राष्ट्रीय कारण नहीं था, जिसके लिए आन्दोलनकर्त्ता जनता को आकर्षित करते। ब्रिटिश शक्ति का ताना-बाना कलह और जातीय शत्रुता की भस्म पर निर्मित हुआ था। विद्रोह से सब हिन्दू राज्यों के शत्रु—मुगल साम्राज्य की नष्ट हुई महिमा को पुनर्जीवित करने और मुगल सत्ता का वंशानुगत विद्रोही मराठा पेशवा की शक्ति को स्थापित करने का एक समान यत्न किया गया। यह तथ्य, कि विद्रोह की राजनीतिक दिशा पहले उन लोगों के हाथों में आई, जिन्होंने बहादुरशाह को फिर से उसका सिंहासन दिलाया था, सब हिन्दू राज्यों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए काफी था। मराठा सर्वश्रेष्ठता के भूत को जीवित करने की चेष्टा तो विद्रोह का गौण राजनीतिक विचार था और सफलता के लिए उसका ख्याल तब आया जबकि विद्रोहियों की कमर टूट चुकी थी, और राज-विद्रोह का कारण स्पष्टतया नष्ट हो चुका था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्रोह के कारणों का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सैनिक शीर्षकों के अधीन संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है। किन्तु यदि ऊपर का स्वीकृत विचार सही है, तो यह स्पष्ट है कि केवल अंतिम को ही वास्तविक विद्रोह का कारण माना जा सकता है; अन्य शीर्षक अपेक्षया सामान्य अशांति के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। उन्हें तो उस समय प्रकट होने और व्यापक रूप ग्रहण करने का उपयुक्त अवसर मिल गया।

पहले राजनीतिक कारणों पर विचार किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि डलहौजी के समायोजनों और कालात्मय के सिद्धान्त से सारे भारत में बेचैनी और संदेह की एक लहर व्याप्त हो गई थी। यह आवश्यक नहीं कि इस तथ्य द्वारा डलहौजी की नीति का खंडन होता हो। सब बड़े सुधारों में कुछ लोगों के स्वार्थ को हानि पहुंचती है और यह विवाद योग्य है कि चरबी वाले कारतूसों की भूल को ही छोड़कर राजनीतिक असंतोष को उस समय तक शान्त किया जा सकता था और वह अनिश्चित अशांति की स्थिति तक कभी न पहुंचता। परन्तु भारत स्थित कुछ अंग्रेजों ने आने वाले संकट की चेतावनी दी थी। कर्नल स्लीमैन ने १८५३ में जो शब्द लिखे थे, वे भावी घटनाओं की भविष्यवाणी थे : "मेरा विचार है कि देशी रियासतें हमारे लिए बांध के समान हैं और जब वे समाप्त हो जाएंगी तो हम पूर्णतया अपनी भारतीय सेना की कृपा पर ही निर्भर होंगे और वह संभवतः हमारे नियंत्रण में न होगी।" जब से लार्ड डलहौजी ने कार्यभार सम्हाला था, महान शक्ति का अन्तिम रूप में पतन हो चुका था; प्रमुख मुसलमानी रियासत ब्रिटिश राज्य में मिलायी जा चुकी थी; शिवाजी का मूल स्थान सतारा और मराठा पंच-जनतंत्र (Pentarchy) की सबसे बड़ी रियासत नागपुर का विलयन हो चुका था। मुगल साम्राज्य की शहंशाही का वस्तुतः अंत हो चुका था, लेकिन यह सुनिश्चित ही था कि दिल्ली के नाममात्र के राजा की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को अपने पैतृक महलों और अपनी शाही शान-शौकत का त्याग करना पड़ेगा। व्यक्तिगत रूप में प्रायः असंयत शब्दों का प्रयोग किया जाता था और उनमे संभवतः यह धारणा बन सकती है कि ब्रिटिश नीति महत्वापादन (Aggrandizement) के विवेकशून्य मार्ग पर उतर आयी थी। जैसा कि हम जानते हैं यह बात सत्य से दूर थी, परन्तु देशी श्रोताओं से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इस प्रकार की आधी हास्यजनक और आधी सच्ची भाषा तथा अधिकृत वक्तव्यों में भेद कर सकेंगे। उदाहरण के लिए सर चार्ल्स नेपियर ने अपने व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में लिखा :—यदि मैं १२ वर्ष के लिए भारत सम्राट् होता तो उसमें रेलों का जाल बिछ जाता और उसकी सब नदियों पर पुल बन जाते। कोई भी भारतीय नरेश न रह जाता, निजाम का नामोनिशान भी सुनाई न देता,.....नेपाल भी हमारा हो जाता.....।"[1] हम देख चुके हैं कि डलहौजी ने भूतपूर्व पेशवा के दत्तक

1. The Life and Opinions of General Sir C. J. Napier, Ed, By Sir W. Napier. Vol, IX, p. 188.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुत्र नाना साहिब को सर जॉन मॉल्कम द्वारा स्वीकृत भारी पेंशन देने से इन्कार कर दिया था। उसका यह कार्य औचित्यपूर्ण था क्योंकि यह अनुदान केवल बाजीराव के जीवन तक के लिए ही किया गया था और ३५ वर्ष तक उसे जो पेंशन मिलती रही उसमें से उसने बहुत-सा धन जमा कर लिया, जो दायाधिकार में नाना साहिब को मिला। परन्तु हिन्दुओं की दृष्टि में नाना साहिब पेशवा का पद और विशेषाधिकार का उत्तराधिकारी बना था। इसलिए पेंशन बन्द करने से यह ब्रिटिश शासन का कट्टर शत्रु बन गया और उसके देशवासियों ने इस कार्य को अन्यायपूर्ण मानते हुए इसके प्रति रोष प्रकट किया। १८५७ के आरम्भिक मासों में नाना साहिब दिल्ली और लखनऊ के मध्य षड्यन्त्र का जाल रचते हुए घूम रहे थे तथा सहायता पाने और विद्रोह की प्रत्येक गति को उत्साहित करने के लिए सुदूर भागों में दूत भेज रहे थे।

दूसरे, सामाजिक दृष्टिकोण से देशी राज्यों के प्रत्येक समायोजन से न केवल राजघरानों की समाप्ति हुई, प्रत्युत गतिपूर्वक संकुचित होते उस क्षेत्र को और भी सीमित कर दिया, जिसमें भारतीय जाति अपनी राजनीतिक और प्रशासनिक योग्यता प्रकट कर सकती थी। विजित प्रदेशों में शांति स्थापन और हाल ही के वर्षों में भू बंदोबस्त के समय अधिकारियों ने देशी कुलीन वर्ग के दावों की अत्यधिक कठोरता से जांच की थी। उनका लक्ष्य अनेक रूपों में सराहनीय था, वह लगान इकट्ठा करने वाले वंशानुगत कलक्टरों अथवा विचावलों के स्थान पर किसान से सीधा व्यवहार करना और उसकी रक्षा करना चाहते थे। बैण्टिक के भूमि कर-मुक्त-पट्टों (Rent free Tenure) के जारी करने से राज्य को बहुत-सा वह राजस्व मिला, जो धूर्तता से रोक लिया गया था परन्तु इससे बहुत से ऐसे भूमि मालिक बिलकुल निर्धन हो गये जिनके अधिकार-पत्र (Title Deeds) या तो गुम हो चुके थे अथवा जिनके पास परम्परागत अधिकारों (Prescriptive right) से जागीरें चली आ रही थीं; विद्रोह से ५ वर्ष पूर्व बंबई के प्रसिद्ध इनाम (Inam) कमिशन ने (इस कमिशन ने कर मुक्त पट्टों के सम्बध में जांच की थी) २० हजार जागीरों को जब्त कर लिया था। सबसे अधिक अवध में भयंकर सामाजिक अशांति उन परिवर्तनों से उत्पन्न हो गयी थी, जो समायोजन के पश्चात् हुए। दुर्भाग्य से सर जेम्स आऊटरम, जिसके अधीन यह कायाकल्प (Transformation) सुचारू रूप से हो रहा था, अप्रैल १८५६ में अवध से चला गया और उसके स्थान पर एक कर्मठ न्याय-प्रिय परन्तु सहानुभूति रहित अधिकारी कॉवरली जैकसन चीफ कमिश्नर होकर आया। देशी शाही सेना भंग कर दी गयी और सैनिकों की आजीविका का एक साधन समाप्त हो गया। अवध के वंशानुगत राजस्व संग्राहक ताल्लुकेदारों के अधिकार पत्रों की बहुत ही कठोरतापूर्वक जांच की गयी, जिन्हें अपने पद के कारण भूमि और उसके जोतने वाले पर सामंती अधिकार प्राप्त थे। जैकसन की वापिसी और सर हेनरी लारैन्स की नियुक्ति से कुछ स्थिति सुधरी, और इस तथ्य के बावजूद कि अवध युद्ध की मुख्य रंगभूमि बन गया, ताल्लुकेदारों ने एक संस्था के रूप में विद्रोहियों को तब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक सहायता न दी जब तक हैवलॉक अपनी प्रथम प्रगति में लखनऊ से लौटने के लिए बाध्य नहीं हो गया। और ना ही तब तक स्वतः उन्होंने भी विद्रोह किया जब तक लार्ड केनिंग की अविवेकपूर्ण घोषणा ने उन्हें निराश नहीं कर दिया। इस घोषणा का हम आगे उल्लेख करेंगे।

तीसरे, कट्टर हिन्दुओं और विशेषकर पुरोहितों को जान पड़ा कि घृणित एवं मूर्त्तिभंजक ब्रिटिश शक्ति धर्म और जाति के गौण अवशेषों तक पर आक्रमण करने लगी है। यह विश्वास व्यापक हो गया था कि लार्ड केनिंग को सारे भारत को ईसाई बनाने के लिए भेजा गया है। हिन्दू पौराणिक गाथा की एक निबन्ध में मैकॉले ने निन्दा की थी जो किसी समय गवर्नर-जनरल की कौंसिल का सदस्य था। सती प्रथा और बाल-वध को रोक दिया गया था। यूरोपीय विज्ञान, ज्योतिष और शल्य चिकित्सा ब्राह्मणों की शिक्षा के पूर्णतया विरुद्ध थीं। पूर्व का रहस्य और प्रतीकवाद पश्चिम के भौतिक-वाद के शीतल प्रकाश में लुप्त होते जा रहे थे। तार विभाग और रेलों को जादू और शैतान के कार्य के समान क्रूर दृष्टि से देखा जाता था। हाल ही में कानून पास हुए थे कि विधवा दूसरा विवाह कर सकती है और धर्म परिवर्तन कर लेने पर भी संपत्ति के अधिकार से कोई वंचित नहीं किया जा सकेगा। सर विलियम ली वारनर कहते हैं, "यह स्वीकार करना होगा कि अत्यधिक गंवार और निरीह हिन्दू तक भारतीय इतिहास के अन्य किसी काल में पश्चिमी भावना के सम्पर्क में इतना नहीं आया जितना १८५७ से पूर्व ८ वर्षों में।[1]

अन्ततः हमें सिपाही सेना की अवस्था पर भी विचार करना है। यूरोपियन और भारतीय सेनाओं की संख्या में असमानता (disparity) बढ़ती जा रही थी। जब लार्ड डलहौजी भारत से गया तो सेना में २३३००० देशी और ४५३२२ ब्रिटिश सैनिक थे। जैसा कि हम देख चुके हैं कि इसके लिए डलहौजी को दोष नहीं दिया जा सकता। वह इस यत्न में असफल रहा कि भारत से क्रीमिया में सेवा के लिए जो सेनाएं भेजी गयीं थीं, उनकी जगह इंगलैण्ड से दूसरी सेनाएं भेज दी जाएं। यह विषमता अधिकारियों की कमी और विशेषतः ऐसे उच्चाधिकारियों की कमी के कारण और भी बढ़ रही थी, जिन्हें डलहौजी ने सीमा पर प्रशासनिक पदों पर नियुक्त कर दिया था। सेनाओं का विभाजन दोषपूर्ण था। दिल्ली और इलाहाबाद पूर्णतया देशी सेना के अधिकार में थे और केवल दीनापुर में एक रैजीमेंट के सिवा इलाहाबाद और कलकत्ता के बीच कोई भी ब्रिटिश सैनिक नहीं था।

मद्रास और बंबई की सेनाओं के असमान बंगाल की सेना को नियंत्रण में रखना सदा इसलिए कठिन जान पड़ा कि उनमें उच्च पदों पर ऊंची जाति के ब्राह्मणों और राजपूतों की बड़ी भारी संख्या थी। चिरकाल से उनमें अनुशासन भी क्षीण हो गया था। वे अफ़गानिस्तान में सेवा करना बहुत बुरा समझते थे, और जो वहां से लौट कर आते थे,

1. The Life of the Marquis of Dalhousie, by Sir Lee Warner, Vol. II. p. 379.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्हें उनके साथी यह ताना देते थे कि वे जाति-भ्रष्ट हो चुके हैं। इन्हीं वर्षों में आज्ञा भंग की भद्दी घटनाएं हो चुकी थीं। जैसाकि पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि १८२४ में ४७वीं रैजीमेंट को भंग कर दिया गया था क्योंकि उसने बर्मा में कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया था। १८४४ में चार बंगाल रैजीमेंटों ने अतिरिक्त भत्ता मिले बिना सिन्ध में लड़ने से इन्कार कर दिया था। १८४९ में ६६वीं देशी पदाति सेना ने गोविन्दगढ़ में विद्रोह कर दिया और ३४वीं बंगाल पदाति सेना ने, जो अपने अधिकारों के अन्तर्गत कार्य कर रही थी, १८५२ में बर्मा में युद्ध करने से इन्कार कर दिया। जुलाई १८५२ में सामान्य सेवा भरती अधिनियम (General Service Enlistment Act) के पास कर देने से बंगाल की सेना में बहुत अशांति उत्पन्न हो गयी थी। इसके द्वारा उन लोगों की भरती बन्द कर दी गयी थी जो आवश्यकता पड़ने पर कहीं भी सेवा के लिए जाने को तैयार न हों। उच्च जाति के सिपाहियों की समुद्र पार करने जैसी शंकाओं का इस समय तक सम्मान होता रहा था परन्तु साम्राज्य के निरन्तर विस्तार में यह बन्धन कष्टकर प्रतीत होने लगा। यह अधिनियम निश्चय ही केवल भविष्य के लिए था, परन्तु सिपाहियों ने, जो अब वंशानुगत सैन्य जाति के हो गये थे, इससे यह समझा कि या तो उनके लड़के उनके इस पेशे से वंचित हो जाएंगे अथवा उन्हें जाति बहिष्कार का जोखिम उठाना होगा।

"चरबी वाले कारतूसों" की भयंकर भूल ने, अंदर-ही-अंदर उमड़ते हुए असंतोष को भयावह नाशक ज्वाला के रूप में प्रकट किया। इन तथ्यों को सब जानते हैं। सिपाही सेना में एक अफवाह फैल गयी कि नयी एनफील्ड (Enfield) राइफलों में गौ और सूअर की चरबी वाले कारतूस जानबूझ कर इस इरादे से प्रयुक्त किये गए हैं कि हिन्दू, जिनके लिए गाय पवित्र है, और मुसलमान, जिनके लिए सूअर अपवित्र है, दोनों जाति बहिष्कृत और धर्मभ्रष्ट हो जाएं। सब जगह इस अफवाह का इस ढंग से स्वागत हुआ कि स्पष्टीकरण, तर्क, प्रतिवाद और इंकार की गुंजाइश नहीं रही। बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इस आरोप में कुछ सीमा तक सत्य था। लापरवाही अथवा अज्ञान के कारण बूलविच के कारखानों में युद्ध सामग्री में वस्तुतः पशु की चरबी का प्रयोग किया गया था। एक दम इस बात का पता न चला और अधिकारियों ने विश्वास के साथ इस बात से इन्कार किया। जब सिपाहियों ने इस तथ्य की अस्वीकृति सुनी, हालांकि वे जानते थे कि यह बात सच है, तो स्वभावतः यह अर्थ लगाया कि उन्हें जान-बूझकर बहकाया जा रहा है और उनके संदेह अधिक दृढ़ हो गए। और जब इस भूल का सुधार भी हो गया तो अफसरों की आज्ञाएं और घोषणाएं भी विश्वास न उत्पन्न कर सकीं।

१८५७ के प्रथम चार मास बंगाल की सेना उत्तेजित और अशांति में व्यस्त रही। सिपाही असंतोष के चिह्न—दंगे-फिसाद और आगजनी की घटनाएं मार्च में बैरकपुर में हुई और एक देसी रैजीमेंट भंग कर दी गयी। अप्रैल मास में उत्तर-पश्चिमा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीमाप्रांत की मेरठ छावनी में देसी घुड़सवारों की रैजिमेंट के कुछ फौजियों ने अपने अफसरों के समझाने-बुझाने और अभ्यर्थना करने के बावजूद परेड के समय उन्हें दिये कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया । फौजी अदालत में मुकदमें की सुनवाई के बाद उन्हें दस बरस की कैद का दण्ड दिया गया । ९ मई को उन्हें सार्वजनिक रूप में पदच्युत किया गया, उनकी वर्दियां उतार ली गईं और उन्हें हथकड़ियां लगा दी गईं। वहां जमा हुई फौजों ने तो किसी प्रकार का रोष प्रकट नहीं किया, क्योंकि वह गोलों से भरी तोपों तथा अंग्रेजी रैजिमेंट की तनी हुई तलवारों से भयभीत थीं । लेकिन ग़दर करने वाले जब जेल जा रहे थे, तो वे अपने साथियों का तिरस्कार कर रहे थे और अपने फौजी अफसरों को गालियां दे रहे थे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ३०

विद्रोह

रविवार १० मई १८५७ को संध्या समय छावनी में शांत वातावरण था। इस शांत वातावरण को भंग करते हुए तीन देसी रैजीमेंटों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने अपने अफसरों को गोली का निशाना बनाया, जेलों के फाटक तोड़ दिये, अपने साथियों को मुक्त कर लिया और दिल्ली को रवाना हो गयीं। यदि उनका तत्परतापूर्वक पीछा किया जाता और उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया जाता, तो बहुत संभव था कि विद्रोह और ज्यादा न फैलता, लेकिन छावनी के कमांडिंग अफसर की घातक निष्क्रियता के कारण उन्हें निर्बाध निकल जाने दिया गया। अगले दिन सुबह-सवेरे विद्रोहियों की अग्रिम चौकियां दिल्ली में जा पहुंची और उन्होंने फौजों को विद्रोह करने को ललकारा। उस समय दिल्ली में एक भी अंग्रेजी रैजीमेंट नहीं थी और चन्द ही घंटों में सारा नगर विद्रोहियों के हाथ में आ गया। सिपाही बटालियन के अंग्रेज अफसरों को मार डाला गया। जो भी योरोपियन मिला, सबकी यही गति हुई। और एक तार बाबू तो इस भयानक समाचार को पंजाब की दूसरी छावनियों तक पहुंचाने भर के बाद ही वहीं मार डाला गया। यह देखकर कि इस मुकाबले का कोई लाभ नहीं, बड़े भारी बारूदखाने के अंग्रेज रक्षकों ने वीरतापूर्वक उसे आग लगा दी जिसके फलरूप हजारों विद्रोही मौत के शिकार हो गए। अन्ततः विद्रोही महल में दाखल हो गए और उन्होंने दिल्ली के पुराने बादशाह बहादुरशाह को एक बार पुनः भारत का मुगल सम्राट् घोषित कर दिया।

इस संहारात्मक प्रहार से पीड़ित अंग्रेज अधिकारियों को भाग्यवश थोड़ी-सी चैन की सांस मिली। छोटी एवं एकाकी छावनियों के सिवा लगभग तीन सप्ताह तक और अधिक विद्रोह नहीं हुआ, और यद्यपि भावी कार्यवाही के लिए समय अत्यल्प था, तथापि इस बीच कुछ-न-कुछ संभला जा चुका था। पंजाब में अत्यधिक तत्परता से काम लिया गया हालांकि इस प्रान्त में तीन प्रकार के खतरों का सामना होने की आशंका थी—सिपाही रैजीमेंटों में असंतोष, अफ़गान आक्रमण का खतरा, और सिक्खों का उत्कर्ष। यह सुख की बात थी कि दोस्त मुहम्मद १८५५ और १८५७ की संधियों के प्रति वफादार बना रहा और खालसा सेना ने अपने हाल ही के विजेता के विनाश से किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। लाहौर में सिपाही रैजीमेंटों को सामयिक रूप में भंग कर दिया गया और जॉन निकल्सन की अधीनता में विद्रोही संस्थाओं पर हमला करने तथा उन्हें नष्ट करने के लिए एक गश्ती दस्ता तैयार किया गया।

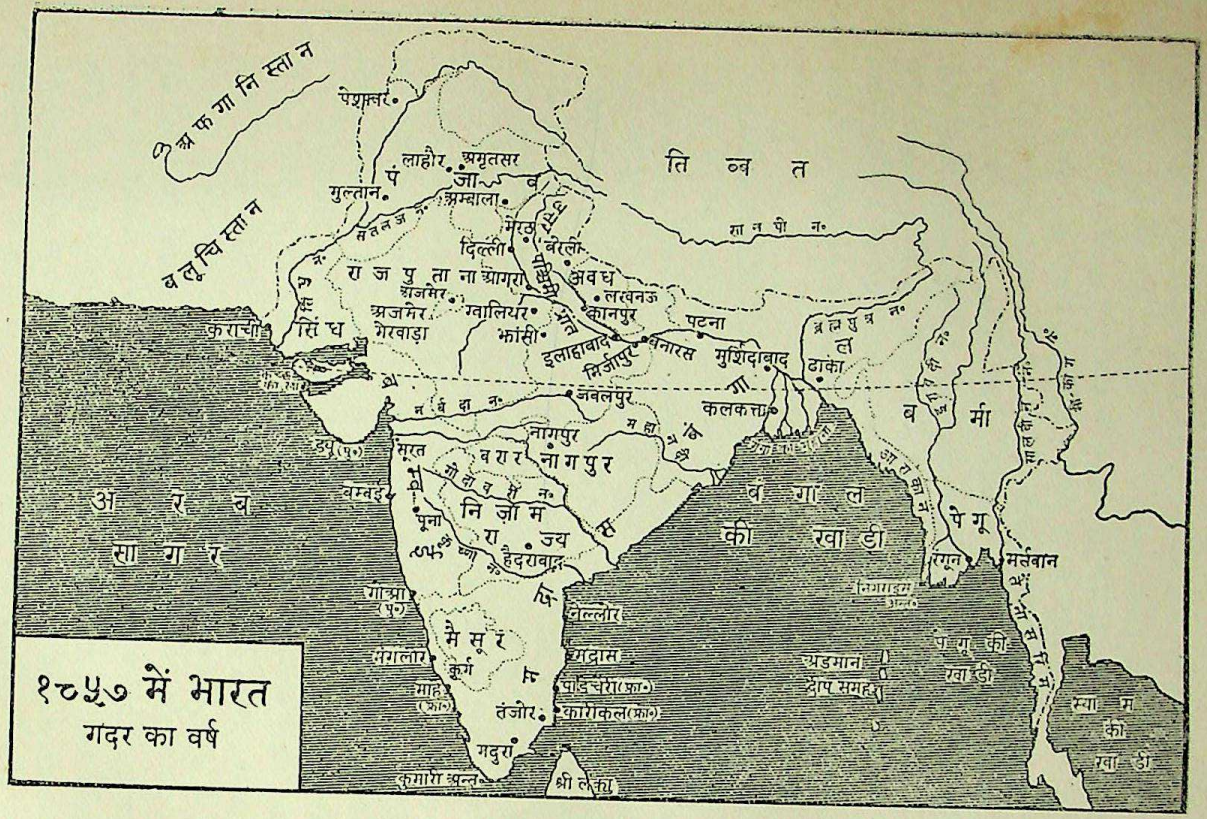

१८५७ में भारत
गदर का वर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंग्रेजी प्रतिष्ठा को फिर से जारी करने के लिए दिल्ली को पुनः अधिकार में कर लेना सर्वाधिक आवश्यक था। केनिंग और सर जॉन लारेंस ने कमांडर-इन-चीफ आन्सन को प्रबलतापूर्वक प्रेरणा की। किन्तु आन्सन के लिए उस समय यातायात और पूर्ति के अभाव में आगे बढ़ना असम्भव था। किसी उपचार को आरम्भ करने से पूर्व ही अवध, रुहेलखंड और मध्यभारत के अनेक भागों में आम विद्रोह फैल गया। २९ मई और ५ जून के बीच राजपूताना के नसीराबाद में, ग्वालियर के नीमच में, रुहेलखण्ड के बरेली में तथा अवध के लखनऊ, बनारस और कानपुर में सिपाही बिगड़ उठे, और दूसरी ओर बुन्देलखंड में झांसी की रानी की अध्यक्षता में विद्रोह खड़ा हो गया। झांसी की रानी के सामने जो भी योरोपियन आया, वह मौत के घाट उतारा गया। विद्रोह हो जाने के बाद प्रायः सभी अवस्थाओं में विद्रोही दिल्ली की ओर ही रवाना हो जाते थे। कइयों ने ऐसा करने से पहले अपने अफसरों को मार डाला, और कुछ ऐसे भी निकले, जो अपने अफसरों को सुरक्षा के स्थानों में पहुंचाने के बाद उन्हें बाकायदा सैल्यूट करके अपने साथियों में मिलने को रवाना हो जाते। केवल अवध ही था, जिसमें यह आंदोलन रोका गया था। ५ जून को कानपुर के विद्रोही दिल्ली की ओर रवाना हो चुके थे किन्तु अगले ही दिन नाना साहब ने उन्हें जा रोका। नाना साहब उन्हें कानपुर में दुर्बल अवस्थाओं में पड़ी अंग्रेजी सेना पर हमला करने के लिए लौटा लाए। लखनऊ के विद्रोही भी रैजीडैंसी पर हमला करने को रुक गये। इस रैजीडेंसी की सर हेनरी लारेंस ने किलेबन्दी की हुई थी, क्योंकि उच्च अधिकारियों में केवल यही एक आदमी था, जिसने वर्ष के आरम्भ में आने वाले खतरे की सत्यता को भांप लिया था। जो भी हो, हम अवध के घटना-क्रम को यहीं छोड़कर दिल्ली में होने वाले आन्दोलन का अवलोकन करते हैं।

आन्सन अम्बाला से रवाना हुआ और अभी दिल्ली तक का आधा ही फासला तय कर पाया था कि करनाल में २७ मई को हैजा के कारण मर गया। उसकी जगह सर हेनरी बर्नार्ड ने ली और ४ जून को मेरठ से आर्कडेल विल्सन उसे आ मिला। उनकी संयुक्त सेना ने ८ जून को बादली सराय में एक विद्रोही सेना को पराजित किया और दिल्ली नगर की उस ऊंची पहाड़ी से उसे खदेड़ कर वहां छावनी डाल दी। इस दल का यह हमला तो नाममात्र का ही कहा जा सकता है, क्योंकि वस्तुतः यह दल स्वतः ही विद्रोहियों से घिर गया था। इसकी संख्या पहले ५ हज़ार से कुछ कम थी जबकि शत्रु की संख्या लगभग ३० हज़ार थी और दिल्ली पहुंचने वाली दक्षिणी तथा पूर्वी सड़कों से, जो सर्वथा बेरोक-टोक थीं, दिल्ली में लगातार कुमुक पहुंच रही थी। जून और जुलाई के सारे महीनों में अंग्रेजी सेना बड़ी कठिनाई के साथ उस पहाड़ी पर जमी रही। नगर के विद्रोहियों ने अनेक बार हमले किये और लगातार यह दल उनका सामना करता रहा।

इस बीच सर जान लारेंस और उसके योग्य सहकारी हर्बर्ट एडवर्ड, जान निकल्सन और सिडनी काटन, जो अपने निजी प्रान्त में विद्रोह को दबा चुके थे, दिल्ली में घिरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेना को कुमुक पहुंचाने का प्रत्येक प्रयत्न कर रहे थे। इसके अलावा वे पंजाब से फौजें हटा लेने का भी भारी खतरा उठा रहे थे। कइयों को उनकी यह नीति अत्यधिक विचलित करने वाली जान पड़ेगी। उस समय इस बात का विश्वास नहीं किया जा सकता था कि दोस्त मुहम्मद अपनी संधियों के तईं वफादार रहेगा, या यदि वह वफादार रहा भी तो वह अपने कबाइलियों को हमारे सीमान्त पर हमला करने से रोक सकेगा। उस समय यह भी अत्यधिक शंकित जान पड़ा होगा कि सिक्ख अपनी खोई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त करने के प्रलोभन को स्थायी रूप से रोके रहेंगे अथवा नहीं। यह कोई बड़े आश्चर्य का विषय नहीं कि जिस लारेंस पर असफलता की सारी जिम्मेदारी पड़ने वाली थी वह एडवर्ड या निकल्सन की सामयिक सलाहों पर अमल करने में बहुधा पिछड़ भी गया हो। जो भी हो, उसका यह प्रस्ताव की पेशावर अफ़गानों के हवाले कर दिया जाय तथा सिन्धु के तट तक अपने को हटा लिया जाय, जान पड़ता है कि वह एडवर्ड की प्रबल अभ्यर्थनाओं के कारण बड़ी भारी घातक भूल करने जा रहा था। इस भूल से उसे गवर्नर-जनरल की उस आज्ञा ने बचा लिया, जिसमें उसे अपील की गयी थी कि वह "अन्त तक पेशावर पर अधिकार बनाए रहे।" जुलाई के अन्त में आखिर लारेंस ने निकल्सन को अपने दस्ते के साथ दिल्ली के बाहर पड़ी अंग्रेजी सेनाओं से मिल जाने के लिए भेजना सुरक्षित समझा। जब निकल्सन वहां पहुंचा तो उसके आश्चर्यजनक उत्साह से घिरी हुई सेना में एक नई लहर दौड़ गई। आन्सन की तरह बर्नार्ड भी ५ जुलाई को चल बसा, और उसके उत्तराधिकारी जनरल रीड ने अस्वस्थता के कारण शीघ्र ही त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार नाममात्र का कमांडर सर आर्कडेल विल्सन था और असली नेता स्वतः निकल्सन ही था। ६ सितम्बर को एक बड़ा भारी आक्रमणकारी दल रेल से पहुंच गया। शत्रु ने बड़े साहस से उसे भंग करने की चेष्टा की लेकिन निकल्सन की धीरता ने उसे पराजित कर दिया। १४ सितम्बर को काश्मीरी दरवाजा तोपों से उड़ा दिया गया और दिल्ली पर अधिकार करने के लिए चार दस्ते उसमें दाखिल हुए। छः दिन की भीषण लड़ाई के बाद नगर को जीत लिया गया और महल पर अधिकार हो गया। अंग्रेजों के १४५० आदमी खेत रहे, और स्वतः निकल्सन भी उस समय घातक रूप में घायल हुआ जबकि वह एक तंग गली में क्षण भर को गोलियों की बौछार से विचलित एक टुकड़ी को उत्साहित करने के लिए आगे बढ़ा ही था। बादशाह को उसके दोनों बेटों सहित कैद कर लिया गया। शाहजादों को एक घुड़सवार नेता हडसन ने गोली से मार डाला। उसका निजी विश्वास था कि ये अंग्रेज स्त्री-पुरुषों की हत्या के अपराधी हैं, और यदि उन्हें सुरक्षित जगह पर ले जाने की कोशिश की गई तो भीड़ उन्हें छुड़ा लेने की चेष्टा करेगी।

दिल्ली पर अधिकार करने के विवरण की पूर्त्ति के लिए घटनाओं के यथाक्रम की उपेक्षा कर दी गई है, और अब हम फिर उसी त्यक्त अंश का अवलोकन करेंगे। हम देख चुके हैं कि जून के प्रथम सप्ताह तक अवध में विद्रोह का बोलबाला हो चुका था और विद्रोही लखनऊ तथा कानपुर के दो केन्द्रों में जमा हो रहे थे। इस प्रान्त में जबकि विद्रोह फैलने के कारण कलकत्ता और पंजाब के बीच सारे संचरण के नाश का भय हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा था, तो इसके कारण किसी हद तक उन विद्रोहियों की बहुत बड़ी संख्या इस दिशा में व्यस्त बनी रही। यदि ऐसा न होता तो वे भी दिल्ली में ही आ जमा होते। कानपुर की सैनिक खाइयों को घेरने का काम ६ जून को शुरू हुआ और २६ तारीख तक यह जारी रहा। उधर लखनऊ की रैजीडेन्सी पर छापा मारने का काम १ जुलाई को शुरू हुआ और तब तक जारी रहा जबकि अन्ततः १६ नवम्बर को पूर्ण शान्ति हो गयी। इन दोनों नगरों को मुक्त करने के लिए अत्यधिक प्रबल यत्न किये गये और यही वे नगर थे कि जिनमें सर्वाधिक भयंकर युद्ध भी हुए। ११ जून को नेइल ने भाग्यवश साहसपूर्ण हमले के द्वारा इलाहाबाद के किले पर अधिकार कर लिया। इस किले में एक छोटी सी सिक्ख-टुकड़ी के साथ एक अंग्रेज अफसर वीरतापूर्वक जमा बैठा था लेकिन किसी भी समय इसके शत्रु के हाथों में पड़ जाने की आशंका थी। इसके बाद यह नगर अवध में घिरी हुई फौजों की सहायता तथा इस प्रान्त को फिर से जीत लेने का आधार बन गया। १२ दिन बाद नेइल की सहायता के लिए जनरल हैवलॉक आ पहुंचा। हैवलॉक हाल ही में फारस के युद्ध से लौटा था। यह अफसर सहायक पद पर इतने दिनों से था कि उसके बाल पक आये थे। और अब उसे लखनऊ तथा कानपुर को मुक्ति दिलाने का काम सौंपा गया। सात जुलाई को हैवलॉक दो हज़ार सैनिकों के दल के साथ इलाहाबाद से रवाना हुआ। जो भीषण कठिनाइयां उसके सामने थीं, उनमें वह यह प्रमाणित करना चाहता था कि गदर के सम्पूर्ण आन्दोलन में यही सर्वाधिक वीरतापूर्ण हमला होगा। उसका यह छोटा-सा दल हैजा और पेचिश का शिकार हो गया। तिस पर बची-खुची शक्ति पर भारतीय सूर्य की किरणें निर्दय प्रहार कर रही थीं ; और दूसरी ओर शत्रु सिर-धड़ की बाजी लगा कर युद्ध कर रहा था। हैवलॉक के एक का दस के साथ मुकाबला था। इतने पर भी १२ जुलाई और २५ सितम्बर के बीच उसने १२ लड़ाइयां लड़ीं और अपने दायित्व को पूर्ण किया। इलाहाबाद से रवाना होने से पूर्व वह यहां तक जानता था कि यद्यपि लखनऊ की फौज की स्थिति अपेक्षया अच्छी ही थी तथापि कानपुर की वीरता-पूर्ण सुरक्षा का अंत होने ही वाला है, और अधिकतर वह यही आशा कर सकता था कि वह नाना साहब के हाथों में फंसे स्त्री-बच्चों की जानों की, यदि सम्भव हुआ तो, रक्षा कर लेगा। आत्म-समर्पण के तथ्य सर्वविदित हैं और उन्हें केवल संक्षेप में ही यहां प्रकट किया जा सकता है। भयंकर आपत्ति और यातना में यह लश्कर २६ जून तक अपनी स्थिति पर दृढ़ रहा, और उसके बाद अयोग्य सैनिकों को बचाने का अन्य चारा न पाकर नाना साहब के साथ सम्मानित आचरण के वचन के आधार पर आत्म-समर्पण कर दिया। नाना साहब कम्पनी द्वारा प्रदत्त बिठूर की अपनी जागीर से विद्रोहियों की कार्यवाहियों का संचालन कर रहे थे। अंग्रेज सैनिक अपनी खाइयों से बाहर आ गये और वह नावों में नदी पार करने लगे; लेकिन अभी वे नदी-तट को छू भी नहीं पाए थे कि तट पर से उन पर गोलियों की बौछार होने लगी। इस बौछार के मारे वे निरीह हो गए और निर्दयतापूर्वक उनकी हत्या की जाने लगी। केवल चार ही आदमी अपनी जान बचा कर भाग सके, शेष की हत्या कर डाली गयी, और लगभग १२५ स्त्री-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बच्चों को नदी के उस पार ले जाने के बाद उन्हें इससे भी भीषण भाग्य का सामना करने के लिए सुरक्षित रख लिया गया।

चार भीषण मुठभेड़ों के बाद हैवलॉक ने कानपुर में प्रवेश किया। यहां उसे केवल यह बात हाथ लगी कि उसके प्रवेश से एक दिन पूर्व बंदियों की, जिन्हें अन्य चौकियों से कुछ अन्यों के साथ यहां लाया गया था और जिनकी संख्या २११ थी, अत्यधिक क्रूरता से हत्या की गई और उनकी लाशों को कानपुर के एक कुएं में फेंक दिया गया। नेइल को वहीं छोड़कर, जो कि उसके पीछे-पीछे इलाहाबाद से आया था, वह इस क्रूरता का बदला लेने के लिए २५ जुलाई को ४२ मील के उस फासले को तय करने के लिए रवाना हो गया, जिसने उसे लखनऊ से जुदा किया हुआ था। वहां सर हेनरी लारेंस ४ जुलाई को एक बम से घायल होकर मर गया था लेकिन उसका कार्य एवं प्रभाव उसके बाद भी जीवित थे, जो प्रतिरक्षा के लिए उत्साहित कर रहे थे और इंगलिस (Inglis) ने उन्हें आश्चर्यजनक रूप से स्थिर रखा हुआ था। दो विजय-प्राप्तियों के बाद हैवलॉक की छोटी-सी सेना हैजा, गरमी और निष्क्रियता के कारण इतनी निढाल हो चुकी थी कि उसे उस क्षण बाध्य होकर कानपुर की शरण लेनी पड़ी। वहां उसने शत्रु की उस सेना को पराजित किया, जो नेइल के लिए लोहे के चने बन गई थी। इससे नेइल को बल मिला। एक बार पुनः १९ सितम्बर को उसने आऊटरम के साथ गंगा को पार किया। आऊटरम आया था उसका अफसर बनने, लेकिन उसने लखनऊ के छुटकारे तक स्वेच्छा से उसके नेतृत्व में रहने की इच्छा प्रकट की। उसने तीन और युद्धों में शत्रु को पछाड़ा और २५ सितम्बर को तनी हुई संगीनों का मुकाबला करते हुए वह लखनऊ में प्रविष्ट हुआ। दिल्ली पर अधिकार हो जाने के ठीक पांच दिन बाद की यह घटना है। जिस प्रकार जॉन निकल्सन दिल्ली के तूफान में आहतरूप में घायल हुआ था, उसी तरह नेइल भी, जो निकल्सन के समान ही साहसी एवं चारित्रिक बल वाला था, लखनऊ के तंग बाजारों में मृत्यु का ग्रास बना।

दिल्ली का पतन और लखनऊ का छुटकारा, ये दोनों घटनाएं विद्रोह के उस प्रथम चरण की समाप्ति को प्रकट करती हैं, जिसमें अपने अस्तित्व को बनाये रहने के लिए सर्वप्रथम सर-धड़ की बाजी लगाकर उन लोगों ने युद्ध करने का साहस किया था, जो इंगलैण्ड से सहायता-प्राप्ति बिना सर्वथा निराश हो चुके थे। विद्रोह की कमर तो टूट चुकी थी। इससे आगे पुनर्विजय का दूसरा चरण आरंभ होता है। निःसंदेह, अभी करने को तो बहुत कुछ था; स्वतः लखनऊ को ही दूसरी बार मुक्त कराना था। क्योंकि हैवलॉक और आऊटरम के पास इतनी ताकत नहीं थी कि वे रक्षक-सेना को निकाल लेते। तिस पर वे खुद भी घिर चुके थे; किन्तु परिस्थिति की तनातनी कम हो चुकी थी। इस बीच सांस लेने का समय भी मिल गया था; इंगलैण्ड से यथाक्रम कुमुक पहुंच रही थी और दो बड़े अनुभवी जनरलों, सर कालिन कैंपबैल, कमांडर-इन-चीफ (जो बाद में लार्ड क्लाइड कहलाया), और सर ह्ग रोज़ (जो बाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में लार्ड स्ट्रेथनेर्न कहलाया) में से एक तो भारत के लिए रवाना हो चुका था, और दूसरा भारत पहुंच चुका था। जो मुठभेड़ होती रहीं, उनमें सर कॉलिन कैंपबैल ने अवध और रुहेलखंड की पुनर्विजय की और सर हग रोज़ मध्य भारत में बम्बई से चलकर अनेक ज़िलों में होता हुआ सफल युद्ध करता गया। इन ज़िलों में विद्रोही अब तक प्रायः अछूते ही पड़े थे। उसने इन बिखरे हुए दलों का पीछा किया और अन्तिम रूप में उन्हें खंडित कर दिया।

९ नवम्बर को सर कॉलिन कैंपबैल ने लखनऊ की दूसरी बार सहायता के लिए ५००० आदमियों के साथ चढ़ाई की और १६ तारीख को जी-जान की लड़ाई करने के बाद नगर में प्रविष्ट हुआ। कैंपबैल ने लड़ने के अयोग्य सैनिकों को वहां से निकाला और २७ तारीख को वह कानपुर जाने के लिए लौट पड़ा। वह आऊटरम को आलम-बाग में चार हज़ार आदमियों के साथ दृढ़तापूर्वक तैनात कर गया। नगर से चार मील की दूरी पर यह बाग चारों ओर से लम्बी-चौड़ी दीवार से घिरा हुआ था। वहां वीर वयोवृद्ध योद्धा हैवलॉक को, जो अथक परिश्रम और जीवन-सुखों से निढाल होकर २४ नवम्बर को मर गया था, उसके द्वारा रक्षित नगर के निकट सम्मानपूर्वक दफनाया गया। सर कॉलिन कैंपबेल का लौटना सर्वथा समयानुकूल सिद्ध हुआ। उसने भीषण विनाश होते-होते बचा लिया था, क्योंकि मराठा ब्राह्मण तांत्या टोपे की अध्यक्षता में ग्वालियर के २० हज़ार विद्रोहियों ने एकाएक काल्पी से चढ़ाई कर दी थी और जनरल विंडहम को, जिसे कानपुर की रक्षा के लिए छोड़ा गया था, पीछे हटा दिया था। इन सेनाओं ने जून में विद्रोह किया था, लेकिन इस बीच उनका यह पहला ही प्रभाव-कारी धावा था। कैंपबैल ने ६ दिसम्बर को इन्हें करारी हार दी और अवध तथा रुहेलखंड में नियमित संघर्ष के लिए रवाना हो गया। लखनऊ पहुंचने से पहले ही जंगबहादुर की अध्यक्षता में गोरखा सेना उसके साथ मिल गई। जंगबहादुर नेपाल के राजा का मंत्री था। उसे अंग्रेजों में अडिग विश्वास था। इस प्रकार लखनऊ पर अंतिम रूप से अधिकार हो गया और एक मार्च तक उसे विद्रोहियों से साफ कर दिया गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि कैंपबेल को अपने आदमियों की जानों का भारी खतरा हो गया था और उसी के कारण शत्रुओं की बहुत बड़ी संख्या बचकर निकल भागी थी। मार्च के अन्त में केनिंग की अविवेकपूर्ण घोषणा के कारण दुर्भाग्यवश अवध का विरोध लम्बा पड़ गया। केनिंग ने उसमें विशेषतः लिखित छः तथा उन अन्यों के सिवा, जो अपनी भक्ति प्रमाणित कर सकेंगे, सब ताल्लुकेदारों की भूमियों को जब्त करने की आज्ञा जारी की थी। असंदिग्ध रूप में केनिंग की इच्छा इनमें से अधिकांश जमी-दारियों को सतर्क जांच के बाद लौटा देने की थी, लेकिन ताल्लुकेदार उसके इस विचार को समझे नहीं। फलस्वरूप, उनकी एक बड़ी संख्या ने उस दृष्टिकोण का परित्याग कर दिया, जो वे अब तक तटस्थ रहने या विद्रोहियों की निष्क्रिय सहायता को अपनाए हुए थे। इसके स्थान पर उन्होंने सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया और वर्ष के अन्त तक अवरोधकारी गुरिला-युद्ध करते रहे। मई में कैंपबैल ने रुहेलखंड स्थित बरेली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर अधिकार कर लिया और इसके साथ उत्तर में होने वाले संघर्षों का प्रायः अन्त हो गया ।

इस बीच सर ह्यू रोज़ ने विद्रोह के अत्यधिक दक्षिणी भाग बुन्देलखंड में वीरतापूर्ण एवं निर्णयात्मक कार्यवाही पूर्ण की । ८ जनवरी १८५८ को अपनी कार्यवाहियों के अड्डे मऊ से बढ़ते हुए उसने रतनगढ़ पर अधिकार किया और फरवरी में सागर को मुक्त कर दिया । मार्च में वह झांसी में प्रविष्ट हुआ और बेतवा की लड़ाई में तांत्या टोपी के अधीन बड़ी भारी सहायक सेना को बुरी तरह हराकर उसने एकाएक दुर्ग पर अधिकार कर लिया । मई मास में कछ की सेना को उसने मार भगाया। तब लगा कि संघर्ष समाप्त हो गया है और उसने अभी अपना पद-त्याग ही किया था कि वह घोर महत्व के समाचारों से व्यग्र हो उठा । झांसी की रानी और तांत्या टोपी ने, जिनके पास इधर-उधर से आने वाले जमा हो रहे थे, इस आखिरी आशा के आधार पर ग्वालियर जाने की सुखद धारणा बनाई थी कि सिंधिया की सेना उनके पक्ष में हो जायगी । जैसा कि हम पढ़ आए हैं, ग्वालियर की उप-सेना बहुत अर्से से विद्रोहियों में शामिल हो चुकी थी, लेकिन सिंधिया ने अभी तक अपनी सेना को वफादार रखा हुआ था । उक्त साहसी योजना सफल हो गई । जब सिंधिया शत्रु का मुकाबला करने के लिए रवाना हुआ तो उसकी सारी सेना ने उसका साथ छोड़ दिया और स्वयं वह अपने निजी अंगरक्षकों के साथ आगरा निकल भागा । विद्रोहियों ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया, बारूदखाने और खजाने पर कब्जा कर लिया और नाना साहब के पेशवा होने की घोषणा कर दी । रोज़ तत्काल इस भीषण संकट को भांप गया कि तांत्या टोपी ने सिंधिया की राजधानी पर अधिकार पाकर जो प्रतिष्ठा लाभ की है, उसके सहारे वह अब दक्कन में सुदूर दक्षिण की ओर बढ़ेगा और उस असंतोष की आग को भड़का देगा, जो यद्यपि अभी तक दबी हुई थी, तथापि जिसका अस्तित्व नर्बदा के दक्षिणी भाग में बताया जाता था । महान यत्नों से उसने अपनी श्रांत सेनाओं के साथ ग्वालियर पर धावा बोल दिया और विद्रोहियों को दो लड़ाइयों में हरा दिया । इनमें से एक में पुरुष-वेष में झांसी की रानी ने एक सैनिक के समान वीर-गति प्राप्त की । उसने २० जून को नगर पर फिर से अधिकार कर लिया ।

यद्यपि विद्रोह की चिनगारियां अभी तक दूरस्थ ज़िलों में सुलग रही थीं, तथापि अब वह बुझी-बुझी हो चुकी थीं । ऐसी दशा में केनिंग ने ८ जुलाई को शांति की घोषणा करने में अपने आपको न्यायपूर्ण अनुभव किया । कुछ नेता अब भी पीछा करने वालों से बचकर भागे हुए थे । लेकिन नाना साहब को अन्ततः नेपाल सीमांत की तराई के महामारी युक्त जंगलों में धकेल दिया गया, और वह संभवतः वहीं दुखद अवस्था में मर गये, क्योंकि अनन्तर वह कभी दिखायी नहीं दिये । तांत्या टोपी दक्षिण की ओर निकल भागा और बुन्देलखण्ड तथा मालवा तक उसका बुरी तरह पीछा गया जबकि अप्रैल १८५९ में वह अंग्रेजों के हाथों में पड़ गया । उसे कानपुर की नृशंस हत्या के अपराध में फांसी पर लटका दिया गया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ३१

ईस्ट इंडिया कंपनी का अन्त

विद्रोह शांत हो चुका था। अंग्रेजों की अन्तिम विजय के कुछेक कारणों पर यहां विचार करना उचित जान पड़ता है। प्रथमतः, विद्रोह यद्यपि व्यापक और उग्र रूप का था, तथापि वह किसी सीमा तक केन्द्रीभूत था। प्रभावित क्षेत्र ये थे : पंजाब, संयुक्त प्रान्त, रुहेलखंड, अवध, नर्बदा और चंबल के बीच का इलाका, और बिहार तथा बंगाल का पश्चिमी भाग। उत्तर-पश्चिम में, दोस्त मुहम्मद के अधीन अफ़गानिस्तान मित्रतापूर्ण रहा, सिंध में शांति थी, और राजपूताना जार्ज लारेंस के कुशल संचालन में वफादार रहा। जार्ज लारेंस उस परिवार का तृतीय सदस्य था, जिसकी इंगलैण्ड के लिए विद्रोहकालीन सेवाएं अवर्णनीय हैं। नर्बदा के दक्षिण स्थित भारत में कोई महत्त्व-पूर्ण आन्दोलन नहीं हुआ, यद्यपि दक्षिणी मराठा प्रदेशांतर्गत कोल्हापुर में एक देशी फौज ने विद्रोह किया था, और निजाम की राजधानी हैदराबाद में अत्यन्त उग्र तूफान की भावनाएं विद्यमान थीं। केन्द्रीय और पूर्वी बंगाल शांत थे, और नेपाल ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों को बहुमूल्य सहायता प्रदान की थी।

द्वितीयतः, झांसी की रानी, अवध की बेगम, और कुछ अन्य छोटे-मोटे सरदारों के सिवा किसी भी सामन्ती नरेश ने विद्रोहियों का साथ नहीं दिया था। सिंधिया और होल्कर वफादार रहे, यद्यपि उनकी सेनाओं ने विद्रोह किया। सरहिंद के सरदारों ने, जिनमें पटियाला और जींद के राजा मुख्य थे, उस रकम का आश्चर्यप्रद भक्ति के साथ प्रतिदान किया, जो रणजीतसिंह के अत्याचारों के विरुद्ध उनके पूर्वजों को दी गई थी। यह अनुमान करना सहज नहीं कि ग्रेट ब्रिटेन भारतीय साम्राज्य को हस्तगत किये रहने में उन दो महान भारतीय नीतिज्ञों—ग्वालियर के सर दिनकर राओ और हैदराबाद के सर सालार जंग—का कितना ऋणी है। युवक सिंधिया के सचिव सर दिनकर राओ का अपने मालिक को वफादार बनाए रहने में बड़ा भारी हाथ था, और इसके महत्त्व की उपेक्षा कर सकना सहज नहीं। यदि सिंधिया ने विद्रोह के स्तर को उन्नत कर दिया होता, तो प्रत्येक मराठा राज्य उससे मिल जाता। जनरल आइन्स (Innes) का कहना है, "उसकी वफादारी ने अंग्रेजों की खातिर भारत को बचा लिया।"[1] उपरान्त, महान और अशांत मुस्लिम जनसंख्या वाले हैदराबाद में एक बार तो भीषण विद्रोह फूटने का खतरा हो गया था, और उसे सर सालार जंग

1. The Sepoy Revolt, by Lieut General Mcleod Innes, p. 301.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की असाधारण रूप में सामयिक एवं साहसपूर्ण कार्यवाही ने रोक लिया था। मि० राईस होम्स (Mr. Rice Holmes) का कथन है : "वह एक ऐसा व्यक्ति था, कृतज्ञता एवं श्रद्धा के साथ जिसके नाम का उल्लेख सदैव अंग्रेजों को करते रहना चाहिए।"[1] तृतीयतः, यह भी कहा जायगा कि जिस विद्रोह के लिए अंग्रेजों ने इतनी योग्यता का प्रदर्शन किया, उसने विद्रोहियों में से कोई नेता उत्पन्न नहीं किया, किन्तु जिसे सर्वाधिक योग्य कहा जा सकता है, वह थी एक महिला--झांसी की रानी। सर जॉन लारेंस विद्रोहियों द्वारा की हुई अनेक भूलों का आश्रय लिया करता था। उसने घोषणा की थीः विद्रोह करने के बाद लगा कि वे विद्रोह को चलाने में उनका आचरण पागलों जैसा बन गया था, और अक्सर वे ऐसा मार्ग अपनाते थे, जिसकी असफलता का पूर्वाभास हो जाता था।

चतुर्थतः, विद्रोह फूटते ही जिन व्यक्तियों को उसका मुकाबला करने के लिए तैनात किया गया था, वे--लारेंस, आऊटरम, हैवलॉक, निकल्सन, नेइल और एडवर्ड--असाधारण चरित्र वाले थे। यदि वे दुर्बल सिद्ध होते, या सामान्य योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति होते, तो इनमें से कोई भी इस मामले का पूर्वाभास नहीं कर सकता था। कठिनतम संघर्ष उन्हीं के हिस्से आए थे। यह उल्लेखनीय है कि विद्रोही प्रारम्भिक मासों में लड़ने वाली शक्ति के तौर पर अत्यधिक भयानक थे। युद्धों में अधिक दृढ़ता के साथ मुकाबला हुआ, और दिल्ली के आसपास की लड़ाई तथा सर कॉलिन कैंपबैल और सर हग रोज़ के साथ होने वाली लड़ाइयों की अपेक्षा हैवलॉक और आऊटरम की कार्यवाहियों में अंगरेजों की अत्यधिक हानि हुई। दिल्ली के पतन और लखनऊ की प्रथम मुक्ति के बाद विद्रोहियों का अवरोध काफी ढीला पड़ गया था। सर हग रोज़ ने शानदार युद्ध किये थे, किन्तु उसे बेफिक्री के साथ तैयारी करने और एक अच्छी तथा योग्य घुड़सवार सेना का लाभ था, जबकि जिन सेनाओं के साथ उसकी मुठभेड़ हुई, वह अस्त-व्यस्त एवं भद्दे नेतृत्व के अधीन थीं।

पंचमत, लार्ड कैनिंग और सर जॉन लारेन्स ने प्रारम्भिक चरणों में ही इंगलैण्ड तथा भारत में होने वाले इस शोर को दबाने का बड़ा भारी यत्न किया था कि बदला लेने की अविवेकपूर्ण एवं भद्दी नीति का अनुसरण किया जा रहा है। वह हो-हल्ला पर्याप्त रूप में स्वाभाविक था, क्योंकि उससे होने वाली उत्तेजना भयानक होती। उन व्यक्तियों की अनेक ज्यादतियों की उपेक्षा भी की जा सकती है, जिन्होंने कानपुर के निर्लज्जतापूर्ण आतंकों को भयातुर आंखों तथा बन्द ओठों से देखा था। निकल्सन ने तो यहां तक चाहा कि 'जीते की चमड़ी उतारना, सूली पर चढ़ाना या दिल्ली में स्त्रियों और बच्चों के हत्यारों को जलाना'[2] कानूनन माना जाय। लेकिन कैनिंग यद्यपि अपराधियों को कड़े-से-कड़ा दंड देने को तैयार था तथापि इस बात पर बल दे रहा था

1. History of the Mutiny, by T. R. E. Holmes, 1898, p. 499.

2. History of the Indian Mutiny, Kaye and Malleson, Vol. II p. 301.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि उनके अपराधों के तई कोई भूल नहीं की जाय। उसने स्व-नियुक्त अदालतों की ज्यादतियों को रोकने के लिए और सब मामलों में उचित पेशी एवं जांच के आश्वासन के लिए कानून स्वीकार किये थे। इस काल में उसकी अत्यधिक कड़ी आलोचना हुई, लेकिन सार्वजनिक मांग के एक श्रेष्ठ तिरस्कार के साथ वह अपने विचार पर स्थिर रहा। विनोद में उसका 'नम्र केनिंग' उपनाम पड़ गया, किन्तु बाद में यह स्वीकार किया गया कि उसकी नम्रता न केवल नैतिक रूप में आश्चर्यकारी थी, प्रत्युत राजनीतिक रूप में औचित्यपूर्ण थी, क्योंकि कोई भी बात इससे ज्यादा खतरनाक नहीं हो सकती थी कि हम देशी प्रजा के साथ अपने संबंधों को निरुपाय रूप में कटु बना लेते।

विद्रोह का दमन इस बात के लिए समुचित अवसर ठहराया गया कि ताज अंतिम रूप में भारतीय सरकार को अपने नियंत्रण में ले ले। इस निर्णय का कम्पनी ने जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा तैयार की गई अनुरोधपूर्ण दरखास्त में विरोध किया। कम्पनी ने सगर्व घोषणा की कि स्वतः उन्होंने उस समय भारतीय साम्राज्य की नींव डाली थी, 'जब पार्लियामेंट के नियंत्रण-अधीन प्रशासनात्मक उत्तराधिकार वाला एटलांटिक की विपरीत दिशा में एक अन्य महान साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन के ताज के हाथों से निकल रहा था।' उसने विद्रोह के कारणों की अत्यधिक सूक्ष्मता से जांच करने की चुनौती दी और बड़े बल के साथ उल्लेख किया कि भारतीय मामलों में ताज की सरकार को बहुत पहले से निर्णयात्मक हस्तक्षेप का अधिकार है, और इस प्रकार 'जो कुछ भी किया गया है, और जो कुछ भी सहन किया गया है या करने में छूट गया है, उसके लिए वह पूरी-पूरी तरह जिम्मेदार है।'

'उस शासनाधिकारी की शाखा को, जो सिद्धान्ततः एकाकी दोषी नहीं हो सकती और संभव है जो सर्वथा निर्दोष हो, सारे अधिकार उस शाखा में केन्द्रीभूत करने की खातिर जिसकी प्रत्येक वास्तविक या कल्पित भूल में अनिवार्यतः निर्णयात्मक अंश था, शून्य-करार देकर, उपचार ढूंढ़ना असंगत जान पड़ता था।' लेकिन कम्पनी ने अपने आपको किसी अन्य अधिकार शक्ति का सहारा लेकर बचाने की चेष्टा नहीं की। उसने उस सारी जिम्मेदारी को अपने ऊपर लिया, जिसके अधीन भारत पर शासन किया जा रहा था। वह जिम्मेदारी उसके लिए अपमान नहीं बल्कि गर्व का विषय है। कम्पनी को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि भारतीय मामलों को चलने में उसकी सलाह तथा उसकी स्वतः प्रेरणा एक महान एवं ठोस तत्त्व रही है, और उसे पूरा भरोसा है कि जितना ही अधिक भारत और उसके प्रशासन पर ध्यान दिया जायगा और जितना ही अधिक उस पर प्रकाश डाला जायगा उतना ही अधिक स्पष्ट हो जायगा कि जिस सरकार में उसने भाग लिया था, वह न केवल धारणा में ही पवित्रतम थी प्रत्युत कार्य रूप में वह इतनी योग्य थी कि मानव-इतिहास में उसका सानी नहीं.....और उसे संतोष है कि अब के बाद जो भी आगे को भारत में सुधार किये जायेंगे, उनके विकास में वही कीटाणु होंगे, जिनका बीज पूर्णतः बोया जा चुका था, और जिनकी नींव उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार-शक्ति अधिकांशतः उसके व्यक्ति आदेशों में पूर्णतः स्थापित की जा चुकी थी। कम्पनी ने अन्यत्र भारत तथा साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों की सरकारों के बीच अनिवार्य अन्तर का इस प्रकार उल्लेख किया है कि 'किसी मंत्री और उसके सहायकों द्वारा संचालित अधीन राज्य की सरकार, जो पूर्णतया पार्लियामेंट के अधीन है, इंगलैण्ड में कोई नया प्रयोग नहीं। उस रूप की औपनिवेशिक सरकार के हाथों से संयुक्त-राज्य निकल गया और वह वृहद जनसंख्या तथा महत्त्व के सब उपनिवेशों से प्रायः हाथ धो चुकी है। इस देश का औपनिवेशिक प्रशासन अब सामान्य निन्दा का विषय नहीं रहा क्योंकि यह सिद्धान्त अपना लिया गया है कि सब महत्त्वपूर्ण उपनिवेशों को अपने निजी मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने की छूट दी जाय, पर यह तरीका भारत पर लागू नहीं किया जा सकता।' सब सरकारों के लिए वैधानिक अवरोधों की आवश्यकता होती है, और जहां तक भारत का सम्बन्ध था, चूंकि उस समय प्रतिनिधि व्यवस्थाएं अक्रियात्मक थीं, इसलिए वैधानिक सुरक्षा स्वतः शासन पद्धति के निर्माण में ही निहित होगी; क्योंकि सरकारी कार्यभार की विधियां ही भारत का असली विधान थीं।

ये शिष्ठ विरोध परिवर्तन को रोकने में सफल न हुए, यद्यपि संचालक समिति ने स्वीकार किया था कि वह मांग, जो कम्पनी द्वारा भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करती थी, ऐसे गुण-दोषों से पूर्ण थी, जिसके प्रायः प्रत्येक दोष के लिए किसी भी सभ्य सरकार को दोषी ठहराया जा सकता है, प्रायः इस व्यापक मान्यता द्वारा सफल हुई कि कम्पनी का शासन स्वतः उसके लिए सम्मानित तथा भारत के लिए लाभकारी रहा है।'[1] जैसा कि सर एच० एस० कनिंघम ने लिखा था, वस्तुतः ताज द्वारा भारत सरकार का कार्यभार ग्रहण करना 'एक ठोस परिवर्तन की अपेक्षा औपचारिक अधिक था।'[2] सारी वास्तविक शक्ति चिरकाल से नियंत्रण समिति के प्रधान के हाथों में जा चुकी थी, और संचालक कुछ समय के लिए सलाहकार समिति की स्थिति में रह गए थे यद्यपि स्वतः आरम्भ करने के पर्याप्त अधिकार उनके पास थे। १८५३ के अन्तिम चार्टर एक्ट ने, जिसके द्वारा असैनिक सेवाओं को प्रतियोगिता के लिए मुक्त कर दिया गया था, संचालकों को उनके अत्यधिक मूल्यवान विशेषाधिकार—भारत का संरक्षण—से वंचित कर दिया था। साथ ही इस एक्ट द्वारा उनकी संख्या २४ से कम करके १८ करदी गई थी और उनमें से ६ ताज द्वारा मनोनीत होते थे। इससे सरकार कंपनी के उन अवकाश-प्राप्त कार्यकर्त्ताओं को समिति में नियुक्त करने योग्य हुई, जिनके लिए पुरानी विधि के अधीन निर्वाचित होने के बहुत कम अवसर थे। इस प्रकार भारत संबंधी प्रत्यक्ष अनुभवी संचालक समिति को बाहर रहने दिया गया। स्पष्ट था कि यह एक्ट नामतः और साथ ही साथ वस्तुतः भारत सरकार के कार्यभार को ताज द्वारा ग्रहण करने के

1. Report to the General Court of Proprietors, 1858, p. 2.
2. Earl Canning. by H. S. Cunningham (Rulers of India Series) p. 170.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए मार्ग बना रहा था, क्योंकि इसमें पहले के समान चार्टर को फिर से नया करने के लिए कोई निश्चित वर्ष-अवधि नहीं दी गई थी, लेकिन महज़ इतनी गुंजायश थी कि पार्लियामेंट के विपरीत निर्णय तक ताज की ओर से ट्रस्टी के नाते भारतीय प्रदेश कंपनी के प्रशासन के अधीन रहेगा। १८५८ के एक्ट ने इस प्रकार शुरू की हुई विधि को पूर्ण कर दिया। संचालक समिति के प्रधान की जगह भारत के लिए एक राज्य सचिव बनाया गया। उसके परामर्श के लिए प्रथमावस्था में १५ आजीवन सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई, जिनकी अवधि बाद में १० से १५ वर्ष कर दी गई; आठ सदस्यों को ताज चुनता था, सात संचालक समिति द्वारा चुने गये, और इन सात में अनंतर होने वाली रिक्तियों की पूर्ति स्वयं समिति पर छोड़ दी गई थी। यद्यपि संचालक समिति के पुरातन अधिकार राज्य-सचिव के हाथों में चले गए थे तथापि उसका प्रभाव मुख्यतः समिति में चिरकाल तक बना रहा। कम्पनी से ताज को सरकार के परिवर्तन के मुख्य लाभों में एक कम्पनी और साम्राज्ञी की सेनाओं की भद्दी द्वैधता का अन्ततः भारतीय और शाही नौ-सेना बन जाना था, यद्यपि उस समय परिवर्तन के कारण अंग्रेजी सेनाओं, विशेषतः अफसरों, में भीषण असंतोष फैला था।

१ नवम्बर १८५८ को ताज की ओर से प्रथम वायसराय तथा गवर्नर-जनरल के रूप में लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में नयी सरकार की घोषणा की। साम्राज्ञी ने प्रथम घोषणा को रद्द करते हुए प्रार्थना की थी कि ऐसा संशोधित मस्विदा उपस्थित किया जाय, जिससे उदारता, परोपकारिता तथा धार्मिक सहनशीलता की भावना प्रकट हो'। उसमें प्रदेश विस्तार की सब इच्छाओं की, जैसा कि कम्पनी ने बहुधा किया था, भर्त्सना की, और देशी नरेशों के अधिकारों, प्रतिष्ठा तथा सम्मान का आदर करने तथा धार्मिक सहनशीलता को स्थिर रखने का वचन दिया। उसने अपनी इस इच्छा की घोषणा की, 'मेरी प्रजा, चाहे वह किसी भी जाति या मत की हो, अपनी शिक्षा, योग्यता और सत्यता के बल पर यथासंभव स्वतन्त्रतापूर्वक तथा निष्पक्षभाव से सरकारी नौकरियों के कर्त्तव्य पालन के लिए भरती हो सकेगी।' उन सबको क्षमा तथा मुक्त कर दिया गया, जो अभी तक ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लोहा ले रहे थे, और जो ब्रिटिश प्रजा की हत्या के अपराधी नहीं थे। इस घोषणा के अन्तिम भाग में भारतीयों की भौतिक और नैतिक उन्नति के उपायों का वचन दिया गया था, और कहा गया था कि "उनकी समृद्धि में हमारा बल है, उनके संतोष में हमारी सुरक्षा है, और उनकी कृतज्ञता ही हमारा सर्वोत्तम इनाम है।"

सरकार ने अब विचारपूर्वक एवं खुले तौर पर कालात्यय की (Doctrine of Lapse) नीति को त्याग दिया था और सामन्ती मुखियों को ऐसी सनदें या घोषणा-पत्र दिये थे, जिनमें उन्हें दत्तक ग्रहण का अधिकार दिया गया था। आगे के लिए देशी रियासतों के निरन्तर अस्तित्व की प्रतिज्ञा भी की गई थी, लेकिन उनके अधिकारों को सीमित और व्यक्त कर दिया गया था। वे ब्रिटिश मध्यस्थता के सिवा न तो परस्पर, और न ही विदेशी राज्यों के साथ कोई सम्बन्ध रख सकते थे। उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सैनिक-शक्ति को अत्यधिक सीमित किया जाना था। आंतरिक मामलों पर उनका नियन्त्रण था, सिवा लार्ड कैनिंग के ३० अप्रैल, १८६० के उस लेख के, जिसमें उसने इस सिद्धान्त का समर्थन किया था कि भारत सरकार "देशी सरकार के घोर दुर्व्यवहारों की दशा में, जिनसे देश के किसी भाग में अराजकता या अशांति का भय हो जायगा, उन्हें ठीक करने के लिए हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करेगी, और न ही वह ऐसी किसी देशी रियासत का अस्थायी प्रबन्ध-भार लेने में अवरुद्ध होगी, जहां ऐसा करने के लिए पर्याप्त कारण विद्यमान होंगे।"

कंपनी से ताज को सरकार के परिवर्तन में भारतीय प्रशासन में कुछेक फेर-बदल किये गये। १८५३ के चार्टर एक्ट ने वैधानिक मुद्दों के लिए गवर्नर-जनरल की प्रबन्धक समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर १२ कर दी थी। इनका विवरण इस प्रकार था: गवर्नर-जनरल और कमांडर-इन-चीफ, प्रबन्ध समिति के चार साधारण सदस्य, दो जज, और बंगाल, मद्रास, बंबई तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की सरकारों द्वारा मनोनीत चार प्रतिनिधि सदस्य। १८६१ के भारतीय कौंसिल एक्ट ने परिवर्तन को इस वृद्धि के साथ पूर्ण किया। प्रबन्धक समिति में पांचवां सदस्य रखा गया, और वैधानिक कौंसिल में कम-से-कम ६ या अधिक से अधिक १२ अतिरिक्त सदस्य कर दिये गए, जिनमें कम से कम आधे गैर सरकारी होंगे, जिन्हें गवर्नर-जनरल मनोनीत करेगा। अन्य प्रान्तों में भी विधान-सभाएं स्थापित कर दी गयीं और लैफ्टीनेंट गवर्नरों का चलन कर दिया गया।

इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी का अन्त हो गया।[1] यह अन्त विद्रोह के लिए किसी खास जिम्मेदारी के कारण नहीं, क्योंकि राजनीतिक मामलों में अनेक वर्षों से यह सर्वथा राज्य के नियन्त्रण में थी, बल्कि इसलिए हुआ था कि यह अराजकता समझी जायगी कि एक निजी कार्पोरेशन, भले ही वह नाममात्र को थी, इतने बड़े उपनिवेश का शासन-प्रबन्ध करे। मार्शमैन का कथन है, "ताज ने पूर्व में ब्रिटिश व्यापार के प्रसार के लिए २५० वर्ष पूर्व इसकी रचना की थी और इसने अपने कृत्यों की समाप्ति पर रोम से भी कहीं अधिक अच्छा एक साम्राज्य ताज के हवाले कर दिया।"[2] जैसा कि हम देख चुके हैं, वह महान कार्य कुछ भयंकर भूलों तथा राजनीतिक अपराधों के बिना पूर्ण नहीं हुआ। उन्हें छिपाना और यह मत देना, कि ब्रिटिश शासक पवित्र मुद्दों और निभ्रान्त नीतिज्ञता द्वारा ही सदा कार्य करते थे, एक अवास्तविक और असंभव चित्र उपस्थित करने के समान है, क्योंकि आखिर थे तो वे भी मनुष्य ही, और उन्हीं के कार्यों पर हम विचार कर रहे हैं। लेकिन सब आवश्यक गुणों को एकत्र कर लेने पर कम्पनी का युग इतिहास में सुनहरी पन्ने उपस्थित कर देता है। निःसंदेह बड़ी भारी भूलें हुईं, लेकिन उन्हें ठीक कर लिया गया; बड़ी दुर्नीति हुई, लेकिन उसका परिशोध

१. हिसाब-किताब करने तथा अन्य वैध आवश्यकताओं के लिए १८७४ तक कम्पनी का औपचारिक अस्तित्व बना रहा।

2. The History of India, J. C. Marshman, 1874, Vol. III, p. 457.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गया। यदि कभी-कभी आपत्तिजनक रूप में किन्हीं प्रदेशों को हस्तगत कर लिया गया, तो ईमानदारी और योग्यता के साथ उनका शासन-प्रबन्ध किया गया। कंपनी के नौकरों में क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स वेलेज़ली और डलहौजी विजेता या नीतिज्ञ रूप में अपने समय के महानतम अंग्रेज थे। इनके अतिरिक्त कार्नवालिस, बैंटिक, मुनरो, थॉमसन और मैटकाफ जैसों ने अपरिचित वातावरण में मानवीय-प्रशासन के उच्च-स्तर को स्थिर रखा।

संचरण, जहाज़रानी, रेल और तार में उन्नति के द्वारा भारत जितना ही ज्यादा ग्रेट ब्रिटेन के निकट लाया गया, शाही सरकार का नियंत्रण उतना ही ज्यादा संभव और लाभकर बन गया। १८५७ के बाद भारतीय-शासन का नेता अपने वायसराय के पद के बावजूद भी अपने उन पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा राज्य-सचिव पर अधिक आश्रित होता था, जो संचालक समिति तथा नियंत्रण समिति के अधीन होते थे, और जिन्हें चतुर गवर्नर-जनरल बहुधा एक दूसरे के साथ लड़ा दिया करता था। ताज के अधीन किसी भी गवर्नर-जनरल ने वारेन हेस्टिंग्ज के समान घरेलू अधिकार-शक्ति की अवज्ञा नहीं की, या वेलेज़ली के समान उसकी उपेक्षा नहीं की। यद्यपि असंदिग्ध रूप में यह अच्छा होता कि राज्य १९वीं सदी में भारतीय साम्राज्य की सरकार को हस्तगत कर लेता, तथापि यह निश्चित था कि व्यक्तिगत यत्न पर आधारित शुरू-शुरू में केवल एक ऐसी संस्था इतने दूरस्थ स्थान से व्यापार द्वारा अपने लाभ प्राप्त कर सकती थी, जो अत्यधिक लम्बे काल के परिणामों के लिए इतने धैर्य के साथ यत्न करती। धीरे-धीरे कंपनी के व्यापारिक और आर्थिक स्वरूप को राजनीतिकता और प्रादेशिकता ने विस्थापित कर दिया। लीडन हॉल स्ट्रीट की जगह ह्वाइट हॉल ने ले ली। ईस्ट इंडिया कम्पनी का, जिसे साहसी व्यापारियों के छोटे-से दल ने रानी एलिजाबेथ के शासनकाल में स्थापित किया था, और जिसकी छत्रछाया में हमने प्रादेशिक औपनिवेशिकता की छोटी-सी शुरूआत की थी, रानी विक्टोरिया के काल में अन्त हो गया कि जिसके अधीन आज के ब्रिटिश साम्राज्य की अभिवृद्धि हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाग—२

अध्याय : : १

ताज के अधीन भारत । प्रबन्ध और सुव्यवस्था । लार्ड कैनिंग के शासन का अंत

महान् घटनाओं, भयंकर आवेशों और गदर की समस्याओं के बाद हम अपेक्षाकृत शान्त एवं गुमसुम वातावरण में प्रवेश करते हैं। ज्यों-ज्यों राज्य-शासन अच्छा होता है, त्यों-त्यों इतिहास के नीरस होने का भय हो जाता है। भ्रष्टाचार, दुर्नीति और अज्ञान आदि साधारण शत्रुओं पर शासक और सुधारक की विजय युद्धरत सेनाओं की सफलताओं की अपेक्षा कल्पना को कम उत्तेजित करती है। इस प्रकार की विजय धीरे-धीरे और क्रमशः ही हो पाती है। वहां सीधी चोट करने के क्षेत्र नहीं होते, महत्त्वपूर्ण घटनाएं भी चन्द ही होती हैं। १८५८ से लेकर १८७८–८० का दूसरा अफगान युद्ध, १८८५ का तीसरा बर्मा युद्ध और १८९७-९८ के तिराह संघर्ष के अतिरिक्त भारत में केवल साधारण सैनिक-संघर्ष हुए। यह युग संचार-साधनों की उन्नति, व्यापारिक प्रगति, शासकीय और कानूनी सुधार तथा वैधानिक प्रयोग के भौतिक, नैतिक और बौद्धिक विकास का था। इन परिवर्तनों के पूर्ण प्रभाव का पर्यवेक्षण अभी समय से पूर्व की बात है। इन परिवर्तनों के प्रति एक ओर प्रशंसा और दूसरी ओर कटु आलोचना का रवैया अपना लेना अत्यधिक सहज है। भारतीय सरकारी अधिकारी अपनी इन धारणाओं की सच्चाई से परिचित थे और उनका यह लिखना उचित था कि भारत में ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं होनी चाहिए। हालांकि दूसरी ओर सामान्यतः सुलझे हुए जान ब्राइट जैसे राजनीतिज्ञ ने एक रोमांचकारी वक्तव्य में कहा है कि भारत में १८६२ से पहले का ग्रेट ब्रिटेन का इतिहास "हमारे भारतीय साम्राज्य के मूल निवासियों के प्रति एक सौ वर्ष का अपराध था।"[१] इन विभिन्न विरोधी निर्णयों में कहीं-न-कहीं सत्य अवश्य है और इतिहासज्ञ को उसकी खोज अवश्य करनी चाहिए। इससे आगे, जिन्होंने भारतीय रंगमंच पर प्रमुख भाग लिया, वे या तो जीवित हैं अथवा वे अभी हाल ही में मरे हैं। उनके काम के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से अभी जानने को भी बहुत कुछ बाकी है। और किसी भी दशा में, किसी भी युग के पिछले काल के सम्बन्ध में कोई अन्तिम और सीधा निर्णय न देना ही उत्तम और सुरक्षित मार्ग है। और प्रायः यही एक मार्ग संभव भी होता है।

---

१. बर्मिंघम में १८ दिसम्बर, १८६२ को दिये भाषण का अंश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत की प्राकृतिक सीमाओं के अन्तर्गत उसकी विजय का कार्य समाप्त हो चुका था। संरक्षित राजाओं का दर्जा स्थिर और निश्चित हो चुका था। उन्होंने गदर में मूल्यवान् सेवाएं की थीं। कैनिंग ने उन्हें तूफानी लहरों को रोकने वाला बताया था। उसका कहना था कि यदि ऐसा न होता तो संभव था कि हमें वह महान् लहर में बहा ले जाती। साम्राज्य के गढ़ के रूप में सदा से उनकी सुरक्षा करना ब्रिटिश-नीति का प्रमुख ध्येय रहा है। तब से लेकर उनकी सीमाओं की सुरक्षा की गारंटी और उनके वंश में गोद लेने के मनचाहे अधिकारों की स्वीकृति के बाद उन्हें इस बात का भय नहीं रह गया था कि उनका राज्य उनके वंश के प्राकृतिक ह्रास के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना लिया जाएगा। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उनके संबंध नये दौर में प्रविष्ट हुए। वे कुछ तो अधिक विश्वस्त स्थिति के कारण उत्पन्न विश्वास के कारण अधिक सम्पर्क में आये, कुछ इसलिए भी कि अब रेल, नहरों तथा डाक और तार आदि के भौतिक संबंध स्थापित हो गये थे। एक बार एक रियासत में कुप्रबन्ध के कारण ब्रिटिश सरकार बहुत परेशान हुई और भारतीय राजाओं के दर्जे को कम करने के सम्बन्ध में विचार करने लगी। इस सम्बन्ध में विचारों में संघर्ष होता रहा। क्रमशः एक क्रियात्मक हल निकाल लिया गया और गवर्नर-जनरलों ने राजाओं की अवस्था सुधारने का शक्तिभर यत्न किया। अवसर मिलने पर राजाओं की अल्पवयस्कता में उन्हें शिक्षित करने का यत्न किया गया। प्रत्येक मामले में सत्परामर्श दिया और वे यदि पथभ्रष्ट होते थे तो सही मार्ग पर चलाने के लिए कोई भी कड़ा कदम उठाने से पहले आपत्ति और विरोध के सब साधनों का नाश कर दिया जाता था। यदि अन्ततः नैतिक परामर्श असफल हो जाता था तो शासन परिषदें (रीजेंसी कौंसिलें) बना दी जातीं अथवा शासन-भार अस्थायी रूप से ब्रिटिश रैजीडेन्ट को सौंप दिया जाता। अथवा यदि कोई विशेष ही अवस्था हुई तो शासक-नरेश को राजगद्दी से अलग कर दिया जाता और राजवंश के दूसरे सदस्य को सिंहासन पर बैठा दिया जाता।

लार्ड कैनिंग, जो कम्पनी द्वारा निर्धारित अंतिम गवर्नर-जनरल था, ब्रिटिश ताज के अधीन पहला वायसराय और गवर्नर-जनरल बना। १८५९ में उसे लार्ड का पद दिया गया। शान्ति और मेल-मिलाप का कार्य समाप्त करने के कारण उसे गदर के समय दया और उदार नीति के दृढ़ मन्तव्य के लिए यह पुरस्कार मिला था। उसके उत्तराधिकारी लार्ड एल्गिन ने बाद में अपनी राय प्रकट की थी कि वस्तुतः कैनिंग ने अंधाधुन्ध बदला लेने के कोलाहल को नहीं सुना और इसके बदले में उसे बुरा-भला कहा गया।

बहुत से मुखियों और नरेशों को, जो गदर के समय वफादार रहे थे, सम्मानित उपाधियां, धन या भूमि पुरस्कार के रूप में दिये गये। १८५३ में जो जिले ब्रिटिश अधिकार में कर लिये गये थे, निजाम को दिये गये और ब्रिटिश सरकार का उस पर पांच लाख पौंड का कर्ज समाप्त कर दिया गया। अवध के सीमावर्ती कुछ जंगली भाग नेपाल को दिये गये। सिंधिया, बेगम भोपाल, बड़ौदा के गायकवाड़ और बहुत से राजपूत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं को क्षेत्रीय सुविधाएं दी गयीं और भेंट के रूप में लिये जाने वाले कर में कमी की गयी। अनेक भारतीय नरेशों और राजनीतिज्ञों को सितारे हिंद (Star of India) के नव-निर्मित आदेशानुसार १८६१ में सर की उपाधियां दी गयीं।

लार्ड कैनिंग के समय गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी कौंसिल के काम के ढंग में एक महत्त्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन किया गया। अब तक कौंसिल एक परामर्शदातृ सभा के रूप में काम करती थी और उसके सामने जो प्रश्न आता बहुमत के आधार पर उसका निर्णय होता था। किन्तु इसका अपवाद केवल ऐसे सदस्य की नियुक्ति द्वारा किया गया जो केवल कानूनी मामलों का विशेषतः निराकरण करता था। और इंग्लैण्ड की कौंसिल के दो आर्थिक सदस्यों की नियुक्ति द्वारा कार्य-विभेद के सिद्धान्त को अधिक प्रगति दी गई। १८६१ के इण्डियन कौंसिल एक्ट द्वारा गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह कौंसिल के अलग-अलग सदस्यों को विशेष विभाग सौंप सके। इससे पूर्व, यद्यपि इस समय तक इंग्लैण्ड के मन्त्रिमंडल की अपेक्षा महकमों में पृथकता कुछ कम ही प्रतीत होती थी तथापि कौंसिल के विभिन्न सदस्यों के पास अलग अपना पद था और वह, केवल बहुत ही महत्त्व के मामलों के सिवा अपनी इच्छा से निर्णय करते थे। उपरान्त, इन निर्णयों को गवर्नर-जनरल के सम्मुख रखा जाता था और यदि कोई मतभेद हुआ तो उस पर सारी कौंसिल विचार करती थी। निःसंदेह, कार्य का विकेन्द्रीकरण योग्यता एवं पूर्णता के लिए किया गया था और जॉन स्टुअर्ट मिल ने इन शब्दों में उसका वर्णान किया है: 'यह लक्ष्य प्राप्ति के लिए ऐसे साधनों को ग्रहण करने के अत्यधिक सफल उदाहरण थे, जिनकी राजनीतिक इतिहास को अभी खोज करनी है।'

विद्रोह के दमन के बाद अत्यन्त प्रबल समस्या का सामना करना था, और वह थी स्वाभाविक कोष की। १८५७ से ६१ तक अनुभूत या पूर्व-कल्पित घाटे की राशि ३ करोड़ ६० लाख तक थी—जो साल भर के कुल राजस्व के समान थी। भारतीय वित्त विभाग के पुनर्गठन के लिए, इंग्लैण्ड के खजाने के भूतपूर्व सैक्रेटरी और बोर्ड आफ ट्रेड के वाइस प्रैजीडेन्ट, जेम्स विल्सन को १८५९ में इंग्लैण्ड से बुलाया गया। वह अपने समय का प्रमुख अर्थ-विशेषज्ञ था और वह सैद्धान्तिक और क्रियात्मक ज्ञान के साथ-साथ शासकीय योग्यता से भी सम्पन्न था। किन्तु दुर्भाग्यवश वह अपना काम संभालने के आठ महीनों के बाद मर गया परन्तु उसका काम कुछ संशोधन के साथ सैम्युअल लाइंग ने संभाला। वह पार्लियामेंट का सदस्य था, जिसे जेम्स का काम संभालने के लिए भेजा गया था। विल्सन ने तीन नये कर लगाने की योजना बनायी। एक आयकर, दूसरा व्यापार तथा व्यवसायों पर लाइसेंस-कर और तीसरा भारत में उत्पन्न होने वाले तम्बाकू पर उत्पादन-कर। इनमें दो पहले घोर विवाद के बाद स्वीकार कर लिये गये और फलरूप बहुत योग्य प्रशासक सर चार्ल्स ट्रेवेलियन को वापिस बुलाया गया, जो सर्वोच्च सरकार की आलोचना करने से अपनी अधिकारी स्थिति को भी पार कर गया था। विल्सन ने दस प्रतिशत का समान आयात-कर लागू किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने सरकारी परिवर्तन-योग्य कागजी मुद्रा की योजना बनायी और असैनिक तथा सैनिक खर्चों में कमी की रूपरेखा भी तैयार की । इन सुधारों को अंततः उसके उत्तराधिकारी ने पूर्ण किया । इस प्रकार बचत करके और नमक-कर में वृद्धि करके विल्सन और लाइंग १८६२ तक देश की वित्त-स्थिति में साम्यता करने योग्य हुए । यह उनकी बड़ी भारी प्रशासनिक सफलता थी, जो सर्वथा अपरिचित अवस्थाओं में पहले-पहल ही विपरीत दशाओं में इस देश में आए थे ।

लार्ड कैनिंग के अधीन भारत सरकार को कतिपय ऐसे प्रश्नों का हल करना था, जिनका औपनिवेशिक दृष्टिकोण से कुछ महत्त्व था । १८५० के लगभग यह पता चला कि आसाम और हिमालय की तराई के क्षेत्र चाय की खेती और नीलगिरी की पहाड़ियां कहवे की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त हैं । इसके फलरूप यूरोपियन खेतिहरों के भारत में प्रवास और इन क्षेत्रों में भूमिधारणाधिकार के प्रश्न उत्पन्न हो गए । इन खेतिहरों को, जिस भूमि की आवश्यकता थी, वह पारिभाषिक रूप में 'बेकार' और राज्य के अधिकार में थी । 'बेकार भूमि नियम' (वेस्टलैण्ड रूल्स) जारी किये गये और उनके अनुसार यूरोपियनों अथवा दूसरों को तीन हजार एकड़ तक भूमि-खंड दिये गए । ये भूमि-खंड निश्चित राशि देने के बाद मालगुजारी से मुक्त स्थायी सम्पत्ति ठहराए गए ।

कुछ और भी आंतरिक सुधार किये गये । १८६१ में भारत में ब्रिटिश सेना की संख्या घटाकर ७६ हजार कर दी गई और स्थानीय सेना १२०,००० रह गयी । १८५७ में लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये । ब्रिटिश, बरमा, तेनासरीम, पेगू और अराकान के प्रान्तों को मिलाकर एक चीफ कमिश्नर के अधीन कर दिया गया । इस पद को सर्वप्रथम सर आर्थर फैरे ने ग्रहण किया, जिसका शासन-प्रबन्ध पूर्व में ब्रिटिश शासन के इतिहास का ख्यातिपूर्ण अध्याय है । लार्ड डलहौजी द्वारा देश को जीतने के बाद, उसके प्रारम्भिक प्रयत्न इतने सफल सिद्ध हुए कि गदर के समय में बरमा से ब्रिटिश सेनाओं को हटाना सम्भव हो गया । सर्वोच्च और सदर अदालतें, जो क्रमशः ताज और कम्पनी का प्रतिनिधित्व करती थीं, प्रत्येक प्रैजीडेन्सी में हाईकोर्ट बना कर समाप्त कर दी गई । मैकाले का दण्ड-विधान, जो मूलतः १८३७ में बनाया गया था और जिसका संशोधन सर बारनेस पीकाक ने किया, अन्तिम रूप से १८६० में अपना लिया गया ।

यह पहले ही दर्शाया जा चुका है कि लार्ड कार्नवालिस द्वारा किये गये बंगाल की मालगुजारी के स्थायी प्रबन्ध में देखा गया कि रैयतों या किसान मालिकों अथवा खेती करने वालों के अधिकारों की अपर्याप्त रक्षा की गई है । संचालक समिति ने १८५८ में घोषणा की कि बंगाल को रैयत प्रायः अधिकार-वंचित हो गई है, और सब उद्देश्यों एवं दृष्टियों से उसकी स्थिति अस्थायी-कृषक की सी बन गई है । यद्यपि १७९३ के नियम की एक धारा द्वारा सरकार को यह अधिकार था कि वह कृषकों की सुरक्षा के लिए कदम उठाए, तथापि यह १८५९ तक नहीं हो सका जबकि बंगाल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगान कानून (बंगाल रैंट एक्ट) पास किया गया। इस कानून को आगरा और मध्य प्रदेश में भी लागू किया गया और इसके द्वारा उन सब कृषकों को उन भूमियों पर आधिपत्य का अधिकार प्रदान किया गया जो उनके पास १२ साल से अधिक काल से थीं। इसके अलावा कानून में दिये गये विशिष्ट आधारों के सिवा उनके भूमि-लगान में वृद्धि करने का भी निषेध कर दिया गया। स्थायी प्रबन्ध के जिलों के किसानों को, जिनके पास १७९३ से जमीनें थीं, सदा के लिए किराया बढ़ाने से बरी कर दिया गया। दुर्भाग्यवश इस एक्ट से अदालतों में मुकदमेबाजी बहुत बढ़ गयी।

एक समय एक ऐसे अत्यन्त विवादास्पद परिवर्तन का विचार किया गया जिससे सारे भारत में कृषक क्रान्ति हो जाती। लगभग सारे बंगाल, मद्रास प्रैसीडैन्सी के कुछ भाग (लगभग एक चौथाई) और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में भूराजस्व का स्थायी प्रबन्ध निश्चित हो चुका था। भारत के शेष भाग अथवा देश के पांच भागों में से चार में भू-प्रबन्ध, अर्थात् सरकार को दिये जाने वाले भूमिकर अथवा राज्यकर की वार्षिक राशि का निश्चय प्रायः बीस या तीस वर्ष की भिन्न अवधियों में संशोधित होता है। इन तरीकों की अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में निरन्तर विवाद चलता रहा है। स्थायी प्रबन्ध सम्बन्धी पक्ष और विपक्ष के तर्क प्रथम भाग में लार्ड कार्नवालिस के शासन-प्रबन्ध-विषयक अध्याय में दिये गये हैं। अवध्यात्मक प्रबन्धों के लाभ राज्य के दृष्टिकोण से स्पष्ट हैं। और वह उसके द्वारा 'अनुपार्जित वृद्धि' में निरन्तर हस्तक्षेप की शक्ति को स्थिर रखता है। इस सम्बन्ध में यह धारणा की जाती है कि यदि भू-प्रबन्धों को सावधानी और पर्याप्त लम्बी अवधियों के लिए किया जाता है, तो उसे भूमि-विकास या लोगों की समृद्धि का अवरोध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके विपरीत यदि सारे भारत में समान स्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता तो निरन्तर कर-निर्धारण के व्यय तथा कष्ट से बचा जा सकता था। कर-निर्धारण के कार्य में प्रायः प्रत्येक प्रान्त में चार या पांच साल लगते हैं। इससे अधिक अनेक उच्च अधिकारियों का यह भी विचार रहा है कि इससे मितव्ययता और भूमि में पूंजी लगाने की प्रवृत्ति बढ़ेगी और भू-प्रबन्ध की अवधियों की समाप्ति पर लगान में अभिवृद्धि को रोकने के लिए कृषि-कार्य में न्यूनता करने की बुराई का अन्त हो जायगा और देश की अधिकाधिक समृद्धि तथा सम्पत्ति की आनुपतिक वृद्धि से, जो अन्य उपायों से कर लगाने योग्य होगी, राजस्व में तात्कालिक क्षति के बदले राज्य की कहीं अधिक क्षतिपूर्ति हो जायगी।

कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और उनका विश्वास है कि पिछले ४० वर्षों के अकालों में जो भारी संख्या में मौतें हुईं, उनका बड़ा कारण समयांतर होने वाला कर-निर्धारण था। इससे अनेक प्रान्तों में क्रमशः भूमि का लगान बढ़ गया और फलरूप लोग कठिनाई और कमी के समय का मुकाबिला करने के अयोग्य हो गये। अब इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भूतकाल में अत्यधिक कर-निर्धारण के अनेक उदाहरण हैं। यह तथ्य केवल सरकार के भारतीय आलोचकों के कथनानुसार ही नहीं वरन् ब्रिटिश शासकों के वक्तव्यों पर भी आधारित है, जिन्होंने अपने शब्दों को बहुत तोलकर कहा है। चार्ल्स एलिआट, चार्ल्स ग्राण्ट, ए० रसल और कर्नल मैक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लीन जैसे व्यक्तियों ने मध्य प्रान्त के प्रथम भू-प्रबन्ध में मालगुजारी बढ़ाने का विरोध किया था। सर आकलैण्ड कालविन ने १८७५ में बंबई में अतिरिक्त कर-निर्धारण की निन्दा की थी। १८७९ में सर विलियम हंटर ने गवर्नर-जनरल की कौंसिल में कठोर शब्दों में कहा था कि 'दक्षिण के किसानों की सहायता करने में मूल कठिनाई यह है कि सरकारी मालगुजारी के बाद उनके पास इतना अन्न नहीं बच पाता कि वे सारे साल अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें।'

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि कुछ मामलों में अतिरिक्त कर-निर्धारण ने सूखे और अकाल को बढ़ाने में योग दिया और इन वक्तव्यों में कुछ तथ्य नहीं कि वर्तमान वर्षों के अकालों का कारण भी वही था। ऐसा कहना असंगत और सत्य के विपरीत है। इनमें प्राकृतिक कारणों और इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि अनेक मामलों में अकाल उन जिलों में बहुत भयंकर पड़ा जहां मालगुजारी कम नियत की गई थी, लेकिन जिन जिलों में मालगुजारी अधिक थी वहां इसका असर कम महसूस किया गया।

कुछ भी हो, १८६१ में कर्नल बेअर्ड स्मिथ ने यह विश्वास करते हुए कि अकालों की दशा में मौतों और भू-प्रबन्ध प्रणाली का महत्त्वपूर्ण गठजोड़ है, सुझाव दिया कि बंगाल के स्थायी भू-प्रबन्ध संबंधी नियम शेष भारत में भी लागू कर दिये जायं। उस समय के भारतीय राजनीतिज्ञों के बहुमत ने इसे स्वीकार किया। जिन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी सहमति दी, उनमें सर विलियम म्यूर, सर बार्टल फ्रीर, सर रिचर्ड टैंपल, सैम्युअल लाइंग और बंगाल तथा सीमान्त प्रदेश के लेफ्टीनेंट गवर्नर थे। यह विशेषज्ञों की राय की प्रभावशाली एकता थी, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अन्तिम बात ही थी। यह स्वीकार करना होगा कि भारत में नव सुधारक दल के नेताओं को पूर्ण अधिकार था कि अपने उद्देश्य के लिए वे इसको महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना लें। इंग्लैण्ड में इसका समर्थन सर जान लारेंस ने किया। जुलाई १८६२ में भारत सचिव सर चार्ल्स वुड ने भारत सरकार के लिए महान् घोषणा की कि मंत्रिमंडल ने ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों में स्थायी प्रबन्धों की स्वीकृति देने का निश्चय कर लिया है। इस निर्णय की दूसरे भारत-सचिव सर स्टैफर्ड नार्थ काट ने पाँच साल बाद फिर पुष्टि की। उसने यह घोषणा की कि भूमि के मालिकों के लाभ को ब्रिटिश सरकार के स्थायित्व से सम्बद्ध करते हुए सरकार लगान के प्रश्न पर कुछ अधिक त्याग करने को तैयार है। इसके बाद विस्तृत पत्र-व्यवहार चला पर कुछ न हो सका और इस योजना को एक ओर रख देना पड़ा। इसका बड़ा कारण लार्ड मेयो का विरोध था। १८८३ में यह प्रस्ताव निश्चित और नियमित रूप से रद्द कर दिया गया।

१८६२ की इस योजना के इतिहास को पूर्ण करने के लिए हमें कुछ क्षण के लिए अपनी सामयिक सीमाओं की उपेक्षा करते हुए पुनः पीछे की ओर जाना होगा। गदर में अधिक कार्य करने से स्वास्थ्य नष्ट हो जाने और पत्नी की मृत्यु के दुःख के कारण लार्ड कैनिंग ने १८६२ में त्याग-पत्र दे दिया। वह इंग्लैण्ड लौट आया और तीन मास बाद उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी ख्याति अभी कलंक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहित है। केवल बौद्धिक विशेषताओं के कारण ब्रिटिश भारत के दूसरे शासक उससे बढ़कर थे। उसने कुछ गलतियां कीं। भारत के भयंकर संकट के दिनों में उसने झिझक और घबराहट से काम लिया। परन्तु साधारण बुद्धि सहित शान्ति, सतत परिश्रम और शानदार दृढ़ता के कारण वह विजयी हुआ। उसका परिश्रम ही उसकी मृत्यु का कारण बना। अपने काम में लगे रहने की धुन में उसने शारीरिक व्यायाम और मनोरंजन की उपेक्षा कर दी। उसका उत्तराधिकारी लार्ड एल्गिन लिखता है कि जब उसने शासन की समस्याओं को समझने के विचार में प्रतिदिन अपने कुछ सहयोगियों को भोज पर निमंत्रित करने की इच्छा लार्ड कैनिंग को बतायी तो गवर्नर-जनरल ने साधारण रूप से उत्तर दिया, "मैं खाने के समय तक इतना थक जाता हूं कि बोलना भी दूभर होता है।" अपने कार्य से अलग होने से पहले उसने खोई लोकप्रियता को पुनः प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे और कष्टसाध्य रूप में अपनी कठोर न्यायबुद्धि, कर्त्तव्य के प्रति निःस्वार्थ लगन और अपने आचरण की महत्ता के कारण उसे लोगों का आदर प्राप्त हो गया। वस्तुतः दोनों कैनिंग—पिता और पुत्र—की मृत्यु का कारण उनका उच्च पद ही हुआ। सब कुछ नश्वर है, परन्तु वह दो महान् और बलशाली आत्माएं—इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री और भारत का पहला वायसराय—आज सर्वोच्च सम्मान के साथ वैस्ट मिस्टर के गिरजे में साथ-साथ दफनायी हुई हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २

लार्ड एल्गिन और लार्ड लारैन्स। अफगानिस्तान से हमारे सम्बन्ध

नया वायसराय लार्ड एल्गिन स्नातक होने से पूर्व क्राइस्टचर्च, आक्सफोर्ड में लार्ड डलहौजी और कैनिंग का समकालीन और मित्र था। १८४२ से १८४६ तक जमैका के गवर्नर और १८४६ से १८५४ तक कनाडा के गवर्नर-जनरल के रूप में उसने औपनिवेशिक शासन का अच्छा अनुभव प्राप्त किया था। इन दोनों और पहले पदों के एक दम बाद वह महान् भारतीय राजनीतिज्ञ सर चार्ल्स (बाद में लार्ड) मैटकाफ का उत्तराधिकारी बना। १८५७ में वह चीन में विशेषाधिकार प्राप्त दूत नियुक्त किया गया। लार्ड कैनिंग की प्रार्थना और अपने उत्तरदायित्व पर उसने सुदूरपूर्व को जाने वाली सेनाएं गदर के आरम्भ में भारत भेज दीं। १८६० के चीनी युद्ध के बाद उसने शान्ति की बात की। उसने १८६२ में कलकत्ता में अपना पद संभाला। अपने ही शब्दों में वह एक महान् व्यक्ति और युद्ध के बाद कार्य को निबटाने के लिए अधिकारी बना। भारतीय शासन-क्षेत्र में उसे अपनी योग्यता दिखाने का अवसर ही नहीं मिला क्योंकि एक वर्ष से थोड़े ही अधिक समय पश्चात् पहाड़ी स्थान धर्मशाला में नवम्बर १८६३ में उसका देहान्त हो गया।

उसकी मृत्यु के समय उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में महान् भय उत्पन्न हो गया था। उस समय सर जान लारेंस को गवर्नर-जनरल बनाया गया। उसे उस जिले और वहां के व्यक्तियों का बहुत ज्ञान था। हिन्दुकुश पर्वत की ढलान, पेशावर के उत्तर और सिंधु के पश्चिम में सितना नामक स्थान है। वहां उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही वहाबी नामक धर्मान्ध मुसलमानों की बस्ती थी। पटना में उनका फौजी भरती केन्द्र अथवा एजेन्सी थी। गुप्त रूप में उनका प्रभाव सारे भारत में फैला हुआ था। कानून की पकड़ से बचकर निकले भगोड़ों, दुर्दमनीय पठानों, अफ्रीदियों और ब्रिटिश शासन से द्वेष रखने वालों का यह संगठन-केन्द्र था। उन पर १८५३ और १८५८ में दण्डात्मक आक्रमण किये गये और अगले वर्ष सितना से भगा दिये गये पर १८६१ में वे मल्का में फिर इकट्ठे हो गये। १८६३ में उन्होंने पंजाब के लिए फिर भय उपस्थित कर दिया। उस वर्ष नेवाइल चेम्बरलेन को ६००० सेना देकर उन्हें खदेड़ने के लिए भेजा परन्तु अंबेला दर्रे में १५ हजार सेना से उसका सामना हुआ। तीन सप्ताह तक ब्रिटिश सेना आगे बढ़ न सकी और रक्षात्मक लड़ाई लड़ती रही। कलकत्ता कौंसिल खतरे के डर से फौज को वापिस बुलाने का घातक मार्ग सोच रही थी परन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मद्रास का गवर्नर और स्थानापन्न वायसराय सर विलियम डेनीसन कलकत्ता गया और सेनापति सर हगरोज के परामर्श पर लड़ाई जारी रखने को विवश हुआ। जनवरी १८६४ में सर जान लारेंस द्वारा भारत में पद संभालने से तीन सप्ताह पूर्व, दिसम्बर में वहाबी पराजित हुए और उनका गढ़ मल्का नष्ट कर दिया गया।

फरवरी १८५९ में पंजाब से अवकाश पाने के बाद सर जान लारेंस ने इण्डिया आफिस में राज्य कौंसिल के सेक्रेटरी के रूप में काम किया था। इन दिनों उसे "भारत के रक्षक" और "विजय के संयोजक" आदि सम्मानसूचक शब्दों से पुकारा जाता रहा। १८६० में उसने बंबई का गवर्नर होने से इन्कार कर दिया था। वह दृढ़ संकल्प वाला और समझदार व्यक्ति था। वह सीधा-सादा था और उसमें आकर्षक अस्तव्यस्तता थी परन्तु जैसा कि लार्ड डलहौजी ने भांपा—वह महत्त्वाकांक्षाओं से शून्य न था। वह अपने बड़े भाई हेनरी की अपेक्षा कम बुद्धिमान्, सुसंस्कृत और आकर्षक था। सर रिचर्ड टैम्पल के विचार में इस पीढ़ी के भारत में दिखाई देने वाले व्यक्तियों में हेनरी बहुत ही योग्य था, परन्तु उसके सम्बन्ध में यह खयाल किया जाता था कि वह संभल कर काम करने वाला और गंभीर शासक है। वह योग्य और मिजाज का कुछ हठी-सा था। अपने सहकारियों के साथ उसके सम्बन्ध ठीक न थे। यदि वे उसका ठीक से काम करते थे तभी वह उनका समर्थन करता था। उसने कम्पनी की सेवा में प्रत्येक स्तर से उन्नति की थी। उसके सम्बन्ध में परम्परा में एक विशेष रुकावट भी आई जो सर जार्ज बारलो के समय में दृष्टिगोचर हुई। यह थी किसी भी भारतीय नागरिक को ऊंचे पद पर नियुक्त न किया जाना। यह बहुत लम्बे विवाद का विषय था। और उसके मामले में नियम से हटना उपयुक्त था। इस बात का वह निःसंकोच स्वीकारात्मक उत्तर दे सकता था। संभवतः यह सत्य है कि १८६३ में लारेंस ने बहुत अच्छा कार्य किया था जबकि गवर्नर-जनरल के रूप में उसका काम निराशाजनक था, क्योंकि उससे आशा अधिक कर ली गयी थी। रेलवे, नहरें और जनसेवा के घरेलू कामों में, जिन्हें डलहौजी ने आरम्भ कर दिया था और जो गदर की महान् विपत्ति के कारण कुछ रुक गये थे, भौतिक सुधार के साथ काफी उन्नति हुई। परन्तु लारेंस की इस आलोचना में कुछ सत्य अवश्य है कि वह अपने नीचे काम करने वालों को काम सौंपने की कला पूरी तरह न सिखा सका था। वह उनसे प्रतिदिन के कार्य से अधिक सम्बन्ध न चाहता था और इसीलिए छोटी-छोटी विवरण की बातों में पड़ जाता था। इससे देखभाल के मुख्य प्रबन्ध को हानि पहुंचती थी। वह छः बजे प्रातः काम करने अपनी मेज पर बैठ जाता और साढ़े पांच बजे शाम तक काम करता रहता। बीच में केवल आध घंटे का अवकाश नाश्ते के लिए करता था। केवल उसी समय काम छोड़ता था और कुछ हास्यपूर्ण विनय से कहता था कि कोई भी आदमी लगातार ११ घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकता। उसे कभी-कभी अपने अधीन काम करने वालों के चरित्र की स्वतन्त्रता और मौलिक विचारों से सामना करना पड़ा जिसके विषय में उसके प्रमुख सहयोगी बंबई के गवर्नर सर बार्टले फ्रेर के इस व्यंग में सत्य का कुछ अंश है कि लारेंस को उस व्यक्ति के प्रति पूर्ण सहानुभूति नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती थी जो पंजाब या उसके प्रान्त डेरी (Derry) अथवा एक्जैटर (Exeter Hall) हाल का न हो। यह निश्चित है कि उसके उत्तराधिकारी को बचत और कुछ जन-विभाग में काम के ढंग में कठोर सुधार करने पड़े। यदि एक दिशा में उसे निराशा हुई तो दूसरी ओर वह आशा से अधिक सफल रहा। संभवतः गवर्नर-जनरल के रूप में उसकी महान् सफलता कूटनीति और विदेश नीति के क्षेत्र में हुई, जहां संभव है उसके लिए यह आशा की गयी हो कि वह एक राजनीतिज्ञ के रूप में असफल रहेगा।

उसका केवल एक समायोजन-कार्य भूटान से छोटे से युद्ध के बाद सम्पन्न हुआ। भूटान हिमालय की दक्षिणी ढलान पर स्थित है और जंगलों से भरा हुआ पहाड़ी प्रदेश है। उसके उत्तर-पूर्व में तिब्बत, दक्षिण में पूर्वी बंगाल और आसाम और पश्चिम में दार्जिलिंग तथा सिक्किम रियासत हैं जो भूटान और नेपाल के मध्य मेख के समान हैं। भूटान के साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध १७७२ से चले आते हैं जबकि वह कूचबिहार के शासक की सहायता के लिए आया और हमने उसे पीछे धकेल दिया। १७८३ में एक व्यापारिक प्रतिनिधि-मंडल कैप्टन टर्नर के नेतृत्व में भूटान भेजा गया पर असफल रहा। १८२६ में आसाम पर हमारा आधिपत्य हमें भूटान के अधिक निकट लाया और यह पता चला कि वहां के लोगों ने आसाम जाने वाले दर्रों पर हमला किया और उन पर कब्जा कर लिया। असफल सन्धि-वार्ता आरम्भ हुई। एक बार यह प्रबन्ध किया गया कि वह इन दर्रों को अपने पास रखे और उसके बदले में कर दे जबकि बाद में हमने दर्रों पर अधिकार कर लिया और उसके बदले उन्हें वार्षिक सहायता दी। परन्तु भूटानी लोग सदा विद्रोह करते रहे और उनकी दुर्दान्त सेनाएं, अपने पहाड़ों की तराई में स्थित आसाम और बंगाल के भागों पर आक्रमण करती रहीं। अंग्रेज सदा इन आक्रमणों के प्रति विरोध प्रकट करते रहे और सन्धि के सब प्रयत्न असफल रहे। १८६३-६४ की शरद् ऋतु में भूटानियों ने लार्ड एल्गिन द्वारा भेजे हुए राजदूत एशले ईडन का बहुत अपमान किया और विवश किया कि वह एक तिरस्कार-पूर्ण संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दे। इसके अनुसार अंग्रेजों को उन दर्रों को छोड़ना पड़ता था, जो आसाम को जाते थे। भारत सरकार ने इस सन्धि की निन्दा की और पिछले पांच सालों में अपहृत ब्रिटिश प्रजा की रिहाई की मांग की। जब इसका कोई उत्तर न मिला तो पश्चिमी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया गया और उनके लिए जो भत्ता दिया जाता था, रोक लिया गया। जनवरी १८६५ में जबकि हमारे सैन्य अधिकारी सीमान्तीय क्षेत्र में, सुरक्षा की ओर से निश्चिन्त-सी भावना में, काम कर रहे थे तो अचानक उन पर आक्रमण हुआ और ब्रिटिश टुकड़ी दिवानगिरी नामक स्थान से खदेड़ दी गयी। उसे दो तोपों से हाथ धोना पड़ा। ब्रिटिश सेना के इस अनादर पर बहुत आलोचना और चीख-पुकार हुई परन्तु जनरल टांब्स ने शीघ्र ही स्थिति पर काबू पा लिया और नवम्बर में शान्ति स्थापित हो गयी। शर्तों के अनुसार भूटानियों ने वार्षिक सहायता के बदले १८ दर्रे सौंप दिये। भूटानियों के लिए अनुकूल शर्तें स्वीकार करने के कारण भारत के एक दल ने लारेंस की कड़ी आलोचना की। परन्तु नष्टप्राय शत्रु के प्रति साम्राज्य की ओर से दया हानिकारक नहीं अपितु एक महत्त्वपूर्ण नीति है। इस मामले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में स्थायी शान्ति ने गवर्नर-जनरल की नरम शर्तों को भरपूर रूप से उचित सिद्ध किया। भूटानियों को दी गयी सहायता इतनी अधिक लाभदायक सिद्ध हुई कि तबसे लेकर अब तक उनके साथ हमारे सम्बन्ध प्रेम और शान्तिपूर्ण हैं। और जो क्षेत्र १८० मील लम्बा और २० मील चौड़ा उन्हें छोड़ना पड़ा था, वह बहुमूल्य सिद्ध हुआ और अब उपजाऊ चाय बागों के रूप में अंकित किया जाता है।

अपने भाई हेनरी के विपरीत सर जान लारेंस भारतीय किसानों के समर्थक के रूप में सदा प्रसिद्ध रहा। उसके भाई हेनरी की सहानुभूति कुलीन वर्ग से थी। इसलिए उसके गवर्नर-जनरल काल में पंजाब और अवध का १८६८ का भूमिदारी कानून बनना सर्वथा उचित ही है। अपने इन कार्यों के लिए उसने भारतीय जमींदारों, यूरोपियन किसानों, पत्रकारों, भारत मंत्री और अपनी कार्यकारिणी के बहुमत के कड़े संयुक्त विरोध के बावजूद किसानों के हित का समर्थन किया। पंजाब-अधिनियम भूमि को किराये पर लेकर जोतने वाले उस किसान का उस भूमि पर स्वामित्व अधिकार स्वीकार करता है, जिसके पास वह कुछ निश्चित समय तक रही हो। इस कार्य को बंगाल के लैफ्टीनेंट गवर्नर ने "संतुष्ट किसानों की सुरक्षा और अधिकार-पत्र" बताया। लार्ड डलहौजी ने आरम्भ में जब अवध को जीता था तो, जैसा कि हम देखते हैं, भू-स्वामियों अथवा तालुकेदारों से कठोर व्यवहार किया गया था, बाद में लार्ड कैनिंग की घोषणा में, यद्यपि इसमें भूमि की पूर्ण जब्ती का नाममात्र का डर था, उन सबको अनुकूल विचार का आश्वासन दिया गया था, जो जल्दी ही अपनी जमींदारियां सौंप देंगे। इस धारा का इतनी उदारता से अर्थ लगाया गया कि यह कहा जाता है कि दो-तिहाई विद्रोहियों को उनकी जागीरदारियां, पहले से भी अधिक अधिकारों के साथ सौंप दी गयीं। संभवतः इससे ब्रिटिश अधिकारियों का ध्येय प्रादेशिक कुलीनताओं को ऊंचा उठाना अथवा पुनर्जीवित करना था। यह विचार था कि ऐसा करने से वे यह समझेंगे कि नये बन्दोबस्त के स्थिर रहने में ही उनका लाभ है। परन्तु निस्संदेह ताल्लुकेदारों की आसक्ति बहुत बढ़ गयी और १८६८ के अवध भूमिदारी कानून ने उस दोष को दूर करने का यत्न किया। इससे कुल किसानों में से आधे प्रतिशत से कम खेतिहरों को भूमि का भोगाधिकार सुविधा-युक्त किराये पर मिला। जिनका किराया बढ़ा दिया गया था उन्हें सुधारों के लिए क्षतिपूर्ति दी जाए और किराया केवल न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देने पर ही बढ़ सकेगा। इस कृषि-नीति का जोरों से विरोध हुआ और यह अवध से सम्बन्धित कानून बहुत विरोध के बाद पास हुआ। विरोध इस दोषारोपण पर आधारित था कि जमींदारों को दिया वचन पूरा नहीं किया गया। परन्तु लारेंस को भारत में महत्त्वपूर्ण अधिकारी हेनरी मैन, जान और रिचर्ड स्ट्रेशची तथा इंग्लैण्ड में जान स्टुअर्ट मिल का समर्थन प्राप्त था। जान स्ट्रेशची ने इस सम्बन्ध में अपने विचार को दृढ़ और सही बताते हुए कहा कि जो कुछ हुआ वह पूर्ण रूप से लारेंस के दृढ़ निश्चय के कारण हुआ और उसका विचार था कि इससे अधिक उपकार किया जा सकता था।

सर जान लारेंस ने इस प्रकार अवध और पंजाब के किसानों को वह सुरक्षा प्रदान की जो कैनिंग ने बंगाल के किसानों को दी थी। एक मान्य भारतीय अर्थशास्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और इतिहासज्ञ ने कहा है कि "भारत में ब्रिटिश सरकार ने इससे अच्छा कानून नहीं बनाया जिससे बड़ों को सम्मान और निर्बलों को सुरक्षा प्राप्त हुई। इसका आधार भारत के अलिखित रीति-रिवाज और प्राचीन अधिकार थे।"

लारेंस के कार्यकाल में भारत में दो भयंकर अकाल पड़े। पहला १८६६ में आसाम में पड़ा। यह अकाल बंगाल के दक्षिण-पश्चिमी कलकत्ता क्षेत्र से मद्रास की उत्तरी सीमा तक फैला था। यद्यपि भौगोलिक तौर पर यह अकाल वाला क्षेत्र ब्रिटिश भारत की दो बड़ी प्रैसीडेन्सियों में अनुकूल स्थिति में था परन्तु स्वाभाविक बनावट और प्राकृतिक यातायात के साधनों की कमी से यह बिलकुल अलग-थलग था। भूमि की ओर से यह अलंघ्य पहाड़ी श्रृंखला और जंगल द्वारा, जहां कि छोटा नागपुर का पठार समाप्त होता है, उत्तर और मध्यवर्ती भारत से अलग होता है। समुद्र की ओर से, जहां बहुत भद्दे ढंग से बन्दरगाह बने हैं, वर्ष के अधिक भाग में साधारण ढंग के जहाज से नहीं पहुंचा जा सकता। महानदी अपनी चौड़ी धारा के बावजूद नौवहन के सर्वथा अयोग्य है। बाढ़ों और बार-बार धाराओं के बदलने के कारण यह केवल विनाश का कारण है। उस समय अधिकांश सड़कें पहियों वाली गाड़ियों के परिवहन के अयोग्य थीं और केवल खच्चर ही माल ले जा सकते थे। सामूहिक रूप में जनता निर्धन, आलसी, पिछड़ी हुई और असहाय थी। ऐसे भाग में अकाल के कोप का सामना करना विशेष रूप से कठिन था। अकाल कमीशन की रिपार्ट में कहा गया था कि 'वहां के निवासी मार्ग-शून्य जंगलों और जिस पर कोई वश न चले ऐसे समुद्र के बीच बन्द कर दिये गये थे।' वे ऐसे यात्रियों की स्थिति में थे, जो साधन-रहित जहाज में यात्रा कर रहे हों। कहा जाता है कि दस से बीस लाख तक आदमी उसमें मर गये, और सरकार इसके लिए दोषी बनी। मुख्य रूप से भूल बंगाल के गवर्नर सर सीसिल बीडन और उनकी कार्यकारिणी की थी। उसने बहुत स्पष्ट आश्वासन दिया था कि अकाल का वास्तविक भय नहीं। परन्तु लारेंस ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि "मुझे उसकी बात नहीं माननी चाहिए थी और मैं ऐसा कर सकता था और उसे इस बात पर विवश करता कि शीघ्र ही कार्यवाही की जाए। ऐसा न करने के लिए मैं अपने-आपको दोष देता हूं।" अकाल के बाद निःसंदेह बाढ़ें आयीं जिससे उड़ीसा के नीचे के क्षेत्रों में रहने वालों को भयंकर कष्ट हुए। लारेंस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "सूखे ने जिस वस्तु को छोड़ दिया था, उसे बाढ़ों ने डुबो दिया।" १८६८–९ के दूसरे अकाल में, जिसका प्रभाव बुन्देलखण्ड और राजपूताना पर पड़ा, शीघ्र ही रोक-थाम के उपाय किये गये और निश्चित रूप से पहली बार यह नियम बनाया गया कि सरकार के अधिकारी वे सब सम्भव उपाय काम में लायेंगे जिनसे भूख से कोई मृत्यु न हो। मध्य प्रदेश में रिचर्ड टैम्पल के शासन के १८६२–६ के वर्ष महत्त्वपूर्ण थे। इन्हीं दिनों उसने ३० साल की अवधि के लिए भूमि बन्दोबस्त किये।

सर जान लारेंस के काल में भारतीय वित्त स्थिति अनुकूल न थी परन्तु उसे अनेक कठिनाइयों से उलझना था। १८६६ में विशेष अवस्थाओं के कारण वाणिज्य संकट उत्पन्न हो गया। अमेरिकन गृह-युद्ध के कारण उत्तरी रियासतों के जंगी बेड़े ने,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणी बन्दरगाहों की नाकाबन्दी कर दी, जिससे कपास का निर्यात सर्वथा बन्द हो गया। फलस्वरूप लंकाशायर की खड्डियों के लिए कच्चे माल की मांग भारत की ओर आयी। फलस्वरूप बरार, नागपुर और दक्षिणी महाराष्ट्र के जिलों में कपास उत्पादन का क्षेत्र बढ़ा। लोगों ने खूब धन कमाया। भूमि का मूल्य बढ़ा। भूमि बन्दोबस्त का काम जारी था, इसलिए कुछ जिलों में कर-निर्धारण ऊंचा हुआ। रुपये-पैसे की भरमार के कारण उसे काम-धन्धे में लगाने की चाह, मुद्रास्फीति का जोर और अंधा-धुंध सट्टा और उसके बाद विनाश आवश्यक था। एकाएक हुई समृद्धि बरसाती उत्पत्ति के समान सिद्ध हुई। अमेरिकन युद्ध के समाप्त होते ही लंबे रेशे की कपास अंग्रेजी बाजारों में भर गयी। भारतीय छोटे रेशे की कपास की बनावटी मांग समाप्त हो गयी। कई बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियां नष्ट हो गयीं—इनमें ओवरेंड और गर्ने आदि प्रसिद्ध फर्में भी थीं। आगरा और बंबई के बैंकों ने, जिनमें बंबई का बैंक सरकारी देखरेख में था, रुपया देना बन्द कर दिया। प्रकट भय द्वारा रुपये की कमी आ जाने के साथ सरकारी योजनाओं में फिजूलखर्ची के कारण वित्तीय स्थिति कमजोर पड़ गयी। यह सच है कि लारेंस के पद संभालने के समय गवर्नमैंट हाउस के व्यय घटा देने के कारण उस पर कंजूसी का आरोप लगाया गया परन्तु उसके लिए नेपियर, फ्रेरे और रोज जैसे योग्यतम साथियों की सार्वजनिक सेवा में रुपया लगाने की मांग का सामना करना कठिन था। इसीलिए बड़ी-बड़ी रकमें जन-कार्यों, सिंचाई योजनाओं और यूरोपियन सेनाओं के लिए आधुनिक बैरकें बनाने में खर्च कर दी गयीं। इस अन्तिम योजना में लारेंस को विशेष दिलचस्पी थी। इस सम्बन्ध में वह फ्लोरेंस नाइटिंगेल के इन शब्दों के प्रति बेखबर नहीं था जो उसने उस समय कहे थे जब उसे पता चला था कि लारेंस वायसराय बनने वाला है। नाइटिंगेल ने कहा था : अपने कार्य के बोझ में हमारा और हमारी स्वच्छता सम्बन्धी उन वस्तुओं का भी ध्यान रखना, जिन पर ऐसे ही लाखों व्यक्तियों का स्वास्थ्य और जीवन निर्भर है। इस प्रकार साधारण वार्षिक व्यय ४५७५०००० से बढ़कर ५४५००००० हो गया। लारेंस ने भारतीय वित्त-व्यवस्था में, सामान्य राजस्व में से भुगतान करने की बजाय ऋण द्वारा पुनरुत्पादक कार्यों के लिए धन उत्पन्न करने का सिद्धान्त भी प्रचलित किया। और यद्यपि सतर्कतापूर्वक नियंत्रण करने पर, वह नीति आपत्तिरहित हो सकती थी, तथापि उसके उत्तराधिकारियों को अनंतर 'पुनरुत्पादक' शब्द की अपेक्षाकृत संकीर्ण व्याख्या करने का अनुरोध किया गया। उसके ५ वर्ष के कार्य-काल का परिणाम २५ लाख का विशुद्ध घाटा था।

अब हमें भारत की विदेश नीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्न अफगानिस्तान की समस्या पर विचार करना है। पंजाब पर पूर्ण आधिपत्य से ब्रिटिश राज्य की सीमाएं अफगान पर्वतों के मूल तक विस्तृत हो गयी थीं परन्तु सीमा-पंक्ति अनिश्चित और परिवर्तनशील थी। दक्षिण में बलोचिस्तान से लेकर उत्तर में चितराल तक एक ऐसा क्षेत्र था—बहुत सीमा तक अब भी है—जहां स्वतन्त्र पठान कबीले रहते हैं। इसमें से होकर दर्रे गुजरते हैं, जो पंजाब के मैदानों तक जाते हैं। १८९३ तक ये कबीले नाममात्र के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए अफगानिस्तान के अमीर की सत्ता को मानते थे। वस्तुतः वे पूर्णतया उसके नियंत्रण से बाहर थे। वे भयंकर, दुर्दान्त और निर्दयी थे। वे सदा लूटने और सीमा-क्षेत्रों पर आक्रमणों के लिए तैयार रहते थे। वे पंजाब सरकार के लिए निरन्तर घबराहट और बेचैनी का कारण बने रहते थे। दण्डात्मक सैन्य-टुकड़ियां कबाइलियों द्वारा ब्रिटिश सीमाओं की अखण्डता स्थिर रखने के लिए भेजी गयीं और शत्रु के लड़ाई में निपुण और पहाड़ी प्रदेश होने के कारण बड़ी-बड़ी सेनाएं रखनी पड़ती थीं। जैसा कि हम देख चुके हैं, १८६३ में वहाबियों के विरुद्ध छः हजार आदमियों की सेना और १८६८ में १२ हजार की सेना काला पहाड़ के पठानों को सीख देने के लिए भेजी गयी थी।

प्रकट रूप से सीमान्त की स्थिति संतोषजनक न थी। यह आश्चर्य की बात नहीं कि सीमान्त की रक्षा के लिए समय-समय पर विभिन्न विचारधाराएं बनीं। एक दिशा में बहुत ही उग्र विचारधारा वाले लोग, यद्यपि जिनका कोई महत्त्व नहीं, इस बात की पुष्टि करते थे कि सिंधु नदी तक पीछे हटा जाए। दूसरे, विरोधी विचार का समर्थन करने वाले, जो साधारण रूप से 'अग्रगामी विचारधारा' के बताये जाते थे, उन का कहना था कि कबाइली इलाके को जीतकर अफगान सीमा-पंक्ति से मिलने वाली सांझी वैज्ञानिक सीमा मानी जाए। इस दल के बहुत ही उग्र सदस्य कहते थे कि मौका लगते ही अफगानिस्तान का विभाजन कर दिया जाए अथवा उसे पूरे को ही जीत लिया जाए। निश्चय ही उन्हें इससे कम में ही संतुष्ट होना पड़ा और वस्तुतः उस शत्रु से रक्षा के लिए, जो हमसे ६० मील के पहाड़ी और बंजर क्षेत्र के अन्तर पर है, भयंकर प्रदेश में व्यय-साध्य सेनाओं को रखने की उनकी नीति सर्वथा अनुचित नहीं समझी गयी।

लारेंस की नीति थी कि कबीलों को स्वतन्त्र रहने दिया जाए और उनका मन जीतने का यत्न किया जाए। अफगानिस्तान के विषय में वह इस बात का समर्थन करता रहा कि वहां असली शासकों से मित्रता रखी जाए और उनके घरेलू झगड़ों में पड़ने से पूरी तरह बचा जाए। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि कुल मिलाकर उसकी नीति बुद्धिमत्तापूर्ण और लाभप्रद थी। १८७८ तक समयानुसार साधारण संशोधन के साथ इस नीति पर आचरण किया गया। लार्ड लिटन का इस नीति से हटना हानिकारक सिद्ध हुआ। विशेष रूप से १८८१ के बाद हम इस नीति पर फिर लौट आये और १९१९ तक इस पर आचरण करते रहे। क्योंकि हमने उसे अन्तराल राज्य के समान उस पर आक्रमण न करने का प्रतिज्ञा की थी इसलिए हम अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से बचते रहे।

आइए, कुछ थोड़े अधिक विवरण के साथ लारेंस की नीति पर विचार करें। अफगानिस्तान का शक्तिशाली और योग्य शासक दोस्त मुहम्मद, जिसका ब्रिटिश भारत से सम्पर्क के सम्बन्ध में पहले वर्णन कर चुके है, १८६३ में मर गया। उसके पश्चात् गद्दी पर बैठने के अधिकार के लिए उसके १६ पुत्रों में भयंकर संघर्ष आरम्भ हो गया। दोस्त मुहम्मद का अभीष्ट पुत्र शेरअली बहुत कठिनाई से ३ साल गद्दी पर रहा। इसके भाई अफजल ने १८६६ में काबुल और १८६७ में कंधार से उसे खदेड़ा और उसने अपने अन्तिम गढ़ हेरात में शरण ली। अफजल अक्टूबर १८६७ में मर गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अफजल के लड़के अब्दुर्रहमान ने गद्दी पर अपना अधिकार जताया पर दोस्त मुहम्मद के दूसरे लड़के अजीम ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। अप्रैल १८६८ में शेरअली के पुत्र याकूब खान ने कंधार पर फिर अधिकार किया तथा सितम्बर में शेरअली ने काबुल जीता। इस प्रकार शेरअली ने पुनः अपने पिता के राज्य को प्राप्त किया। जनवरी १८६९ में अब्दुर्रहमान और अजीम परास्त हुए। अजीम ईरान भाग गया और वहां मर गया। शेष दैवगति के लिए अब्दुर्रहमान ताशकंद भाग गया। वह वहां रूसी अनुकम्पा पर पेंशन लेता हुआ दस वर्ष तक रहा।

शेरअली ने अपने-आपको पुनः सुस्थिर करके केवल इसी परिचय के आधार पर राजा सिद्ध किया कि अफगान लोग कठोर और प्रभावशाली शासक को स्वीकार करते हैं। अफगानिस्तान के गृहयुद्ध की असाधारण उलझनों ने भारत सरकार की स्थिति को बहुत जटिल बना दिया। लारेंस ने बुद्धिमत्तापूर्ण प्रेरणा से अफगान राजवंश के झगड़ों में न पड़ने का निश्चय किया। बाद की घटनाएं इस बुद्धिमत्ता को प्रकट करती हैं। उसने जो मार्ग अपनाया था वह केवल बुद्धिमत्तापूर्ण भावनाओं और अपनी तर्क-पूर्ण धारणाओं के आधार पर ही नहीं प्रत्युत उसमें दोस्त मुहम्मद के प्रति कृतज्ञता की भावना भी थी, क्योंकि कई प्रलोभनों के बावजूद भी दोस्त मुहम्मद हमारे विरुद्ध बगावत में आड़े नहीं आया था। उसने एक बार लारेंस से यह इच्छा व्यक्त की थी कि उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का प्रश्न उसके बेटों को स्वयं सुलझाने दिया जाय। लारेंस की नीति वास्तविक शासक को स्वीकार करने की थी, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि, "वह पड़ोसी के अपने ढंग से किये गये कार्यों से प्रकट होने वाले शान्तिपूर्वक स्वीकार योग्य तथ्यों का फल थी।" परन्तु निश्चय ही यह एक बड़ी उलझा देने वाली बात है कि अनेकों व्यक्ति राजगद्दी के लिए भाग्य के अद्भुत परिवर्तनों में से गुजरे। १८६४ में लारेंस ने शेरअली को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया। १८६६ में शेर-अली को काबुल से खदेड़ दिया गया और अफजल उस नगर का शासक स्वीकार किया गया। शेरअली को कंधार और हिरात का स्वामी माना गया। शीघ्र ही अफजल ने कंधार पर भी आधिपत्य कर लिया। भारत सरकार ने पूर्व स्थिति स्वीकार की और उसने केवल शेरअली को हिरात का स्वामी ही माना। अहस्तक्षेप की नीति के आलोचक कह सकते हैं कि ऐसा पग सफल विद्रोही को प्रोत्साहित करने वाला था। क्योंकि किसी अफगान सरदार की ब्रिटिश मान्यता, हवा का रुख बताने वाले यन्त्र की तरह, अपने-आप अधिक बलशाली शक्ति की ओर झूल जाती थी। इस प्रकार की मान्यता से किसी अफगानशासक को कोई लाभ भी नहीं था जो इतनी आसानी से एक विरोधी से दूसरे की ओर परिणत हो जाती थी।

इसी बीच मध्य एशिया से दक्षिण की ओर फैलता हुआ रूस अफगानिस्तान की उत्तरी सीमाओं तक बढ़ना चाहता था यद्यपि उसकी चौकियां वहां से बहुत दूर थीं। १८६४ के लगभग इसकी सेनाएं वेरनोए से पश्चिम की ओर और पेरोवस्क से पूर्व की ओर बढ़ीं तथा कैस्पियन सागर और पश्चिमी चीन के मध्य की खोकंद, बुखारा और और खीवा के तीन बड़े मुसलमान खान राज्यों के सम्पर्क में आयीं। इन अशक्त और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अव्यवस्थित रियासतों को विशाल रूसी राज्य के ताने-बाने में मिला लेना केवल समय का ही प्रश्न था। परन्तु यह सब कुछ उस समय हुआ जब लारेंस का काल समाप्त हो रहा था। ७० हजार की जनसंख्या वाले नगर ताशकंद पर १८६५ में रूस ने अधिकार कर लिया और १८६७ में जनरल कौफमान तुर्किस्तान का गवर्नर-जनरल बना और बुखारा का भाग समरकंद १८६७ में जीता गया।

इस घटना पर सर जान लारेंस ने ब्रिटिश सरकार को प्रेरित किया कि दो साम्राज्यों के बीच की सीमा-रेखा के सम्बन्ध में वह रूस के साथ कोई निश्चित समझौता करे। उसका कहना था कि यदि यह बात स्वीकार कर ली जाती तो रूस के विस्तार का भय न रहता और उसे अन्य राष्ट्रों के समान इस सम्बन्ध में आपत्ति का भी कोई अधिकार न होता। इसकी जगह वह मध्य एशिया की जनता पर रूसी सभ्यता के प्रभाव का स्पष्ट रूप में स्वागत करता। उस अकेले की ही यह सम्मति नहीं थी। सीमान्त के बड़े सरकारी अधिकारी सर हरबर्ट एडवर्ड्स ने भी लिखा है कि "क्या कोई कह सकता है कि खीवा की अराजकता, बुखारा का अत्याचार और खोकन्द की नग्न नृशंसता के स्थान पर रूसी शासन ही मानव-समाज के लिए एकमात्र लाभ होगा ?" निश्चय ही इन तीनों खान रियासतों को अधीन करने पर ग्रेट ब्रिटेन की ओर से कोई आपत्ति नहीं की गई जबकि वहां के शासकों के राजदूतों ने भारत सरकार से सहायता की मांग की।

१८६८ में जब शेरअली ने अपने-आपको सुस्थिर कर लिया तो लारेंस ने उसे शस्त्रों और ६० हजार पौंड की भेंट दी परन्तु इससे कुछ और आगे बढ़ने के सुझाव पर वह भौहें चढ़ाता रहा। सर हेनरी रालिन्सन ने, जबकि वह सेक्रेटरी आव् स्टेट्स की कौंसिल का सदस्य था, २० जुलाई १८६८ को प्रसिद्ध विवरण लिखा था। उसमें उसने और 'उन्नत' नीति का परामर्श दिया था यद्यपि वह भी आगे की घटनाओं के मुकाबले में उदार थी। उसने इस बात का समर्थन किया कि बोलान दर्रे पर आधिपत्य के लिए उत्तरी बलोचिस्तान के क्वेटा स्थान पर कब्जा किया जाए। एक सुझाव जॉन जैकब ने १८५६ में रखा था कि अफगानिस्तान के अमीर के साथ घनिष्ठ मित्रता रखी जाए और उसे वार्षिक सहायता दी जाए। इन सुझावों का लारेंस ने पूर्ण विरोध किया और इसमें उसका समर्थन उसके योग्य परामर्शदाता मेन, टैम्पल और स्ट्रेची ने किया। इस तथ्य से पृथक् कि बोलान दर्रे के पूर्व की ओर से अथवा पश्चिम की ओर से ठीक रक्षा के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष सैन्य मतभेद होते हुए भी लारेंस का विश्वास था कि अफगान मामलों में कोई भी हस्तक्षेप मतभेद पैदा कर देगा। उसका इस नीति में कोई विश्वास न था कि शेरअली से झगड़ा मोल लेकर रूस को ओक नदी पर रोकने का यत्न किया जाए। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि रूस गम्भीरता से भारत पर आक्रमण की बात सोचता है तो सैन्य गतिविधि के अनुपयुक्त और विरोधी जन संख्या के मध्य आगे बढ़ कर उसका सामना करना नीति-रहित और मूर्खतापूर्ण होगा। उसका विश्वास था कि हमारी सुरक्षा इसी में है कि हम अफगानिस्तान से न उलझें; संगठित और भले प्रकार नियंत्रित सेना हमारी अपनी सीमा पर हो, हमारे धन का समुचित प्रबन्ध हो और रियासती राजाओं तथा देशी कुलीन वर्ग में अपने पद और सम्पत्ति की सुरक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की भावना बनी रहे—जो धीरे-धीरे बढ़ रही थी। अन्य स्थानों पर उसने पर्याप्त सत्य कहा है कि अफगानिस्तान के प्रथम आक्रान्ता, चाहे वे अंग्रेज हों अथवा रूसी, शत्रु समझे जाएंगे जबकि दूसरे का मित्र और मुक्तिदाता के समान स्वागत होगा। इस सबसे यह स्पष्ट है कि लारेंस पर रूस और अफगानिस्तान की समस्या की उपेक्षा का आरोप अनुचित रूप से लगाया गया। उसकी 'अकर्मण्यता' "चतुराईपूर्ण" थी अथवा नहीं परन्तु युक्तियुक्त और बुद्धिप्रेरित थी। कुछ का विश्वास है कि निःसंदेह वह ठीक था। उसने रूसी सेनापतियों की इंग्लैण्ड के प्रति बढ़ती हुई दुर्भावना को शान्त और अफगानिस्तान में रूस के विचार में हमारी संभव योजनाओं के प्रति सोची गयी प्रत्या-योजनाओं को निःशस्त्र कर दिया। उसकी नीति समयानुसार इच्छित संशोधन के साथ, लार्ड मेयो, लार्ड नार्थब्रुक और बाद में आने वाले पांच भारत मंत्रियों ने ग्रहण की। लारेंस ने जिन दुर्भाग्यों और संकटों की भविष्यवाणो की थी वह उस समय अक्षरशः पूर्ण हुई, जब लार्ड सालिसबरी और लार्ड लिटन ने अपनी ख्याति के लिए मनहूस घड़ी में उसे बदलने का निश्चय किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ३

लार्ड मेयो । शेरअली से सम्बन्ध । वित्तीय सुधार

सर जान लारेंस जनवरी १८६९ में रिटायर हुआ, और इंग्लैण्ड लौटने पर उसे लार्ड लारेंस आफ दि पंजाब एण्ड ग्रेटले की पदवी दे कर लार्ड बनाया गया। डिजराइली ने अर्ल आफ मेयो को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया, जो अनुदार मंत्रिमंडलों में तीन बार आयरलैण्ड का मुख्य सचिव रह चुका था। यद्यपि प्रधान मंत्री ने मेयो के गुणों की प्रशंसा चरित्रवान, चतुर न्यायाधीश कहकर की थी परन्तु लोगों ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसकी नामजदगी बहुत असंतोषपूर्वक स्वीकार की गयी। उसके गवर्नर-जनरल का पद संभालने से पहले ही सरकार का पतन हो जाने से नये उदार प्रधान मंत्री ग्लैडस्टोन के लिए उसकी नियुक्ति को रद्द करने का अवसर था और उसे प्रेरित भी किया गया कि वह इस अवसर को न खोए। पर उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और लार्ड मेयो ने डिजराइली के चुनाव और ग्लैडस्टोन की उदाराशयता से शीघ्र ही लाभ उठाया।

यह प्रबन्ध किया गया था कि लार्ड लारेंस भारत से चलने से पूर्व शेरअली से मिले परन्तु वह बहुत दिन तक अपने अनियंत्रित राज्य के संकटों में उलझा रहने के कारण भारत न आ सका। अफगानिस्तान से शेरअली के चलने से पूर्व ही गवर्नर-जनरल भारत से प्रस्थान कर चुका था। जब मार्च १८६७ को अफगान शासक अंबाला पहुंचा तो उसे थकित और वयोवृद्ध लारेंस नहीं वरन् उसका युवा, स्फूर्तिवान् और प्रसन्न-चित्त उत्तराधिकारी मिला। नीति को चालू रखने की परम्परा में कोई अन्तर न आया क्योंकि नये वायसराय ने अफगान-मामलों के सम्बन्ध में अपने पूर्वाधिकारी की नीति को पूरी तरह अपनाया। भेंट के समय शेरअली ने स्वयं भारत सरकार से अधिक निकट सम्बन्ध बनाने की उत्सुकता प्रकट की। उसने एक निश्चित संधि की मांग की जिसके आधार पर उसे निश्चित वार्षिक सहायता और जब आवश्यकता पड़े तो शस्त्र और सेना की सहायता भी दी जाए। ब्रिटिश सरकार का यह भी आभार उसने मांगा कि वह उसके राज्य और वंश का समर्थन करे और बड़े पुत्र याकूब खान के स्थान पर उसके अभीष्ट पुत्र अब्दुल्ला जान को ही उसका वारिस माने। याकूब ने पहले उसे गद्दी की पुनर्प्राप्ति में काफी सहायता की थी परन्तु बाद में वह उसका कट्टर शत्रु हो गया। यह शर्तें उससे बहुत अधिक थीं जो लार्ड मेयो और ब्रिटिश सरकार मानने को तैयार थे। यह स्पष्ट है कि यह शर्तें कुख्यात रूप से अस्थिर प्राचीन राज्य वंश के भाग्य को भारत में ब्रिटेन के सम्मान और शक्ति से भयंकर रूप में सम्बद्ध कर देतीं।

लार्ड मेयो पर बहुत कठिन और गंभीर कार्य आ पड़ा था। क्रियात्मक रूप में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उससे यह आशा की जाती थी कि इन सब शर्तों के अस्वीकृत कर देने पर भी शेरअली से मित्रता बनी रहे। मुख्य रूप से भेंट के कूटनीतिक प्रबन्ध, अपने मोहक व्यक्तित्व और अतिशय आतिथ्यपूर्ण आयरिश ढंग के कारण वह सफल हुआ। इन सब बातों द्वारा उसने अफगान सरकार को मोह लिया।

जबकि लार्ड मेयो ने शेरअली को यह कहा कि किसी भी अवस्था में ब्रिटिश सैनिक उसकी विद्रोही प्रजा के दमन के लिए उसकी सीमा में नहीं जाएंगे और किसी ऐसी संधि पर विचार भी नहीं हो सकता, जिसके अधीन उसके राजवंश का बिना शर्त समर्थन हो––उसने नैतिक समर्थन के साथ उसे लिखित प्रतिज्ञा दी कि ब्रिटिश सरकार जब उचित समझेगी तब धन, शस्त्र, और गोला-बारूद देगी। शेरअली को यह बताया गया कि उसे गद्दी से उतारने के किसी भी यत्न को वह "कठोर अप्रसन्नता से देखेगी।" वस्तुतः जितनी संतुष्टि की आशा उसे इस बयान से थी, वह इससे स्पष्ट न थी परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि कुल मिलाकर वह संतुष्ट होकर आया। वह वायसराय की तेजस्विता से मोहित हो गया और उससे उसने मित्रता करली। यह स्पष्ट है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के सैन्य स्रोतों और दरबार की शान-शौकत से बहुत प्रभावित हुआ। अपने देश लौटकर उसने लार्ड मेयो द्वारा सुझाए हुए सुधार अपने देश में लागू करने का यत्न किया, यद्यपि वे कई बार गलत निर्देशित होते थे। सभी वस्तुएं अंगरेजी हों, इस भावना के साथ उसने राज्य-सभा में १३ सदस्यों की नियुक्ति से लेकर काबुल के चमारों तक को भविष्य में केवल अंग्रेजी बूट बनाने की एक आज्ञा जारी कर दी।

अफगानिस्तान में हस्तक्षेप न करने की लारेंस की नीति की अनुपूर्ति इसके निर्माता के विचार में रूस के साथ स्पष्ट समझौते द्वारा आवश्यक थी, और नीति के इस पहलू को छोड़ अन्याय किया गया। वस्तुतः लारेंस इस बात की घोषणा से नहीं हिचकिचाता था कि एक सीमा-रेखा निश्चित रूप में घोषित की जाए और उस सीमा से आगे भारत की ओर रूस को आगे बढ़ने का अर्थ होगा संसार के सब भागों में इंग्लैण्ड के साथ युद्ध और इसका उत्तरदायित्व होगा रूस पर। इस समय ऐसे समझौते पर पहुंचने का यत्न किया गया। वस्तुतः लार्ड मेयो को रूस से द्वेष नहीं था। उसका विचार था कि रूस को पूरी तरह अंग्रेजों की शक्ति का ज्ञान नहीं। उसका कहना था कि "हम एक सुस्थिर रूप में संगठित और बलशाली हैं जबकि वह इसके विपरीत है।" ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड क्लेरेण्डन और प्रिंस गोर्टस्चकफ के बीच यूरोप में सन्धि-वार्ता प्रारम्भ हुई। कलकत्ता से डगलस फोरसीथ को भारत सरकार का विचार रूसी अधिकारियों के सामने रखने के लिए १८६९ में सेंट पीटर्सबर्ग भेजा गया। फल यह हुआ कि रूस इस बात पर सहमत हो गया कि यदि ओक नदी के उत्तर में बुखारा की अखंडता का सम्मान किया गया तो उसके दक्षिण का भाग, जिस पर उसके पिता का अधिकार था, शेरअली का क्षेत्र समझा जाएगा। अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा का ब्यौरेवार निश्चय अभी होना था और इसमें बहुत समय लगा। १८७१ में रूस ने कहा कि बदकशान मुख्य अफगानिस्तान का भाग नहीं परन्तु बात-चीत के बाद १८७३ में उन्होंने ब्रिटिश रेखा को स्वीकार कर लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अफगानिस्तान की अखंडता पर रूस से समझौता मध्य एशिया की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण अग्रिम पग था और यदि बाद की यूरोपीय उलझनें पैदा न होतीं तो एक भयंकर और कठिन प्रश्न सदा के लिए सुलझ गया होता। १८७० के आसपास जनरल कौफमान ने अमीर के साथ पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। यद्यपि यह पत्र आदर मानयुक्त और हानिरहित थे, तथापि कुछ लोगों ने सोचा कि संभवतः ग्रेट ब्रिटेन उन्हें बन्द करने के लिए कहेगा। भारत सरकार के पास इस बात के लिए उचित कारण भी था क्योंकि रूस इस बात का वचन दे चुका था कि अफगानिस्तान उसके प्रभाव से बाहर का क्षेत्र है। शेरअली स्वयं इस पत्र-व्यवहार से संशय में पड़ा हुआ था। उसने वह सब पत्र-व्यवहार गवर्नर-जनरल को भेज दिया। लार्ड मेयो ने रूसी अधिकारियों को यह लिखने की अपेक्षा कि वे अफगानिस्तान के शासन के साथ पत्र-व्यवहार ब्रिटिश सरकार के माध्यम से करें, अमीर को यह कह कर आश्वासन दिया कि यह पत्र औपचारिक है और उसकी बेचैनी को दूर कर दिया।

घरेलू मामलों में लार्ड मेयो को वित्त-सुधार का अप्रिय और साधुवाद-रहित काम करना था। पूर्वाधिकारी द्वारा छोड़े गये घाटे को पूरा करना था। सर रिचर्ड टैम्पल और स्ट्रैची बंधुओं की सहायता से उसने बजट में समानता लाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। कठोर पग उठाये गये। अनिच्छा से उन प्रान्तों में नमक-कर बढ़ाने का निश्चय किया गया जहां अब तक वह बहुत थोड़ा था। आयकर भी एक से अढ़ाई प्रतिशत और बाद में तीन प्रतिशत तक बढ़ाया गया। अर्थशास्त्रियों के लिए कार्यसाधन का ऐसा उपाय अप्रिय था क्योंकि इस समय राजस्व बढ़ाने के लिए प्रत्यक्ष कर लगाना वित्तीय कट्टरपन के विरुद्ध बात थी। इस विशेष अवस्था में कर-निर्धारण कठोर और अन्यायपूर्ण था। इसे वसूल करने का व्यय विशेष रूप से अत्यधिक होता था। यह पाया गया कि उचित नियंत्रण के बिना अधिक व्यय वाले विभागों में रुपया बिना सोचे-समझे और बिना लाभ के व्यय किया जाता था। उन्हें १० लाख से अधिक रुपया वार्षिक व्यय कम करने को कहा गया। प्रकट रूप से यह कार्य अस्थायी संकट को दूर करने के लिए अपनाये गये थे परन्तु यह वित्तस्थिति के स्थायी पुनर्गठन के लिए चालू रखे गये। अब तक यह चलन था कि प्रान्तीय सरकारों के खजानों के लिए प्रत्येक वर्ष गवर्नर-जनरल की कौंसिल में अनुदान स्वीकृत किये जाते थे। सब राशियां अलग-अलग विशेष कार्यों के लिए निश्चित की जाती थीं और वे दूसरे कार्यों के लिए खर्च नहीं की जा सकती थीं। यदि मद्रास अथवा बम्बई के अधिकारियों ने शासन में पटुता के कारण रुपया बचा लिया तो उनकी प्रशंसा-योग्य बचत का उन्हें कोई लाभ न होता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे वह रुपया सरकारी खजाने में जमा करावें। इस प्रकार रुपये के अत्यधिक केन्द्रीकरण से मितव्ययता अनुत्साहित हुई और एक जैसी शासन प्रथा के दोष बढ़े। स्वाभावतः प्रान्तीय सरकारों ने अधिक से अधिक मांगें कीं और जितना मिलता वे व्यय कर देतीं। दिसम्बर १८७० में रिचर्ड और स्ट्रैची के प्रयत्न और प्रेरणा से एक महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ, जिससे कई प्रान्तीय सरकारों को निश्चित वार्षिक अनुदान देने का निश्चय किया गया। यह राशि प्रत्येक पांच वर्ष बाद

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

घटायी बढ़ायी जा सकती थी । इसके साथ ही कुछ निर्धारित सीमाओं में उन्हें वह रुपया व्यय करने की स्वतन्त्रता दी गयी ।[1] इस प्रकार एक विभाग में से बचाया हुआ धन दूसरे में लाभपूर्ण ढंग से व्यय किया जा सकता था। इन सुधारों (जो बाद में काफी व्यापक कर दिये गये) का फल यह हुआ कि लार्ड लारेंस के समय का घाटा अगले चार वर्षों में बचत में बदल गया । वह कुल मिलाकर ६० लाख के लगभग थी, जबकि उत्तम प्रबन्ध, बचत और कड़े नियन्त्रण से राजस्व की जो राशि करों द्वारा बढ़ानी थी, वास्तविक रूप में कम कर दी गयी । लार्ड मेयो के वित्तमंत्रियों में से एक ने इस कार्य का सारांश इस प्रकार दिया है कि "उसे भारी घाटा हुआ और उसने ठोस बचत छोड़ी । उसने अनुमानों को स्वभावतः अविश्वसनीय पाया और पूर्णरूप से विश्वास योग्य छोड़ा। उसने हिसाब में सदा बकाया और आंकड़े अपूर्ण पाये पर उन्हें ठीक-ठाक और पूर्ण करके छोड़ा ।"

यह लार्ड मेयो ही था जिसके अधीन भारत की पहली जनगणना हुई। उसने देश के आंकड़ा-पर्यवेक्षण का संगठन किया तथा कृषि और व्यापार विभाग बनाया। फरवरी १८७२ में अण्डमान द्वीप-समूह में कैदियों की बस्तियों का निरीक्षण करके वह पोर्ट ब्लेयर के पोतावरण स्थान को लौट रहा था जहां पर उसकी वाष्प नौका खड़ी थी। एक धर्मान्ध पठान धुंधलके में उसका पाछा करता हुआ आ रहा था; जब वह अपने कर्मचारियों से थोड़ा-सा आगे बढ़ा तो वह उसकी पीठ की ओर लपका। इससे पहले कि रक्षक कुछ करते उसने छुरा घोंप कर उसका प्राणांत कर दिया। इस क्रूर और मूर्खतापूर्ण अपराध ने उस कार्य का अन्त कर दिया जिसने लार्ड मेयो की नियुक्ति के समय की गयी अनुदार आलोचना का खण्डन कर दिया था। वह केवल तीन वर्ष गवर्नर-जनरल रहा। समय बहुत थोड़ा था और समस्याएं, जिन्हें उसे सुलझाना था, उसकी योग्यता की परख के लिए काफी थीं । परन्तु यह विश्वास करने का कारण है कि उसकी नीतिमत्ता उक्त अवसरों के अनुकूल ही नहीं वरन् उससे कहीं अधिक थी, जितनीव स्तुतः उसके सामने आयीं। एक थकित और युद्ध से जर्जरित वयोवृद्ध का उत्तराधिकारी होने पर भी उसने अपने अधीन काम करने वाले सब सहयोगियों को अपनी अद्भुत जीवन और कार्य करने की अथक शक्तियों के कारण प्रभावित किया । वह विदेश विभाग के पद से, जिसे गवर्नर-जनरल आवश्यक रूप से रखता था, संतुष्ट न था। उसने अपने इस काम में लोक-सेवा-सम्बन्धी विभाग का काम और बढ़ा लिया । सर रिचर्ड टैम्पल ने कहा था कि 'उसके सारे अस्तित्व में उत्साह झलकता था और यह उसका विशेष चिह्न था।' उसके आकर्षक ढंग और लोकप्रियता उसकी व्यक्तिगत विशेषता से साम्राज्य के लिए अधिक बहुमूल्य संपत्ति बन गये । इन्हीं गुणों के कारण उसे संरक्षित नरेशों से वास्तविक सम्मान और सहयोग प्राप्त हुआ। इन्हीं कारणों से उसके वायसराय-काल में भारतीय नौकरशाही कम से कम मतभेद और अधिक से अधिक पटुता से कार्य करती रही ।

---

1. See R. C. Dutt's India in the Victorian Age, p. 257.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय :: ४

लार्ड नार्थब्रुक । अफ़गान संघर्ष

जब भारत पर लार्ड मेयो की हत्या का अचानक भीषण आघात हुआ तो तत्काल एवं शान्तिपूर्वक शासन चलाने का प्रबन्ध कर दिया गया। आहत वायसराय का उत्तराधिकारी चुने जाने तक मर्चिस्टौन के लार्ड नेपियर को गवर्नर-जनरल के रूप में कार्य करने के लिए मद्रास से बुलाया गया। उसके कलकत्ता से आने तक के समय में जॉन स्ट्रेशी ने शासन-सूत्र संभाला । ग्लैडस्टोन ने अपने सहायक युद्ध-सचिव लार्ड नार्थब्रुक को नया वायसराय चुना । वह बैरिंग परिवार का मुखिया था। अपने पूर्वाधिकारी की प्रेरक शक्ति और उत्तराधिकारी की महान् योग्यता से नार्थब्रुक के चरित्र में अनोखा वैषम्य था। वह सचेत और गम्भीर प्रशासक था। उसे अपनी कमी का पूर्ण ज्ञान और वह अपने निर्णय में यथेष्ट स्वतन्त्र था। वह न तो प्रभावशाली वक्ता था और न ही बड़ा लेखक। उसकी भारतीय शासकों द्वारा विशाल स्मरण-लेख और राज्य-पत्र तैयार करवाने में बिल्कुल रुचि न थी । उच्च चरित्र और दयापूर्ण भावनाओं के साथ उसमें बाहरी दिखावा न था और प्रकट रूप में वह सहानुभूति रहित प्रतीत होता था। उसकी नीति, जैसा कि सर जॉन लारेंस के बारे में 'स्वामित्वपूर्ण शैथिल्य' कहा जाता है, उससे भी कुछ अधिक ही शिथिल थी। १८७३ में उसने लिखा था कि "मेरा मुख्य ध्येय टैक्सों को कम करना और अनावश्यक कानून बनाने को समाप्त करना रहा है।"[1] ११ वर्ष पश्चात् उसने फिर लिखा था कि "मेरी नीति का मुख्य लक्ष्य यह था कि काम शान्ति से हों और भूमि-सम्बन्धी सुविधाएं दी जाएं।"[2] ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस विचार का था कि गदर के बाद से भारत सरकार की सुधारक शक्ति आवश्यकताओं से अधिक बढ़ गयी थी। अपने समय में उसका सर्वप्रथम कठोर कार्य, बंगाल के योग्य लैफ्टी० गवर्नर सर जार्ज, कैम्पबेल के देहाती नगर-पालिकाओं के विधेयक की अस्वीकृति था, जो उसके प्रान्त की धारासभा ने पास किया था। सर रिचर्ड टैंपल के प्रमाणानुसार लार्ड नार्थब्रुक ने वित्त-क्षेत्र में प्रशंसनीय अधिकार दिखाया। उसके समय के आर्थिक तथ्य और आंकड़े भारत में कभी नहीं देखे गये, यहाँ तक कि विल्सन और लाइंग जैसे अर्थशास्त्रियों के समय में भी नहीं। १८७३–४ अकाल वाले वर्ष को छोड़ कर उसके समय में, कुछ तो लार्ड मेयो के वित्तीय सुधारों और कुछ स्वेज नहर से होकर चलने वाले जहाजों के कारण विदेशी व्यापार बढ़ने से भारत भौतिक उन्नति के युग में से

1. Thomas George, Earl of Northbrook, A Memoir, by Bernard Mallet, 1908, p. 69.

2. Idem, p. 122.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुजर रहा था। १८६० से अगले दशक में आयात-करों को, जो संभवतः सुरक्षित प्रभाव रखते थे, धीरे-धीरे हटा लेने के कारण मुक्त व्यापार का सिद्धान्त पूर्ण हो चुका था। भारत में अनुकूल वित्त-स्थिति के कारण नार्थब्रुक भी उस ध्येय की प्रगति में समर्थ हो सका। १८६० से पहले सब चीजों की चुंगी के मूल्य के अनुसार आयात पर तटकर दस प्रतिशत और अधिकांश निर्यात पर तीन प्रतिशत तथा १८६४ में सर जॉन लारेंस के अधीन पहले ही आयात-कर साढ़े सात प्रतिशत कम कर दिया गया था और १८७५ में लार्ड नाथब्रुक ने पांच प्रतिशत तक दर घटा दी थी। उसी समय उसने तेल, चावल, नील और लाख को छोड़ सब निर्यात-कर समाप्त कर दिये। सिन्धु घाटी रेलवे के निर्माण के साथ गेहूं पर से कर हटाना भारत के लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ और उसे एक बड़ा गेहूं निर्माण करने वाला देश बनाया। उस समय आर्थिक सिद्धान्तों का ध्यान रख कर स्वाभाविक रूप से इंग्लैण्ड की सरकार ने उस पर दबाव डाला कि वह मुक्त व्यापार नीति को अधिक व्यापक रूप में लागू करे। लार्ड नार्थब्रुक मुक्त व्यापार में विश्वास रखता था परन्तु वह अप्रयोगात्मक सिद्धान्तों को नहीं मानता था। वह सदा यह कहता था कि राजस्व के विचार से आयात पर कम टैरिफ भारत की विशेष अवस्थाओं में आवश्यक है, भले ही इससे निश्चित रूप में रक्षित स्वार्थों को थोड़ी हानि पहुंचती है। तदनुसार भले ही वह ग्लेडस्टोन के निर्धारित मार्ग पर चलना चाहता था—परन्तु उसने उसे बहुत अन्तर सहित स्वीकार किया।[1] उसके शासन के अन्तिम काल में डिजराइली की अनुदार सरकार ने उस पर जोरदार प्रभाव डाला कि लंकाशायर के कपड़े पर से पांच प्रतिशत आयात-कर भी हटा दिया जाए। परन्तु उसने कठोरता से इस आधार पर यह बात मानने से इंकार कर दिया कि भारतीय कोष इस राजस्व को नहीं छोड़ सकता और यह राजनीति के रूप में भी अविवेकपूर्ण है कि किसी व्यंग के लिए यह आधार पैदा किया जाए कि लंकाशायर भारत के हित पर छा जाना चाहता है। अपना दृष्टिकोण लागू करने में वह अनुदार-दलीय भारत-सचिव लार्ड सालिसबरी के विरोध में भी नहीं झिझका। उसने इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा भारत सरकार की अधिकार शक्ति और उसके काम के महत्त्व को कम करने के यत्न का विरोध किया। वित्त-सम्बन्धी मामलों में उसकी आलोचना का मुख्य विषय आयकर के प्रति उसकी अत्यधिक घृणा थी। लार्ड मेयो की मृत्यु से पहले यह केवल एक प्रतिशत ही रह गया था परन्तु नार्थब्रुक के लिए यह भी बहुत अधिक था। उसने इसे पूर्णतया समाप्त कर दिया। नमक-कर को कम करने की बजाय आय-कर की समाप्ति में वह भारतीय किसान की अपेक्षा यूरोपियन प्रवासियों, देशवासी व्यापारियों और भूस्वामियों का हित विचारता था। इसके लिए उसने सर रिचर्ड टैम्पल और सर जॉन स्ट्रेशी आदि भारतीय वित्त-सम्बन्धी मामलों के विशेषज्ञों का ही विरोध नहीं किया वरन् भारत मंत्री अरगिल के ड्यूक का भी विरोध किया। ड्यूक ने बहुत कुछ निष्पक्ष और बलपूर्ण ढंग से उसे लिखा कि नमक-कर में सुधार करने और आय-कर को हटाने

1. Mallet's Northbrook. p. 110.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

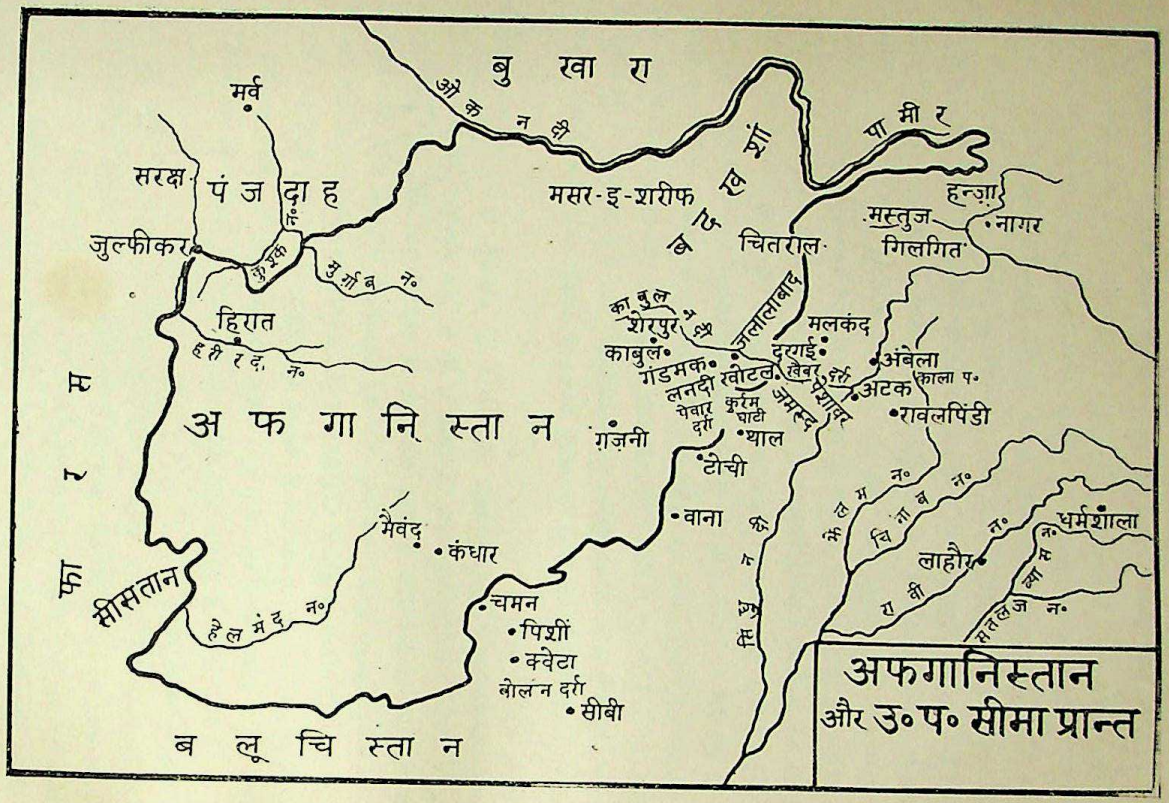

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Zafar Hasan Khan
M.A. LL.B.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की दौड़ में आपने उन सम्पन्न लोगों को ही सुविधा दी है, जो अत्यधिक शक्तिशाली और अधिकारसम्पन्न हैं।[1] अन्य सब दृष्टियों में उसने भारतीय जनता पर अनुचित टैक्सों के भार को रोकने की दृढ़ता दिखायी। १८८१ में उसने लिखा कि "यदि हम न्यायतः शासन करें और टैक्स न बढ़ाएं तो संभवतः भारतीय निष्प्रतिकार रूप में राज-भक्त हो सकते हैं—किन्तु सक्रिय भक्ति की हम आशा नहीं कर सकते। १८८१ में उसने लार्ड लिटन को लिखा कि मुझे सदा यह संदेह रहता था कि लगान अधिक निर्धारित हुआ था और वह सर जॉन स्ट्रेशी के मत के विषय में भी सदा संदिग्ध रहा, जो लगान बढ़ाने के पक्ष में था।

१८७३–४ में बिहार और बंगाल के उस भाग में अकाल का भय उत्पन्न हो गया, जहां जनसंख्या बहुत घनी थी। लार्ड नार्थब्रुक और सर जार्ज कैम्पबैल दृढ़-प्रतिज्ञ थे कि १८६५ के उड़ीसा के अकाल की स्थिति उत्पन्न नहीं होने दी जाएगी। बर्मा से भारी मात्रा में चावल खरीदा गया। यातायात के व्यय का ध्यान न कर बड़े उत्तम ढंग से उसे वितरित किया गया और सब स्थानों पर सहायता कार्य चालू हो गये। फल यह हुआ कि इस छोटे से और साधारण से अकाल पर साढ़े ६५ लाख रुपया व्यय हो गया। यद्यपि कुछ व्यय अनावश्यक भी था पर सरकार की यह भूल ठीक ही थी और नार्थब्रुक की वित्त-बचत के कारण ही राजस्व से यह सारा खर्च चल सका।

लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल में भारत में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना, अत्यन्त शक्तिशाली बड़ोदा के राजा मल्हार राव गायकवाड़ पर एक कमीशन द्वारा मुकदमा चलाने की थी। १८७० में जब गायकवाड़ गद्दी पर बैठा तो उसकी रियासत में कुशासन जारी था और इसके प्रमाण भी मौजूद थे। जांच कमीशन ने फरवरी १८७४ में सूचना दी थी कि वह अपने मृत भाई के संबन्धियों से दुर्व्यवहार, महिलाओं को सताने तथा व्यापारियों और साहूकारों को लूटने का दोषी है। उसे अपने शासन को सुधारने के लिए १८ मास का समय दिया गया। यह अन्तरिम काल बिना किसी स्पष्ट सुधार के समाप्त हो गया। अन्ततः १८७५ में ब्रिटिश रैजीडेण्ट जनरल फाइरे (Phayre) को विष देने के आरोप में उस पर मुकदमा चलाया गया। इस अदालत में जयपुर और ग्वालियर के दो भारतीय नरेश, निजाम का दीवान सर दिनकर राव और तीन ब्रिटिश अधिकारी थे। इसका परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुआ क्योंकि अंग्रेज कमिश्नरों ने तो उसे दोषी ठहराया पर भारतीयों ने निर्दोष होने का निर्णय दिया। इस पर भारत सचिव लार्ड सालिसबरी ने इस गम्भीर और कठोर परिस्थिति में से एक मार्ग निकाला। उसने गायकवाड़ को गद्दी से उतारने की घोषणा का हेतु इस आधार पर लार्ड नार्थब्रुक को बनाया कि जिस विशिष्ट अपराध की जांच कमीशन ने की थी, वह रद्द कर दिया गया है, और यह घोषणा उसकी खोज के आधार पर नहीं प्रत्युत उसके इस कुशासन एवं दुराचरण के कारण की गई है, जिसमें मल्हार राव पर हत्या का

1. Mallet's Northbrook, p. 67.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरोप ही अन्ततः निर्णयात्मक प्रश्न हो सकता था। इस सारे व्यापार से सरकार की स्थिति बहुत सुखद नहीं हुई। तनिक सी कल्पना से इस अभियोग के अधूरे नतीजे को देखा जा सकता था। लार्ड नार्थब्रुक के जीवनी लेखक के कथनानुसार उसका गद्दी से उतारा जाना ठीक था परन्तु इस कार्य को जिस ढंग से किया गया वह आपत्तिजनक था। गद्दी से उतारे गये राजा को शीघ्र ही और गुप्त रूप से मद्रास ले जाया गया और राज्य-वंश के बालक राजकुमार को गायकवाड़ के रूप में गद्दी पर बिठा कर बड़ोदा की जनता की संभावित अशान्ति को शांत कर दिया गया। एक मराठा राजनीतिज्ञ सर माधवराव को वहां का दीवान बना दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश अधिकारियों ने जतलाया कि वे डलहौजी की समायोजन नीति की ओर नहीं लौट रहे, जबकि नये शासक की लंबी अल्पवयस्कता के कारण उस राज्य का शासन ब्रिटिश शासक अधिकारी की देख-रेख में उत्तम रीति से चलता रहा।

लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल में रूस के अफगानिस्तान की उत्तरी सीमाओं की ओर बढ़ने के कारण मध्य एशिया की समस्याएं अत्यधिक पेचीदा होती गयीं। उसका इस ओर बढ़ना स्वाभाविक था। परन्तु जैसा कि उस समय सोचा गया था, यह विवेकपूर्ण नहीं था। १८६४ में प्रसिद्ध स्मरण-लेख में प्रिन्स गोर्टस्कोफ (Gortschakoff) ने उल्लेख किया था कि उसके देशवासी उसी राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार दक्षिण की ओर अग्रसर हुए, जिसके कारण ब्रिटिश सेनाएं हिमालय की तराई में उत्तर की ओर बढ़ीं। संपूर्ण इतिहास यही शिक्षा देता है कि कोई भी सभ्य और शक्तिशाली राष्ट्र असंगठित और अर्ध-सभ्य लोगों के साथ अधिक काल तक स्थायी सीमा रेखा नहीं रख सकता। ईस्ट इन्डिया कम्पनी जैसी शान्त व्यापारिक संस्था का इतिहास भी, जैसा कि हमने देखा, किन्हीं अन्य क्षेत्रों पर अधिकार न करने के अपने ही निर्धारित सिद्धान्त का निरन्तर खण्डन है। जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन भूतकाल में करता आया था, रूस ने भी समय-समय पर घोषणा की कि वह और आगे नहीं बढ़ेगा। उस समय उसकी यह घोषणाएं सामान्य रूप से सही धारणा से की गयी थीं परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी सीमावर्ती चौकियों से मध्य एशिया के निर्बल छोटे-छोटे खान-राज्यों का सम्बन्ध पड़ा तो उसे विवश होकर उनके खाली किये स्थानों पर अधिकार करना पड़ा, अथवा वह लूटमार के लिये किये आक्रमणों के कारण सीमा का अतिक्रमण कर गया। परन्तु अनेक ब्रिटिश नीतिज्ञों और अपने राज्य में शेरअली को रूस का यह आगे बढ़ना सिद्धान्तहीन, पूर्व-निर्धारित और कपटपूर्ण लगा। १८६९ में रूसियों ने कैस्पियन सागर के पूर्वी तट पर स्थित क्रास्नोवोडस्क तक सुस्थिर कर लिया। जून १८७३ में खीवा का पतन हुआ और उससे अगले महीने वायसराय और अफगान दूत में शिमला में एक कान्फ्रेंस हुई। इससे ब्रिटिश समर्थन या सहायता के महत्त्व में अमीर के घटते हुए विश्वास को स्थिर रखने में अधिक सहायता नहीं मिली। यद्यपि वह इससे मौन रूप में सहमत था परन्तु सीमा-प्रान्त सिस्तान की सीमा के सम्बन्ध में ब्रिटिश पंच के निर्णय से उसे बहुत निराशा हुई। इस सम्बन्ध में ईरान के शाह और उसमें देर से झगड़ा चला आ रहा था। कान्फ्रेंस में अफगान दूत ने घोषणा की कि मध्य-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एशिया में अफगानिस्तान की ओर रूस की प्रगति से अफगान बहुत चिन्तित हो गये हैं और अमीर को अफगानिस्तान के प्रति उसकी शांत धारणाओं के वायदों में कोई विश्वास नहीं रह गया । उसने ब्रिटेन के साथ और अधिक निकट सम्पर्क की मांग की थी। नार्थब्रुक को इस प्रार्थना में तथ्य दिखायी दिया। उसने भारत-सचिव से शेरअली को आश्वासन देने की आज्ञा मांगी कि यदि वह पूर्ण रूप से विदेशी मामलों में हमारे परामर्श को माने और उस पर अमल करे तो उसे आवश्यकता होने पर किसी आक्रमण को रोकने के लिए धन, शस्त्र और सेना आदि से सहायता दी जाए परन्तु हम ही सहायता की आवश्यकता निर्धारित करने वाले होंगे। परन्तु मंत्रिमंडल ने लार्ड मेयो द्वारा अमीर को लिखे ६ सितम्बर १८७३ के एक पत्र में सहायता के अनिश्चित से आश्वासन की पुष्टि के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं दिया। दूत ने यह मांग की कि यदि रूस अफगान क्षेत्र पर हमला करे तो ब्रिटेन उसे शत्रु समझे। लार्ड नार्थब्रुक को उसे यह समझाने में बड़ी कठिनाई हुई कि जबकि रूस के साथ ब्रिटेन का कोई झगड़ा नहीं तो ऐसी अवस्था में अफगानिस्तान पर किये गये आक्रमण से रूस को स्पष्ट रूप से शत्रु घोषित करने की आवश्यक स्थिति पैदा नहीं होती। शेरअली ने पांच हजार राइ-फलों की भेंट स्वीकार कर ली और १० लाख रुपया लेने से इन्कार कर दिया।

यद्यपि अफगानिस्तान जैसे अर्ध-जंगली राज्य के साथ, जिसकी आगामी हलचलों का अन्दाजा और नियन्त्रण नहीं हो सकता था, किसी आक्रामक और सुरक्षात्मक संधि में पड़ना काफी हानिप्रद था, तथापि यह शोक की बात है कि उस समय शेरअली के साथ अधिक दृढ़ समझौता नहीं किया गया। १८६९ तक अमीर को गद्दी पर बैठे इतना समय नहीं हुआ था कि वह यह विश्वास पैदा कर देता कि वह अपनी स्थिति बनाये रख सकता है—परन्तु १८७३ तक उसने सिद्ध कर दिया कि वह अफगान-मान के अनुसार योग्य शासक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्पष्ट रूप में यह अनुभव किया था कि अन्ततः उसे दो यूरोपियन प्रदेशों में से, जिनकी सेनाएं उसके राज्य पर अलग-अलग मंडराती रहती थीं, किसी एक से निकट संबंध स्थापित करने ही होंगे। वह दोनों को अपने निकट संपर्क में रखता। परन्तु उसने विचारपूर्वक और स्वतःप्रेरणा से ब्रिटेन को ही प्राथमिकता दी। यदि सन्धि की धाराओं को सावधानी से लिखा जाता तो एक अधिक दृढ़ सन्धि उस समय लागू की जा सकती थी। इसमें लारेंस की नीति को बदलने की आवश्यकता न थी वरन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार कुछ संशोधन करने की आवश्यकता थी।

इस कान्फ्रेंस से अमीर का दिल टूट गया और उसे निराशा हुई। लार्ड नार्थ-ब्रुक अपने तौर-तरीके में वह तेजस्विता लाने में असमर्थ रहा जिसके कारण उसके पूर्वाधिकारी ने शेरअली का व्यक्तिगत आदर प्राप्त किया था। इसके कुछ समय पश्चात् ही उसने, बड़े पुत्र याकूब खान को गिरफ्तार करने और छोटे पुत्र अब्दुल्ला को अपना वारिस घोषित करने पर अमीर को प्रभावपूर्ण ढंग से डांटा। यद्यपि इसके बाद संभवतः वायसराय के प्रति असंतोष प्रकट करने के लिए ही उसने रूसी पत्र-व्यवहार अनिच्छा से ग्रहण किया तथापि अपनी सीमा की ओर रूसी सेनाओं की गति को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह घृणा से ही देखता रहा। बहुत साधारण-सी सतर्कता और चतुराई से काम लेने पर उसे अपना पूर्व मित्रतापूर्ण रुख अपनाये रखने को प्रेरित किया जा सकता था । नये वायसराय के भारत में आने के दो वर्ष बाद दुर्भाग्य से १८७४ में इंग्लैण्ड की सरकार बदल गयी। यदि उदार सरकार और लार्ड नार्थब्रुक ने हस्तक्षेप करने की दिशा में कुछ सीमा तक भूल की थी अनुदार सरकार और लार्ड लिटन ने अपने अत्यधिक हस्तक्षेप द्वारा इस सम्बन्ध में सारी प्रगति को नष्ट कर दिया।

मार्च १८७४ में डिजरराइली प्रधान मंत्री हुआ और लार्ड सालिसबरी भारत मंत्री। दोनों ही नीतिज्ञ एशिया में रूसी नीति को अत्यधिक अविश्वास के साथ देखते थे। अफगानिस्तान से असंतोषपूर्ण संबंधों के विषय में इस अविश्वास के लिए उनके पास कारण भी था। यदि वे अफगानिस्तान की अखंडता और शेरअली से रूसी अधिकारियों के पत्र-व्यवहार को रोकने के सम्बन्ध में विदेश विभाग द्वारा सैण्ट पीटर्सबर्ग से कोई सुनिश्चित सन्धि करते तो केवल उनका पक्ष अथवा आधार दृढ़ ही न होता वरन् वे एशिया में ब्रिटिश और रूसी हित के सम्बन्ध में निर्भीक और स्पष्ट धारणा को स्थिर करने के सिद्धान्त की पुष्टि करते। दुर्भाग्य से उन्होंने सैण्ट पीटर्सबर्ग पर दबाव की अपेक्षा काबुल पर दबाव डालना आरम्भ किया। भारत मंत्री की कौंसिल के एक सदस्य सर बाटले फ्रेरी ने एक स्मरण-लेख में सुझाव दिया कि एशिया की दोषपूर्ण स्थिति में इस प्रबन्ध को ठीक नहीं समझा जा सकता था कि अफगानिस्तान में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि केवल भारतीय मुस्लिम हो। इस धारणा के साथ लार्ड सालिसबरी ने सुझाव दिया कि शेरअली से अपने देश में एक ब्रिटिश रैजीडेन्ट को रखने की माँग की जाय। इस योजना का लार्ड नार्थब्रुक और उसकी कौंसिल के सदस्यों ने विरोध किया। उन्होंने इस बात की ओर इंगित किया कि १८६९ और १८७३ में शेरअली ने इस सम्बन्ध में रूसी उद्देश्य के प्रति ज़ोरदार भय प्रकट किया था परन्तु उसे कहा गया था कि उसके भय का आधार तथ्यपूर्ण नहीं है। सुरक्षात्मक सहयोग के लिए उसकी प्रार्थना इस आधार पर दृढ़ता से अस्वीकृत कर दी गयी थी कि इस सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं। अब उसे यह ज्ञात होना था कि ब्रिटिश सरकार तेजी से इस विचार पर आ रही है कि रूसी भय इतना गम्भीर था कि उसके देश में भी ब्रिटिश रैजीडैण्ट की आवश्यकता समझी जाएगी । यह स्पष्ट है कि वह इस योजना का घोर विरोधी था। लार्ड नार्थब्रुक ने लार्ड सालिसबरी को लिखा कि "अमीर के प्रति आपकी संदेह भावना से मैं सहमत नहीं हो सकता, और न यहां का कोई अधिकारी उसकी पुष्टि करता है।" लार्ड क्रोमर के शब्दों में "दुर्भाग्य से वह आंग्ल भारतीय अधिकारियों के दृष्टिकोण को महत्त्वहीन समझता और उनकी उपेक्षा भारत-सचिव था।" वह यह घोषणा करते हुए, कि अनिश्चित चरित्र वाले प्राचीन सरदार और उसके गलत ढंग से निरूपित देश पर रूसी विस्तार के प्रभाव के प्रति उदासीन नहीं रह सकता, अपने सुझावों की आवृत्ति करता रहा। वह कहता था कि 'वह दो सैनिक शक्ति वाले राष्ट्रों के मध्य घिरा हुआ है जिनमें एक तो केवल आपत्ति करता है और शान्त रहता है—जबकि दूसरा अपने काम के लिए खेद प्रकट करता है और आगे बढ़ता जाता है।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लार्ड सालिसबरी अब भी यह चाहता था कि एक मिशन भेजा जाए। उसने सुझाव दिया कि मिशन को भेजने का एक ध्येय बना लिया जाय चाहे वह साधारण राजनीतिक ही हो और ऐसा कुछ हो जाने पर एक-न-एक ध्येय की स्थापना की जा सकती है। वायसराय असहमति प्रकट करता रहा और बाद में उसने शीघ्र ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। यह कहा गया कि त्याग-पत्र निजी कारणों से दिया गया है पर कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि लार्ड नार्थब्रुक लार्ड सालिसबरी के साथ अधिक समय काम न कर सका। जैसा कि हमने देखा इन दोनों व्यक्तियों में टैरिफ के प्रश्न पर गम्भीर मतभेद था और नयी अफगान-नीति के अविवेक से वायसराय को विश्वास हो गया था और उसका कहना था कि "यह लार्ड कैनिंग द्वारा समर्थित, लार्ड लारेंस द्वारा पुनर्जीवित और लार्ड मेयो द्वारा पुष्ट नीति का विपरीत रूप है।" एक निजी पत्र में उसने लिखा कि "विदेश नीति सम्बन्धी सभी उत्साहपूर्ण प्रस्ताव फ्रेरी और उसके साथियों द्वारा भेजे जाते हैं यहां हम बहुत शांत और स्थिर व्यक्ति हैं।" उनके दृष्टिकोण में मतभेद मूल रूप में था। मि० मैलट का कहना है कि "लार्ड सालिसबरी की तीव्र और सूक्ष्ममेधा, पूर्वाधिकारी के प्रति घृणा और प्रेरक निश्चयों के प्रति विशेष झुकाव तथा लार्ड नार्थब्रुक की सावधानी, सामान्य सामयिक बुद्धि, प्रमाणित और अनुभव के बाद तथ्यों पर विश्वास तथा स्थिर और प्रभावपूर्ण काम करने की शक्ति में महान् अन्तर था। भारत से प्रस्थान से पूर्व लार्ड नार्थब्रुक ने लार्ड सालिसबरी को दैवी प्रेरणा बुद्धि से सचेत किया कि शेरअली को उसकी इच्छा के विरुद्ध एजेन्ट रखने के लिए विवश करने का फल 'हमारे लिए अधिक वर्ष व्यतीत होने से पूर्व ही अफगानिस्तान के साथ अनावश्यक और व्ययसाध्य युद्ध का भय मोल लेना होगा।'[1]

1. Mallet's Northbrook, p 105.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय :: ५

युद्ध आरम्भ होने तक अफ़गानिस्तान में लार्ड लिटन की नीति

नया वायसराय लार्ड लिटन उपन्यास-लेखक सर एडवर्ड बुलवर लिटन का पुत्र था । वह बहुत योग्य व्यक्ति था । वह कवि, निबन्ध-लेखक और प्रभावशाली वक्ता था । कूटनीतिक सेवा का सदस्य होने के नाते वह अनेक यूरोपियन दरबारों में रह चुका था । वह अपने साधारण रुख और बौद्धिक धारणा से विश्व-भ्रमण करने और विद्वान् होने के कारण रूढ़िमुक्त था । उसके व्यक्तिगत मित्र और राजनीति में विरोधी लार्ड मार्ले का कथन है कि "वह स्वतन्त्र विचारधारा युक्त था और पेरिस में जन्मा था । उसे शिमला की कट्टर और अहंमन्य शान से घृणा थी ।" वह नयी अफगान नीति के सूत्रपात का अधिकार लेकर भारत आया । उसके पूर्वाधिकारी की निवृत्ति और इंग्लैण्ड में दलीय सरकार की आवृत्तियों से १८७६ तक ग्लैडस्टोन, अरगिल का ड्यूक और लार्ड नार्थब्रुक क्रमशः प्रधान मंत्री, विदेश मंत्री, तथा वायसराय की जगह डिजराइली, लार्ड सालिसबरी और लार्ड लिटन ले चुके थे । व्यक्तित्व और विचारों का इससे स्पष्ट परिवर्तन और क्या हो सकता था । पूर्ण रूप से अनाक्रामक रुख, हस्तक्षेप न करने की नीति—जो संभवतः चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी, और अफगान भावनाओं के आदर का स्थान जीवटपूर्ण विदेश नीति, साम्राज्यवादी ध्येय और कुटिल उत्तेजनात्मक नीति ने ले लिया था । इंग्लैण्ड और भारत की नयी सरकारों के संरक्षण में तीन वर्ष के भीतर हम दूसरे अफगान युद्ध में घसीट लिये गये । इसके आरम्भ, तथा उससे भी अधिक मध्य और समाप्ति से चालीस वर्ष पूर्व के विनाशक संघर्षों की याद आ जाती है । यह युद्ध लार्ड लिटन के राजनीतिक जीवन का अन्त और सब से अधिक १८७४ में शक्तिशाली अनुदार दलीय सरकार के लिए पतन का कारण सिद्ध हुआ ।

अपने ही शब्दों में लार्ड लिटन ने शेरअली को अधिक सुनिश्चित, समान और क्रियात्मक सन्धि के आदेश दिये । उसे निश्चित और कुछ अधिक सहायता देने, उसके छोटे लड़के अब्दुल्ला जान को अफगानिस्तान की गद्दी का वारिस स्वीकार करने और सन्धि द्वारा अथवा दूसरे रूप में किसी विदेशी आक्रमण के समय सहायता करने की शर्तें पेश करने का अधिकार दिया गया कि जिनकी अमीर ने १८७३ में मांग की थी । दुर्भाग्य से इन शर्तों की स्वीकृति का आधार शेरअली द्वारा हिरात में ब्रिटिश रैजीडेंट को रखना था । प्रारम्भिक शर्तों के रूप में सुरक्षात्मक सहयोग-सन्धि-पत्र काफी उचित था परन्तु यदि शेरअली ऐसे सहयोग के प्रति अस्वीकृति प्रकट करता तो हमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपना मिशन उस पर लादने अथवा उसकी अस्वीकृति को युद्ध का कारण मान लेने का अधिकार न था।

लार्ड लिटन को नयी नीति लागू करने में अवसर और ढंग के चुनाव में काफी छूट दी गयी थी, और वस्तुतः यही उन दुःखदायी घटनाओं के लिए उत्तरदायी है जो इसके बाद घटीं। यह स्पष्ट है कि राज्य-सचिव के पद से पृथक होने से पूर्व लार्ड सालिसबरी ने भी वायसराय का समर्थन अथवा उसे सुझाव देना छोड़ दिया था। यह संसद में कही गयी उसकी इस प्रसिद्ध टिप्पणी से प्रकट होता है कि रूस का अत्यधिक भय अधिक मानचित्रों के अध्ययन से संभवतः समाप्त हो जाए।

शेरअली से पहले कहा गया कि वह सम्मानार्थ मिशन को अपने देश में आने दे। मिशन को औपचारिक रूप से उससे यह कहना था कि रानी ने भारत-साम्राज्ञी की पदवी ग्रहण करली है। यह बात उसने अनावश्यक कहकर नम्रतापूर्वक अस्वीकृत कर दी। इसी समय काबुल स्थित तद्देशीय ब्रिटिश एजेन्ट ने निःसंदेह अमीर की जानकारी और आज्ञा से यह सूचना दी कि अन्य कारणों के साथ अस्वीकृति का यह भी कारण था कि शेरअली अपनी धर्मान्ध प्रजा से ब्रिटिश दूत की सुरक्षा का आश्वासन नहीं दे सकता था। दूसरा कारण यह भी था कि यदि वह उसे अपने देश में आने की स्वीकृति देता तो वह रूसियों को भी ऐसी सुविधा देने से इन्कार नहीं कर सकता था। निश्चय ही यह ठीक था और यदि अब भी भारत सरकार अफगानिस्तान से सम्बन्ध चाहती थी तो उसे चाहिए था कि वह आपत्तिजनक बन्धनों के बिना प्रस्तुत शर्तों की स्वीकृति देती। लार्ड लिटन ने यह विचार बना लिया कि अमीर का उत्तर ब्रिटिश हितों के प्रति अपमानपूर्ण उपेक्षा है। उसने अमीर को चेतावनी दी कि वह अफगानिस्तान को ब्रिटिश-मित्रता और समर्थन से पृथक कर रहा है। वायसराय की कौंसिल के तीन सदस्य सर विलियम म्यूर, सर हेनरी नारमन और सर आर्थर हावहाऊस इस विचार से सहमत न थे। उनका विचार था कि शेरअली मिशन को ग्रहण करने की अस्वीकृति में अपने अधिकार की सीमा में है और सरकार का मिशन के अस्थायी और पूरक स्वरूप के विषय में दबाव डालना अनुचित था जबकि यह सब स्पष्टतया समझते थे कि इसका वास्तविक ध्येय उसके देश में स्थायी दूतावास बनाना है। अक्तूबर में यह प्रबन्ध किया गया कि लार्ड लिटन शिमला में काबुल के ब्रिटिश मुस्लिम एजेन्ट से बातचीत करे, जो बाद में दोनों में हुई वार्ता का परिणाम शेरअली को बताए। यह नहीं कहा जा सकता कि इस वार्ता से स्थिति में कुछ सुधार हुआ। लार्ड लिटन की विलक्षण वाक्यावली न्यायसंगत होने के स्थान पर दबावपूर्ण अधिक थी। एजेन्ट से कहा गया कि "रूस और ब्रिटिश साम्राज्य के मध्य अफगानिस्तान की स्थिति लोहे के दो बर्तनों के बीच मिट्टी की हंडिया के समान है। यदि शेरअली हमारा मित्र रहेगा तो इंग्लैण्ड की सैन्य-शक्ति लौह-चक्र के समान उसके चारों ओर फैला दी जाएगी और यदि वह हमारा शत्रु बना तो वह शक्ति उसे सरकण्डे के समान भंग कर देगी।"

१८७६ के अन्त में सीमांत अधिकारी मेजर (बाद में सर) राबर्ट सण्डेमान ने प्रसिद्ध कलात के खान से सन्धि की बात आरम्भ की। इससे ब्रिटेन को क्वेटा-चौकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का चिर-अभीप्सित अधिकार मिल गया। खान ने बलोचिस्तान के लम्बे चौड़े प्रदेश के, जो दक्षिण में अरब सागर, पश्चिम में ईरान, पूर्व में सिन्ध और पंजाब तथा उत्तर में शेरअली के राज्य तक फैला था, अन्य सरदारों से अपना सामान्य अधिकार अधिक बताया परन्तु वह उसे सिद्ध नहीं कर सका। क्वेटा महान् प्राकृतिक शक्ति की दृष्टि से सामरिक महत्त्व का स्थान है। उसकी जलवायु विशेषतया यूरोपियनों के अनुकूल है। वह अफगानिस्तान के एक द्वार बोलान दर्रे का प्रहरी है। निश्चय ही अमीर ने इस पर अधिकार करने को कंधार पर ब्रिटिश प्रगति का प्रारम्भिक पग समझा होगा। वह इस बात को नहीं भूल सकता था कि प्रथम अफगान-युद्ध में क्वेटा ही वह अड्डा था जहां से ब्रिटिश सेना उसके देश पर विजय के लिए बढ़ी थी।

जनवरी १८७७ को पेशावर में सर लुइस पैली और शेरअली के मंत्री सैयद नूर मुहम्मद के मध्य कान्फ्रेंस हुई। उसने १८७३ में भी नार्थब्रुक से बातचीत की थी। यह कान्फ्रेंस असफल रही क्योंकि अफगान दूत ने दृढ़तापूर्वक ब्रिटिश अधिकारी के अफगानिस्तान में रहने की बात अस्वीकृत कर दी। लार्ड लिटन ने जानबूझ कर इस बात को मानने से इन्कार किया, अथवा वह यह समझने में असमर्थ था कि इस कार्यवाही के लिए शेरअली के पास कुछ पुष्ट कारण हैं।

सैयद नूर मुहम्मद ने कहा कि "ब्रिटिश राष्ट्र महान् और शक्तिशाली है और अफगान जनता उसकी शक्ति का सामना नहीं कर सकती परन्तु वह स्वेच्छाचारी और स्वतन्त्र है और उसके लिए अपना सम्मान जीवन से भी अधिक मूल्यवान् है। कोई भी अमीर यदि वह अपनी गद्दी बना रहना चाहता है तो उसे एक क्षण के लिए भी यह प्रदर्शित नहीं होने देना चाहिए कि वह किसी विदेशी राज्य द्वारा नियंत्रित है। काबुल के मुस्लिम ब्रिटिश एजेन्ट ने बाद में यह घोषणा की कि यह नितान्त भ्रमपूर्ण रिपोर्ट है कि मैं निजी रूप में ब्रिटिश अधिकारियों के काबुल आने के पक्ष में हूं। यह तो मेरे लिए मृत्यु की आज्ञा के समान है। हमारे अपने काल में योग्य और शक्तिशाली अमीर अब्दुर्रहमान अंग्रेजों का सच्चा मित्र और प्रशंसक था परन्तु वह भी इस बात की कभी सुविधा न देता। अफगान जानते थे कि उनके शासन के बहुत से ढंग ब्रिटिश राजनीतिक अधिकारी की जांच के अनुसार उसे संतुष्ट न कर सकेंगे। वे पश्चिम के मानवीय स्तर से पूर्व के अर्ध-जंगली न्याय की यूरोपियन दृष्टि में तुलना-सम्बन्धी जांच से डरते थे। सैयद नूर मुहम्मद ने कहा कि, "हमें आपका विश्वास नहीं और आपसे भय है कि आप हमारे सम्बन्ध में सब शिकायतें लिख देंगे जो किसी दिन हमारे ही विरुद्ध उपस्थित कर दी जाएंगी।" इसमें संदेह है कि शेरअली वायसराय की लच्छेदार भाषा और तर्कयुक्त पत्रों तथा स्मरण-लेखों को आधा भी समझ सका हो। इतना कल्पना-प्रवण व्यक्ति लिटन आश्चर्यपूर्वक कल्पनाशक्ति की कमी के कारण अमीर के ज्ञान की आवश्यक सीमा या उसकी शंकाओं का अन्दाज नहीं लगा सका। इन दिनों बाजारों में सामान्य रूप से यह कहा गया कि रूस और इंग्लैण्ड अफगानिस्तान के विभाजन के लिए सहमत हैं और इस सिद्धान्तहीन संधि पर एडिनबरा के ड्यूक की रूसी राजकुमारी से विवाह द्वारा मुहर लग चुकी है। लार्ड लिटन ने अपने पत्रों द्वारा इस बात को सिद्ध करने के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यत्न किये कि शेरअली दूत भेज कर रैजीडेन्ट अधिकारी के अफगानिस्तान में प्रवेश की अगाऊ स्वीकृति दे चुका है और अब भी अफगानिस्तान से ब्रिटेन के सम्बन्ध १८५५ की सन्धि द्वारा नियंत्रित हैं। लार्ड मेयो के प्रसिद्ध पत्र और लार्ड नार्थब्रुक के आश्वासनों का कोई महत्त्व नहीं रह गया। लिटन के इस कपटपूर्ण व्यवहार का प्रभाव अच्छा न हुआ। यह बहुत सम्भव है कि इस बात से शेरअली ने रूसी एजेण्टों से अधिक निकट सम्पर्क बनाया हो। यद्यपि यह स्पष्ट है कि यदि उसकी शक्ति में होता तो वह दोनों महान् यूरोपियन राष्ट्रों के साथ उलझने से बचता। मार्च में सैयद नूर मुहम्मद का पेशावर में देहान्त हो गया। लार्ड लिटन ने उतावलेपन में इस अवसर से लाभ उठाया और कांफ्रेंस की समाप्ति की घोषणा कर दी, जबकि तथ्य यह था कि मृत दूत का उत्तराधिकारी शेरअली के नवीन आदेशों सहित काबुल से आ रहा था। यद्यपि अफगान दरबार से बातचीत और पत्र-व्यवहार सर्वथा बन्द कर दिया गया था फिर भी लार्ड लिटन ने घोषणा-पत्र द्वारा अफगान जनता को यह आश्वासन दिया कि "जब तक वह अपने शासक अथवा दूसरों द्वारा उत्तेजना देने पर ब्रिटिश क्षेत्र अथवा ब्रिटिश सरकार के मित्रों के प्रति आक्रमण नहीं करेंगे तब तक बिना बुलाये किसी ब्रिटिश सैनिक को अफगानिस्तान में न घुसने दिया जाएगा।" बाद में यही शब्द उसके विरुद्ध उपस्थित किये गये। मई में वायसराय ने सन्धि के सम्बन्ध में अपना विवरण प्रतिभापूर्ण ढंग से लिखे पत्र में दिया। बाद में उसकी कठोर और उचित निन्दा यह कहकर हुई कि यह राज्य-पत्र होने के स्थान पर चातुर्यपूर्ण दलीलबाजी थी।

अब तक कोई भी असाध्य पग नहीं उठाया गया था। लार्ड लिटन की इस धारणा में पर्याप्त बल था कि मध्य एशिया की स्थिति को ध्यान में रखते हुए अफगानिस्तान से हमारे सम्बन्ध असंतोषपूर्ण हैं। यह खेदपूर्ण विषय है कि शेरअली हमारा दृष्टिकोण स्वीकार न कर सका। परन्तु वह एक स्वतन्त्र राजा था और यह संभवतः हमारे हित में भी सुविधापूर्ण न होता और हमें ऐसा कोई नैतिक अधिकार भी नहीं था कि उसे रूस से सम्बन्ध रखने से रोकते और उसको देश में अपना दूत रखने के लिए विवश करते। इतने पर भी लार्ड लिटन और ब्रिटिश सरकार ने अन्तिम रूप से यह मार्ग अपनाया। लारेंस की पुरानी नीति वस्तुतः छोटे और निर्बल राज्यों के अधिकारों को मान्यता देने पर आधारित थी। लिटन के विचारों को मानने वाले और उसके अनुयायी राजनीतिक औचित्य के कुटिल सिद्धान्त पर आश्रित रहे। सर जेम्स स्टीफन ने लिखा है कि "काबुल के अमीर और कलात के खान जैसे सरदार, यद्यपि वे साम्राज्ञी के प्रति किसी कर्त्तव्य या निष्ठा की दृष्टि से हम पर आश्रित नहीं तो भी उनसे इस स्पष्ट धारणा से व्यवहार करना चाहिए कि वे विशेष रूप से हमसे निम्न हैं और उनकी निम्नता इस सम्बन्ध में है कि हम उन्हें ऐसा कोई मार्ग ग्रहण नहीं करने दे सकते जो हमारे लिए संकट उपस्थित कर दे; इन राज्यों से सम्बन्धों का निश्चय इस तथ्य पर होना चाहिए कि हम अत्यधिक शक्तिशाली और सभ्य व्यक्ति हैं और वे मुकाबिले में निर्बल और जंगली हैं।"

जब पेशावर में कांफ्रेंस समाप्त हो गयी तो लिटन ने अपना ध्यान उत्तर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिमी सीमान्त के कबीलों की ओर लगाया और अपनी चौकियों को इनके क्षेत्र में से अफगानिस्तान के निकटतम ले जाने की उत्सुकता दिखायी। काश्मीर के महाराजा से "कम या अधिक गुप्त समझौते" से उसने गिलगित में ब्रिटिश एजेन्सी स्थापित की। यद्यपि इस काम के लिए चुने हुए कैप्टन कावगनेरी ने चेतावनी दी कि इस नीति से शेरअली से मेल-मिलाप की बात असंभव हो जाएगी। लार्ड लिटन की पुत्री ने उल्लेख किया है कि 'सीमान्त के उन पुराने अफसरों ने भी इस बात का विरोध किया, जो कूटनीति की किसी भी ऐसी प्रणाली को संदेह की दृष्टि से देखते थे जिसके लिए रहस्य और चालाकी की आवश्यकता हो।" सच तो यह है कि वायसराय के विरोधी उसकी नीति को पूर्णतया रहस्य और चालाकी से भरी हुई समझते थे। वे भूतपूर्व सीमान्त-नीति की प्रतीक सच्ची और खरी नीति को ही पसन्द करते थे। अपने मन्तव्य के अनुसार लार्ड लिटन इस समय भी निश्चय ही "अफगान राष्ट्र को निर्बल और छिन्न-भिन्न करने के लिए काम कर रहा था।"

परन्तु शेरअली का अत संसार की शक्तियों के विचित्र कार्यों के प्रभाव से दूसरे महाप्रदेश में हुई अशांतियों के कारण हुआ। १८७६ में सेरबियन और माण्टेनेग्रिन्स ने तुर्कों के कुशासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह किया। आगामी वर्ष अप्रैल में विद्रोहियों की सहानुभूति से रूस ने टर्की के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। १८७८ में उसकी सेनाएं बाल्कन को पार कर चुकी थीं। डिजराइली ने, जो कि अब बैकन्सफील्ड के लार्ड की पदवी ग्रहण कर चुका था, इंग्लैण्ड के हित का समर्थन करते हुए ओटोमान साम्राज्य की अखंडता की मांग की और इसकी पूर्ति में नौ तथा भू-सेना संघर्ष के लिए संसद् से ६० लाख पौण्ड का अनुदान प्राप्त किया। उसने भूमध्यसागर-स्थित सैन्य टुकड़ियों को दर्रा दानियाल को पार करने की आज्ञा दी। ब्रिटिश भय के कारण रूसियों ने कुस्तुनतुनिया पर आक्रमण नहीं किया और मार्च १८७८ में उसने सानस्टेफेनो की सन्धि वहां के सुलतान से की। परन्तु ब्रिटेन ने रूसियों की इस कूटनीतिक सफलता को प्रभावशून्य कर दिया। लार्ड बैकन्सफील्ड ने इस सन्धि की मान्यता को अस्वीकार कर दिया। उसने रक्षित सेना को बुलाया और टर्की की सहमति से साइप्रस पर अधिकार कर लिया तथा भूमध्यसागर-स्थित सेना को और कुमुक भेज दी। युद्ध केवल जर्मनी की मध्यस्थता से ही रुक सका। १८७८ के जून-जुलाई मास में बर्लिन में हुई राष्ट्रों की कांग्रेस में सानस्टेफेनो की संधि में इस ढंग से संशोधन किया गया जो रूस के पक्ष में ठीक नहीं था। सानस्टेफेनो और बर्लिन सन्धियों की शर्तों का अंतर ब्रिटेन के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध नहीं हुआ और रूसी सरकार लार्ड बैकन्सफील्ड के उत्तेजक और अमैत्रीपूर्ण रवैये से बहुत कुपित हुई। अत्यधिक तनाव के समय प्रधान मंत्री ने कुछ भारतीय सेना स्वेज नहर द्वारा माल्टा लाने का नाटकीय और व्यर्थ-सा ढंग अपनाया और रूसी सरकार ने स्वभावतः अपने देश के निकट भारतीय सरकार को उसकी युद्ध-समान हलचलों से निकलने के लिए मार्ग देने का निश्चय किया।

१३ जून को बर्लिन-कांग्रेस के आरंभ के प्रथम दिन ही जनरल स्टालेटोफ ताशकंद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से काबुल को चला। उसकी प्रगति को रोकने के शेरअली के जोरदार यत्न, बार बार दोहरायी लिटन की इस बात का सही उत्तर थे कि वह रूसी भावनाओं का समर्थन करता है। शेरअली ने अभ्यर्थना की और विरोध किया। उसने अक्षरशः वही युक्तियां तुर्किस्तान के गवर्नर-जनरल के समक्ष उपस्थित कीं जो वह ब्रिटिश भारत के वायसराय के समक्ष उपस्थित कर चुका था, और ताशकंद की कान्फ्रेंस के लिए अपने एक मंत्री को भेजने का वैसा ही प्रस्ताव उससे किया जैसा वह लार्ड लिटन से कर चुका था। उसका विरोध इस उत्तर द्वारा दबा दिया गया कि स्टोलेटोफ को अब वापिस नहीं बुलाया जा सकता और यदि उसे कोई क्षति पहुंची तो ज़ार शेरअली को उत्तरदायी ठहरायेगा। रूसी सरकार इस तथ्य के कारण अमीर पर दबाव डालने की स्थिति में थी कि उसका भतीजा अब्दुर्रहमान बहुत समय से उसके देश से पेंशन ले रहा है। उसे एक स्पष्ट संकेत दिया गया कि यदि वह हठ करेगा तो उसकी गद्दी का एक भयंकर विरोधी दावेदार खड़ा कर दिया जाएगा। शेरअली ने अनिच्छा से घुटने टेक दिये। उसके पतन के बाद काबुल में जो कागजात मिले, उनसे पता चलता है कि उसने रूस से स्थायी मैत्री और सहयोग संधि की थी। रूसी दूत के काबुल में पहुंचने के समाचार पर लिटन ने ब्रिटिश सरकार को तार द्वारा सूचना दी और आज्ञा प्राप्त हो जाने पर उसने शेरअली पर ब्रिटिश दूत को भी स्वीकार करने का दबाव इस आधार पर डाला कि वह ब्रिटिश दूत को भी वैसे ही स्वीकार करे जैसे रूसी दूत को, अन्यथा इससे भारत में हमारी स्थिति को हानि पहुंचेगी। शेरअली से यह भी कहा गया कि वह हमारी अनुमति के बिना किसी और राष्ट्र से सन्धि-वार्ता नहीं करेगा और अवसर आने पर उस से बातचीत के लिए ब्रिटिश अधिकारी भेजने के हमारे अधिकार को स्वीकार करेगा और हिरात में स्थायी ब्रिटिश एजेन्ट को रहने की भी मंजूरी देगा।

यह सारी कार्यवाही भयंकर भूल थी। यह स्पष्ट था कि काबुल में मिशन के प्रवेश के लिए अफगानिस्तान नहीं रूस उत्तरदायी था, और लार्ड लारेंस की युक्ति अनुसार यह रूस ही था जिससे इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण मांगा जा सकता था। बर्लिन सन्धि पर हस्ताक्षरों के बाद अफगान राजधानी में स्टोलेटोफ का निवास उचित रूप से अमित्रतापूर्ण काम कहा जा सकता है और सैण्ट पीटर्सबर्ग स्थित ब्रिटिश राजदूत को उसकी वापसी की मांग की आज्ञा दी जा सकती थी। निस्संदेह, ऐसी प्रार्थना शीघ्र ही स्वीकार की जाती क्योंकि जैसे ही स्टोलेटोफ ने जब यह सुना कि ब्रिटेन अपना मिशन भी भेजना चाहता है, वह उसी समय काबुल से चल दिया। रूस का कार्य यूरोप में ब्रिटिश नीति पर जवाबी चोट थी जिसने विजय के समय उसके कार्य में बाधा डाली थी। स्टोलेटोफ के पीछे हट जाने से ब्रिटिश अधिकारी के लिए अपनी अप्रतिपाद्य स्थिति से पीछे हटने का स्वर्ण अवसर उपस्थित हो गया था। वायसराय के लिए उचित मार्ग यह मानना था कि शेरअली ने रूस के पीछे हटने का स्वागत किया है, और साथ ही यह भी प्रयत्न करना था कि जिससे पुरानी मित्रता स्थिर हो जाती। दुर्भाग्य से लार्ड लिटन बर्लिन सन्धि पर यह आशा लगाये रहा कि "उससे हमारा उत्तरदायित्व समाप्त हो गया है और साथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही उससे हमारे प्रति कुछ कठिनाइयाँ पैदा करने और रूस से क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करने की शेरअली की आशाएं नष्ट हो गयीं।" ब्रिटिश मिशन की पहुंच की घोषणा के लिए ३० अगस्त को एक मुस्लिम दूत काबुल के लिए भेजा गया। अमीर के भक्त खैबर दर्रे के अफ्रीदियों को इस बात के लिए घूस दी गयी कि वे ब्रिटिश दूत और उसके रक्षक अमले को चला जाने दें। इस कार्य पर अमीर को आपत्ति करने का पूर्ण अधिकार था। अगस्त १८७८ में अभीष्ट पुत्र अब्दुल्ला जान की मृत्यु के समाचार के संताप ने अमीर के ज्ञान को जड़-मूल से ही हिला दिया और इससे कुछ देर हो गई, परन्तु लार्ड लिटन द्वारा चुना हुआ दूत सर नेवाइल चेंबरलेन कुछ दिन बाद पेशावर से चल पड़ा। अली मस्जिद नामक सुनसान चौकी पर आगे के रक्षक दल को एक अफगान अधिकारी मिला। उसने दल के नेता मेजर कावेगनरी को नम्रता परन्तु दृढ़तापूर्वक इस बात की सूचना दी कि वह उसे काबुल से आज्ञा मिले बिना आगे नहीं बढ़ने देगा। ब्रिटिश दूत को जब यह विश्वास हो गया कि यदि आगे बढ़ने का प्रयत्न किया गया तो अफगान शक्ति के प्रयोग के लिए भी तैयार हैं, वह पेशावर लौट गया।

लार्ड लिटन ने घोषणा की कि मिशन को बलात् लौटाया गया है—यह प्रकट है कि यह वक्तव्य तथ्यों के अनुकूल नहीं—और उसने इंग्लैण्ड की सरकार पर दबाव डाला कि युद्ध-घोषणा की स्वीकृति दे दी जाए। मंत्रिमंडल ने कुछ सप्ताह की देरी कर दी और दो नवम्बर को अमीर को अन्तिम चेतावनी दी गयी कि यदि वह आक्रमण के कोप से बचना चाहता है तो उचित रूप में क्षमा प्रार्थना करे और अफगानिस्तान में स्थायी ब्रिटिश मिशन के रहने की स्वीकृति दे। २० नवम्बर तक उत्तर न मिलने पर आक्रमण आरम्भ हो जाना था। वायसराय को उत्तर ३० नवम्बर को मिला। उस पर तारीख १९ नवम्बर की थी। इसमें मिशन के सम्बन्ध में शेरअली की स्वीकृति थी परन्तु यह अपर्याप्त घोषणा थी क्योंकि उसमें क्षमा प्रार्थना न थी। इस समय तक युद्ध आरम्भ हो चुका था। अन्तिम चेतावनी की अवधि समाप्त होते ही लार्ड लिटन ने अपनी सेनाओं की हलचल आरम्भ कर दी थी।

एक बार पुनः ब्रिटेन को अफगानिस्तान से युद्ध करना पड़ा। परन्तु इंग्लैण्ड में इस नीति का भयंकर और व्यापक विरोध हुआ। ग्लैडस्टन ने संसद् में किये गंभीर भाषण में लिटन की नीति की ऐसे शब्दों में निंदा की जो भूतकाल के संक्षिप्त विवरण थे और भविष्य के लिए सच्ची भविष्यवाणी होंगे। उसने कहा कि "हमने १८३८ में अफगानिस्तान से युद्ध करके एक भूल की थी। भूल स्वाभाविक है और क्षम्य है—परन्तु हमने दूसरी बार भूल की है जिसका आधार भी वही है। इतना विरोध होने पर भी युद्ध हुआ। उसमें कोई औचित्य नहीं। यह लोकोक्ति है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है। पहले युद्ध और अब के युद्ध में समानता है। भगवान् अशुभ न करें। भगवान् उस संकट की पुनरावृत्ति न करें जो १८४१ में हमारी सेनाओं पर आया।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ६

द्वितीय अफगान युद्ध

२१ नवम्बर को युद्ध-घोषणा के बाद अफगानिस्तान के तीन महत्त्वपूर्ण दर्रों में ब्रिटिश सेनाएं प्रविष्ट हो गयीं। सर सैम्युअल ब्राउन ने खैबर के घुमावदार मार्ग को पार कर अली मस्जिद पर अधिकार कर लिया और जलालाबाद की ओर बढ़ा। मेजर जनरल (बाद में लार्ड) राबर्ट्स कुर्रम घाटी से स्वाभाविक रूप से दृढ़ तथा ऊंचाई पर स्थित अड्डों की ओर बढ़ा जो पीवार दर्रे के प्रहरी हैं। उसने शत्रु को वहाँ से खदेड़ दिया। दक्षिणी किनारे की ओर से आक्रमण करने वाली सेना जनरल स्टीवार्ट के अधीन क्वेटा से बोलान दर्रे की राह कंधार की ओर बढ़ी।

विरोध बहुत कम प्रभावपूर्ण था। सारी अफगान जनता पर उदासीनता छा गयी। अभागे शेरअली ने जनरल कोफमान से सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास किया परन्तु चतुर रूसी अधिकारी ने एक मित्रवत् उसे चेतावनी दी कि अवसर मिले तो वह ब्रिटेन के साथ शान्ति सन्धि कर ले। दिसम्बर में अमीर ने अपने बड़े लड़के याकूब को कैद से मुक्त कर दिया और उसे अपनी शक्ति अनुसार आक्रान्ताओं से संधि की शर्तें निश्चित करने के लिए छोड़ कर स्वयं रूसी तुर्किस्तान में भाग गया। शेरअली ने कोफमान से सहायता की फिर से अपील की। लेकिन रूसियों का उत्तर यही था कि अफगानिस्तान पर इस समय आक्रमण करना उनकी शक्ति के बाहर है। उन्होंने सैण्ट पीटर्सबर्ग जाकर ज़ार के सामने अपने कष्ट रखने की इच्छा से भी उसे उत्साहित नहीं किया। रूस ने उसके लिए कुछ न किया, यद्यपि कहा जाता है कि लन्दन स्थित रूसी राजदूत ने ब्रिटिश सरकार से यह वचन लिया कि अफगानिस्तान की अखण्डता का आदर किया जाय। शारीरिक रोगों और मानसिक चिन्ता से जर्जर शेरअली २१ फरवरी को मज़ारे शरीफ़ में मर गया। एक निर्बल और अर्ध-जंगली पूर्वी राजा के प्रति दिखायी जा सकने वाली धारणा से उसके जीवन की कहानी एक शोकपूर्ण विवरण है, जबकि दुर्भाग्य से उसका देश दो शक्तिशाली और बढ़ते हुए पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य था। देश से बाहर कष्ट में उसकी मृत्यु पर न रूस ने, जिसने उसे झूठी आशाएं दिलायीं और न इंग्लैण्ड ने, जिसने प्रथम उस पर आघात किया और बाद में कष्ट दिया, कोई संतोष अनुभव किया। शेरअली एक योग्य व्यक्ति था। उसने अपनी योग्यता अपने अव्यवस्थित राज्य को एक राजनीतिक इकाई में लाकर प्रकट की परन्तु वह अपने शक्तिशाली पड़ौसियों की निष्ठुर और स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से व्यर्थ ही संघर्ष करता रहा। मन्त्रिमंडल ने याकूब खान को उसका उत्तराधिकारी मानने का निर्णय किया यद्यपि लार्ड लिटन अफगानिस्तान के टुकड़े करने को ही महत्त्व देता था। उसने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घोषणा की कि वहां के शासकों का झुकाव हमारी निजी शान्त और चौकस नीति के स्थान पर रूस की अत्यधिक चौकस, महत्त्वाकांक्षी और क्रियाशील नीति की ओर है। यह विवरण ऐसा था कि संभवतः शेरअली इसे समझ नहीं सका कि लार्ड लिटन के काल में ही यह बात ब्रिटिश नीति पर लागू होती थी।

मई १८७९ में गण्डमक नामक स्थान पर नये अमीर से एक सन्धि हुई। इसके अनुसार वह ब्रिटिश सरकार के परामर्श और इच्छा के विपरीत सम्बन्ध न रखने, काबुल में स्थायी ब्रिटिश रैजीडेण्ट के साथ हिरात और अन्य सीमान्तीय स्थानों पर एजेण्ट रखने, बोलान दर्रे के पास के पिसिन और सिबी जिलों तथा कुर्रम दर्रे को ब्रिटिश अधिकार में देने को सहमत हो गया। ब्रिटेन ने अपनी इच्छानुसार उसे धन, शस्त्र और सेना से सहायता करने का वचन दिया। ६ लाख रुपया वार्षिक सहायता देने का भी निश्चय हुआ। जाड़ों तक कंधार को छोड़कर शेष अफगानिस्तान से ब्रिटिश सेनाएं हटाने का निर्णय हुआ। गण्डमक की सन्धि लार्ड लिटन की अफगान नीति की विशालता है। उसने कहा कि इससे हमने युद्ध के सब ध्येय प्राप्त कर लिये। लार्ड बैकन्सफील्ड ने कहा कि हमने इससे अपने भारतीय-साम्राज्य के लिए वैज्ञानिक और उपयुक्त सीमा प्राप्त की। परन्तु उनका यह विजयोल्लास अल्पकालीन था। भारत सरकार को कटु अनुभव द्वारा एक बार फिर यह सीखना था कि यदि स्पष्ट रूप में अफगानिस्तान का कोई शासक किसी विदेशी राष्ट्र से समर्थन प्राप्त करता है तो उसके देशवासी उसे सम्मान और सहयोग देना बन्द कर देते हैं। वास्तविक स्थिति के प्रति वायसराय कितने अज्ञान में था, यह उसके इस बयान से पता चलता है कि "जो मार हमने शेरअली को लगायी है उसके कारण अफगान लोग हमें चाहेंगे और मान करेंगे।" एक महीने बाद जब ये शब्द लिखे जा रहे थे, अशुभ घटाएं घिर रही थीं और बर्न्स तथा मैकनगटन का भाग्य सर लूइस कवागनरी पर निर्भर था कि जो २४ जुलाई को ब्रिटिश रेजीडेंट के रूप में काबुल में प्रविष्ट हुआ और अपने पूर्वाधिकारियों की तरह भय के अशुभ लक्षणों के प्रति आँखें बंद किये रहा।

दो सितम्बर को कवागनरी ने वायसराय को एक तार दिया जिसमें यह शब्द थे, "सब कुशल है।" अगले दिन विद्रोही और बेकाबू अफगान सेना ने रैजीडेंसी पर आक्रमण किया और दूत को सारे रक्षक अमले के साथ क़त्ल कर दिया। याकूब खान या तो किसी तरह का हस्तक्षेप करने के अयोग्य था अथवा हत्यारों से उसकी गुप्त सहानुभूति थी, उसने किसी भी अवस्था में दूतावास को बचाने का प्रयत्न नहीं किया। यह संकट वायसराय के लिए एक भयंकर धक्का था। उसने लिखा है कि, "नीति का जो जाल सावधानी और धैर्यपूर्वक बुना गया था, बुरी तरह भंग कर दिया गया। पिछले युद्ध और सन्धि-वार्ता में जो कुछ मैं बहुत चिन्तापूर्वक बचाता रहा वह अब भाग्य ने कर दिखाया।" ब्रिटिश सेनाओं की हलचल एक बार फिर आरम्भ हो गयी। सर डोनाल स्टीवार्ट ने कन्धार पर फिर अधिकार किया। जनरल राबर्ट्स एक बार फिर कुर्रम घाटी से काबुल पहुंचा। वह चारास्याब में विद्रोहियों को पराजित करते हुए और रैजीडैन्सी के आक्रमण में किसी प्रकार का भाग लेने वालों को कठोर दंड

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देता हुआ १२ अक्तूबर को काबुल में प्रविष्ट हुआ । याकूब खां सम्भव व्यवहार से डरता हुआ उसके काबुल पहुंचने से पूर्व ही ब्रिटिश सेना के संरक्षण में चला गया। उसने सिंहासन त्याग दिया और अपने को ब्रिटिश सुरक्षा पर यह घोषित करते हुए छोड़ दिया कि ऐसी स्थिति में मैं अफगानिस्तान का शासक होने के स्थान पर इंगलिश कैम्प में घसियारा बनना पसन्द करूंगा । बाद में उसके सम्बन्ध में जांच-पड़ताल हुई। यद्यपि वह हत्या में सहयोग के अपराध से बच गया, पर यह घोषित किया गया कि वह दूत की मृत्यु के प्रति "अपराधी रूप में उदासीन" रहा। उसे शाही बन्दी के रूप में भारत भेज दिया गया । यह अनुभव किया गया कि किसी भी अवस्था में उसका फिर गद्दी पर बैठना असम्भव होगा ।

भारत सरकार को अब बहुत कठिन परिस्थिति का सामना करना था। अफगानिस्तान में अव्यवस्था फैल गयी थी और वहां कोई सरकार न थी जिससे सन्धि की बात की जाती। शीत ऋतु में काबुल के गिर्द भयंकर लड़ाई हुई और राबर्ट्स बड़ी कठिनाई से भारत सरकार से सम्बन्ध रख सका। दिसम्बर १४ से २४ तक निश्चय ही इन दस दिनों में सारे संचारसम्बन्ध कटे रहे। उसे विवश होकर काबुल और प्रसिद्ध दुर्ग बालाहिसार को खाली करना पड़ा और उसने शेरपुर की रक्षा-पंक्तियों में प्रश्रय लिया। वहां पर एक लाख कबाइलियों ने उसे घेर लिया। १८८० की बसन्त में कन्धार से चलता हुआ और बागियों को अहमद खेल में पराजित करता हुआ स्टीवार्ट काबुल में राबर्ट्स से आ मिला। यह स्पष्ट था कि इन दो नगरों की मध्य रेखा के पूर्व अफगानिस्तान के छोटे से भाग पर ही प्रभावपूर्ण ब्रिटिश-अधिकार रह गया था । सारे देश को जीतने के लिए अत्यधिक व्यय करना पडा और सेना में बेहद वृद्धि के बिना यह असम्भव भी था, जबकि उस देश में किसी वैधानिक अधिकारी को छोड़े बिना वहां से हटना ब्रिटिश प्रभाव के लिए घातक सिद्ध होता । लार्ड लिटन के परामर्श पर अन्तिम रूप से यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी अफगानिस्तान को शेष भाग से स्थायी रूप में पृथक् कर दिया जाए। कंधार का प्रान्त काबुल से पृथक् कर दिया गया और एक स्वतन्त्र सरदार शेरअली खान को दे दिया गया। भारत सरकार ने आवश्यकता के समय उसे सैन्य सहायता देने का भी वचन दिया। अभी काबुल और उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान के सम्बन्ध में कठिनाई शेष थी और यह अन्त में अप्रत्याशित और बड़े अच्छे प्रकार से हल हो गयी। लार्ड लिटन ने लिखा कि "अब्दुर्रहमान में हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो मेंढ़ा घने जंगल में फंस गया हो।" शेरअली का भतीजा और अफजल खान का लड़का, यह आदमी जो कि १८६६–७ में १७ महीने तक शासन कर चुका था, एकाएक उत्तरी सीमा पर प्रकट हुआ। १८७० से वह रूसी सुरक्षा में ओक नदी के परले पार अदृश्य रहा था। अब उसके संरक्षकों ने ब्रिटिश सरकार को गड़बड़ में डालने की स्पष्ट धारणा से छोटे-छोटे दल सहित उसे अपनी जन्म-भूमि में अपना भाग्य परीक्षण करने भेजा। लार्ड लिटन ने पहले ही जांच कर ली थी और जान-बूझकर उसने अफगान राजगद्दी के अनेक उम्मीदवारों के अधिकार को नहीं माना था। अब उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान में उसे खुली छूट दे देने और यदि जनता उसे स्वीकार करे तो उसे अमीर मानने में लार्ड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिटन ने बहुत ही साहसपूर्ण पग उठाया । उस समय यह नीति अन्धकार में एक बड़ी छलांग के समान थी। वस्तुतः उस समय यह बात बहुत संकटपूर्ण दीखती थी परन्तु इसका औचित्य इसकी सफलता से सिद्ध हुआ। अब्दुर्रहमान तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता युक्त और दूरदर्शी था। वह अपने समय का एशियायी महापुरुष था। रूसी सहायता पर अवकाश-प्राप्त व्यक्ति के समान ११ वर्ष के एकान्त में उसने अपने संरक्षकों के ढंग और राजनीतिक आदर्शों की परीक्षा कर चुका था, यद्यपि वह निजी रूप में देश-निर्वासन के समय शरण देने के लिए उनके प्रति कृतज्ञ था । उसने विशेष अंतर्दृष्टि से यह पहचान लिया कि बहुत सम्भव है कि ब्रिटेन अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता के प्रति सच्चा मित्र सिद्ध हो, भले ही उसका पिछला व्यवहार संदेहपूर्ण रहा था। उसे आरम्भ से ही बहुत सतर्क होकर चलना था क्योंकि इस बात का पर्याप्त भय था कि कहीं ब्रिटिश (जैसा कि कुछ ने ऐसा समझा) लोग उसके आचरण से सन्देह न करें। अपने उत्कृष्ट संस्मरणों में वह कहता है कि, "स्पष्ट रूप से मैं उनकी ओर मित्रता प्रदर्शित करने में असमर्थ था और ऐसा करना आवश्यक भी था क्योंकि मेरी जनता मूढ़ धर्मान्ध थी। यदि मैं अंग्रेजों की ओर थोड़ा भी झुकाव दिखाता तो वह मुझे नास्तिकों के साथ मिलने के कारण नास्तिक कहती।" भले ही वह हमारे प्रस्तावों को स्वीकार करता था पर वह इस बात के लिए विवश था कि अपने देशवासियों में संदेह का ऐसा आधार उत्पन्न न होने दे कि उसका राज्य ब्रिटिश संगीनों के बल पर ही स्थित है। इसीलिए वह हमसे साधारण और भद्दे ढंग से व्यवहार करता था । इस प्रकार वह यह प्रकट करता था कि सुविधाएं अनुदान में मिलने के स्थान पर हमसे छीनी गयी हैं। उस समय और उसके बहुत देर बाद तक अफगान लोगों की हमारे प्रति घृणा और जानबूझकर हमारे आंख बन्द कर लेने से अब्दुर्रहमान का राज्य पर अधिकार कर लेना और धीरे-धीरे अपनी प्रजा पर काबू पाकर हमारा सहयोग और सुरक्षा प्राप्त करना आधुनिक एशिया के इतिहास में बहुत ही अद्भुत कार्य हैं।

परन्तु उसकी योजना के क्रियात्मक रूप में आने से पहले ही लार्ड लिटन ने त्यागपत्र दे दिया । अप्रैल १८८० के आम चुनावों में अनुदार सरकार की भारी पराजय हुई। लार्ड बैकन्सफील्ड के बाद ग्लैडस्टन प्रधान मंत्री और लार्ड हार्टिंगटन लार्ड क्रेनब्रुक (सालिसबरी का उत्तराधिकारी) के स्थान पर भारत मंत्री बना। साधारण रूप में इंग्लैण्ड की सरकार बदलने पर किसी भी वायसराय से त्यागपत्र की आशा नहीं की जाती थी परन्तु विदेश और भारतीय नीति के कारण अनुदार सरकार की संसद् और देश में कटु आलोचना हुई। लार्ड हार्टिंगटन ने स्वयं वर्णित किया है कि "वायसराय ही भारतीय नीति का निर्माता और अंग था; भारतीय नीति को ऐसा नहीं होना चाहिए था।" जब लार्ड लिटन को चुनाव द्वारा दिये राष्ट्र के निर्णय का पता चला तो उसने पद त्याग दिया। शासन के अन्य कार्यों पर विचार से पहले अफगान संधि की कहानी को पूरा करना सुविधाजनक होगा। उदार सरकार की नीति की रूपरेखा हार्टिंगटन के मई और नवम्बर १८८० के प्रलेखों में इस प्रकार वर्णित है:—"यह प्रकट होता है कि दो सफल संघर्षों, अत्यधिक शक्ति और भारी धन राशियों के व्यय से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब तक यह हासिल हुआ कि जिस अफगानिस्तान को हम दृढ़, मित्रतापूर्ण और स्वतन्त्र देखने की इच्छा करते थे वह छिन्न-भिन्न हो गया। साथ ही इसके एक प्रान्त के सम्बन्ध में नया और अप्रिय उत्तरदायित्व मिला तथा शेष सारे देश में अराजकता।" इसलिए सरकार "भारत के भूत, वर्तमान और हाल ही के महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञों और भारतीय नीति के लिए ब्रिटिश सम्राट् के प्रति उत्तरदायी प्रत्येक मन्त्री के मत से सहमत होते हुए यह विश्वास करती है कि अफगानिस्तान के घरेलू कार्यों में हस्तक्षेप के जो फल हुए वे स्पष्ट रूप में वही हैं जो लार्ड लिटन की नीति के विरोधियों ने पहले ही भांप लिये थे और जिनका भय प्रकट किया था।" लार्ड हार्टिंगटन ने आगे कहा है कि "यदि अफगानों को कभी अपने ब्रिटिश पड़ौसी के स्थान पर रूस और ईरान की ओर अधिक मित्रता से देखने को छोड़ दिया जाता तो जिस स्वतन्त्रता के लिए हमारी अब तक की नीति उन्हें प्रेरणा करती रही है, उसका अन्त होना स्वाभाविक था।" इसलिए मंत्रि-मंडल का ध्येय यह है कि "जितना सम्भव हो सके युद्ध से पहले की स्थिति उत्पन्न की जाए और लार्ड रिपन को शान्तिपूर्ण स्थिति पैदा करने के लिए वायसराय के रूप में भेजा गया।" उत्तराधिकार के सम्बन्ध में लार्ड लिटन की नीति स्वीकार कर ली गयी और जुलाई में अब्दुर्रहमान को औपचारिक रूप में काबुल का अमीर स्वीकार कर लिया गया। उसकी मान्यता के सम्बन्ध में केवल एक ही शर्त रखी गयी कि अमीर अंग्रेजों को छोड़ किसी विदेशी राष्ट्र से राजनीतिक सम्बन्ध न रखेगा और पिशिन तथा सिबी के ज़िले अंगरेजों के पास रहेंगे। जब तक अब्दुर्रहमान पहली शर्त का पालन करता रहेगा, ब्रिटिश सरकार किसी विदेशी आक्रमण को रोकने के लिये उसकी सहायता करती रहेगी। युद्धाशय वाली नीति निश्चित रूप से छोड़ दी गयी थी। उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान से पश्चिमी अफगानिस्तान को पृथक रखने की संधि के प्रति कुछ काल तक लार्ड रिपन ने अपने आपको कंधार के शासक से हुई सन्धि से बद्ध समझा। परन्तु उसने यह सब अनिच्छा से ही किया और साथ ही घटना-क्रम ऐसा चला कि उसे लार्ड लिटन की नीति के अन्तिम अंश को भी छोड़ने का बहाना मिल गया।

चूंकि हिरात इस समय शेरअली के पुत्र अयूब खान के अधिकार में था, इसलिए अब्दुर्रहमान को बहुत छोटा-सा राज्य मिला। काबुल, कंधार और हिरात के स्वतंत्र शासकों ने कठिन समय उत्पन्न कर दिया था और अफगानिस्तान से ब्रिटिश सेना के हटने से पूर्व ही युद्ध भड़क उठा। जून में अयूब खान ने हिरात से कंधार पर आक्रमण किया और माईवंद में उसने जनरल बरोज के अधीन एक ब्रिटिश सेना पर विजय प्राप्त की। पूर्वी सेना द्वारा यूरोपियन सेना पर यह एक अपूर्व विजय थी। अंग्रेजों के ९१४ सैनिक मारे गये और उन्हें पूरी तरह पीछे धकेल दिया गया। हमारे दृष्टिकोण से युद्ध का केवल उज्ज्वल पक्ष ६६वीं रैजीमेंट के १०० अफसरों और सैनिकों का उत्कृष्ट चरित्र था। निराशापूर्ण स्थिति में घिरे हुए और संख्या में बहुत कम होने पर भी उन्होंने शत्रु को बहुत क्षति पहुंचायी और ११ व्यक्तियों के बचने तक वे एकाकी स्थिति में दृढ़ बने रहे। उसके बाद ये बचे हुए सैनिक शत्रु के आमने-सामने आ गए और युद्ध करते हुए मारे गये।" सरकारी संदेश में कहा गया था कि "साम्राज्ञी और देश के प्रति भक्ति तथा इससे अधिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेष्ठ वीरता का उदाहरण इतिहास में कठिनाई से मिलेगा।" अपनी विजय के बाद अयूब खान कंधार पर आक्रमण के लिए बढ़ा। स्टीवार्ट ने काबुल से राबर्ट्स को संधि के अनुसार अपने मित्र के बचाव के लिए भेजा। राबर्ट्स ने १० हजार सैनिकों के साथ ३१३ मील के ऐतिहासिक और थोपे गये अभियान को २० दिन में पूर्ण किया। यह अद्भुत सैनिक कार्यवाही थी और कंधार के युद्ध में उसने अयूब खान को पूरी तरह पराजित किया। इन विरोधों की एकाएक आवृत्ति हो जाने के बावजूद भी पूर्व-निश्चित तारीख पर स्टीवार्ट ने अपनी सेनाएं काबुल से हटा लीं। १८८१ में सरकार ने जब कंधार खाली करने का निश्चय किया तब तक कुछ माह के लिए राबर्ट्स वहां रहा। शेरअली खान की सहायता की हमारी प्रतिज्ञा एक जटिल बन्धन था परन्तु उसे प्रेरणा की गई कि वह राजगद्दी त्याग दे और भारत चला जाए। यद्यपि कंधार खाली करने के काम का 'अग्रगामी' नीति के समर्थकों ने कड़ा विरोध किया और उच्च संसद में लिटन ने विरोध में महत्त्वपूर्ण भाषण भी दिया परन्तु इस नीति की सफलता ने इसकी पुष्टि की। अब्दुर्रहमान ने अपने पूर्वजों के राज्य का विभाजन कभी समबुद्धि से स्वीकार नहीं किया था परन्तु सब कार्यों से अधिक, कंधार की पुनर्प्राप्ति ही ब्रिटेन से उसके सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हुई। कुछ समय के लिए उसे यह संकट प्रतीत होता था कि उससे कंधार और काबुल छिन जाएंगे। और जब ब्रिटिश सेनाएं वहां से रवाना हो गईं तो अयूब खान ने हिरात से फिर आक्रमण किया और कई महीने तक कंधार पर अधिकार रखा। अब्दुर्रहमान काबुल से उसके साथ लड़ने गया। भारत सरकार बहुत उद्विग्नता से घटनाओं को देख रही थी। अब तक अमीर को अपना युद्ध-कौशल दिखाने का बहुत कम अवसर मिला था जबकि उसका प्रतिपक्षी माईवंद की सारी शान के साथ लड़ने आया था। कुछ का ही विचार था कि अब्दुर्रहमान विजयी हो सकेगा। जब उसने सितम्बर में कंधार के निकट पूर्ण विजय प्राप्त की तो उन्हें बहुत संतोष हुआ। अयूब खान देश से बाहर ईरान में भाग गया। हिरात और कंधार विजयी के अधिकार में आगये। उसने इस प्रकार शेरअली और दोस्त मुहम्मद के प्रदेशों को संयुक्त कर दिया और इसके अनन्तर अपनी बेकाबू प्रजा पर बड़ी सफलता से राज्य करता रहा।

इस प्रकार मध्य एशिया की प्रधानता और श्रेष्ठ राज्य के राजस्व की भारत के नाम वसीयत का लार्ड लिटन का कल्पित मनोरथ समाप्त हो गया। ऐसे कल्पित राजनीतिक स्वप्न कभी पूर्ण नहीं होते। यह राजनीतिज्ञ की बजाय एक चंचल-वृत्ति मनुष्य के लक्षण हैं। लार्ड बैकन्सफील्ड के अन्तिम भाषण के प्रसिद्ध शब्द प्रकट करते हैं कि भले ही देर से पर अन्त में उसने भी अफगान युद्ध से मिली शिक्षा को स्वीकार किया। उसने कहा है कि "भारत की कुंजी मर्व, हिरात या कंधार में नहीं। उसकी कुंजी लन्दन में है। राजा और राज्याधिकार, आपके संसद् की भावना तथा उत्साह स्वतन्त्र, चतुर और दृढ़ धारणा वाले लोगों के अखूट साधन ही भारत की कुंजी हैं।"[1]

---

१. जब यह अध्याय छप रहा था, मि० जी० ई० बकले लिखित "डिजराइली की जीवनी" प्रकाशित हुई। अब तक के अप्रकाशित पत्र और लेख उसमें प्रकाशित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए। उनसे १८७४–८० की अनुदार सरकार की अफगान नीति पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है और वे युद्ध के लिए लार्ड लिटन के उत्तरदायित्व को और भी दृढ़ करते हैं। अन्तिम समय में तो मन्त्रियों ने युद्ध में उलझाने वाले कार्यों को दृढ़ता से अस्वीकृत किया। बैकन्सफील्ड और सालिसबरी ने खुले रूप में अपने सहयोगी का समर्थन किया है परन्तु चैंबरलेन मिशन भेजने में जल्दी करने के उसके कार्य की निन्दा की है। सितम्बर १८७८ में प्रधान मंत्री ने लार्ड क्रेन ब्रुक को लिखा था कि "हमने उसको (लिटन) कहा था कि जब तक रूस से हमारे आक्षेप का उत्तर नहीं आ जाता, वह रुके। मैं इस पर बहुत दृढ़ था, और मेरी सम्मति के लिए मेरे पास कारण थे। उसने हमारी आज्ञा न मानी। लार्ड सालिसबरी ने मुझे आश्वासन दिया था कि किसी भी अवस्था में खैबर दर्रे से जाने का यत्न नहीं किया जायगा। इस पग के लिए मुझे कोई भी बात बाध्य नहीं कर सकती थी। उसे कहा गया था वह कंधार की ओर से मिशन भेजे। उसने खैबर से भेज दिया।"

बैकन्सफील्ड ने लिटन के संदेशों और घोषणाओं की प्रशंसा की और यह कहा कि "मैं लिटन की साधारण नीति से पूर्णतया सहमत हूं।" मैं सदा जड़ता का विरोध करता रहा हूं परन्तु उसने यह माना कि साम्राज्य का व्यापक हित रूस से शान्ति में है। उसने अक्तूबर में सालिसबरी को लिखा कि "लिटन की नीति उस अवस्था में ठीक थी यदि रूस आक्रान्ता होता, पर वह आक्रान्ता तो था नहीं।

२५ अक्तूबर को मंत्रिमंडल की बैठक की साम्राज्ञी को दी गयी बैकन्सफील्ड की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि सरकार बहुत ही अनिच्छा से इस युद्ध में सम्मिलित हुई। लार्ड कैरन्स, सर स्टैफर्ड नार्थकोट, क्रास और लार्ड सालिसबरी सभी युद्ध के विरोधी थे। प्रधान मंत्री के अनुसार सालिसबरी का कहना था कि वायसराय सरकार को इस काम के लिए बहुत पहले से विवश कर रहा था। उसे केवल भारत का ही ध्यान था और अपने कार्यों से यूरोप और टर्की में सरकार की विदेश नीति वह अपने कार्यों से निर्देशित कर रहा था। उसने दो बार आज्ञाओं का उल्लंघन किया। पहली बार खैबर दर्रे की कार्यवाही के सम्बन्ध में, दूसरी बार ऐसा न करने की आज्ञाओं के विपरीत रूस से उत्तर मिलने से पहले ही मिशन भेज कर। उसने (सालिसबरी) बहुत कटुतापूर्ण शब्दों में वायसराय के कृत्यों का वर्णन किया, और कहा कि "यदि उसे रोका न गया तो वह भयंकर विनाश उपस्थित कर देगा।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ७

लार्ड लिटन के अधीन आभ्यन्तरिक शासन-प्रबन्ध

अफगान युद्ध के अतिरिक्त लार्ड लिटन के वायसराय काल की दूसरी मुख्य घटना १८७६–८ का अकाल थी। जनहानि के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक भयंकर था। यह कष्टप्रद रूप में लंबे दो वर्ष तक चला। इसका प्रभाव अधिकांश दक्षिण भारत, मद्रास, बंबई, हैदराबाद और मैसूर तथा दूसरे वर्ष में भारत के मध्य भागों और पंजाब पर रहा। इसके बाद ताप और हैजे की आपत्तियां आईं। बिहार के १८७४ के स्थानीय अकाल की अपेक्षा, जिसे लार्ड नार्थब्रुक ने दूर किया था, इस प्रकार की दैवी आपत्ति को दूर रखना असंभव था, और न ही भारत सरकार इतने विस्तृत क्षेत्र पर आनुपातिक रूप में इतना अधिक व्यय करने की भलीभांति सोच ही सकती थी। कुछ आलोचकों ने अतिशयोक्ति के साथ कहा है कि समुचित मितव्ययता को दृष्टि में रखते हुए जानें बचाने के यत्न किये गये, किन्तु 'इंथीरियल गजटियर आफ इंडिया' में लेखक कहता है," इस अवसर पर सामान्यतया सहायता सम्बन्धी प्रयत्नों को जितनी उपेक्षा बिहार में की गई थीं, उतनी ही कठोरता से यहां लागू किए गए। मद्रास में अधिकारियों ने सहायता का अत्यधिक उदार ढंग अपनाया परन्तु लार्ड लिटन ने उनकी प्रणाली की सूचना देने के लिए सर रिचर्ड टैम्पल को वहां भेजा और ग्रीष्म ऋतु में वह स्वयं वहां गया। उसका निजी मत था कि सहायता के फिजूल-खर्चीपूर्ण ढंग अपनाये गये। वे न केवल अपव्ययपूर्ण ही थे वरन् बंबई की अपेक्षा लोगों को बचाने में भी कम प्रभावपूर्ण थे। उसने लिखा था, कि "हम प्रकृति के साथ एक उग्र युद्ध कर रहे हैं और हमारी युद्ध रेखा मद्रास में पूर्ण रूप से भंग हो चुकी है। यद्यपि भारतीय कोष और धर्मार्थ फंडों से एक करोड़ दस लाख पौंड व्यय कर दिया गया तो भी अकेले ब्रिटिश क्षेत्र में ५० लाख से अधिक व्यक्ति मरे। अस्थायी रूप से २० लाख एकड़ भूमि में खेती नहीं हुई और कोष को २२५०००० पौण्ड लगान की हानि हुई।

निश्चय किया गया कि भारत सरकार अब से प्रत्येक अकाल में, जैसा कि अब तक होता आया था, अशास्त्रीय ढंग से काम नहीं करेगी परन्तु निरोधात्मक उपाय पहले से ही करती रहेगी। इस कार्य की पूर्ति के लिए दो ढंग अपनाए गए। जनरल रिचर्ड स्ट्रेची की प्रधानता में अकाल आयोग बनाया गया। उसने अकालों और सहायता देने के सारे प्रश्न पर विस्तृत जांचपड़ताल की और भविष्य में पथ-प्रदर्शन के लिए नियम बनाए। प्रमुख सिद्धान्त यह अपनाया गया कि शरीर से समर्थ लोगों को सहायता कार्यों में इतना पारिश्रमिक देकर काम किया जाए जिससे स्वास्थ्य स्थिर रह सके। धर्मार्थ सहायता केवल असमर्थ लोगों को ही देने का निश्चय हुआ। दूसरे यह निश्चय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ कि बजट में सामान्य राजस्व से पृथक् प्रति वर्ष १५ लाख पौंड अतिरिक्त रखे जाएं। इस अतिरिक्त राशि में से कुछ तो प्रान्तीय ऋण को कम करने और रोकने में व्यय होना था, जिससे समयांत्तर अकाल पड़ने पर जो विशेष व्यय होता था उसे सहन किया जा सके। और कुछ भाग उन जिलों में रेलपथ और नहरें बनाने के लिए रखा गया जहां प्रायः सूखा पड़ता था। व्यापार और धन्धों पर लाइसैंस कर और भूमि पर नए उपकर लगाकर यह राशि प्रति वर्ष दो सौ पौंड तक बढ़ा ली गयी। वी० ए० स्मिथ का कहना है कि "अकाल नीति के सम्बन्ध में अच्छी तरह विचारे गये और बलपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त गम्भीर दृष्टिकोण के लिए लार्ड लिटन प्रशंसा का अधिकारी है। अकाल सम्बन्धी प्रबन्ध का वर्तमान ढंग उसी द्वारा रखे गये आधार पर स्थित है।"

लार्ड लिटन का काल महान् राजकोषीय सुधारों के कारण प्रसिद्ध है। ये सुधार सर जान स्ट्रेची ने किये थे। उसने १८७६ में वायसराय के कहने पर उसकी कौंसिल में वित्त सदस्य होने के लिए पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के लैफ्टी० गवर्नर के पद को छोड़ दिया था। भारत में आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन नमक कर है। अब तक यह विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न दरों में लागू था। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में चोरी से ले जाने और देशीय राज्यों में से ब्रिटिश क्षेत्र में बिना कर दिये नमक के आयात को रोकने के लिए, सिंधु स्थित अटक से दक्षिण में महानदी तक २५०० मील की दूरी में चुंगी चौकियों की दीवार खड़ी कर दी गयी। इस क्षेत्र में १२ हजार राजस्व अधिकारियों की सेना चक्कर लगाती थी। भारतीय वित्त मंत्री बहुत देर से इस आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना चाहते थे परन्तु इसके लिए दो बातें आवश्यक थीं। एक देशी राज्यों में नमक उत्पादन को नियन्त्रित करना, दूसरे विभिन्न ब्रिटिश प्रान्तों में नमक कर एक समान करना। इन कार्यों के विचार से कुछ प्रारम्भिक पग लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक के समय रक्षित सरदारों के साथ बातचीत द्वारा उठाये जा चुके थे। इस प्रकार लार्ड नार्थब्रुक दक्षिणी किनारे पर एक हजार मील की चुंगी रेखा कम कर सका। अब सर जान स्ट्रेची ने अन्य नमक उत्पादन करने वाली देशी रियासतों से बात की और क्षतिपूर्ति के बदले में उन्होंने नमक उत्पादन का नियंत्रण सरकार को दे दिया। यद्यपि नमक शुल्क में समानता लाने के लिए वह राजस्व का अधिक भाग बलिदान नहीं कर सका परन्तु उसे इतना कम कर दिया कि एक प्रान्त से दूसरे में ले जाने में कोई लाभ न रह गया। इस प्रकार उसने १५०० मील की शेष चुंगी पंक्ति को भी समाप्त कर दिया।

सर जान स्ट्रेची ने भारत में मुक्त व्यापार चालू करने की दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण प्रगति की। १८७८ के टैरिफ में से देश के अन्दर की चुंगियों पर लगने वाला चीनी शुल्क हटा दिया और २१ वस्तुओं पर से आयातशुल्क भी समाप्त कर दिया गया। उसकी और वायसराय की यह दृढ़ इच्छा थी कि भारत को विश्व-व्यापार के लिए मुक्त बन्दरगाह बनाया जाए। इसकी पूर्ति में रुकावट का एकमात्र कारण यह था कि अफगान युद्ध और अकालों ने उनके आयस्रोतों पर बहुत भार डाल दिया था जिसके कारण राजस्व में और कमी असम्भव हो गयी। भारतीय बंदरगाहों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कपड़े पर मूल्य के अनुसार अब तक लगने वाले ५ प्रतिशत आयातशुल्क के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया । लंकाशायर के वस्त्रनिर्माता इसकी समाप्ति के लिए बहुत देर से यत्नशील थे । जुलाई १८७७ में हाउस आफ कॉमन्स ने एकमत यह प्रस्ताव पास कर दिया कि भारत में आयात होने वाले कपड़े पर जो शुल्क अब तक लगते हैं और जो रक्षित ढंग के हैं, वे उन्नत व्यापार नीति के विरुद्ध हैं, और भारत की वित्त स्थिति के अनुकूल होते ही उन्हें शीघ्र हटा दिया जाए । शुल्कों में किसी प्रकार के संशोधन का व्यापक और कुछ अधिकारियों की ओर से भी विरोध हुआ । वायसराय की कौंसिल के बहुमत ने परिवर्तन का इस आधार पर जोरदार विरोध किया कि शुल्क हटा देने का यह उपयुक्त समय नहीं । उन्होंने कहा कि इसका वास्तविक संरक्षित प्रभाव नहीं रहेगा । इस सुझाव के सम्बन्ध में उनका यह मत था कि यह न तो भारत के हित में है और न इंग्लैण्ड के । यह केवल राजनीतिक दलों के हित अथवा कल्पित हित में है—जिनके नेता प्रत्येक मूल्य पर लंकाशायर के वस्त्र-निर्माताओं से राजनीतिक समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं ।[1] परन्तु इसमें बहुत कम संदेह है कि वायसराय और ब्रिटिश मंत्रिमंडल को यह पूर्ण विश्वास था (क्योंकि उस समय संकुचित राजनीतिक मितव्ययिता चुनौती रहित थी) कि भारतीय और ब्रिटिश हितों में कोई वास्तविक संघर्ष नहीं और दोनों का ही लाभ आयात-शुल्कों को समाप्त करने अथवा कम करने में है । तदनुसार १८७९ में मोटे घटिया कपड़े पर से शुल्क हटा दिये गये । इस कार्य की पूर्ति के लिए वायसराय अपनी कौंसिल के बहुमत के विरुद्ध कार्य करने के लिए अपने वैधानिक अधिकार को प्रयोग में लाने को विवश हुआ । आधुनिक काल में इस विशेष अधिकार को प्रयुक्त करने का यही एक उदाहरण है । मुक्त व्यापार नीति के विशुद्ध लाभप्रद दृष्टिकोण से शुल्कों के हट जाने के बाद समुद्री व्यापार का विस्तार आवश्यक था । १८७९ में दक्षिण-भारत एग्रीकल्चरल रिलीफ एक्ट, जिससे साहूकार के किसान की भूमि पर ऋणार्थ रोक के अधिकार की समाप्ति हुई, से पता चलता है कि वायसराय और उसकी कौंसिल अपनी हस्तक्षेप न करने की नीति को लागू करने में केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं थे ।

१८७७ में प्रान्तीय सरकारों को निश्चित राशि के स्थान पर राजस्व का कुछ भाग सरकारी कोष से दिया गया । इस प्रकार सर जान स्ट्रेची ने वित्त-केन्द्रीकरण नीति की पद्धति को विस्तृत और उन्नत किया जो १८७० में उस और उसके भाई के परामर्श से लार्ड मेयो ने आरम्भ की थी । सर्वांश रूप में उसका वित्तमंत्री-काल भारत के आर्थिक इतिहास में प्रसिद्ध है जिसका महत्त्व केवल एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण बड़ी भूल ने कम कर दिया । वायसराय के कथनानुसार मई १८८० में भयंकर रहस्य खुला कि सेना द्वारा तैयार किये और वित्त विभाग द्वारा स्वीकृत युद्ध के खर्च के अनुमान पूर्णरूप से व्यर्थ और बहुत बढ़े हुए थे । लार्ड लिटन ने देखा कि इसकी जनता में निन्दा होगी । राजनीतिक विरोधियों ने सरकार पर इस तथ्य को जानबूझ कर छिपाने और धोखा देने का

1. Minute of Sir Alexander Arbuthnot. March 15, 1879.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरोप लगाया। यद्यपि अनुमान अत्यन्त अशुद्ध रूप से आंके गये थे तथापि १२० लाख के अनुमान से जो अधिक व्यय हुआ वह ५० लाख के स्थान पर ७५ लाख वसूल किया गया। भूल का कारण सैन्य विभाग में हिसाब रखने का दोषपूर्ण ढंग था। इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि यह जानते हुए भी कि कैसे सेना के कार्यों में देर हो रही है, सर जान स्ट्रेची और वायसराय ने सेना के अकाउन्टेन्ट जनरल द्वारा दिये गये बहुत कम आंकड़ों पर अपना पूर्ण विश्वास दिखाया। उन्हें इस मामले में जागरूकता की कमी के आरोप से मुक्त नहीं रखा जा सकता। यह भाग्य की बात है कि सर जान स्ट्रेची के वित्त सुधार और मुक्त व्यापार की दिशा में पग इतने उन्नत हो गये थे कि युद्ध का डेढ़ करोड़ का व्यय--जो अनुपात से भारतीय कोष पर भी पड़ा--राजस्व में से भुगता दिया गया। शेष ५० लाख ब्रिटिश कोष में से दिया गया। तथ्यतः, युद्ध साम्राज्य-वादी नीति और यूरोप में बैकन्सफील्ड द्वारा रूस के विरोध के कारण हुआ था इस-लिए इस बात में कुछ सचाई जान पड़ती है कि युद्ध का अधिक व्यय ब्रिटिश सरकार को ही वहन करना पड़ा होगा।

१८७९ में असैनिक सेवा का नियम बनाया गया। भले ही यह १८३३ के चार्टर एक्टको, जिसकी पुष्टि १८५८ में शाही घोषणा द्वारा कर दी गयी थी कि किसी भी भार-तीय को भारतीय होनेके नाते किसी भी स्थान या पदको ग्रहण करने से रोका न जा सकेगा, क्रियात्मक रूप में लागू करने का अपेक्षाकृत साधारण पग था। १८५३ के अधिनियम से भारतीय और ब्रिटिश अथवा सम्राट की सारी प्रजा के लिए उच्च और प्रसंविदा युक्त (यह इसलिए कहा गया कि नौकरी में नियुक्ति के समय सबको अंगीकार करना पड़ता था कि वे न तो व्यापार करेंगे और न भेंट ग्रहण करेंगे) नौकरियों का औपचारिक रूप में आरम्भ प्रतियोगीय परीक्षा के साथ हुआ। चूंकि यह परीक्षा इंग्लैण्ड में होती थी इसलिए प्रायः बहुत ही थोड़े व्यक्तियों को छोड़ सभी इन स्पर्द्धाओं में न आ सके। इसलिए कुछ उदार विचार के भारतीय राजतनीतिज्ञों को ऐसा प्रतीत होता था कि सम्राट् और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रतिज्ञा उचित रूप में पूरी नहीं हो रही क्योंकि उच्च अदालती और प्रबन्ध सम्बन्धी पदों पर कुल ८६४ व्यक्ति ही थे। दूसरी ओर यह संकेत किया जाता था कि ब्रिटिश परम्परा के लोगों का प्राधान्य केवल बहुत उच्च पदों पर ही था। ऐसा होना आवश्यक भी था परन्तु असैनिक सेवाओं का अधीनस्थ अथवा प्रसंविदारहित अधिकांश भाग, जिसमें महत्त्व और उत्तरदायित्वपूर्ण ऊंचे वेतनों के पद भी थे, भारतीयों के हाथ में था। कुछ अधिक अनुदार विचार के लोगों का कहना था कि यही तथ्य, १८३३ और १८५८ के वचनों की पूर्ति के पर्याप्त प्रमाण हैं। और यदि इससे अधिक इनका कुछ भाव है तो यह वचन बहुत शीघ्रता में दिये गये थे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर प्रयत्न किये गये कि भारतीयों को प्रतिज्ञायुक्त उच्च नौकरियां दी जाएं। लार्ड लारेंस ने भारत में छात्रवृत्ति प्राप्त करने की एक अल्पकालीन पद्धति चलायी थी। यह ब्रिटेन में तीन साल तक चालू रही। दूसरा पग १८७० में अरगिल के ड्यूक ने उठाया। उसने भारत मंत्री की सहमति से, लन्दन में परीक्षा के बिना असैनिक सेवा के प्रसंविदायुक्त कुछ पदों पर भारतीयों को नियुक्त करने के नियम बनाने के लिए संसद् से एक अधि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियम स्वीकार कराया ।

परन्तु अरगिल का ड्यूक इस सम्बन्ध में बहुत ही सावधान था। उसका सुझाव था कि यदि किसी भारतीय को उच्च प्रबन्ध सम्बन्धी पद देना ही हो तो केवल न्याय कार्यों में। यदि भारत मंत्री अपने सुझाए हुए परिवर्तन के समर्थन के लिए उत्साहित था तो भारत सरकार अनुत्साहपूर्ण थी। यद्यपिव हुत पत्र-व्यवहार चला और बहुत से नियम बनाये गये, उन्हें या तो इंग्लैण्ड की सरकार ने अस्वीकार कर दिया अथवा वे क्रियात्मक रूप में व्यर्थ सिद्ध हुए। लार्ड लिटन अपनी नीति के सम्बन्ध में स्वयं कहता था "उन प्रतिज्ञाओं का अधिक स्पष्ट रूप में वर्णन करो जो गोलमाल ढंग से और उतावलेपन में की गयी थीं। सावधानी से उनका सीमा बन्धन करो और उसके बाद उचित सीमाओं में रहकर उन्हें पूर्ण करो।" इस सिद्धान्त के अनुसार उसकी सरकार ने १८७८–९ में अनुक्रियात्मक असैनिक सेवा की योजना बनायी। अबसे प्रसंविदा-युक्त असैनिक सेवा के पदों में छठे भाग पर वायसराय की कौंसिल और भारत मंत्री की सहमति से स्थानीय सरकारों द्वारा चुने हुए भारतीयों की नियुक्ति होती थी। अभ्यार्थियों के लिए यह दो वर्ष का समय परीक्षणात्मक था और अन्तिम नियुक्ति से पहले उन्हें कई प्रकार के परीक्षणों में से गुजरना होता था। भारत में अधिकारी लोग कोई ऐसी योजना पसन्द करते थे जिससे भारतीय अभ्यार्थियों को लन्दन में स्पर्द्धा वाली परीक्षाओं में सम्मिलित न होना पड़े। परन्तु इन्डिया आफिस ने यह सुझाव न माना। भारतीयों को अब से प्रसंविदायुक्त नौकरियों के बहुत अवसर प्राप्त हुए और उन्हें कानूनी अधिकार भी मिल गया कि योग्यतानुसार वे अधिक से अधिक पदों को प्राप्त करें। अनुविध्यात्मक असैनिक सेवा जनता के विचार में प्रसंविदायुक्त और प्रसंविदारहित अथवा अधीन सेवा के बीच का मार्ग था––यद्यपि यह कानूनी रूप में प्रसंविदायुक्त सेवा के समान-स्तर पर थी। इसमें सफलता नहीं मिली। उच्च श्रेणी के लोगों को यह आकर्षित नहीं कर सकी और इसके लिए अधीन सेवाओं में से ही लोग लिये गये। इसीलिए आठ साल बाद वह समाप्त कर दी गयी।

१८७८ में लार्ड लिटन ने अत्यधिक आलोचित देशी भाषा समाचार पत्र अधि-नियम–वर्नाक्यूलर प्रैस एक्ट–पास किया। इससे मजिस्ट्रेट और कलक्टर को यह अधिकार मिला कि वह किसी भी पत्र-संपादक से अंग्रेजी में यह शर्तनामा लिखवा ले कि वह अपने पत्र में कोई ऐसी बात नहीं लिखेगा जिससे सरकार के विरुद्ध उत्तेजना अथवा असंतोष और विभिन्न जाति तथा धर्मों के लोगों में घृणा फैले, अन्यथा उसके लिए वह सरकारी अधिकारी के समक्ष प्रमाण उपस्थित करेगा। लार्ड लिटन का विचार था कि देशी भाषा के समाचार-पत्रों की विद्रोहात्मक ध्वनि ने यह आवश्यक कर दिया है कि "अपवादिक सहिष्णुता" को सीमित किया जाए। इसके सम्बन्ध में सरकार अब तक यह सोचती थी कि यह अनभ्यस्त हाथों में पड़े शस्त्र का दुरुपयोग है। समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता के संबंध में वह यह कहता था कि "पूजा करने की बजाय यह योग्यता से प्राप्त और तर्कपूर्ण ढंग से उपयोग में लाया जानेवाला विशेषाधिकार है। विरोधियों, जिनमें कौंसिल के तीन सदस्य भी थे, का कहना था कि कुछ मूर्ख पत्रकारों की ज्यादती इस प्रकार के कानून

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाने के लिए पर्याप्त आधार नहीं । भारत सरकार इस प्रकार के आक्रमण के प्रति बहुत भावुक थी और अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं के पत्रों से किया जाने वाला भेदपूर्ण व्यवहार बहुत ईर्ष्यापूर्ण था । इस आलोचना में पर्याप्त बल था यद्यपि वायसराय ने अन्तिम आलोचना के सम्बन्ध में यह इंगित करते हुए उत्तर देने का यत्न किया कि भाषा का जाति से सम्बन्ध नहीं क्योंकि बहुत से पत्र, जिनके सम्पादक भारतीय हैं, अंग्रेजी में प्रकाशित होते हैं । यह अधिनियम अल्पायु सिद्ध हुआ और चार साल बाद लार्ड लिटन के उत्तराधिकारी ने इसे समाप्त कर दिया ।

आधुनिक काल के किसी वायसराय की लार्ड लिटन से अधिक कटु आलोचना नहीं हुई । इसके लिए कारण खोजने की आवश्यकता नहीं । इंग्लैण्ड में उच्च भारतीय प्राधिकारियों, उदार दल के नेताओं और जनता के बहुमत ने उसकी अफगान नीति को निन्दा की । यह निःस्संदेह संकटपूर्ण और अन्याययुक्त भूल थी । केवल इसी एक भूल से उसका राजनीतिज्ञ होने का दावा समाप्त हो जाता है । १८७८–८० के अकाल में भयंकर जनहानि, पत्रों की स्वतन्त्रता को सीमित करने के पग, युद्ध-व्यय के गलत अनुमान आदि ऐसी बातें थीं जो स्वाभाविक रूप में आलोचना का आधार उत्पन्न कर देती हैं । तिस पर भी कोई व्यक्ति लार्ड लिटन के स्मरण लेख और संदेश यह स्वीकार किये बिना नहीं पढ़ सकता कि वह असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था । यद्यपि, प्रायः वह उतावला और प्रेरक था परन्तु भारतीय राजनीति में कुछ नयी और सफल भावनाएं लाया । उसके बहुत से अपूर्ण आदर्श समय से पूर्व होने के कारण सफल न हुए । उसने भारत की आर्थिक पद्धति में स्वर्ण-स्तर लागू करने का समर्थन किया और यदि यह परिवर्तन उस समय लागू कर दिया जाता, जबकि चांदी की मन्दी थी तो भारत भारी आर्थिक हानि से बच जाता । उसने सुझाव दिया कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश पंजाब के लैफ्टी०गवर्नर के अधीन रखने के स्थान पर सीधा भारत सरकार के अधीन हो । यह सुधार बाद में लार्ड कर्जन के काल में स्वीकृत हुआ । उसने भारतीय नवाबों का नामांकन और वायसराय से परामर्श के लिए राजाओं की एक भारतीय प्रिवी कौंसिल बनाने की योजना भी रखी । भारतीय सेवकों पर आक्रमण करने वाले यूरोपियनों को मृदु दण्ड देने की प्रवृत्ति को रोकने का भी उसने यत्न किया । भौतिक और भावनापूर्ण युग में पूर्वी अथवा पश्चिमी मस्तिष्क पर भावनाओं, आडम्बर और शान-शौकत के प्रभाव को उसने कम नहीं आंका । उसकी प्रभावपूर्ण वक्तृत्व शक्ति और आकर्षक मूर्ति किसी भी महान् अवसर को चार चांद लगा देते थे । यह समझना कठिन है कि रायल टाइटिल बिल–जिसके द्वारा इंग्लैण्ड के राजा को 'कैसरे हिन्द' की पदवी दी गयी––का इतना विरोध और खिल्ली क्यों उड़ायी गयी । इससे बड़े भारतीय राजाओं की निष्ठा को धक्का लगा । इसमें मुसलमानी खिताब 'पादशाह' वाली समानता न थी–जिससे हिन्दुओं को कष्ट पहुंचता परन्तु इसमें नष्ट हुए मुगल साम्राज्य की शान और महान् शाही राजगद्दी के अधीन भारत की राजनीतिक एकता की झलक थी । संसद् में विरोधी सदस्यों ने विधेयक का विरोध वैधानिक आधार पर यह कहकर किया कि 'रानी' शब्द कानून के प्रति आज्ञाकारिता की भावना से पूर्ण है जबकि 'साम्राज्ञी'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सर्वोच्च शक्ति को प्रकट करता है। लार्ड हार्टिंगटन ने कहा कि, "हम उसे दिल्ली में मुगल साम्राज्य के नष्ट राज्य के स्वांग बनाते हुए देखते हैं।" ग्लैडस्टोन ने कहा कि, "यदि यह सत्य है और जैसा कि सत्य ही है कि हम भारत को स्वतन्त्र संस्थाओं का लाभ और मंगल कामनाएं प्रदान नहीं कर सके तो यह बात मैं माननीय सदस्य (डिजराइली) को शेखी बघारने के लिए छोड़ता हूं कि वह सचाई से तथ्यों को उपस्थित करेगा। मैं इसकी प्रशंसा का यत्न नहीं करूंगा, और जैसा कि यह सत्य है, मैं इसमें अपनी निर्बलता और संकट देखता हूं।" ऐसी भाषा आज विश्वासोत्पादक नहीं। शाही पदवी का यह अनावश्यक और गलत अर्थ लगाना भारतीय नीतिज्ञों के सामाजिक सुधारों में सफलता के प्रति अन्याय था। और यह इस तथ्य के प्रति आंख मूंदना है कि भारत मध्य-उन्नीसवीं-शताब्दी के उदारवाद के विकास के उपयुक्त नहीं। आरम्भ में, कुछ विशेष कारणों से, अधिकारियों की सम्मति उत्साहपूर्ण नहीं थी। बाहरी दिखावे की अपेक्षा शांत और अकृत्रिम कार्य असैनिक सेवा की आदरणीय-परम्परा रही है। जब पहली जनवरी १८७७ को अद्भुत शानशौकत वाले दरबार में लार्ड लिटन ने विक्टोरिया को भारत साम्राज्ञी घोषित किया तो अकाल की दरिद्रता और दक्षिण भारत में मृत्यु का प्रतिबिम्ब उस पर झलक रहा था। इसलिए बहुत से व्यक्तियों ने कहा कि ऐसी तड़क-भड़क के लिए यह उपयुक्त समय न था। परन्तु ऐसे उत्सवों को स्थगित नहीं किया जा सकता। असैनिक सेवा के सदस्यों ने ख्यात रिज (Ridge) पर महान समूह में खड़े होकर यह महसूस किया होगा कि राजाओं और उनके मंत्रियों को समयांतर न केवल प्रशासन के शुष्क परिणामों का प्रदर्शन करने में राजनीतिक बुद्धिमत्ता है प्रत्युत इससे उस साम्राज्य की शक्ति तथा ओज का भी आँशिक दर्शन हो जाता है जिसमें ताज के ब्रिटिश सेवकों, और भारतीय नरेशों तथा नीतिज्ञों में से हर एक ने नियत स्थान ग्रहण किया हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ८

लार्ड रिपन और वैधानिक सुधारों का युग

अफगानिस्तान से संधि के बाद लार्ड रिपन से विदेश नीति सम्बन्धी किसी गम्भीर प्रश्न को हल करने के लिए नहीं कहा गया। लार्ड विलियम बैंटिक की तरह उसकी अभिरुचि राजनीतिक और सामाजिक सुधार में थी। लार्ड रिपन लाक्षणिक वायसराय से विभिन्न छाप का व्यक्ति था। उसका राजनीतिक दृष्टिकोण अपने पूर्वाधिकारी से भिन्न था। वह शांति, हस्तक्षेप न करने और स्वायत्त शासन के गुणों में विश्वास रखता था और ग्लैडस्टन-युग का सच्चा उदारपंथी था। अब तक भारत को जो भौतिक लाभ प्राप्त हुए थे वे सब अलिप्त और प्रबुद्ध नौकरशाही के काम थे। इनका अधिक सम्बन्ध जनता को राजनीतिक कर्त्तव्यों के लिए शिक्षित करने के स्थान पर उनके लिए श्रम करने से था। हमारे भारतीय साम्राज्य की प्रारम्भिक स्थितियों में यह पहलू स्वाभाविक ही था। बर्क ने कहा है कि "भारत में अंग्रेज जाति का अस्तित्व अफसरों की परम्परा के लिए शिक्षालय था वह एक के बाद दूसरे का स्थान ग्रहण करने वाली जाति है। वह जनता के बिना गणराज्य और राष्ट्र है। वह पूर्णतया मजिस्ट्रेटों से बना हुआ एक राज्य है।" १८७१ में सर राबर्ट मांटगुमरी ने कहा था—"हमने लोगों की पूर्णतया उपेक्षा कर दी है और हम कहते तथा युक्ति देते हैं कि अमुक काम करना एक अच्छी बात है और इस बारे में उनसे कुछ कहे बिना अपना काम किये जा रहे हैं।" अंग्रेजी पद्धति से शिक्षित व्यक्तियों में अपने देश के शासन में क्रियात्मक भाग लेने तथा वैधानिक और प्रतिनिधि सरकार की उन धारणाओं को पूर्व में लागू करने की इच्छा स्वाभावत: दृढ़ होती जा रही थी, जिनसे सिद्धान्ततः उनका परिचय नव-प्राप्त पश्चिमी ज्ञान द्वारा हुआ था।

इन भावनाओं से लार्ड रिपन की पूर्ण सहानुभूति थी। वह भारत सरकार को और अधिक उदार बनाने की दिशा में कुछ पग उठाने का पूर्ण निश्चय कर चुका था। जैसा कि स्वाभाविक था, उसके विचारों का अधिकांश अधिकारियों ने विरोध किया। उसने भारत की नीति में जो झुकाव दिया, उसका परिणाम शुभ था या अशुभ, अनेकों के लिए अभी यह विचारणीय प्रश्न है। भारतीय प्रशासकों के एक भाग को तो उदार दल के सिद्धान्तों में असंदिग्ध विश्वास के कारण यह समय से बहुत आगे और द्रुतगतिवाक प्रतीत होता था क्योंकि वह पश्चिमी संस्थाओं और अपने देश के ही इस तथ्य की उपेक्षा कर रहा था कि जिन सिद्धान्तों को अपनाने में उन्हें दीर्घ अनुभव और अनेक कष्टों में से गुजरना पड़ा था उन्हें इतनी सरलता से पूर्वी देशों में कैसे लागू किया जा सकता है—और जबकि वे ध्येय, यद्यपि शक्तिशाली थे, परन्तु समाज के अल्पभाग के थे और भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विशाल जनसमुदाय की उनसे न तो कोई सहानुभूति थी और न ही उनके प्रतिनिधित्व का दावा वे कर सकते थे।

परन्तु अब कुछ अंग्रेज भी यह स्वीकार करते थे कि इस दिशा में कुछ प्रगति आवश्यक है। नवीन पीढ़ी को हमने स्वयं शिक्षित किया था, हमीं ने उसमें आदर्श और आकांक्षाओं को जाग्रत किया था, अतः हम उसे स्थायी संरक्षण की अवस्था में रख कर अपनी नीति को अस्थिर नहीं बनाना चाहते थे। कई बार तो लार्ड रिपन को उन क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ जहां से उसे बिलकुल आशा न थी। लार्ड नार्थब्रुक ने १८८० में लिखा था: "जो देशी लोगों से वास्तविक सहानुभूति रखते हैं वे सरकारी परम्परा की हीनावस्था महन्तशाही में से पैदा नहीं होते।" १८८४ में उसने घोषणा की कि "एम० एलफिन्स्टन तथा जार्जक्लर्क और पंजाब के गवर्नर एचिसन आदि बहुत श्रेष्ठ व्यक्तियों को छोड़ उच्च सिविल सर्विस वालों के मस्तिष्क में यह बात घर कर गयी है कि उनमें ही अद्भुत गुण हैं और अंग्रेजों को छोड़ कोई दूसरा आदमी कुछ कर ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में रिपन के सिद्धान्त से मैं सहमत हूं।"[1] यह विश्वास करना भी ठीक नहीं कि जो नयी नीति से असहमत थे वे ईर्ष्या अथवा जातीय घृणा के शिकार थे। पश्चिमी राष्ट्रों में स्वायत्त शासन का मार्ग पहले तो धीमा और रुकावटपूर्ण रहा था और प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में भी अप्रिय बातें हुईं। लार्ड रिपन के विरोधी कार्य-कुशलता की बलि को सहन नहीं कर सकते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि अच्छे अनुभवी अधिकारियों से कुछ विभागों का शासन-प्रबन्ध नामजद अथवा चुने हुए बोर्डों को देना आवश्यक होगा। और उनका सदा यह विचार रहता था कि लार्ड रिपन अपनी नीति के इस परिणाम की उपेक्षा कर रहा है। परन्तु उसने इस बात की उपेक्षा नहीं की और वह उसका सामना करने के लिए तैयार था। उसके सुधारों को लागू करने वाले प्रस्ताव में कहा गया था कि, "इन सुधारों को लागू करने का आरम्भिक ध्येय शासन में उन्नति करना नहीं। हम इस कार्य का समर्थन करते हैं। यह राजनीतिक जागृति और जनता को शिक्षित करने के लिए बहुत आवश्यक है।" प्रजातन्त्र में दृढ़ विश्वास के साथ वह चाहता था कि भारतीय स्वायत्त शासन और अपने नियन्त्रण का कठोर अनुभव प्राप्त करें और वास्तविकता को पहचानें।

अब हम (१) आयात निर्यात कर और राजस्व, (२) शासन का विकेन्द्रीकरण और वित्त नियन्त्रण, (३) समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, (४) शिक्षा, (५) रक्षित राज्य और (६) सामाजिक सुधार आदि विषयों के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की नीति का अधिक विस्तार से वर्णन करेंगे।

इन सबमें से पहले विषय के सम्बन्ध में लार्ड रिपन सौभाग्यशाली रहा। आन्तरिक सुधारों के परीक्षण के लिए वित्त स्थिति विशेष रूप से अनुकूल थी। सर जान स्ट्रेची की अर्थ-संबंधी महान् योजनाएं अब फल लायीं। आगामी चार वर्ष समृद्धि के

1. Mallet's Northbrook, p. 133.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

थे और राजस्व में वृद्धि हुई। घाटे वाला बजट बचत का हो गया। कुछ वर्ष बाद अकाल, प्लेग, विनिमय में शीघ्रता से गिरावट और सेना के बढ़े हुए व्ययों के कारण स्थितियां कम अनुकूल होतीं और भारतीय कोष पर अधिक भार डाल देतीं। भारत सरकार ने लार्ड नार्थब्रुक द्वारा आरम्भ की हुई और लार्ड लिटन द्वारा उन्नत मुक्त व्यापार नीति को पूर्ण करने में उपयुक्त अवसर को हाथ से न जाने दिया। वित्त मंत्री मेजर एवलीन बारिंग (बाद में लार्ड क्रोमर) ने १८८२ में टैरिफ में से मूल्य के अनुसार पांच प्रतिशत आयात शुल्क भी हटा दिया। इसमें संरक्षण बल न था। अब केवल नमक, शराब तथा राजनीतिक कारणों से ही गोला-बारूद और शस्त्रों पर शुल्क रह गया था। इसी वर्ष सारे भारत में नमक-कर कम किया गया। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न--भूराजस्व--के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की नीति सफल न हो सकी। जैसा कि हम देख चुके हैं सारे भारत में लगान की स्थायी बन्दोबस्त चालू करने की योजना, जो भारत सरकार के सामने पिछले २० वर्ष से थी, १८८३ में सर्वथा त्याग दी गयी थी। अब लार्ड रिपन ने एक विकल्प रखा कि जिन जिलों में पर्यवेक्षण और कर निर्धारण हो चुका है, केवल भूमि के मूल्यों की वृद्धि के आधार के बिना सरकार उसमें और वृद्धि नहीं करेगी। यह आपसी निश्चय अपेक्षाकृत स्थायित्व के आदर्श से भी पूर्ण था और सरकार के लिए सामान्य समृद्धि के समय राजस्व बढ़ाने का मार्ग भी खुला था। भारत का सुधारवादी नरम दल सदा इस बात पर शोक प्रकट करता रहा है कि राज्य सचिव ने इसे स्वीकार न किया।

हमारे दूसरे शीर्षक अर्थात् शासन का विकेन्द्रीकरण और वित्त नियन्त्रण सम्बन्धी सुधार अन्य सब में अधिक महत्त्वपूर्ण है और लार्ड रिपन के प्रसिद्ध बुद्धिमान साथियों का इसमें विशेष सहयोग था। इनका संक्षिप्त ब्योरा देना सरल नहीं परन्तु यह कहा जा सकता है कि स्थानीय और नगरपालिकाओं विषयक प्रबन्ध के प्रश्नों में अर्थात् अपने ही कार्यों में लोगों को अधिक तथा वास्तविक प्रबन्ध और देखभाल का अवसर दिया गया। राजस्व विभाग, जिसे तहसील या ताल्लुका कहते थे के साथ स्थानीय बोर्डों अथवा नगर निगमों की पद्धति चलायी गयी। इन बोर्डों को उन निधियों का प्रबन्ध सौंपा गया जिनके लिए प्रान्त की सरकारों ने उन्हें योग्य समझा। अधिक बड़े निकायों को जनकार्य, शिक्षा और ऐसे ही जनता से सम्बद्ध कार्यों का प्रबन्ध सौंपा गया। जहां कहीं सम्भव हुआ इन निगमों के प्रतिनिधियों की सरकार द्वारा नामजदगी के स्थान पर करदाताओं द्वारा चुनाव की पद्धति चालू की जानी थी। यह नया सिद्धान्त न था। १८७२ में बंबई में म्युनिसिपल सरकार के चुनावों की स्वीकृति दे दी गयी थी और कई स्थानों पर इसे अपनाया गया था, परन्तु अब इसे व्यापक रूप दे दिया गया था। अब तो कई नगरों के कारपोरेशनों को सरकारी कार्याधिकारी के स्थान पर स्वतन्त्र सदस्य को प्रधान चुनने की अनुमति दी गयी थी। मि० आर० नाथन कहते हैं कि, "लार्ड रिपन की सरकार की यह नीति थी कि म्युनिसिपल मामलों में बाहर के नियन्त्रण को आभ्यंतरिक हस्तक्षेप में बदल दिया जाए।"[1] कुछ नियन्त्रण अब भी आवश्यक था।

1. Imperial Gazetteer of India, Vol. iv, p. 289.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वतन्त्र संस्थाओं की उचित कार्यप्रणाली एक ही पीढ़ी में नहीं सीखी जा सकती, और जबकि नगरपालिकाओं को कुछ कर्त्तव्य संभालने होते हैं, दूसरों के लिए प्रयत्नशील होने को उत्साहित किया जाता है और साथ ही कुछ वित्त सम्बन्धी अधिकार तथा उत्तर-दायित्व दिये जाते हैं, उस अवस्था में उन पर जिला कलक्टर अथवा डिवीजन के कमिश्नर का नियंत्रण बना रहता है। नगरपालिकाओं के विषय में सरकार ने निरीक्षण उपेक्षित कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलाने, और भीषण रूप से कर्त्तव्य-भ्रष्ट होने की दशा में स्थगित तक करने का अपना अधिकार रखा था।

तीसरी बात के सम्बन्ध में——लार्ड लिटन का वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट——संविधि पुस्तक से हटा दिया गया और सब पत्रों को सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में समान स्वतन्त्रता दी गयी लेकिन इसका बाद में कुछ मामलों में दुरुपयोग भी हुआ।

चौथे, मि० (बाद में सर) डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर की अध्यक्षता में बीस सदस्यों के एक कमीशन ने १८५४ के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के स्वीकृति-पत्र के सिद्धान्तों की सीमा के अन्तर्गत जांच-पड़ताल की। फल यह हुआ कि प्राइमरी और माध्यमिक स्कूलों की संख्या-वृद्धि और उन्नति का कानून बनाया गया। अब तक विश्वविद्यालयों के मुकाबिले में राज्य द्वारा इनकी उपेक्षा कर दी गयी थी।

पांचवें, ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के संबंध के प्रश्न पर लार्ड रिपन को एक उत्सर्ग द्वारा यह सुअवसर मिला कि उसने मैसूर को एक हिन्दू राज्यवंश को सौंपा। यह कार्य सम्मानपूर्ण था। परन्तु इस कार्य की श्लाघा का सम्बन्ध लार्ड लारेंस और सर स्टैफर्ड नार्थकोट से है क्योंकि उन्होंने १८६७ में इस नीति पर चलने का निश्चय किया था। मैसूर का वास्तविक शासन-प्रबन्ध १८३१ में लार्ड विलियम बैंटिक ने राजा के कुप्रबन्ध के कारण धरोहर के रूप में छीन लिया था। यह राजा अल्पवयस्क के रूप में लार्ड वेलजली द्वारा १७९९ में गद्दी पर बैठाया गया था। लार्ड विलियम बैंटिक को बाद में यह विश्वास हो गया कि मैसूर में दमन की अतिशयोक्तिपूर्ण रिपोर्टों से वह कुछ सीमा तक पथभ्रष्ट हो गया था परन्तु कम्पनी ने उक्त निर्णय में परिवर्तन करने से इंकार कर दिया। सिंहासनच्युत राजा १८६७ में मर गया। तब ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि जब राजा का दत्तक पुत्र वयस्क हो जाय तो उसे मैसूर का राज्य सौंप दिया जाए। यह घटना १८८१ में हुई और लार्ड रिपन ने उचित समारोह के साथ उसे गद्दी पर बिठाया। जो जनता आधी शताब्दी तक ब्रिटिश राज्य के लाभों का उपभोग कर चुकी थी, उसे उनसे वंचित न किया जा सके इसके लिए कठोर नियम बनाये गए। उस समय जो नियम चालू थे उन्हें स्थिर रखना था और गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के बिना शासन पद्धति में परिवर्तन करने का उसे अधिकार न था। राज्य में लगान का जो निश्चय हो चुका था उसे चालू रखना था और राजा को ऐसी किसी सलाह का भी पालन करना था जो गवर्नर-जनरल उसे शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में दे।

अन्तिम, अर्थात् सामाजिक प्रश्नों के सम्बन्ध में साधारण-सा सूत्रपात हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इससे भी पहले भारतीय कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की अवस्था सुधारने और नियमित करने के लिए एक कानून की आवश्यकता थी। ७ से ९ वर्ष तक के बच्चों के लिए एक दिन में ९ घंटे से अधिक काम न लेने, खतरनाक मशीनों पर उचित रूप से जाल लगाने और इन्सपैक्टरों की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक अधिनियम १८८१ में पास हुआ। १८८३ में सरकार ने अपने आपको जातीय विभेद की कठिन समस्या और भयंकर दबाव और अशांति में दबा हुआ पाया। १८७३ के दंड विधान द्वारा यह नियम बनाया गया था कि कोई भी मजिस्ट्रेट या सैशन्स जज किसी भी यूरोपियन के मुकदमे पर तब तक विचार न कर सकेगा जब तक कि वह स्वयं यूरोपियन न हो। प्रैजीडैन्सी नगरों में यह नियम लागू न होता था। १८८३ तक कुछ भारतीय प्रसंविदायुक्त असैनिक सेवा-कर्मचारी जब मजिस्ट्रेट या सैशन्स जज बने तो उनके लिए यह बहुत ईर्ष्यापूर्ण बात थी कि उन्हें वह अधिकार प्राप्त न थे जो नौकरियों में उनके साथी यूरोपियनों को थे। तद्नुसार भारत सरकार ने "जातीय भेद पर आधारित न्याय-सम्बन्धी अयोग्यता" को दूर करने का निश्चय किया। मि० (अब सर) इलबर्ट ने इस काम के लिए विधेयक तैयार किया। इस तथ्य के बावजूद कि इस परिवर्तन का प्रभाव बहुत ही कम मामलों में होता, और यूरोपियनों के भारतीय जजों के सामने उपस्थित होने पर कोई बुराई भी न होती, तो भी इस विधेयक के विरुद्ध भारत स्थित योरोपियनों में भयंकर और दीर्घ आन्दोलन आरम्भ हो गया। जैसाकि स्वाभाविक था, भारतीयों ने प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन किया। लेकिन दोनों विरोधी दलों में निन्दनीय द्वेषपरक भावनाएं उत्पन्न हो गयीं। यह सुधार भारत में रहने वाले असैनिक सेवा में छोटे से लेकर बड़े तक और गैर सरकारी यूरोपियनों ने पसन्द न किया। वायसराय की निन्दा हुई, और सरकार से असम्बन्धित उसके देशवासियों का क्रियात्मक रूप से उससे व्यवहार समाप्त हो गया। अन्त में अधिकारियों ने घुटने टेक दिये और वे एक ऐसे समझौते के लिए सहमत हो गए जो उनके लिए उस सिद्धान्त-त्याग के समान था, जिसके लिए वे प्रयत्नशील थे। यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक यूरोपियन, जिसका मुकदमा जिला मैजिस्ट्रेट या सैशन्स जज (भारतीय अथवा यूरोपियन) के सामने आये तो वह मांग कर सकता है कि उसका निर्णय ज्यूरी करे, जिसमें आधे ज्यूरी यूरोपियन या अमेरिकन हों। चूंकि भारतीय किसी ऐसे विशेषाधिकार की मांग नहीं कर सकते थे, इसलिए यूरोपियनों की विशेष स्थिति बनी रही और जातिभेद को दूर करने के सरकार के यत्न पूर्णतया असफल रह गये। यद्यपि लार्ड रिपन ने अपने देशवासियों में अपनी सर्वप्रियता खो दी थी तो भी भारत में जन्मे लोगों के लिए उसने जो आन्दोलन किया था उसके कारण वह उनकी श्रद्धा और समर्थन का पात्र बन गया। १८८४ में त्याग-पत्र देने के बाद जब वह बंबई गया तो सारा मार्ग स्वागत करने वाली जनता से भरा था, और वायसराय की गद्दी पर उनके पक्ष के समर्थक के रूप में वह सदा राष्ट्रवादी भारतीयों के हृदय में प्रतिष्ठित रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ९

लार्ड डफरिन, इंग्लैण्ड, रूस और अफगानिस्तान, उत्तरीय बर्मा की विजय

लार्ड रिपन का उत्तराधिकारी लार्ड डफरिन हुआ, जिसे प्रस्तुत उच्च-पद के लिए राजनीति और कूटनीति के दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन ने प्रारंभिक शिक्षण प्रदान कर दिया था। २० वर्ष पूर्व जब (१८६४–६) सर जान लारैन्स वायसराय था, तो वह भारत सचिव का सहायक सचिव था; और १८७२–८ तक वह कनाडा का गवर्नर-जनरल था; उसके बाद सैण्ट पीटर्जबर्ग में वह राजदूत तथा मिस्र में विशेष ब्रिटिश कमिश्नर रह चुका था। पहले दो कूटनीतिक पदों पर वह एशिया में ब्रिटेन के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी के निकट सम्पर्क में आया और अन्तिम दो में उसे संसार के प्रथम मुस्लिम राष्ट्र की नीति और उसकी पद्धति के अध्ययन का अवसर मिला।

लार्ड डफरिन अपने समय का श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ था। वह मधुरवक्ता और प्रभावशाली व्यक्ति था। इसीलिए वह इलबर्ट विधेयक से उत्पन्न विषाद की कटुता को समाप्त करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त था। उसमें किसी सामाजिक और व्यक्तिगत अधिकार को भयंकर राजनीतिक प्रश्न न बनने देने की दृढ़ धारणा थी। वह संकट का सामना चातुर्य और हास्य भावना से करता था। जातीय विद्वेष की प्रचण्ड आंधी वायसराय के स्वामित्वपूर्ण शैथिल्य के सामने शान्त हो गयी। उसके लिए ये शब्द सर्वथा उपयुक्त हैं कि वह एक सांसारिक व्यक्ति था; परन्तु वह वायसराय पद के लिए अत्यधिक प्रौढ़ था क्योंकि वह नयी समस्याओं के हल और नवीन नीति को आरम्भ करने का इच्छुक न था। वह शासन-सूत्र पर साधारण नियन्त्रण से ही संतुष्ट था। विभिन्न देशों में दीर्घ राजनीतिक अनुभव के बाद उसने योग्यता और सहिष्णुता से कार्यभार संभाला परन्तु कभी-कभी उसके रवैये से थकावट-सी प्रकट होती थी और इसीलिए उसने चार वर्ष पश्चात् कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व ही कार्यभार से मुक्त किये जाने की प्रार्थना की।

विदेश-नीति सम्बन्धी प्रश्न उसके काल में फिर महत्व पकड़ गये। उनमें से एक था उत्तर पश्चिमी सीमांत और दूसरा था सुदूरपूर्वी सीमा पंक्ति का।

कंधार के विलय के बाद से अब्दुर्रहमान ने अफगानिस्तान में अपने राज्य को कठिन संघर्षों के बाद स्थिर किया और प्रजा को आज्ञापालन और व्यवस्था के लिए विवश किया। निश्चय ही राज्य को दृढ़ करने का यह कार्य अन्तराल राज्य और भारतीय साम्राज्य दोनों के लिए उपयुक्त था, जबकि रूसी प्रगति की लहरें अफगानि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तान की उत्तरी चौकियों से टकरा रही थीं। १८७६ में खोकंद की खान रियासत रूसी साम्राज्य में मिला ली गयी। १८७९ में रूसी जनरल लोमाकिन को तक्की तुर्कमान नामक योद्धा-फिर्के ने बुरी तरह हराया परन्तु १८८१ में रूसियों ने उन्हें नष्ट कर दिया और उनका प्रदेश रूसी साम्राज्य में मिला लिया। १८८४ में ब्रिटेन को रूस की इच्छाओं से भय उत्पन्न हो गया, वह कुछ समय तक कुछ निर्णय न कर सका परन्तु अफगानिस्तान की सीमा से डेढ़ सौ मील दूर मर्व के पतन होने पर फिर भय बढ़ा और हलचल उत्पन्न हो गयी। इंग्लैण्ड में इस स्थान को सदा महत्त्व दिया गया और रूस के हाथ में चले जाने पर व्यापक रोष फैल गया। अन्त में यह भारत और अफगानिस्तान दोनों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ क्योंकि इससे ब्रिटेन और रूस के सम्बंध अच्छे हो गये और अफगानिस्तान की उचित सीमा पंक्ति निश्चित हो गयी। एक बार तो भयंकर संघर्ष हो जाने का भी भय उपस्थित हो गया था। लार्ड रिपन की सरकार पहले ही अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निर्धारित करने के लिये संयुक्त कमीशन की रूसी योजना स्वीकार कर चुकी थी। रूस की ओर से देरी के कारण लार्ड डफरिन के काम संभालने के एक महीना पहले कमिश्नरों की पहली बैठक अक्तूबर में ईरानी सीमा के सारख्स नामक स्थान पर हुई। सीमा का झगड़ा हरिरुद और ओक नदी के मध्य के संबंध में था। सर पीटर लम्सडन के नेतृत्व में ब्रिटिश कमिश्नर पहुंचे तो राजनीतिक वातावरण बहुत उत्तेजनापूर्ण था। रूसी और अफगान यह जानते थे कि अन्य बातों की अपेक्षा अधिकार कम महत्वपूर्ण है परन्तु दोनों विवादपूर्ण भूमि के अधिक से अधिक भाग पर अधिकार करने और अपनी चौकियां आगे बढ़ाने के यत्न में संलग्न थे।

मुख्य विवाद मर्व के दक्षिण में, जहां मरगाब और कुशक नदियां मिलती हैं, स्थित एक गांव और जिले पंजदेह पर केन्द्रित था। सारी स्थिति बहुत कठिन और उलझनपूर्ण थी। कमिश्नर लन्दन और सैन्ट पीटर्जबर्ग के विदेश कार्यालयों के अधीनस्थ व्यक्ति थे। उन पर न भारत और न तुर्किस्तान के रूसी गवर्नर जनरल का नियन्त्रण था। इंग्लैण्ड की सरकार ने अफगान दावे के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चय न किया था और वह लन्दन स्थित रूसी राजदूत से बातचीत कर रही थी। उसे केवल भारत सरकार के हित का ही ध्यान नहीं करना था परन्तु अब्दुर्रहमान की ओर से भी बात करनी थी। परन्तु वह ऐसा न कर सका, इससे लार्ड डफरिन की कठिनाइयां बढ़ीं। जैसा कि सर एल्फ्रेड लायल ने ठीक ही कहा था कि "उसे अत्यधिक अविवास क लिए दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसने दो विदेशी राज्यों के कार्यों और उद्देश्य के सम्बन्ध में यह विचार किया कि वे उसको अपनी निजी सीमाओं के निर्धारण के कष्ट से बचा रहे हैं।"[1]

कर्कश और क्रोधी रूसी जनरल कोमारोफ को पता चला कि कुछ अफगान सेना पंजदेह पर अधिकार कर चुकी है और वह अमीर के अधिकार में समझा जाता है।

1. Article, "India under the Marquis of Dufferin", Edinburgh Review, January 1889.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने उन्हें वह स्थान खाली करने की आज्ञा दी पर उनकी अस्वीकृति पर आक्रमण किया और भारी हानि पहुंचाते हुए उन्हें मार भगाया । स्थिति अब और भी संकटपूर्ण हो गयी । अपने दावे के समर्थन में रूस कैस्पियन सागर के पार से अपनी सेनाएं अफगानिस्तान भेज रहा था । चूंकि हिरात पंजदेह के दक्षिण में १२० मील दूर था इसलिए उसकी रक्षा के लिए भारत सरकार ने क्वेटा में अपनी सेनाएं इकट्ठी कीं और संचार साधनों को ठीक किया । भयंकर विस्फोट के सब साधन तैयार थे और यह प्रतीत होता था कि रूस तथा ब्रिटेन "संसार के सब भागों में" युद्ध आरम्भ कर देंगे । लार्ड लारैन्स ने इस युद्ध को रूस द्वारा अफगान सीमा के उल्लंघन का भारी दंड कहा था । पंजदेह के रक्तपात का समाचार जब इंग्लैण्ड पहुंचा तो कोई भी उत्तरदायी व्यक्ति यह न सोच सका कि संकट टल सकता है । रूस के प्रति जनता के विचार भड़क उठे थे । विरोधी अनुदार दल कठोर कार्यवाही का पक्षपाती था और उदार प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने स्थिति को भयंकर संकटपूर्ण बताते हुए १ करोड़ दस लाख व्यय करने की स्वीकृति प्राप्त की ।

विनाशक युद्ध, कूटनीतिज्ञों के यत्न, लार्ड डफरिन की चतुराई और सबसे अधिक अब्दुर्रहमान की पैनी सूझबूझ से टल सका । इस टक्कर के समय अमीर रावलपिंडी में लार्ड डफरिन से मुलाकात कर रहा था । जैसा कि सर एल्फ्रेड लायल ने कहा है कि अफगान लोगों का विचार था कि सीमा की साधारण सी झपट को अनावश्यक संकट का कारण बनाना उचित नहीं । अमीर ने घोषणा की कि मुझे इस बात का विश्वास नहीं कि पंजदेह सचमुच उसी का है, और न कभी विशेष रूप से उस पर अधिकार ही किया । वह जुल्फिक़ार के बदले उस स्थान पर से अपना दावा छोड़ सकता है, जो पश्चिम में ८५ मील की दूरी पर है । अब्दुर्रहमान के शान्त और अविचलित रहने के कारण संकट टल गया और निश्चय ही उसने ब्रिटेन की उस सहायता का कुछ बदला चुका दिया जो भूत में ब्रिटेन उसे देता आया था । बहुत सम्भव है कि अमीर ने अपने और ब्रिटेन तथा रूस के मध्य युद्ध को रोकने की दृढ़ धारणा के कारण सारी स्थिति को समझ लिया हो जबकि युद्ध के समय उसका देश ही युद्ध का अखाड़ा बनता । उसने कहा कि "अफगानिस्तान चक्की के दो पाटों के बीच में है और पिस चुका है ।" बाद में अपने जीवन चरित्र में बहुत-सी काल्पनिक बातें करते हुए उसने लिखा है कि "मेरा देश उस गरीब बकरी की तरह था जिस पर सिंह और भालू दोनों आंख गड़ाए हुए थे—वह शिकार सर्वशक्तिमान प्रभु की सुरक्षा के बिना नहीं बच सकता था ।"

लार्ड डफरिन ने फलत: इंग्लैण्ड तार दिया कि पंजदेह को युद्ध का कारण बनाने की आवश्यकता नहीं और अफगान-सीमा-आयोग अपना काम जारी रखेगा । यद्यपि सर पीटर लम्सडन को वापिस बुला लिया गया पर सर वैस्ट रिजवे ने प्रयत्न जारी रखे । बहुत लम्बी सन्धि-वार्ता के बाद हरिरुद से परे पारोपामिसस श्रृंखला से ओक घाटी की नीची भूमि तक सीमा पंक्ति निर्धारित की गई परन्तु इस प्रश्न पर संतोषप्रद समझौता न हो सका कि सीमा रेखा ओक को कहां छुए । काबुल में अमीर से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिल कर और शिमला में लार्ड डफरिन से सारे प्रश्न पर विचार कर सर वैस्ट रिजवे इंग्लैण्ड चला गया। काबुल, शिमला, लन्दन और सैण्ट पीटर्जबर्ग के मध्य लंबी सन्धि-वार्ता के पश्चात् एक मसौदे पर १८८७ में सैण्ट पीटर्जबर्ग में हस्ताक्षर द्वारा सीमा निर्धारण हुआ। जो निर्णय हुआ उसका बहुत महत्व था। सर वैस्ट रिजवे ने घोषणा की कि नयी सीमा से अमीर को एक कौड़ी राजस्व, एक भी आदमी अथवा एक एकड़ भूमि को भी हानि नहीं हुई। ओक नदी तक सीमा के निर्णय से हिरात की ओर रूस की प्रगति रुक गयी—हिरात को युद्ध विद्या-विशारदों ने भारत की कुंजी कहा है—ऐसा क्यों, यह समझ में नहीं आता। १८९५ में इंग्लैण्ड और रूस की नयी सन्धि तक, पूर्व में पामीर की ओर रूस की प्रगति जारी रही। सर एल्फ्रेड लायल का कहना है कि "ब्रिटिश और रूसी अफसरों द्वारा ओक नदी से हिन्दूकुश तक रखे हुए सीमास्तम्भ यूरोप की दो शक्तियों के एशिया में अपने साम्राज्यों के विस्तार को रोकने के प्रमाण हैं।"

युद्ध की खरोचों से भारत की राजनीति पर स्थायी चिह्न रह गये। शीघ्रता में की गयी युद्ध की तैयारियों से भारतीय कोष पर २० लाख का अतिरिक्त भार पड़ गया तथा देशीय और यूरोपियन सेनाओं की स्थायी वृद्धि के कारण यह चालू रहा। कठोर संकट में अनेक देशी राज्यों ने सरकार को अपनी सैनिक सेवाएं सौंप दीं और साम्राज्यीय सेवा सेना की परम्परा चली—जिसके द्वारा सरकार को आवश्यकता पर उनके प्रयोग का अधिकार प्राप्त हुआ। रक्षित राज्यों में उनकी भरती की जाती थी। उनके अफसर भारतीय होते थे और केवल ब्रिटिश कमांडर उनका निरीक्षण कर सकते थे।

१८८५ में अफगानिस्तान के अमीर के साथ लार्ड डफरिन की मुलाकात से ब्रिटेन के प्रति अमीर की सद्भावना और भी दृढ़ हो गयी। सर एल्फ्रेड लायल ने, जो बात-चीत के समय उपस्थित थे, अफगान शासक का स्पष्ट चित्र खींचा है: "दो हीरों-जड़ित काला छोटा यूनिफार्म वाला कोट पहने और सिर पर दुम्बे की खाल की टेढ़ी-मेढ़ी टोपी रखे, नाटा मोटासा आदमी विदेशियों की भीड़ में अपनी स्वाभाविक शान्ति-पूर्ण स्थिति में था, और अपनी प्रथम रेलयात्रा के सम्बन्ध में आकर्षक ढंग से बात कर रहा था। उसकी हंसी में कुछ मजाक था और कभी-कभी उसके मुख पर क्रूर भाव झलकते थे—वह झलक जो लुई ११वें और हेनरी ८वें में मिलती थी—और जो आजकल किसी सभ्य प्राणी में नहीं देखी जाती।"

वायसराय के आकर्षण और चातुर्य ने अब्दुर्रहमान पर, जैसा कि लार्ड मेयो ने उसके पूर्वाधिकारी को प्रभावित किया था, बहुत प्रभाव डाला—परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि शासक अमीर अपने पूर्वज की तरह अफगानिस्तान से ब्रिटिश सेनाओं और अफसरों को निकालने पर दृढ़ है। लार्ड डफरिन ने हिरात की किलेबन्दी की निर्बलता की आलोचना की और उसे दृढ़ करने के लिए ब्रिटिश इन्जीनियर देने का सुझाव रखा परन्तु इस सुझाव के विरोध में वह यह तर्क उपस्थित करता रहा कि इससे अफगान लोग सोचेंगे कि यह उनकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण है और इसका बुरा फल होगा। भाग्य से लार्ड लिटन की अपेक्षा लार्ड डफरिन ने अफगान दृष्टिकोण को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझने में अधिक तत्परता दिखायी और यह जानकर अपने सुझाव पर बल देना छोड़ दिया कि अफगानों की अपने देश की अखंडता के लिए प्रबल चाह उन लोगों के प्रति शत्रुता उत्पन्न कर देगी जो भारत पर आक्रमण के लिए उस देश को आधार बनाएंगे। आदर सम्मान से प्रसन्न, भारत की सैन्य शक्ति से प्रभावित और वायसराय के प्रति मित्रता की भावनाएं ले कर अब्दुर्रहमान कान्फ्रेंस से गया।

भारतीय साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर बर्मा विजित हो चुका था। १८२६ के पहले बर्मी युद्ध में अराकान और तेनासरीम और १८५२ के दूसरे युद्ध में पेगू प्रान्त छीन लिये गये। उत्तरीय बर्मा का समुद्र से सम्बन्ध कट चुका था तो भी अब तक वह स्वतन्त्र था। बर्मी अभी तक अपने देश में ब्रिटिश व्यापार के लिए सुविधाएं देने को तैयार नहीं थे। १८७८ में क्रूर प्रजा पीड़क थेबा गद्दी पर बैठा। ब्रिटिश राजदूत से उसके अपमानजनक व्यवहार के कारण १८८२ में वहां से प्रतिनिधित्व हटा लिया गया। १८८२ में नयी सन्धि के लिए फिर बातचीत आरम्भ हुई पर कोई लाभ न हुआ। दक्षिणी बर्मा और रंगून के ब्रिटिश व्यापारी थेबा से राज्य छीनने की प्रेरणा करने लगे। परन्तु इसमें सन्देह है कि प्रजा से दुर्व्यवहार अथवा रंगून के व्यापारियों के दबाव ने भारत सरकार पर प्रभाव डाला। थेबा जर्मनी, इटली और विशेष रूप से फ्रांस, जिसके उपनिवेश हिन्द-चीन में उसकी पूर्वी सीमा को छूते थे, व्यापार सन्धियां करने लगा। यद्यपि ऐसा करने के लिए उसके अधिकार में संदेह करना असम्भव दिखायी देता है—तथापि यही बात उसके अन्त का कारण हुई। १८८३ में बर्मा द्वारा पैरिस को दिये संदेश के कारण १८८५ में एक फ्रांसीसी राजदूत मांडले पहुंचा। यद्यपि फ्रांस सरकार उसके कार्यक्रम के ज्ञान से इन्कारी थी परन्तु उसने नगर में एक फ्रांसीसी बैंक स्थापित करने की तैयारियां कीं। इन तथ्यों के आधार पर कि बर्मी सरकार ने संकट पैदा करने के लिए ब्रिटिश व्यापारियों पर भारी जुर्माने किये हैं, ब्रिटिश सरकार को अवसर मिल गया। लार्ड डफरिन अधिक जांच पड़ताल के लिए दबाव डालता रहा। अवा के राजा ने मामले पर पुनर्विचार की अस्वीकृति दे दी—इस पर उसे अन्तिम चेतावनी दी गयी और यह मांग की गयी कि वह मांडले में ब्रिटिश राजदूत को रखना स्वीकार करे, राजदूत के आने तक कम्पनी के विरुद्ध कार्यवाही बन्द की जाए, भारत सरकार के परामर्श के बिना किसी देश से विदेश-सम्बन्ध न रखे और अपने देश की राह चीन से व्यापार की बात को स्वीकार करे। संशोधन के बिना बर्मी सरकार ने इन शर्तों को मानना स्वीकृत न किया। रंगून में जो सेनाएं पहले ही इकट्ठी थीं उन्हें आक्रमण की आज्ञा दी गयी। इरावदी में एक बेड़े के साथ जनरल प्रेण्डरगस्ट ने उत्तरी बर्मा पर आक्रमण किया। बर्मी आश्चर्य में पड़ गये और सामना न कर सके। जब ब्रिटिश सेनाएं राजधानी में पहुंचीं तो राजा ने बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। दस दिन में युद्ध का प्रथम चरण समाप्त हो गया। भारत सरकार के सामने दो विकल्प रखे गये कि उत्तरीय बर्मा को अन्तराल राज्य बना दिया जाए अथवा ब्रिटिश रैजीडेण्ट द्वारा उसका शासन किया जाए। यह दोनों बातें विचार के बाद अस्वीकृत हुईं। फ्रांस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

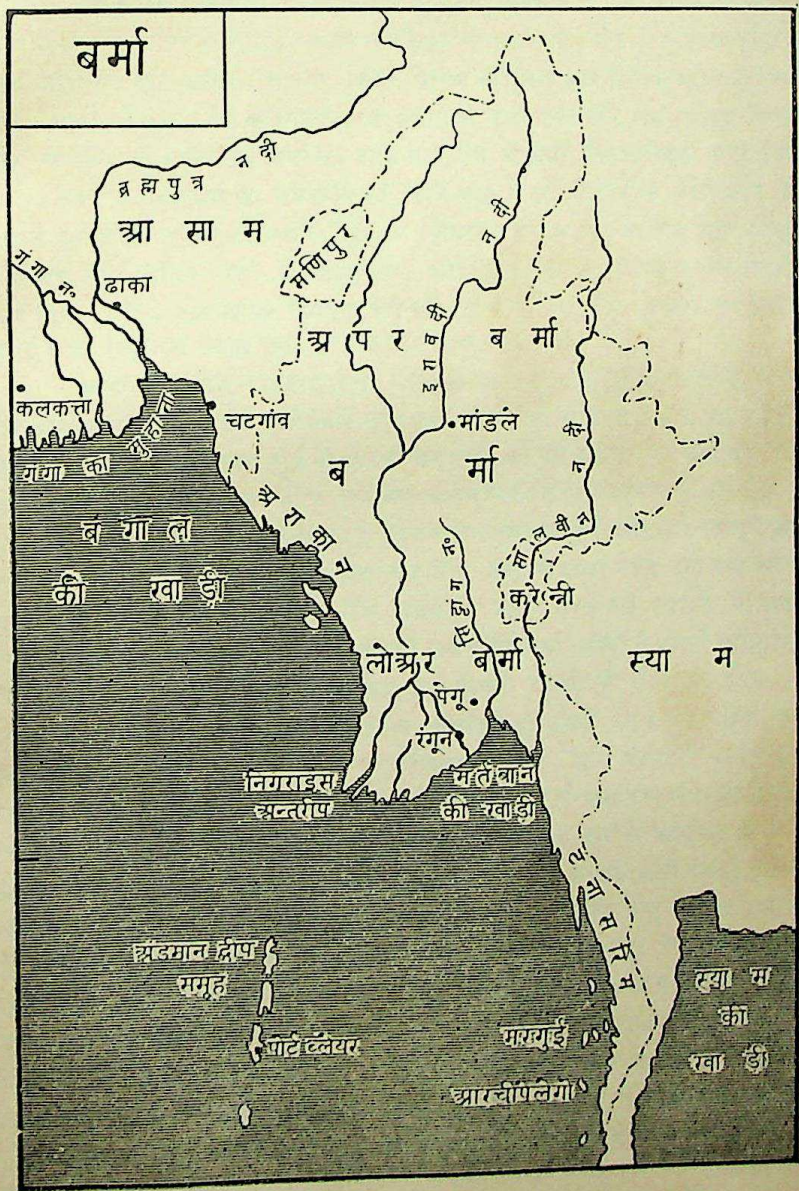

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri. Preservation, Conservation and Digitization

से बड़े और ४० लाख की जनसंख्या वाले उत्तरीय बर्मा पर एक घोषणा द्वारा अधिकार कर लिया गया ।

परन्तु अब आधिपत्य की वास्तविक कठिनाई आयी। देश के अधिकांश भाग में फैले जंगलों में सेना से बिछुड़े सशस्त्र सैनिकों ने शरण ली और अवरोधक गुरिल्ला युद्ध और लूट मार आरम्भ कर दी। अनेक ब्रिटिश असैनिक और सैनिक अधिकारी मारे गये। बहुत-सी कुमुक देश के आभ्यंतरिक भागों में भेजी गयी और यह लड़ाई दो वर्ष तक चलती रही। उत्तरीय बर्मा का दमन सारे देश में फैली किलेबन्दियों द्वारा किया गया। इन किलेबन्दियों से चलते-फिरते दस्ते युद्ध करते थे। चीफ कमिश्नर सर चार्ल्स बर्नार्ड के अधीन धीरे-धीरे देश की व्यवस्था का काम आरम्भ हुआ। चतुर असैनिक सेवा अधिकारियों ने आश्चर्यपूर्ण शीघ्रता से देश में ब्रिटिश शासन स्थापित कर दिया। देश के राजनीतिक विभाग किये गये; सड़कें, पुल और रेलपथों का निर्माण हुआ। कर-निर्धारण किया गया और कानून लागू किये गये।

काम की भयंकर कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए सैनिक हलचलों के अधिक देर तक चालू रखने के लिए इंग्लैण्ड में लार्ड डफरिन की जो आलोचना हुई, वह अनुचित थी। हां, युद्ध के लिए तत्पर होने के कारणों पर शंका की जा सकती है। बर्मा पर अधिकार का हमारा कार्य निश्चय ही राजनीतिक अविवेक की कठोर समस्या से पूर्ण था। इस सारे मामले में भारत सरकार की सारी कार्यवाही अत्याचारपूर्ण और उद्धततापूर्ण थी। यह स्वीकार किया जा सकता है कि थेबा क्रूर और असभ्य राजा था। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश बर्मी अपने नये स्वामी के अधीन सुव्यवस्थित सभ्य राज्य में सुखी थे। यह भी सच है कि बर्मी लोगों ने हमारे व्यापारियों से अच्छा व्यवहार नहीं किया परन्तु यह बात मानते रहना भी ढोंग ही होगा कि राजा का कुशासन और ब्रिटिश व्यापार में रुकावट ही उसके पतन के कारण हुए। लार्ड डफरिन ने युद्ध आरम्भ होने से पहले लिखा था कि, "यदि फ्रांसीसी कार्यवाही से उत्तरीय बर्मा में हमारे किसी काम में बाधा उपस्थित होती तो उस पर अधिकार करने में मैं न हिचकता।"[1] निष्पक्ष आलोचक कह सकता है कि हिन्द-चीन से फ्रांसीसी लोगों को बर्मा पर अपना प्रभाव विस्तृत करने का कम से कम इतना अधिकार तो था ही, जितना भारत से ब्रिटेन को। फ्रांस को तो इससे भी अधिकार था क्योंकि वह स्वतन्त्र शासक के निमन्त्रण पर वहां आया था। परन्तु ब्रिटेन ने ठीक या गलत सोचा कि जब दो तिहाई बर्मा पर उसका अधिकार है तो यह उसका अन्तर्निहित अधिकार—उत्तराधिकार का बहाना कि किसी दूसरे यूरोपियन देश का शिकार होने की अपेक्षा वही उसके शेष भाग पर अधिकार कर ले। शक्तिशाली पश्चिमी साम्राज्यों और निर्बल पूर्वी राष्ट्रों में सम्बन्ध के तर्क को सुलझाना कठिन है परन्तु यह भय की बात रही है कि जब बड़े औपनिवेशिक राष्ट्र उन पर हावी होने लगे तो उन्होंने अर्ध सभ्य देशों के मूल अधिकारों को भी स्वीकार नहीं किया।

1. Life of the Marquis of Dufferine & Ava, by Sir Alfred Lyall, p. 398

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्मा विजय के कारण चीन के साथ भारत के कूटनीतिक सम्बन्धों में कुछ संशोधन करना आवश्यक हो गया क्योंकि वह वर्मा पर अपना अस्पष्ट अधिकार जताता था। यद्यपि यह दावा केवल औपचारिक था परन्तु भारत सरकार पूर्ण रूप से इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। प्रस्पुत स्थिति के अनुसार समझौता करना पड़ा। तिब्बत की निष्ठा भी चीन से थी। ब्रिटेन को लासा में व्यापारिक मिशन भेजने की साधारण-सी स्वीकृति प्राप्त हुई। पर तिब्बतवासियों ने बहुत स्पष्ट रूप से मिशन के आने का विरोध किया। यह नहीं कह सकते कि इस काम में चीन का उसे समर्थन प्राप्त था या नहीं। यह विषम प्रश्न १८८६ में चीन से एक समझौते द्वारा सुलझा। यह निर्णय हुआ कि यदि चीन वर्मा पर अपने अधिराज्य का दावा त्याग दे और उस पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकार कर ले तो तिब्बत को मिशन भेजने का इरादा छोड़ दिया जाएगा। तिब्बतवासियों से अभी थोड़ी कठिनाई की आशा थी। मिशन ने जिस मार्ग से वहां जाना था वह उसी की संरक्षित रियासत सिक्किम में से होकर जाता था। तिब्बतवासी अपने देश में आने का मार्ग रोकने के लिए सिक्किम के प्रदेश में घुस आये और उन्होंने लिंगतू के किले को घेर लिया। उन्हें वहां से हटाने के शांतिपूर्ण साधन असफल ही रहे और जब चीन ने उन्हें दबाने में असमर्थता दिखायी तो १८८८ में ब्रिटिश सेना ने उन्हें उनकी सीमा में खदेड़ दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय :: १०

लार्ड लैंसडाऊन का शासनकाल, अग्रगामी नीति

दिसम्बर १८८८ में लार्ड लैंसडाऊन ने भारत सरकार का उत्तरदायित्व संभाला। उसके शासनकाल की सबसे बड़ी आन्तरिक समस्या थी--चांदी की कीमत में विश्व-व्यापी मंदी का मुद्रा पद्धति पर प्रभाव। मुख्य रूप से यह मंदी नयी खानों के खुलने से चांदी के उत्पादन में वृद्धि से हुई थी--जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग का प्रमुख आर्थिक अंग था। एक गौण कारण यह भी था कि जर्मनी ने चांदी का मूल्य घटा दिया और लैटिन संघ के राज्यों ने दो धातुओं के सिक्के बनाने का चलन त्याग दिया था। इस प्रकार चांदी के सिक्के जो यूरोप के महत्वपूर्ण देशों में चलते थे--प्रतीक मुद्रा रह गये थे। इसके कुछ विचित्र आर्थिक परिणाम हुए। जिन देशों की मुद्रा स्वर्ण स्तर पर आधारित थी, उनमें से किसी को भी भारी हानि नहीं हुई। जिन देशों की मुद्रा का आधार चांदी था और उन्हें थोड़े विदेशी ऋण चुकाने थे, उन्हें मामूली हानि हुई, परन्तु जिनकी मुद्रा का आधार चांदी थी और जो स्वर्ण स्तर वाले देशों के ऋणी थे, उन्हें भारी अर्थ संकट का सामना करना पड़ा। भारत भी इसी अन्तिम श्रेणी के देशों में था। उसका अधिकांश व्यापार और आर्थिक लेनदेन ब्रिटेन से था। वह अपने अधिपति का ऋणी था। उसको ऋण का शेष भाग--जिसमें सार्वजनिक-ऋण, भारत में लगी हुई पूंजी पर ब्याज, पेंशनें और इण्डिया आफिस के व्यय सम्मिलित थे, सोने के रूप में भुगतान करना है। यह स्पष्ट है कि सोने के मूल्य के मुकाबले में चांदी का मूल्य गिर जाने के कारण, प्रत्येक पौंड पावन के लिए अधिक रुपये देने थे। यह भार दो प्रकार से अधिक होता गया। एक तो यह कि प्रत्येक वर्ष रुपये का मूल्य गिरता गया और दूसरे बर्मा पर अधिकार से सब प्रकार के सरकारी कार्यों पर व्यय बढ़ गया। इस प्रकार भुगतान की राशि बढ़ती रही। आरम्भ में रुपये का मूल्य दो शिलिंग तीन पेंस था। १८७३ से पहले कई वर्ष दो शिलिंग रहा। उसके बाद उक्त कारणों से उसका मूल्य गिरना आरम्भ हो गया और १८८५ के बाद तेजी से गिरा। १८९० में रुपये का मूल्य केवल एक शिलिंग चार पेंस रह गया। आगामी वर्ष विशेष कानूनों के कारण अमेरिका में आर्थिक तेजी आयी परन्तु १८९३ में रुपये का मूल्य एक शिलिंग और एक पेनी तक पहुंच गया।

आर्थिक भूलों के परिणाम को अतिशयोक्ति रूप में वर्णन करना सरल न होगा। १८९४ में भारत की स्थिति के अनुसार--जो उसकी अपनी भूलों के कारण नहीं वरन् संसार की आर्थिक शक्तियों के कारण पैदा हो गयी थी, १८७३ की अपेक्षा ऐसी ही राशि से ५० प्रतिशत अधिक भुगतान करना पड़ा था। रुपये के कम से कम मूल्य पर पहुंचने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से पहले १८९२ में यह अनुमान कर लिया गया था कि भारतीय जनता से करों द्वारा ६० लाख पौंड इकट्ठा करना होगा। विनिमय के विस्तार से भारी अप्रत्याशित घाटा हुआ और बहुत सतर्क वित्त मंत्री की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। उन्होंने यूरोप से पूंजी के बहाव को रोका और व्यापारिक तथा व्यावसायिक कारोबार को नष्ट कर दिया। सरकार को विवश हो कर जन-कार्यों का व्यय रोकना पड़ा जबकि स्थिति टैक्स हटाने के भी अनुकूल थी—भले ही वह फिर लगाने पड़ते। इस ऋण का भुगतान आयात की अपेक्षा अत्यधिक निर्यात द्वारा प्रारम्भ हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय विविधताओं का अध्ययन करने वाला यह कहेगा कि भारत ने जो ऋण देना था वह सोने, चांदी या रोकड़ की अपेक्षा द्रव्य के रूप में भुगताया गया। रुपये से दुगुने मूल्य का सामान उस राशि को पूर्ण करने के लिए भेजा गया जो १८७३ से पहले पौंडों के रूप में थी। परन्तु इस कृत्रिम विदेशी व्यापार की तेजी से निर्यात के लिए सामान तैयार करने वालों ही लाभ हुआ जबकि व्यापारी समुदाय के सामान्य हित पर विपरीत प्रभाव हुआ; उन सब पर कर लगे कि कहीं निर्यात के लिए उत्पादक इससे अप्रत्यक्ष लाभ न उठाएं।

अपने बढ़ते हुए दायित्व के कारण सरकार को और अधिक कर लगाने को बाध्य होना पड़ा। भारत में सदा से अवांछित आय-कर फिर लगाया गया और नमक-कर बढ़ा दिया गया जो अनेकों को अप्रिय और पीछे को लौटने के समान था। यह पग केवल क्षणिक शांतिदायक थे। सरकार ने राज्य सचिव को चेतावनी दी कि यदि कोई स्थायी प्रतिकार न किया गया तो भारत की स्थिति आर्थिक तौर पर दिवालिया और राजनीतिक रूप में भयंकर हो जाएगी। १८९२ में भारत सरकार ने मंत्रिमंडल के सामने यह सुझाव रखा कि यदि सम्भव हो सके तो अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा सोने और चांदी में एक अनुपात निश्चित किया जाए और यदि यह प्रयत्न असफल रहे तो स्वर्ण-स्तर लागू करने के लिए भारत की टकसालों में चांदी का मुक्त मुद्रांकन बंद कर दिया जाए। १८९२ के नवम्बर, दिसम्बर मास में ब्रसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी सम्मेलन हुआ। इसमें भारतीय प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया परन्तु किसी निर्णय पर पहुंचे बिना सम्मेलन समाप्त हो गया। इसलिए इंग्लैण्ड की सरकार ने लार्ड हरशैल के अधीन कमेटी के परामर्श को कुछ संशोधन के साथ माना और १८९३ में भारतीय टकसालों में चांदी का मुक्त मुद्रांकन बन्द कर दिया गया और रुपये के बदले सोना या पौंण्ड वसूल किया जाने लगा। पौंड का दर १५ रुपया अथवा उसके बराबर सोना रखा गया। रुपये का मूल्य १८९५ में, जब तक उसे रोका न गया, गिरता गया।

१८९० में आसाम की सीमा पर स्थित छोटी-सी पहाड़ी रियासत मनीपुर में भयंकर विद्रोह हुआ। विवादास्पद उत्तराधिकार के प्रश्न पर वहां की सरकार में मतभेद पैदा हो गया। निरंकुशता यहां तक बढ़ गयी कि वायसराय ने इस आधार पर हस्तक्षेप करने का निश्चय किया कि साधारणतया रक्षित राज्यों में उत्तराधिकार का प्रश्न सुलझाने का उत्तरदायित्व सरकार पर है। आसाम के चीफ कमिश्नर को चार-सौ रक्षक देकर वहां विद्रोह के कारणों की जांच के लिए भेजा गया। सेनापति, को जिसने क्रान्ति की थी और सरकार पर अधिकार कर लिया था, गिरफ्तार करने का यत्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनीपुर में विद्रोह के कारण असफल रहा। थोड़े युद्ध के बाद चीफ कमिश्नर और तीन अन्य व्यक्तियों को कांफ्रेंस के लिए तैयार किया गया और वहां उनका निर्दयता से कत्ल कर दिया गया। छोटे अधिकारियों ने, जिनके पास रक्षक सेना का नेतृत्व था, दिल छोड़ दिया और ब्रिटिश क्षेत्र में लौट आये। इन्हें नौकरी से पृथक कर दिया गया। परन्तु पूर्वी बंगाल की सीमा पर मनिपुरियों के आक्रमण को रोक दिया गया। ब्रिटिश सेना ने राजधानी पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया और सेनापति सहित हत्यारों को फांसी दे दी गयी। उत्तेजना के बावजूद भी उसे राज्य में नहीं मिलाया गया। राज्य परिवार के एक अल्पवयस्क सैनिक को सरदार की पदवी दी गयी। उसके वयस्क होने तक एक ब्रिटिश राजनीतिक एजेन्ट मनीपुर का शासन करता रहा। उसने राज्य से दासता को समाप्त किया।

एक रक्षित अधीन राज्य में भारत की परम्परा के विपरीत विद्रोह हुआ। १८९२ में कलात के खान ने अतिनिर्दयतापूर्ण कृत्यों के साथ अपने वजीर को उसके पिता और पुत्र सहित फांसी पर चढ़ा दिया। ब्रिटिश सरकार ने अपराधों के उत्तर के लिए उसे क्वेटा बुलाया और कलात के सरदारों की स्वीकृति से उसे गद्दी छोड़ने को विवश किया, यद्यपि उन्होंने उसके पुत्र को उसका उत्तराधिकारी मान लिया।

लार्ड लैंसडाऊन का वायसराय काल भारतीय साम्राज्य की उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी सीमा रेखाओं पर विशेष हलचलों के कारण अंकित है। यथानियम निर्बल राज्यों को हड़पते हुए इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस और चीन सामान्य केन्द्र की ओर बढ़ रहे थे। रूस द्वारा अपने दक्षिणी एशियाटिक रेलपथ के विस्तार, मेकांग तक हिंदचीन में फ्रांस की प्रगति और ब्रिटेन द्वारा उत्तरीय बर्मा की विजय से इन राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अधिक निकट आ गये थे। इनकी सीमाएं अभी सामान्य न थीं और उनमें सापेक्ष स्थायित्व भी नहीं आया था परन्तु वे ऐसी अन्तरिम स्थिति में थे कि मानो राजनीतिक विद्युत की चिंगारी विस्फोट उत्पन्न कर देगी। पूर्व में प्रत्येक बड़े राष्ट्र का आधुनिक कार्य, अपनी असली सीमाओं से बाहर को प्रगति करते रहना है। इसके सम्बन्ध में लार्ड लैंसडाऊन ने कहा है कि "यह अपने प्रभाव का वह क्षेत्र होता है—जहां हम अपने आप शासन करने का यत्न नहीं करते परन्तु और किसी दूसरे के आक्रमण को भी स्वीकार नहीं कर सकते।" वास्तविक सीमा से परे के यह प्रभावक्षेत्र उस किले के समान हैं जिसके चारों ओर से वृक्ष और भवन हटा दियें गये हों—जिससे कि वहां शत्रु छिप न सके। इस स्थान पर कोई रक्षक सेना नहीं होती–परन्तु इसे यदि आवश्यक हो तो गोला-बारी से उड़ाया जा सकता है और किसी शत्रु को उस स्थान में पांव जमाने नहीं दिया जाता। इसी प्रकार इस सीमा के परे के क्षेत्रों में रक्षक राष्ट्र वहां के घरेलू मामलों में दखल नहीं देता परन्तु उसे यह अधिकार होता है कि वह अमित्र देश को वहां से हटा दे और आवश्यकता पड़ने पर वहां के भागों का उपयोग करे। भय यही है कि यह "प्रभावक्षेत्र" स्थायी रूप से कदाचित ही ऐसी स्थिति में रहते हैं। या तो उनको उनकी स्वीकृति से ही हड़प लिया जाता है अथवा बलात् उन्हें अपनी सीमा में मिला लिया जाता है। जब यह हो जाता है तो नया प्रभावक्षेत्र वहां तक बढ़ता जाता है जहां तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि दूसरी ओर के राष्ट्र की चौकियां नहीं आ जातीं और सम्बन्ध का अत्यन्त भयंकर बिन्दु उपस्थित हो जाता है ।

लार्ड लैंसडाऊन के काल में उत्तर-पूर्वी और पूर्वी सीमाओं पर विस्तार और ब्रिटिश संरक्षितों की व्याख्या का काम विशेष रूप से हुआ। हमारा प्रभाव और अधिकार सिक्किम पर, जो उस देश और तिब्बत के मध्य सीमा को जुदा करता है, चटगांव के उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में रहने वाले लुशाई लोगों पर, इरावदी से उस पार शान राज्यों पर, कुछ सुदूर पूर्व में चिनों पर और पूर्वी बर्मा की सीमा पर देशी रियासत करेन्नी तक फैल चुका था।

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर इतनी सरलता से काम नहीं हुआ। जहां लार्ड मेयो ने शेरअली से सम्मान प्राप्त किया था तहां उसके उत्तराधिकारी लार्ड नार्थब्रुक के प्रति वह सद्भावना नहीं रही। इसी तरह लार्ड डफरिन ने अब्दुर्रहमान से जो श्रेष्ठ संबंध स्थापित किये थे वह पहले-पहल लार्ड लैंसडाऊन के साथ न रह सके। अफगान अमीर का ब्रिटेन के प्रति मित्रतापूर्ण रवैया अपने हित की बुद्धिमत्तापूर्ण धारणा पर स्थिर था परन्तु व्यक्तिगत रूप में वायसरायों के प्रति प्रेम और रूखापन, उसके सीमांत से पर्याप्त दूरी अथवा निकट खिसकने की उनकी इच्छा के अनुसार होता था ।

नीतिमत्ता के बहुत कुछ कठोर स्तर और रूखे तथा संकोचशील स्वभाव के कारण लार्ड लैंसडाऊन से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह अमीर की मित्रता प्राप्त कर लेगा जैसाकि उसके पूर्वाधिकारी ने किया था। अब्दुर्रहमान ने वायसराय के "तानाशाहों" जैसे पत्रों के प्रति क्रोध प्रकट किया। उनके सम्बन्ध में वह कहता है कि, "वह मुझे अपने राज्य के शासन-प्रबन्ध-संबंधी आन्तरिक मामलों में आदेश देता और मुझे कहता था कि मैं किस प्रकार अपनी प्रजा से व्यवहार करूं।" वस्तुतः लार्ड लैंसडाऊन के काल के अन्तिम वर्षों तक अफगान और भारत सरकार में ब्रिटिश विदेश नीति की परिवर्तित दिशा के कारण खिंचाव हो गया था। जैसाकि पहले ही कहा गया है, ब्रिटिश-सीमा और अफगान सीमा-रेखा के मध्य २५ हजार वर्ग मील के कबाइली क्षेत्र की पट्टी थी। इन कबीलों की अमीर के प्रति नाममात्र की निष्ठा रही होगी परन्तु इस क्षेत्र में वह किसी के हस्तक्षेप को ईर्ष्या से देखता था क्योंकि उसके देश और ब्रिटिश सीमा के मध्य इस क्षेत्र का महत्त्व पर्दे के समान था। वह अपने हित के लिए उन पर थोड़ा-बहुत नियंत्रण रखता था। यदि वह अपने शक्तिशाली पड़ौसी को कभी गड़बड़ में डालने की इच्छा करता तो उनमें अव्यवस्था को उभाड़ देना उसके लिए बहुत ही सरल था। वे बहुत थोड़े से प्रोत्साहन पर ब्रिटिश व्यापार-मार्गों पर लूटमार और सीमा-पार आक्रमण के लिए सदैव तैयार रहते थे जबकि अफगान सरकार दुर्दान्त सामंत राज्यों को रोकने में असमर्थता दिखाते हुए सदा चौकसी से पृष्ठ-भूमि में रही। भारत सरकार के पास समय-समय पर दण्डात्मक अभियानों द्वारा आक्रान्ता बस्तियों को नष्ट कर देने और अपनी सीमा में लौट आना ही बदले के लिए एकमात्र साधन था। अग्रगामी विचार के लोग तो बहुत देर से सामरिक महत्त्व की रेलों का विस्तार,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अफगान और ब्रिटिश सीमा का निर्णय और सारे कबाइली प्रदेश को छोटा करने के प्रयत्न करते आ रहे थे। अधिकृत प्रदेश पर होने वाला महान् व्यय और सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थायी रूप से अब्दुर्रहमान की बेरुखाई का विश्वास ही इस योजना के विरोधी तर्क थे। इन बातों पर उत्तरदायी अधिकारियों ने अच्छी तरह विचारा और यह अनुभव किया कि अपने इतने महत्त्वपूर्ण साथी की भावनाओं पर आघात करने के स्थान पर भारत सरकार को ही कठिनाइयों का सामना करना चाहिए। जबकि लार्ड राबर्ट्स सेनापति था, और जिसका विश्वास "सभ्य राष्ट्रों के लिए कबाइलियों के मामलों में हस्तक्षेप न करने का था", तिस पर भी अग्रगामी नीति से सम्बन्धित कुछ पग उठाये गये जिससे अब्दुर्रहमान को बेचैनी हुई और जिनका सैन्य अधिकारियों ने भी पूर्णतया समर्थन नहीं किया। सर जॉन एडी ने लिखा था कि "गत वर्षों की सीमा-नीति कई रूपों में कबाइलियों के प्रति आक्रमणशील और उनके अधिकारों के प्रति असम्मानपूर्ण थी!"[1] बोलान दर्रे तक सैनिक रेलपथ बन चुका था और क्वेटा से लेकर काश्मीर तक की सीमा-रेखा पर स्पष्ट हलचल दिखाई देती थी।

काश्मीर में अपेक्षाकृत कुछ भद्दी घटनाएं और षड्यन्त्र हुए जिनके सम्बन्ध में अभी तक पूरा प्रकाश नहीं डाला गया। १८८५ में नया महाराजा प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। लार्ड डफरिन ने १८८८ में ब्रिटिश रैजीडेण्ट प्लाउडन को रियासत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप के विचार से बुलाया। १८८९ में लार्ड लैंसडाऊन ने मनघड़ंत आरोपों—जो कि कभी भी प्रमाणित नहीं हुए—पर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली और ब्रिटिश रैजीडेण्ट के नियन्त्रण में कौंसिल को शासन-अधिकार सौंप दिये। इस कार्य-वाही से ऐसा प्रतीत होता था कि काश्मीर भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाएगा और पार्लियामैंट में यह भय प्रकट भी किया गया। जुलाई १८९० में ब्रैडला ने इस सम्बन्ध में स्थगन प्रस्ताव रखा और विवाद हुआ। चाहे संसद् की कार्यवाही से अथवा कुछ अन्य कारणों से हो, १९०५ में महाराजा को फिर गद्दी पर बिठा दिया गया और उसके पश्चात् काश्मीर के शासन पर नियंत्रण का यत्न नहीं किया गया।

१८८८ में मार्टीमर ड्यूरंड के अधीन ब्रिटिश नीति की प्रामाणिकता सिद्ध करने और अमीर का भय दूर करने के लिए एक मिशन अफगानिस्तान जाने की तैयारी ही में था परन्तु इशहाक खां के विद्रोह के कारण उसका प्रस्थान स्थगित कर देना पड़ा। उसने अब्दुर्रहमान को अफगान-तुर्किस्तान की सीमा से दूर ही दो वर्ष तक रोके रखा। फल-स्वरूप स्थिति और भी तनावपूर्ण हो गयी। काश्मीर के सीमान्तीय प्रान्त—गिलगित—में ब्रिटिश हलचलों को अमीर बहुत अविश्वास से देखता रहा। रूसी आक्रमण के अपेक्षाकृत व्यर्थ भय के कारण १८८९ में एक ब्रिटिश अधिकारी वहां भेजा गया। हुंजा और नगर नामक दो छोटी रियासतों के सरदारों ने उसकी उपस्थिति का विरोध किया। इन सरदारों की काश्मीर के प्रति साधारण निष्ठा थी। उन्होंने गिलगित पर आक्रमण किया

1. Indian Frontier Policy, by General Sir John Adye, G. C. B. 1897, p. 58.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर वे पराजित हुए और उन्हें दण्ड दिया गया। गिलगित का वास्तविक महत्त्व यह है कि इसका—वेल्स से बड़ी और अस्सी हजार पहाड़ी जनसंख्या वाली छोटी रियासत—चितराल से सीधा सम्बन्ध है। इस चितराल से हिन्दूकुश तक सुगम और सीधे दर्रे जाते हैं। १८९२ में सरदार मर गया और उसके पुत्र को कठिनाई से उत्तराधिकार मिला। इससे ब्रिटिश दूत—डा० राबर्टसन—को भेजने का बहाना मिल गया। वह १८९३ में चितराल पहुंचा। अब्दुर्रहमान ने ब्रिटिश दूत के वहां जाने और अपने देश तक पहुंचने वाले दर्रे तक रेलपथ बनाने के कार्यों को बहुत अरुचि से देखा। स्थिति बहुत ही नाजुक थी। लार्ड लैंसडाऊन ने स्वीकार किया है कि "सब स्थितियों से विरोधी धारणा और कटुतापूर्ण सम्बन्ध उत्पन्न होने का अनुमान लगाया जा सकता था।" अफगानपक्ष की ओर से दिया गया वक्तव्य भी तदनुरूप है। अब्दुर्रहमान ने घोषित किया कि "अफगानिस्तान और इंग्लैण्ड युद्ध के अत्यन्त निकट हैं।" भाग्य से संकट टल गया और लार्ड लैंसडाऊन के कार्य छोड़ने से पहले ही संतोषप्रद समझौता हो गया। १८९२ में फिर एक मिशन अफगानिस्तान भेजने का निश्चय हुआ परन्तु लार्ड राबर्ट्स को दूत चुनने की दुर्भाग्यपूर्ण गलती की गयी, क्योंकि वह अग्रगामी नीति का समर्थक था और उसने दूसरे अफगान युद्ध में महत्त्वपूर्ण भाग भी लिया था। इसलिए भारत सरकार द्वारा इसका चुनाव चातुर्यपूर्ण न था। अमीर की इच्छा लार्ड राबर्ट्स को स्वीकार करने की न थी इसलिए वह चतुराई से काम कर रहा था। उसने घोषणा की कि हजारा में अव्यवस्था और अपने अस्वास्थ्य के कारण मिशन के आने की तारीख अभी निश्चित नहीं की जा सकती। इस प्रकार लार्ड राबर्ट्स के भारत छोड़ जाने तक मामले को टाल दिया गया और इसके बाद उसने स्वयं घोषित कर दिया कि मार्टीमर ड्यूरंड के मिशन का स्वागत करने के लिए वह तैयार है कि जिसे दूत नियत किया गया। मिशन का स्वागत तथा जो कार्य हुआ उससे पता चलता है कि अफगानिस्तान और भारतीय समस्याओं में महान् परिवर्तन हो गया था और किस प्रकार अब्दुर्रहमान ने अपनी दुर्दान्त प्रजा को अपने वश में रखा। एक बार फिर ब्रिटिश दूत अपने पूर्वाधिकारी बर्न्स और कावेगनरी, जिन्हें मार डाला गया था, की भयंकर स्मृतियों के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ। ड्यूरंड अंगरक्षक सैनिकों के साथ न था और उसकी सुरक्षा का भार अमीर की सेना पर ही था। वह दो अक्तूबर को काबुल में प्रविष्ट हुआ और १६ नवम्बर को वहां से गया। इस मध्य अब्दुर्रहमान से तनाव के कारणों पर विचार हुआ। झगड़े के सब प्रश्नों पर सन्धि-वार्ता हुई और महत्त्वपूर्ण सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये। भविष्य में अफरीदी, वजीरी और दूसरे सीमान्तीय कबाइलियों के मामलों में हस्तक्षेप न करना अमीर ने स्वीकार किया। जहां सम्भव हो सके वहां सीमा रेखा का निर्धारण अफगान और ब्रिटिश कमिश्नरों पर छोड़ दिया गया। कुछ जिले अब्दुर्रहमान को दे दिये गये और उसके बदले में उसने स्वात, बजूर, दीर या चितराल में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। उसने चमन रेलवे स्टेशन का दावा भी छोड़ दिया। भारत सरकार ने यह प्रतिज्ञा की कि वह अमीर द्वारा युद्ध का गोला-बारूद खरीदने और उसके आयात के सम्बन्ध में आपत्ति न करेगी। उसकी वार्षिक सहायता राशि १२ से १८ लाख कर दी गयी। दोनों सरकारों में फिर से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। अब्दुर्रहमान ने इस घोषणा में, कि उसके कुछ अधिकारी वजीरिस्तान तथा अन्य स्थानों से निकाल दिये गये हैं और उसकी आज्ञा के बिना उसके प्रदेश में चमन स्टेशन बना लिया गया है, भविष्यवाणी की थी कि कबाइली देश में किसी भी समय युद्ध भड़क सकता है। उसने मिशन के परिणामों के सम्बन्ध में चतुराई से संक्षेप में कहा कि "एक प्रकार की मेरी क्षतिपूर्ति द्वारा सर मार्टीमर ड्यूरंड के मिशन ने मामलों का समाधान कर दिया। मैं पूर्ण संतुष्ट हूँ और ब्रिटिश-मित्रता द्वारा कुछ खोने के स्थान पर मैंने प्राप्त अधिक किया है। यह स्पष्ट करने के लिए मैं इन तथ्यों को प्रकट करता हूँ : यद्यपि इंग्लैण्ड अफगानिस्तान का कोई भी भाग नहीं चाहता, तो भी वह उसे प्राप्त करने का कोई अवसर जाने नहीं देता—परन्तु इस मित्र से उसने रूस की अपेक्षा अधिक प्राप्त किया है।" अमीर ने इंग्लैण्ड आने का निमंत्रण स्वीकार किया—परन्तु अपनी इस इच्छा को रुग्ण होने के कारण वह पूरा न कर सका। अपने प्रतिनिधि के रूप में उसने १८९५ में अपने दूसरे पुत्र नंसरुल्ला खां को भेजा परन्तु यह भेंट असफल रही। अब्दुर्रहमान निराश हुआ कि सैण्ट जेम्स के दरबार में एक प्रतिनिधि रखने की उसकी प्रार्थना स्वीकृत न हुई।

१८९३ में जब लार्ड लैंसडाऊन ने पद-त्याग किया तो लार्ड क्रोमर को वायसराय का पद ग्रहण करने के लिए कहा गया। उसने 'व्यक्तिगत कारणों' से इसे अस्वीकृत कर दिया। क्वीन्सलैण्ड के गवर्नर सर हेनरी नारमैन ने यह पद स्वीकार किया परन्तु यह सोच कर कि उसकी बड़ी आयु (वह उस समय ६० वर्ष का था) उसको दिये गये भारी उत्तरदायित्व के अनुकूल नहीं, १६ दिन बाद ही उसने यह मांग की कि उसे भी इस पद से मुक्त कर दिया जाए। इस पर सरकार ने १८६२–३ के गवर्नर-जनरल के पुत्र लार्ड एल्गिन को उसका उत्तराधिकारी नियत किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : ११

१८८५-९२ तक सामाजिक और शासन-संबंधी सुधारों के उपाय। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

लार्ड डफरिन और लार्ड लैंसडाऊन के वायसराय-कालों की जिन घटनाओं ने जनता की भावनाओं को स्पर्श किया, उनका वर्णन आगे के अध्यायों में है। विस्तार भय से यहां कुछ सामाजिक और राजनीतिक महत्व के सुधारों के लिए इस काल में किये उपायों का वर्णन करना ही सुविधाजनक होगा। उनमें से कुछ का आरम्भ लार्ड रिपन ने किया था, कुछ की पूर्ति लार्ड लैंसडाऊन ने की जबकि कुछ लार्ड डफरिन ने आरम्भ और पूर्ण किये। भारतीय व्यवस्थापक मंडल का काम इतना चौकस और जागरूक रहा है कि आधुनिक काल के श्रेष्ठ कार्यों को किसी एक शासन के काम के रूप में पृथक्-पृथक् श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता। यह देखा गया है कि जो प्रश्न किसी एक वायसराय द्वारा सुलझाये गये, वे उसके किसी एक या अधिक पूर्वाधिकारियों द्वारा आरम्भ किये गये, विचारे गये और आंशिक रूप में हल किये गये थे।

सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में लार्ड डफरिन के वायसराय-काल में कृषि-सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये। इनमें से पहला १८८५ का बंगाल काश्तकारी विधेयक था, जिसे लार्ड रिपन ने आरम्भ और पूर्ण किया, जिसने बाद में १८५९ के बंगाल किरायादारी अधिनियम के कार्य को विस्तृत किया। इससे किसानों को न्यायसंगत किराया, बिना सोचे विचारे बेदखली से रोक आदि सुविधाएं मिलीं और जमींदार तथा किसान के विवादास्पद प्रश्नों के निबटाने के लिए नियम बना दिये गये। वस्तुतः, सरकार ने इस अधिनियम द्वारा खुले संघर्ष में हस्तक्षेप का साहस किया—जिसमें अरक्षित किसान को बुरी तरह भूमिपति की इच्छा का शिकार होना पड़ता था। विरोधियों ने कहा कि नया कानून १७९३ के स्थायी बंदोबस्त का उल्लंघन है और भारत सरकार ने जमींदारों को जो वचन दिये थे, वह उन्हें पूरा नहीं कर रही। परन्तु वायसराय का उत्तर था कि यह उपाय और इससे पहला १८५९ का अधिनियम दोनों उन पूरक सुधारों को लागू करने के साधारण यत्न हैं, जिन्हें लार्ड कार्नवालिस स्वयं आरम्भ करना चाहता था। इसके उपरान्त अवध से सम्बन्धित नियम बनाया गया—जिसके लिये लार्ड रिपन ने आधार तैयार कर दिया था। इससे अस्थायी कृषकों को कुछ अधिक सुरक्षा मिली। लार्ड लारेंस के १८६८ के अधिनियम से उन्हें यह सुरक्षा प्राप्त हुई थी। इससे उन्हें पिछले तीस वर्ष में की गयी उन्नति के लिए क्षतिपूर्ति का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार मिला। अन्त में १८८७ में पंजाब के खेतिहरों के अधिकारों की रक्षा और उनके स्पष्टीकरण के लिए विधेयक बना।

लार्ड लैंसडाऊन के काल में दो अधिनियम--एक आर्थिक और दूसरा जनता के नैतिक कल्याण के सम्बन्ध में बनाये गये। पहला फैक्टरी एक्ट था, जो १८८१ के काम में विस्तार और संशोधन था। महिलाओं के काम का समय प्रतिदिन ११ घंटे नियत किया गया। बच्चों को काम पर लगाने की आयु कम से कम ७ से ९ वर्ष और अधिक से अधिक १२ से १४ वर्ष तक बढ़ा दी गयी। उनके लिए केवल दिन में सात घंटे काम का समय रखा गया। कारखाने के सब श्रमिकों को, चाहे वे किसी आयु और जाति के हों, सप्ताह में एक अवकाश देने का निश्चय हुआ। दूसरे सहवास सहमति वयः अधिनियम में छोटी लड़कियों को सुरक्षा दी गयी और उनकी आयु की अवधि १० से बारह वर्ष कर दी गयी। जैसाकि लार्ड बैंटिक द्वारा सती प्रथा को हटाने पर शोर मचाया गया था कि यह साम्राज्ञी की १८५८ की घोषणा की उस धारा का उल्लंघन है जिसमें भारतीयों की धार्मिक धारणाओं के मान का वचन था, इस समय भी ऐसा हुआ; परन्तु लार्ड लैंसडाऊन ऐसे तर्कों से विचलित नहीं हुआ। उसने कहा कि प्रसिद्ध घोषणा की प्रतिज्ञाओं का अर्थ संकोचपूर्वक लगाना चाहिए कि, "जहां धर्म के नाम पर की गयी मांगों से व्यक्ति की सुरक्षा और जन-शान्ति-विरोधी कार्यों को प्रोत्साहन मिले और जिनका खंडन संसार की प्रत्येक पद्धति और नैतिकता द्वारा हो, वहां नैतिकता नहीं वरन् हमें वहाँ धर्म का त्याग करना पड़ेगा।"

अग्रगामी भारतीय सुधारकों की गैर-सरकारी प्रतिनिधि संस्था--इण्डियन नेशनल कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन १८८५ में बम्बई में हुआ। यह दल १८५४ से भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा पश्चिमी ढंग पर दी गयी शिक्षा की प्रत्यक्ष उपज थी। जैसाकि हम देख चुके हैं, १८वीं और १९वीं शती की विग और आमूल सुधारवादी राजनीतिक दर्शन के अध्ययन के आधार पर इसका पोषण हुआ था। अधिक अग्रगामी भारतीय जातियों, खास कर बंगालियों की कुशाग्र बुद्धि इस प्रकार पढ़े हुए उन पाठों को अपनी शोचनीय अवस्थाओं पर कठोर तर्क के साथ लागू करती, जो कभी-कभी तो उनके शिक्षकों को भी ठीक न प्रतीत होते थे। उनका इच्छित ध्येय यह था कि पश्चिमी राष्ट्रों में जो प्रजातन्त्री और वैधानिक पद्धति चालू है--और जिसे वे राजनीतिक जागृति की चरम-सीमा समझते थे--भारत में भी लागू हो। कांग्रेस ने अपने आपको एक स्थायी दिशा में ढाला और लार्ड रिपन के अवकाश ग्रहण करने पर उसके स्वागत में समारोहों का आयोजन किया। इसके सदस्य ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति और मित्रता का समर्थन करते थे परन्तु वे भारत में अधिक प्रतिनिधि संस्थाओं के निर्माण और कार्यकारिणी तथा राज्यों की धारासभाओं में अधिक भारतीयों को लेने की मांग भी करते थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले सम्मेलन का पूर्ण आशय हमारे समय में ही प्रकट हो गया था। इसकी सिद्धान्त हीनता और इसके कुछेक दावों की निस्सारता दिखाना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तब सहज था, उदाहरणार्थ, 'राष्ट्रीय' उपाधि के उसके अधिकार तक से इस आधार पर इनकार किया जा सकता था कि उसके सदस्य, जैसा कि लार्ड रिपन ने सच ही कहा था, "अपनी निजी स्थिति की सामाजिक-हीनता के सिवा किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते।" पहले-पहल वे उन भारतीयों के छोटे भाग में से लिये गये, जो अंग्रेजी बोलते थे और पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त थे। वे अपने देशवासी लाखों मूक किसानों के प्रतिनिधित्व का दावा न कर सकते थे। जिनका एकमात्र हित कृषि से जीवन-निर्वाह करना था और जो ब्रिटिश कलक्टरों की देखरेख में अपने भाग्य से लड़ते थे। पुनः प्रजातन्त्री आवरण के साथ कांग्रेस में राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना संदेहपूर्ण और असंगत प्रतीत होती थी क्योंकि उनका स्वरूप सामंतवादी और कुलीनतापूर्ण था। दीर्घकाल तक अधिकांश मुस्लिम और शासक-सरदार इसके कार्यों को अप्रसन्नता से देखते रहे। निस्संदेह, इस प्रकार का कोई आन्दोलन देर से अथवा शीघ्र आवश्यक था और वस्तुतः भारत में ब्रिटिश शासन की शुभ धारणाओं का तर्कसंगत परिणाम था। भूत-काल में कांग्रेस दल ने मूल कष्टों की ओर ध्यान दिलाने का बहुमूल्य कार्य किया है। इसके बहुत से नेता सौम्य स्वभाव, योग्यता और सच्ची देशभक्ति से पूर्ण थे और इसके पश्चात् वर्ष प्रति वर्ष भारतीय शिक्षित वर्ग पर इसका प्रभाव बढ़ता गया।

लार्ड डफरिन ने स्वीकार किया था कि इस दल अथवा इसके अधिक उदार पक्ष वालों की ऐसी इच्छाएं स्वाभाविक ही थीं। अंग्रेजी आदर्श पर प्रजातंत्र-पद्धति को भारत में लागू करना यदि अभी असंभव था परन्तु धारासभाओं और वायसराय तथा उसके अधीन सरकारों के आधार को विस्तृत करने का कांग्रेस का सुझाव स्वीकार करना असंभव न था। पहले ही १८८६ में तीन महाप्रान्तों जैसी धारासभा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, जिसे अब आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त कहते थे, में स्थापित कर दी गयी थी। लार्ड लिटन की बात का प्रत्यावर्तन करते हुए लार्ड डफरिन का सुझाव था कि जो कुछ संभव और वांछ-नीय हो उसे सद्भावना सहित शीघ्र ही दे डालना चाहिए और जनसभाओं तथा भड़कीले भाषणों को समाप्त करने के लिए यह घोषणा कर दी जाय कि इन रियासतों को आगामी १०-१५ वर्ष के लिए भारतीय प्रणाली के अन्तिम निपटारे के रूप स्वीकार करना ही होगा। वस्तुतः उसने घोषित किया कि वह इस बात में संतोष अनुभव करेगा, यदि शासन-सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने में भारतीय सहायकों के परामर्शऔर अनुभव पर वह वर्तमान की अपेक्षा अधिक भरोसा कर सके।" उसके कार्यकाल की समाप्ति से पहले ही उसकी सरकार ने उसे सुझाव दिया तिक जितना सम्भव हो सके धारासभा सदस्यों में विभिन्न श्रेणियों और हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों की वृद्धि की जाय। वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य वित्तमंत्री द्वारा प्रस्तुत बजट पर विचार करना चाहिए और कौंसिल के सदस्यों को प्रबन्धक-कधिकारी से प्रश्न करने का वैसा ही अधिकार दिया जाए जैसा हाउस ऑफ कामंस के सदस्यों को प्राप्त है। उसने घोषित किया कि यह रियायत सुधार दल और सरकार को अपनी नीति का औचित्य सिद्ध करने के लिए एक वैधानिक साधन होगा। कुछ संशोधनों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ इन सब सुझावों पर लार्ड क्रोस के १८९२ के इंडियन कौंसिल्स एक्ट द्वारा, उसके उत्तराधिकारी ने अमल किया। इस अधिनियम द्वारा भारत सरकार की धारासभा और विस्तृतएं की गयीं। वायसराय की कौंसिल में भी कम से कम १० और अधिक से अधिक १६ सदस्य रखने और ६ से अधिक सरकारी अधिकारी न रखने का निश्चय हुआ। इस अधिनियम से वायसराय को यह अधिकार मिला कि वह अपनी कौंसिल में विभिन्न श्रेणियों और हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों को नामज़द करे। इस योजना के अनुसार १७ गैर-सरकारी––चार प्रान्तीय धारासभाओं और एक कलकत्ता के व्यापारी संघ द्वारा चुना हुआ और शेष ५ गवर्नर-जनरल द्वारा नामज़द––सदस्य रखने का निश्चय किया गया। मद्रास और बम्बई की धारासभाओं में २०–२० सदस्य और बढ़ा दिये गये जिनमें नौ से अधिक सरकारी सदस्य नहीं देखे जा सकते थे। इस प्रकार, निर्वाचनात्मक तो नहीं, किन्तु प्रतिनिध्यात्मक सिद्धांत को सतर्ककतापूर्वक विधान सभाओं में प्रचलित कर दिया, यद्यपि सर्वोच्च और प्रांतीय धारा-सभाओं, दोनों में ही अभी तक सरकारी बहुमत की स्थिरता थी। कौंसिलों के कृत्य और विधान को व्यापक बना दिया गया था। अब तक वायसराय की कार्यकारिणी को ही नये कर लगाने के समय सरकार की वित्त-नीति पर विचार करने का अधिकार था। जैसाकि लार्ड डफरिन ने सुझाव दिया था––अब से आगे प्रत्येक वर्ष बजट कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत करने और प्रत्येक सदस्य को उस पर विचार करने और आलोचना का अधिकार मिला। ब्रिटेन के हाऊस आफ कामंस जैसे प्रतिबन्धों के साथ सदस्यों को कार्यवाहक अधिकारी के शासन-सम्बन्धी कृत्यों की आलोचना करने का भी अधिकार दिया गया।

इन सुधारों से अग्रगामी दल के उग्र पक्ष को यद्यपि संतोष नहीं हुआ, तथापि भारतीयों के, भारतीय स्व-शासन के लिए तो नहीं, उच्च शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने की दिशा में यह उल्लेखनीय चरण था। अब से लेकर जन्मजात भारतीय, वायसराय अथवा कार्यवाहक मंत्री के समान कौंसिल में बैठने लगे। जिन प्रश्नों पर मतभेद होता उन पर यद्यपि वे सरकारी बहुमत को अधिक मतों से पराजित तो नहीं कर सकते थे पर प्रायः किसी भी प्रश्न पर वह विचार कर सकते थे क्योंकि कौंसिल में उनकी संख्या एक तिहाई होती थी। कुछ भी हो, उन्हें अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार था, उनके विचार मतभेद रहते हुए भी सुने जाते थे और वायसराय तथा उसके नायकों यह निर्भर करता था कि वे उनकी आलोचनाओं को पूर्ण करें।

इस काल में स्थायी असैनिक सेवाओं का भी पुनर्गठन हुआ। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि लार्ड लिटन के समय निर्धारित अनुविहित असैनिक सेवाएं निराशाजनक[1] सिद्ध हुई थीं। सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में लोक सेवा आयोग की बैठकें १८८६–७ में हुईं और उसने सारे प्रश्न पर पूर्ण रूप से विचार किया। उसकी सिफारिशें १८९१ में कार्यान्वित हुईं। फलतः अनुविहित असैनिक सेवाएं समाप्त कर दी गयीं।

1. Supra, p. 459.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब से असैनिक अधिकारियों को तीन श्रेणियों—भारतीय शाही असैनिक सेवा, प्रान्तीय सेवा और अधीन सेवा में—विभक्त कर दिया गया। पहली के लिए भरती अब भी इंगलैण्ड में होती थी—परन्तु लन्दन में जाकर वहां परीक्षा में बैठने वाले भारतायों के लिए यह खुली थीं। अन्य दोनों प्रकार की नौकरियों में पूर्णतया भारतीयों में से भारत में ही भरती होती थी।

प्रांतीय सेवा के लिए इन तीन उपायों में से किसी एक के द्वारा भरती की जाती थी : परीक्षा द्वारा; प्रांतीय सरकारों द्वारा नामजदगी; और अधीन सेवा से उन्नति करने के द्वारा शाही असैनिक सेवा के सदस्य अधिकांश बहुत ही महत्व के पदों पर नियत होते थे। कार्यवाहक, प्रबंधक और न्याय-संबंधी अपेक्षया कम महत्त्व के पदों पर प्रान्तीय सेवा के अधिकारी लिये जाते थे। अधीन नौकरियों में कुछ थोड़े महत्त्व के पद दिये जाते थे। १८९३ में भारत सरकार को हाऊस ऑफ कामन्स के इस अप्रत्याशित प्रस्ताव के कारण भारी संकट का सामना करना पड़ा कि असैनिक सेवा की परीक्षाएं भारत और इंग्लैण्ड में साथ-साथ हुआ करेंगी। मद्रास को छोड़, भारत की प्रांतीय सरकारों ने प्रस्तावित परिवर्तन को अनमनेपन से ग्रहण किया। इस प्रस्ताव के बाद अधिनियम नहीं बना और यह केवल विधायक मंडल की शास्त्रीय और पवित्र भावना का ही द्योतक रह गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय :: १२

अकाल, प्लेग और सीमान्त युद्ध, लार्ड एल्गिन का शासन-प्रबन्ध

कुछ सीमा तक लार्ड लैंसडाऊन का वायसराय-काल एक युग की समाप्ति है। उसके शासनकाल में भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में अपूर्व शान्ति रही। अशांतिजनक बातें केवल विनिमय में उत्तरोत्तर कमी और वार्षिक बजटों में घाटों का चक्र था। इनसे यह प्रतीत होता था कि सर जान स्ट्रेची के राजकोषीय सुधारों के बाद से आर्थिक उन्नति का जो युग चला था--वह इस समय समाप्ति पर था। वस्तुतः, भारत इस समय संकट, अकाल, प्लेग और भयंकर सीमान्त युद्धों के काल में प्रविष्ट हो रहा था--ऐसी घटनाओं के बाद ही अक्सर सामाजिक व राजनीतिक बेचैनी और अन्त में आशातीत वैधानिक परिवर्तन होते हैं। लार्ड लैंसडाऊन के उत्तराधिकारी लार्ड एल्गिन के कार्य के दो वर्ष तुलनात्मक दृष्टि से शान्ति के रहे परन्तु उसके बाद उसे ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिन्होंने भारतीय शासन-प्रबंध के प्रत्येक विभाग पर प्रभाव डाला। लार्ड एल्गिन एक प्राचीन और परम्परागत स्काच परिवार का मुखिया था। उसकी ख्याति गम्भीर और सचेत शासक के रूप में थी और यह दुर्भाग्य की बात थी कि, उसे ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ा, जो योग्य-से-योग्य गवर्नर-जनरल के लिए भी कठिन परीक्षण थीं। जिसने भारत के भाग्य का निर्माण किया हो। संभवतः, बुद्धिमत्ता से उसने नेतृत्वपूर्ण कार्यों का त्याग किया और अपने स्थायी अधिकारियों के परामर्श से शासन करता रहा। उसका शासनकाल आलोचना से पूर्ण था। इस आलोचना का अधिकांश भाग उपयुक्त और उदार न था। कुछ भूलें हुईं और कई स्थानों पर वह झिझका तथा कई स्थानों पर उसका शासन-प्रबन्ध बेहतर हो सकता था, परन्तु फिर भी अपने कार्य में अनेकों कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह अपने मार्ग पर दृढ़ रहा।

सबसे पूर्व वित्त-स्थिति पर ध्यान देने की आवश्यकता थी। जैसाकि हमने प्रकट किया, भारतीय टकसालों द्वारा चांदी के मुक्त मुद्रांकन को बन्द करने का काम असफल रहा और क्रमशः विनिमय में कमी के कारण नये वायसराय को बजट में भयंकर घाटे की सम्भावना का सामना करना पड़ा। कठोर उपाय किये गये और भारत सरकार ने कपड़े को छोड़ सब आयातों पर पांच प्रतिशत साधारण शुल्क लगाने का निर्णय किया। इस अपवाद पर भयंकर विवाद खड़ा हो गया। यह कर केवल राजस्व के लिए लगाए गए थे, यद्यपि अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया कि इनमें कुछ रक्षित प्रभाव होना चाहिए तथापि भारतीय वस्तुओं के संरक्षण के ध्येय से निश्चय ही यह शुल्क

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं लगाये गये थे। कुछ बल के साथ यह तर्क उपस्थित किया गया कि लंकाशायर के कपड़ा निर्माताओं पर भी दूसरे ब्रिटिश उत्पादकों जैसी अयोग्ताएं लागू की जाएं, और यद्यपि भारत पर मुक्त आयातों की सामान्य नीति लाद कर सामान्य राजस्व अनुसूची में से केवल मांचैस्टर की वस्तुओं को स्वीकार करने का यह तार्किक अर्थ होगा कि उन्हें एक प्रकार का अप्रत्यक्ष संरक्षण प्रदान किया गया है। इस सत्य को उन अनेक मुक्त व्यापारियों ने स्वीकार किया जो स्वतंत्र आयातों की दशा में सूती वस्त्रों पर किसी प्रकार का कर लगाए जाने का प्रबल विरोध करते। वर्ष के अन्त में वित्त स्थिति इतनी भयंकर थी कि सूती-वस्त्र भी टैरिफ में सम्मिलित कर लिया गया। किंतु भारतीय मिलों के उत्पादनों पर आनुक्रमिक प्रत्यावर्त्तन रूप में आगम शुल्क लगा दिया गया। भारतीय निर्माता जहाँ मृदु व्यवहार की आशा करते थे, तहाँ वे अधिक उत्तेजित हो उठे। १८९६ में गरमागरम विवाद के बाद आयात और आगम शुल्क पाँच की बजाय साढ़े तीन प्रतिशत कर दिये गए। भारत बनाम मानचेस्टर के हितों के स्थायी प्रश्न का इस प्रकार कोई स्थायी निर्णय नजर नहीं आता था, लेकिन कुछ समय के लिए वित्त-समस्या को हल कर लिया गया। यह सच है, और जैसाकि हम पहले वर्णन कर चुके हैं, १८९५ तक रुपये का मूल्य एक शिलिंग और एक पेनी पहुंचने तक गिरता गया, परन्तु इस साल के बाद, (चाहे यह टकसालों के लगातार बन्द रहने, चांदी के आयात पर पाबन्दी और कुछ अन्य साधारण कारणों से हो, यह भी विवादास्पद है) रुपये का मूल्य एक शिलिंग से ४ पैंस तक धीरे धीरे बढ़ा। इस समय इसे और गिरने से रोकने के लिए १५ रुपये पौंड के दर पर स्वर्ण स्तर लागू कर दिया गया और इस मूल्य को स्थिर रखने का यत्न किया गया।

१८९५ में एक महत्त्वपूर्ण सैनिक-प्रबन्ध-सम्बन्धी सुधार हुआ, जिस पर भारत सरकार १८७९ अर्थात् १६ साल से विचार कर रही थी। इस परिवर्तन का अनेक गवर्नर-जनरलों ने समर्थन किया था और इसके ब्यौरेवार विचार का काम लार्ड डफरिन और लैंसडाऊन के अधीन भारतीय अधिकारियों और इंग्लैण्ड की सरकार ने किया था। पुरानी पद्धति के अनुसार तीन महाप्रान्तीय सेनाएं तीन सेनापतियों के अधीन थीं, और जिस प्रकार बंगाल का सेनापति वायसराय की कौंसिल का सदस्य था, उसी तरह बम्बई और मद्रास के सेनापति भी दो अधीन महाप्रान्तीय कौंसिलों के सदस्य थे। अब से सारी भारतीय सेना के लिए एक ही सेनापति का निश्चय किया गया और उसके अधीन बंगाल, बम्बई, मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के लैफ्टीनेंट जनरल थे। पहले-पहल देखने में यह प्रतीत होता था कि यह शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों का समन्वय था जैसे कि यह ग्रेट ब्रिटेन की विजयी शक्ति के सामने भारत का एकत्रीकरण हो। तीन सेनाओं की पद्धति इस बात की याद थी कि भूतकाल में तीनों महाप्रान्तीय नगर पूर्वी संसार में आक्रान्ता प्रदेश से घिरे हुए ब्रिटिश राज्य की चौकियां थे। इन तीन बस्तियों से ब्रिटिश विजय की लहरों का तूफान प्रायद्वीप के बाहर तक पहुंचा और महाप्रान्तों की सीमाएं मिल गयीं। भारतीय रियासतें, जो अब तक जीवित थीं, ब्रिटिश साम्राज्य से घिर गयीं और मद्रास तथा बम्बई की ऐसी सीमाएं न थीं जिनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रक्षा की आवश्यकता होती। महान् वृत्तखण्ड को बलोचिस्तान से बर्मा की पूर्वी सीमा तक विस्तृत महाप्रदेशी-सीमा पर उपयोग के अतिरिक्त भारत में रक्षा और दैनिक कार्यों को छोड़ सेना को कोई आवश्यकता नहीं रह गयी थी।

१८९५ का वर्ष संसद् के १८९३ के अधिनियम द्वारा नियुक्त कमीशन की रिपोर्ट के कारण महत्त्वपूर्ण था। यह अधिनियम, भारत में अफीम की खपत, जनता के स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव और केवल औषधि के मुद्दे को छोड़कर उसकी बिक्री की पाबन्दी आदि पर विचार करने के लिए बनाया गया था। ब्रिटिश भारत में अफीम के निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था और इससे काफी राजस्व प्राप्त होता था। सरकार ने पोस्त की खेती नियमित और सीमित कर दी, और ग़ाजीपुर तथा पटना में इसके उत्पादन के दो कारखाने रखे। इसके उत्पादन का अधिकांश भाग चीन को निर्यात किया जाता था और शेष भारतीय खपत के लिए रख लिया जाता था। इंग्लैण्ड में एक ऐसा दल था जो राज्य द्वारा इस उत्पादन को अनैतिक मानता था और बलपूर्वक विरोध करता था। उसका विचार था कि चाहे कितनी ही आर्थिक हानि क्यों न हो, इससे प्राप्त किया राजस्व नैतिक आधार पर त्याग देना चाहिए। उसका विश्वास था कि अफीम की खपत चाहे खाने अथवा धूम्रपान के रूप में हो, स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है और चरित्र को गिराने वाला है। उसका विचार था कि १८४२ के "अफीम युद्ध" में चीनियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध इसके आयात के लिए विवश किया गया। यह उनके देश के हित के लिए घातक था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सरकार के पृष्ठ-पोषक कहते थे कि १८४२ में जब चीनियों ने अफीम की पेटियां नष्ट कर दी थीं, तब उन्हें इस बात से नहीं भड़काया गया था कि वे इस अपमानजनक आदत से अपने देश को बचा रहे हैं, वरन् विदेशी व्यापार से घृणा और इस आर्थिक विश्वास के कारण कि निर्यात पर आयात अधिक होने से उनसे सोना छीना जा रहा है। यह तर्क सम्भवतः बहुत विश्वासोत्पादक नहीं और कुछ आभास के साथ यह धारणा की जा सकती है कि किसी देश पर युद्ध ठोंसने के बजाय व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त थोपना अधिक भयंकर दंड है। सरकारी समर्थकों को १८५८ की टीण्टसिन की संधि से यह विश्वास हो गया था कि चीन ने बिना किसी दबाव के अपनी इच्छा से अफीम के आयात की आज्ञा दी है, तो उनकी स्थिति दृढ़ हो गयी। कमीशन ने यह रिपोर्ट दी कि इसकी खपत के हानिकर प्रभावों के सम्बन्ध में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है। उन्होंने अफीम और पश्चिमी देशों में शराब के प्रयोग की तुलना की कि दोनों का सीमित प्रयोग आपत्तिरहित है और एक की अपेक्षा दूसरी की पूर्ण पाबन्दी उपयुक्त नहीं। उन्होंने घोषणा की कि यदि चीन इस औषधि पर पाबन्दी लगाना चाहता है तो उसे कार्यवाही करनी चाहिए। उनका कहना था कि भारतीय अफीम बहुत श्रेष्ठ और विशुद्ध होती है क्योंकि इसके उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण और अधिकार है। यदि चीनियों को वह अफीम न मिली तो वे घरेलू उत्पादन के कारण उसका अधिक उपयोग करेंगे और वह निम्न श्रेणी की होती है। अन्त में कमिश्नरों ने नैतिक दृष्टिकोण को छोड़ आर्थिक आधार पर यह घोषणा की कि भारतीय कोष अफीम से प्राप्त राजस्व को नहीं छोड़ सकता। नरम विचार के लोगों को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह रिपोर्ट स्पष्टतया बुद्धिसंगत प्रतीत होती थी। सरकारी नियमों से न तो गांजे और न ही मादक द्रव्यों का व्यवहार कभी रोका जा सकता है और प्रतिबन्ध के बाद तो निश्चय ही व्यापक रूप से इनका चोरी से लाना और गैर कानूनी उत्पादन बढ़ जाएगा। अफीम-विरोधी आन्दोलन के प्रवर्तक इतने से संतुष्ट न हुए, वे अधिक सफलता चाहते थे। चीन की सरकार से समझौते द्वारा जनवरी १९०८ से निर्यात में क्रमशः कमी का वचन दिया गया।

१८९६ में अकाल और प्लेग की आपत्तियों ने राष्ट्र को उजाड़ दिया। लगभग २० वर्ष से भारत में अकाल नहीं पड़ा था और यह पहला ही अवसर था कि जब १८८३ के अकाल-नियम के परीक्षण का अवसर हुआ। १८९५ में वर्षा कम हुई और १८९६ में तो बिल्कुल ही नहीं हुई। संयुक्त प्रांत, मध्यप्रांत, बरार, बंगाल के कुछ जिले, मद्रास, बंबई, राजस्थान और उत्तर बर्मा में अकाल और सूखे का भूत फिर गया। अकेले ब्रिटिश क्षेत्र में साढ़े सात लाख व्यक्ति मरे और १८९७ के आरम्भ में ४० लाख व्यक्तियों को सहायता दी गयी। लगान की छूट सहित राज्य का साढ़े पचास लाख पौंड व्यय हुआ। अकाल को दूर करने के लिए वैज्ञानिक और सफलतापूर्ण ढंगों का प्रयोग केवल संयुक्त प्रांत में हुआ (जिसे उस समय उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कहा जाता था) जबकि कुछ आदिवासी कबीलों के क्षेत्रों में सहायता पहुंचाने की कठिनाई के कारण मध्य प्रांत का रिकार्ड असफल रहा।

वर्षा न होने से भी अधिक अशुभ प्लेग की घटना १८९६ के अगस्त मास में बंबई में हुई। इसका तात्कालिक प्रभाव अधिक भयंकर न था परन्तु परिणामतः इसका कोप स्थायी और विनाशक था। भयंकर अकाल वास्तव में दूसरे वर्ष में समाप्त हो गया और दैवी कृपा से खेती अच्छी हुई और लोगों को जीविका का साधन मिला। प्लेग के छूत का भयंकर विष बढ़ता गया और नगरों तथा प्रान्तों में अपनी पकड़ दृढ़ करता गया। विज्ञान और मानव के सब उपायों के बावजूद लोग इसके ग्रास होते रहे। कुछ समय के लिए प्रतीत हुआ कि प्लेग थम गयी और मृत्यु-संख्या कम होने लगी तथा यह आशा की ही जा रही थी कि प्लेग को भारत से नष्ट कर दिया जाएगा परन्तु यह फिर अधिक तेजी से फैली। प्लेग भारत में २२ वर्ष से है और इस समय (१९१८) यह प्रतीत होता है कि यह समाप्त हो रही है, परन्तु अब भी प्रत्येक वर्ष अनेकों को यह अपना ग्रास बनाती है। मानव के लिए इस अभिशाप का इतिहास बहुत पुराना है। कुछ अधिकारियों का यह विचार है कि ईसा से पहले ४३१ में अथेन्स में जो रोग फैला था वह यही था और इसने पेलोपोनेसियन युद्ध के कारण राजधानी में इकट्ठे हुए अत्तिका के लोगों को नष्ट किया था। इसी में अथेनियन नीतिज्ञ पेरिकल्स मरा था। इसका वर्णन थ्यूसिडिडस ने किया है। यह मध्य युग का सर्वनाश था और १३४६–९ में यह यूरोप के पार पश्चिम की ओर आया। इसने इंग्लैण्ड की एक-तिहाई जन-संख्या को नष्ट कर दिया तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण में क्रान्ति और पराधीनता के बन्धनों को समाप्त कर दिया। यह १६६५ में फिर लन्दन की महान् प्लेग के रूप में प्रकट हुई। इसने कारोलाइन ईस्ट इण्डिया कम्पनी की "कमेटियों" को लीडन हाल स्ट्रीट से भगा दिया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसद् को लन्दन से भाग कर आक्सफोर्ड जाना पड़ा और लोगों की शक्तियों को प्रभावित किया। प्रत्येक मामले में इस आपत्ति का मृत्युपूर्ण मार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ा। इस व्ययसाध्य विनाशक शक्ति के विस्फोट के बाद धीरे-धीरे यह एशिया में ठहर गयी। और बहुत देर तक बाल्कान प्रदेशों और एशिया माइनर के तटों पर फैली रही, जहां दो महाप्रदेशों की सीमाएं तुर्कों के अधीन मिलती थीं।

चीनी साम्राज्य के भीड़-भड़क्के वाले और गन्दे स्थानों से तो प्लेग कभी समाप्त ही नहीं हुई, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता था कि इसकी विस्फोटक और विस्तारक शक्ति समाप्त हो रही है। एशिया के सुदूर भागों में प्रसार के बाद १९वीं शती के अन्तिम वर्षों में एक बार फिर इसने घातक हलचल के साथ पूर्वी यूरोप में रूस के अस्त्राखान नामक स्थान पर आक्रमण किया। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में यह धीरे-धीरे चीन से, बहुत सम्भव है अन्न के जहाजों में विषैले चूहों द्वारा हांगकांग से, आगे फैली। १८९६ की शरद् में प्लेग बम्बई में फूटी और देशीय लोगों के गन्दे तथा भीड़-भड़क्के वाले मकानों में फैल गयी और डरी हुई जनता भागने लगी। फरवरी १८९७ तक यह अनुमान लगाया गया कि नगर से ४ लाख निवासी भाग चुके थे। सरकार के सामने एकदम भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी क्योंकि भारतीयों के पूर्वाग्रह और विश्वास के कारण चिकित्सकों द्वारा बतलाये वैज्ञानिक उपायों को लागू करना कठिन था। डाक्टरों ने घर-घर जाकर देखने, उन्हें कीटाणुरहित करने, पृथक् चिकित्सालयों, अलग कैम्पों और टीका लगाने की योजनाएं बनायीं। यह सब भारतीयों को उनके जातीय नियमों और घरेलू जीवन में हस्तक्षेप की भावना के कारण अरुचिकर प्रतीत हुआ। १८९७ में प्लेग के काम में लगे हुए एक भारतीय नागरिक और सैन्य अधिकारी की पूना में हत्या कर दी गयी। मार्च १८९८ में बम्बई में भयंकर दंगा हो गया। देशी भाषा के समाचार-पत्रों ने सरकार के बचाव उपायों के विरुद्ध निस्सार आन्दोलन आरम्भ कर दिया। इसीलिए विद्रोहात्मक प्रकाशन के विरुद्ध कानून को अधिक प्रभावशाली बनाना पड़ा। इसके बाद जनता की भावनाएं भड़कना उपयुक्त ही था। प्लेग-प्रतिबन्धों का विरोध अज्ञान और भय पर आश्रित था और यह बात देश के अधिकांश भाग पर लागू थी। १८९८ में भारत सरकार ने इस वास्तविकता को समझा और डाक्टरों ने कुछ नरम उपाय काम में लाने के लिए कठोर नियमों को छोड़ दिया क्योंकि उन्होंने लोगों के विरोध को समझा और हठ छोड़ने का परिणाम अच्छा ही हुआ। प्लेग को शीघ्रता से समाप्त कर देने की आशा छोड़ दी गयी और अधिकारी उस पर नियन्त्रण रखने के यत्न में लग गये।

सीमान्त पर संकट का केन्द्र उत्तर-पश्चिम था। चितराल से हमारे प्रथम संबन्ध का इतिहास अध्याय ११ में वर्णित है। १८९३ की संधि द्वारा उस छोटे से पहाड़ प्रदेश को उसकी राजधानी सहित ब्रिटिश प्रभावक्षेत्र में ले लिया गया था। भारत स कार बहुत देर से इस पर—विशेषकर विदेशी संबंधों के विषय में—कुछ निय करना चाहती थी। अब काश्मीर के गिलगित नामक स्थान पर ब्रिटिश एजेंसी स गयी और इसकी एक चौकी चितराल के मस्तुज नामक स्थान पर रखी गयी, ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट समय-समय पर चितराल जाता रहता था। जनवरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में झंडल के शासक उमराखान और भूतपूर्व मेहतर के भड़काने पर चितराल के मेहतर अथवा शासक की हत्या कर दी गयी। जब यह क्रान्ति हुई तो गिलगित स्थित ब्रिटिश एजेन्ट डा० (बाद में सर) राबर्टसन चितराल गया। विद्रोही सरदार ने उसे मस्तुज लौट जाने को कहा और उसके इन्कार करने पर उसे राजधानी में घेर लिया। भारत सरकार ने सर आर० लो को १५ हज़ार सैनिकों के साथ उत्तर की ओर से मलाकण्ड और स्वाती लोगों के देश से होकर उससे लड़ने के लिए भेजा। स्वाती लोग चितरालियों की सहायता के लिए उद्यत हो गये। अन्त में चितराल की मुक्ति कर्नल कैली ने पूर्व की ओर से बंजर और लड़ाकू प्रदेश को पार करते हुए, समुद्र की सतह से १२ हजार फुट ऊंचे संधु दर्रे से होकर की। गिलगित से २२० मील दूर इस नगर पर विजय एक अद्भुत सैनिक कार्य था। ४६ दिन तक ५०० सैनिकों के रक्षक दस्ते ने सहायता पहुंचने तक बहादुरी से सामना किया। यद्यपि लार्ड एल्गिन ने परामर्श दिया कि चितराल पर अधिकार बनाए रहना चाहिए परन्तु लार्ड रोज़बरी की उदार सरकार ने अपने हित के अतिरिक्त यह सोचा कि राज्य की आंतरिक अव्यवस्था में हमारा हस्तक्षेप औचित्य-पूर्ण नहीं और चितराल को खाली कर देने का निश्चय किया। इस निश्चय पर अमल होने से पूर्व ही उदार सरकार का पतन हो गया और यूनियनिस्ट सरकार ने उसके निर्णय को बदल दिया, और चितराल से ब्रिटिश सीमा तक सैन्य-मार्ग बनाने और इसकी रक्षा के लिए सेना रखने का निर्णय किया।

चितराल को खाली करने के निर्णय में परिवर्तन और प्रसिद्ध मार्ग के निर्माण कार्य से इंग्लैण्ड में भयंकर विवाद खड़ा हो गया। जब भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर १८९७ में व्यापक अशांति आरम्भ हो गयी तो उदार दल ने कबाइलियों की इस गड़बड़ का कारण चितराल पर अधिकार बताया। जहां तक उनकी अधिकार सीमा की बात थी, उनके वक्तव्य में काफी सत्य था और खाली करने की उनकी नीति का समर्थन अनेक सैनिक और असैनिक अफसरों ने किया। परन्तु इस सारे विवाद से यह स्पष्ट हो गया कि दलीय मतभेद राज्य के प्रश्न को कहां तक कटु बनाता और विकृत कर देता है। १८९७ में मार्ले और मि० एस्क्विथ ने यह घोषित करके कि लार्ड सालिसबरी की सरकार "विश्वास भंग करने" की अपराधी है, अच्छी-भली बात को बिगाड़ दिया। उन्होंने अपने आरोप का आधार यह बताया कि १८९५ में जब सर आर० लो उनके प्रदेश में से हो कर बढ़ रहा था तो उसने कबाइलियों से कहा था कि उनके प्रदेश पर स्थायी अधिकार नहीं किया जाएगा लेकिन इस तथ्य के बावजूद भी सरकार ने चितराल पर अधिकार का निर्णय किया। सरकार का उत्तर था कि लो की प्रगति को रोकते समय स्वाती लोगों ने घोषणा में किये गये प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था और उसके बाद वे तथा अन्य कबाइली नेताओं ने यह समझौता किया कि वे स्वयं इस मार्ग के निर्माण और रक्षा-कार्य में सहायक होंगे। परन्तु विश्वास भंग करने का निर्णयात्मक उत्तर भारत के नये राज्य-सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने दिया। वह यह दिखाने में समर्थ हुआ कि भूतपूर्व उदार सरकार स्वयं, जबकि लार्ड एल्गिन ने अधिकार करने की नीति का सुझाव दिया था, सारे प्रश्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को आरम्भ से अन्त तक कार्य-सिद्धि का साधन मानती रही और उसने किसी भी सरकारी आदेश-पत्र में भी यह बात नहीं कही कि वायसराय की योजना वचन-भंग समझी जाएगी। भूतपूर्व सरकार का राज्य-सचिव सर हेनरी फाउलर इस तथ्य से बहुत ही व्याकुल हुआ कि उसके साथियों का उत्साह उचित दिशा से दूसरी ओर चला जा रहा है--और उसने फिर सौम्य भाषा में आरोप लगाने का यत्न किया। इसका फल यह हुआ कि विवाद साधारण रूप में समाप्त हो गया।

इस बात पर संदेह नहीं किया जा सकता कि चितराल के मामले में हमारा हस्त-क्षेप ही सारे कबाइली प्रदेश में १८९७ में विद्रोह उत्पन्न करने का कारण था परन्तु इसके कुछ अन्य सम्बन्धित कारण भी थे। कबाइली सदा अपनी स्वतन्त्रता के लिए स्पर्धावान् रहे हैं और वे पिछली दशाब्दी में अग्रगामी नीति--उनके प्रदेश तक सड़कें और रेलपथ बनाने तथा ब्रिटिश चौकियों को और आगे धकेलने--की दिशा में इन कार्यों को बहुत चिन्ता से देखते रहे थे। अफगानिस्तान और उनके प्रदेश के मध्य सीमा-रेखा का ब्रिटिश अफसरों द्वारा निर्धारण उनके मस्तिष्क में सदा यह संदेह उत्पन्न करता रहा कि आखिरकार यह सीमा-रेखा ही ब्रिटिश भारत की उत्तरी सीमा होगी। इस तथ्य को छिपाना भी उचित न होगा कि आगे बढ़ने की नीति के थोड़े से समर्थक भी इस धारणा का विचार नहीं करते थे। धर्मान्ध मुल्ला और इस्लाम के प्रचारक सदा ही उत्तेजक भाषा में धर्मयुद्ध का नारा नास्तिक ईसाई साम्राज्य के विरुद्ध लगाते थे कि वह सब स्वतन्त्र मुस्लिम प्रदेशों को हड़प जाएगा। अब्दुर्रहमान ने भी अभी हाल ही जिहाद अथवा कुरान के विरोधियों के प्रति धर्म-युद्ध के सम्बन्ध में एक सैद्धांतिक लेख प्रचारित किया था। इंग्लैण्ड के सार्वजनिक मंचों पर इस्लाम धर्म के मुखिया टर्की के सुलतान द्वारा आरमीनियनों से किये गये व्यवहार के कारण उसे अलंकारपूर्ण गालियाँ दी जा रही था। यह उपयुक्त भी था परन्तु इससे ईसाई विरोधी भावनाएं भड़कीं।

जून १८९७ में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त युद्ध टोची घाटी में पोलिटिकल एजेण्ट और उसकी रक्षक टुकड़ी पर आक्रमण के द्वारा आरम्भ हो गया। स्वात के लोगों ने जुलाई में चकदारा और मलाकन्द की किलेबन्द चौकियों पर भयंकर आक्रमण किया। इन पर चितराल के युद्ध के समय से अधिकार था। अगस्त में मोहमंद लोगों ने, जो काबुल नदी के उत्तर में रहते थे, पेशावर की बाह्य सीमाओं तक आक्रमण किया। नदी के दक्षिण में अफ्रीदियों और खैबर दर्रे के आसपास रहने वाले ओराकज़ई लोगों ने विद्रोह कर दिया। अफ्रीदियों ने रिज स्थित समाना स्टेशन को घेर लिया--जिसकी सिख रक्षक-सेना ने प्राण-त्याग करते हुए वीरतापूर्वक रक्षा की। खैबर में अली मस्जिद और लण्डीकोतल के ब्रिटिश किले कुछ काल से राज्य के प्रति निष्ठावान अफ्रीदी कबाइली सेनाओं के पास थे--परन्तु उन पर भयंकर आक्रमण हुआ और उनके देशवासियों ने उन्हें मार भगाया।

अब यह स्पष्ट था कि सारा पठान प्रदेश विद्रोह से भड़क उठा था और शक्ति-शाली सेनाएं आन्दोलन को कुचलने के लिए एकत्र हो गयीं। प्रस्तुत दशा में दो स्पष्ट संघर्ष थे। पहला मुहमंद लोगों के विरुद्ध था। सर बिण्डन ब्लड के अधीन मलाकन्द क्षेत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में झंडल के शासक उमराखान और भूतपूर्व मेहतर के भड़काने पर चितराल के मेहतर अथवा शासक की हत्या कर दी गयी। जब यह क्रान्ति हुई तो गिलगित स्थित ब्रिटिश एजेन्ट डा० (बाद में सर) राबर्टसन चितराल गया। विद्रोही सरदार ने उसे मस्तुज लौट जाने को कहा और उसके इन्कार करने पर उसे राजधानी में घेर लिया। भारत सरकार ने सर आर० लो को १५ हज़ार सैनिकों के साथ उत्तर की ओर से मलाकण्ड और स्वाती लोगों के देश से होकर उससे लड़ने के लिए भेजा। स्वाती लोग चितरालियों की सहायता के लिए उद्यत हो गये। अन्त में चितराल की मुक्ति कर्नल कैली ने पूर्व की ओर से बंजर और लड़ाकू प्रदेश को पार करते हुए, समुद्र की सतह से १२ हजार फुट ऊंचे संधु दर्रे से होकर की। गिलगित से २२० मील दूर इस नगर पर विजय एक अद्भुत सैनिक कार्य था। ४६ दिन तक ५०० सैनिकों के रक्षक दस्ते ने सहायता पहुंचने तक बहादुरी से सामना किया। यद्यपि लार्ड एल्गिन ने परामर्श दिया कि चितराल पर अधिकार बनाए रहना चाहिए परन्तु लार्ड रोज़बरी की उदार सरकार ने अपने हित के अतिरिक्त यह सोचा कि राज्य की आंतरिक अव्यवस्था में हमारा हस्तक्षेप औचित्य-पूर्ण नहीं और चितराल को खाली कर देने का निश्चय किया। इस निश्चय पर अमल होने से पूर्व ही उदार सरकार का पतन हो गया और यूनियनिस्ट सरकार ने उसके निर्णय को बदल दिया, और चितराल से ब्रिटिश सीमा तक सैन्य-मार्ग बनाने और इसकी रक्षा के लिए सेना रखने का निर्णय किया।

चितराल को खाली करने के निर्णय में परिवर्तन और प्रसिद्ध मार्ग के निर्माण कार्य से इंग्लैण्ड में भयंकर विवाद खड़ा हो गया। जब भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर १८९७ में व्यापक अशांति आरम्भ हो गयी तो उदार दल ने कबाइलियों की इस गड़बड़ का कारण चितराल पर अधिकार बताया। जहां तक उनकी अधिकार सीमा की बात थी, उनके वक्तव्य में काफी सत्य था और खाली करने की उनकी नीति का समर्थन अनेक सैनिक और असैनिक अफसरों ने किया। परन्तु इस सारे विवाद से यह स्पष्ट हो गया कि दलीय मतभेद राज्य के प्रश्न को कहां तक कटु बनाता और विकृत कर देता है। १८९७ में मार्ले और मि० एस्क्विथ ने यह घोषित करके कि लार्ड सालिसबरी की सरकार "विश्वास भंग करने" की अपराधी है, अच्छी-भली बात को बिगाड़ दिया। उन्होंने अपने आरोप का आधार वह बताया कि १८९५ में जब सर आर० लो उनके प्रदेश में से हो कर बढ़ रहा था तो उसने कबाइलियों से कहा था कि उनके प्रदेश पर स्थायी अधिकार नहीं किया जाएगा लेकिन इस तथ्य के बावजूद भी सरकार ने चितराल पर अधिकार का निर्णय किया। सरकार का उत्तर था कि लो की प्रगति को रोकते समय स्वाती लोगों ने घोषणा में किये गये प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था और उसके बाद वे तथा अन्य कबाइली नेताओं ने यह समझौता किया कि वे स्वयं इस मार्ग के निर्माण और रक्षा-कार्य में सहायक होंगे। परन्तु विश्वास भंग करने का निर्णयात्मक उत्तर भारत के नये राज्य-सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने दिया। वह यह दिखाने में समर्थ हुआ कि भूतपूर्व उदार सरकार स्वयं, जबकि लार्ड एल्गिन ने अधिकार करने की नीति का सुझाव दिया था, सारे प्रश्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को आरम्भ से अन्त तक कार्य-सिद्धि का साधन मानती रही और उसने किसी भी सरकारी आदेश-पत्र में भी यह बात नहीं कही कि वायसराय की योजना वचन-भंग समझी जाएगी। भूतपूर्व सरकार का राज्य-सचिव सर हेनरी फाउलर इस तथ्य से बहुत ही व्याकुल हुआ कि उसके साथियों का उत्साह उचित दिशा से दूसरी ओर चला जा रहा है—और उसने फिर सौम्य भाषा में आरोप लगाने का यत्न किया। इसका फल यह हुआ कि विवाद साधारण रूप में समाप्त हो गया।

इस बात पर संदेह नहीं किया जा सकता कि चितराल के मामले में हमारा हस्तक्षेप ही सारे कबाइली प्रदेश में १८९७ में विद्रोह उत्पन्न करने का कारण था परन्तु इसके कुछ अन्य सम्बन्धित कारण भी थे। कबाइली सदा अपनी स्वतन्त्रता के लिए स्पर्धावान् रहे हैं और वे पिछली दशाब्दी में अग्रगामी नीति—उनके प्रदेश तक सड़कें और रेलपथ बनाने तथा ब्रिटिश चौकियों को और आगे धकेलने—की दिशा में इन कार्यों को बहुत चिन्ता से देखते रहे थे। अफगानिस्तान और उनके प्रदेश के मध्य सीमा-रेखा का ब्रिटिश अफसरों द्वारा निर्धारण उनके मस्तिष्क में सदा यह संदेह उत्पन्न करता रहा कि आखिरकार यह सीमा-रेखा ही ब्रिटिश भारत की उत्तरी सीमा होगी। इस तथ्य को छिपाना भी उचित न होगा कि आगे बढ़ने की नीति के थोड़े से समर्थक भी इस धारणा का विचार नहीं करते थे। धर्मान्ध मुल्ला और इस्लाम के प्रचारक सदा ही उत्तेजक भाषा में धर्मयुद्ध का नारा नास्तिक ईसाई साम्राज्य के विरुद्ध लगाते थे कि वह सब स्वतन्त्र मुस्लिम प्रदेशों को हड़प जाएगा। अब्दुर्रहमान ने भी अभी हाल ही जिहाद अथवा कुरान के विरोधियों के प्रति धर्म-युद्ध के सम्बन्ध में एक सैद्धांतिक लेख प्रचारित किया था। इंग्लैण्ड के सार्वजनिक मंचों पर इस्लाम धर्म के मुखिया टर्की के सुलतान द्वारा आरमीनियनों से किये गये व्यवहार के कारण उसे अलंकारपूर्ण गालियाँ दी जा रही था। यह उपयुक्त भी था परन्तु इससे ईसाई विरोधी भावनाएं भड़कीं।

जून १८९७ में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त युद्ध टोची घाटी में पोलिटिकल एजेण्ट और उसकी रक्षक टुकड़ी पर आक्रमण के द्वारा आरम्भ हो गया। स्वात के लोगों ने जुलाई में चकदारा और मलाकन्द की किलेबन्द चौकियों पर भयंकर आक्रमण किया। इन पर चितराल के युद्ध के समय से अधिकार था। अगस्त में मोहमंद लोगों ने, जो काबुल नदी के उत्तर में रहते थे, पेशावर की बाह्य सीमाओं तक आक्रमण किया। नदी के दक्षिण में अफ्रीदियों और खैबर दर्रे के आसपास रहने वाले ओराकज़ई लोगों ने विद्रोह कर दिया। अफ्रीदियों ने रिज स्थित समाना स्टेशन को घेर लिया—जिसकी सिख रक्षक-सेना ने प्राण-त्याग करते हुए वीरतापूर्वक रक्षा की। खैबर में अली मस्जिद और लण्डीकोतल के ब्रिटिश किले कुछ काल से राज्य के प्रति निष्ठावान अफ्रीदी कबाइली सेनाओं के पास थे—परन्तु उन पर भयंकर आक्रमण हुआ और उनके देशवासियों ने उन्हें मार भगाया।

अब यह स्पष्ट था कि सारा पठान प्रदेश विद्रोह से भड़क उठा था और शक्तिशाली सेनाएं आन्दोलन को कुचलने के लिए एकत्र हो गयीं। प्रस्तुत दशा में दो स्पष्ट संघर्ष थे। पहला मुहमंद लोगों के विरुद्ध था। सर बिण्डन ब्लड के अधीन मलाकन्द क्षेत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की सेना ने अगस्त में चकदारा मुक्त करवाया और उनके क्षेत्र में सितम्बर में युद्ध करती रही। इस निर्जन और कष्टकर प्रदेश में भयंकर युद्ध के बाद जनवरी १८९८ में मुहमंद लोगों ने हथियार डाल दिये। दूसरा युद्ध था अफ्रीदियों के देश, पेशावर के दक्षिण-पश्चिम स्थित तिराह घाटी में—अभी तक क्रियात्मक रूप में यूरोपियनों ने इस प्रदेश को देखा-भाला नहीं था। सर विलियम लोकहार्ट ३५ हज़ार सैनिकों के साथ यहां था। अक्तूबर में दरगई की पहाड़ियों पर बड़ी चतुराई से गोलाबारी की गयी और १९९ व्यक्ति मरे और घायल हुए। सारी घाटी रौंद डाली गयी और किलेबन्द ग्राम नष्ट कर दिये गये परन्तु अफ्रीदी गुरिल्ला युद्ध करते, आगे बढ़ने वाली पंक्ति के लिए भय उपस्थित करते और सब लोगों को काटते हुए उत्साह और चतुराई से लड़ते रहे। दिसम्बर १८९८ में जब हमारी सेना दो मार्गों से पीछे हट रही थी तो पृष्ठ-रक्षा के काम में हमें भारी हानि हुई। परन्तु शत्रु को १८९८ की बसन्त में दूसरे आक्रमण से सीख मिली और उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली। उसे जो अर्थ-दण्ड दिया गया उसका उसने भुगतान कर दिया और अपने शस्त्र सौंप दिये। इन युद्धों में महत्त्व की बात यह थी कि देशी राजाओं केआधीन भारतीय शाही-सेनाएं ब्रिटिश से नाओं के कंधे से कंधा भिड़ाकर लड़ रही थीं। इस युद्ध में हमारे ३०० सैनिक मरे और ९०० घायल हुए। गदर के बाद से भारत में ब्रिटिश सेना के लिए यह युद्ध कठोरतम परीक्षण थे। यहां तक कि १८७८ का अफगान युद्ध भी ऐसा कठिन न था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १३

उत्तर-पश्चिम, अफगानिस्तान और ईरान में लार्ड कर्ज़न की विदेश नीति

जनवरी १८९९ में लार्ड स्कार्सडेल का बड़ा पुत्र ऑनरेबल जार्ज नाथेनियल कर्जन[1] लार्ड एल्गिन का उत्तराधिकारी बना। इंग्लैण्ड में संसदीय और मंत्रित्व सम्बन्धी उसके जीवन का प्रारम्भ इतना उज्ज्वल था कि उस के वैस्टमिस्टर छोड़ने पर कुछ आश्चर्य प्रकट किया गया था। वह इस समय चालीस वर्ष का था और लार्ड सालिसबरी की सरकार में भारत और विदेशी मामलों का सहायक सचिव रह चुका था। उसकी अपनी इच्छा पर उसे इंग्लैण्ड के स्थान पर आयरलैण्ड के लार्ड की पदवी दी गयी थी, जिससे वह अवकाश-प्राप्ति के बाद--यदि वह चाहे तो--हाऊस आफ कामंस में अपनी सदस्यता स्थिर रख सके। लार्ड कर्जन के जीवन का चिरअभीप्सित स्वप्न एक न एक दिन किसी महान् पद को प्राप्त करना था। इसीलिए उसने निकट और सुदूरपूर्व की यात्राओं से अपने अनुभव को बढ़ाया। वह पहले भी चार बार भारत आ चुका था। वह लंका, अफगानिस्तान, चीन, ईरान, तुर्किस्तान, जापान और कोरिया की यात्राएँ कर चुका था। वह अन्तिम चार देशों के शासकों से व्यक्तिगत संपर्क रख चुका था। वह संसार को एशियाई प्रश्नों के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दे चुका था। किसी वायसराय और किसी भूतपूर्व अधिकारी ने भारत की समस्याओं के इतने पूर्ण और व्यापक ज्ञान के साथ इस पद को नहीं संभाला था। उससे पहले या बाद में काम संभालने वाले योग्य और गम्भीर शासकों की किसी भी रूप में यह आलोचना नहीं कि लार्ड कर्जन का शासनकाल विशेष महत्त्वपूर्ण और विभिन्न रूप का था। डलहौजी से लेकर किसी भी वायसराय ने अच्छाई अथवा बुराई के लिए शासन के सारे भारतीय ढांचे पर इतनी गहराई से अपनी छाप नहीं छोड़ी अथवा भारतीय समस्याओं की ओर अपना और अपने देशवासियों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सका जितना लार्ड कर्जन ने किया। इसका भाव यह नहीं कि उससे मतभेद का उचित आधार ही नहीं था अथवा उसकी नीति की आलोचना में औचित्य न था। जो कुछ उसने किया उसका समय की कसौटी पर अभी परीक्षण शेष है और प्रस्तुत पीढ़ी उसके शासनकाल की घटनाओं के प्रति कोई अन्तिम निर्णय देने में अभी असमर्थ है। परन्तु विपरीत राजनीतिक धारणा और विचार वाले लार्ड मार्ले और ब्लैक बर्न ने भी स्वीकार किया है कि (भारत सरकार की) पुरानी पद्धति

---

१. लार्ड कर्जन विषयक अध्याय के लिए लेखक, मि० लोवाट फ्रेजर, लंदन, १९११ लिखित "इंडिया अण्डर कर्जन एण्ड आफटर" का ऋणी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने इतने उच्च और श्रेष्ठ ध्येय तथा शक्तिपूर्ण हाथों से कभी काम नहीं किया जितना लार्ड कर्जन ने अदम्य उत्साह और बुद्धिमत्ता से किया। सभीदृढ़ मनुष्यों के समान कभी कभी लार्ड कर्जन की भी दूसरों की इच्छाओं के साथ भयंकर टक्कर हुई। वह आलोचना की चुनौती द्वारा लोगों को शत्रु बनाता था । वह बहुत ही स्पष्ट वक्ता और लोकप्रियता के नतीजों के प्रति उदासीन था। उसने अपने में काम करने की दैवी शक्ति उत्पन्न कर ली थी और वह अपने साथियों और अधीन काम करने वालों से अधिक श्रम करता था। स्पष्ट और उत्साही प्रवृत्ति के कारण वह कभी कभी किसी अच्छे काम का अनावश्यक जोश से समर्थन करता था । उसका स्वामित्व जताने का स्वभाव दूसरों को न तो प्रिय था और न प्रेरणादायक। इसीलिए प्रसन्नवदन रहने की उसकी प्रवृत्ति अन्य गुणों के समान उन्नत न हो सकी थी। निस्संदेह वह इसके लिए यत्नशील था। उसने अपना सुधार-चक्र बहुत तेजी से और निर्दयतापूर्वक चलाया। ज्यों-ज्यों लोगों को योग्यता सम्बन्धी उच्च धारणा का पालन करना पड़ा तो कई बार वे लार्ड नार्थब्रुक और लार्ड डफरिन जैसे वायसरायों के आत्मसंयम और सहिष्णुता की याद करते। अब तक कोई भी नीतिज्ञ ऐसा नहीं हुआ जिसके विरोधी न हों और लार्ड कर्जन के तो अनेक विरोधी थे। कृपालु आलोचकों के लिए यह उसके उच्च पद के कर्त्तव्य के प्रति प्रशंसनीय निष्ठा थी तथा विरोधी और पक्षपाती आलोचक के लिए वह व्यर्थ का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व था। परन्तु सब तथ्यों की जांच और परख के बाद उसका वायसराय काल महान् और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। जो सफलताएं उसे मिलीं उनके कारण वह महान था, कर्त्तव्य को पूर्ण करने की भावना के कारण वह उच्च था, और वक्तृत्व शक्ति में भी वह महान् था, जो लोकमत के समक्ष उसका समर्थन करती थी।

लार्ड कर्जन की विदेश नीति का उत्तर-पश्चिमी सीमांतीय कबीलों, अफगानिस्तान, ईरान और तिब्बत विशेष रूप से संबंध था। इन समस्याओं में से सबसे पहले उसका ध्यान उत्तर-पश्चिमी कबाइली प्रदेश की समस्या की ओर गया। तिराह संघर्ष, जैसा कि हम जानते हैं, १८९८के बसन्त में समाप्त हुआ। परन्तु एक वर्ष बाद जब लार्ड कर्जन कार्य संभालने वाला था, तो उस समय भी १० हजार सैनिक ब्रिटिश सीमा रेखा से परे चितराल, टोची, लण्डीकोतल और खैबर दर्रे में थे। संसद् में लार्ड कर्जन ने एल्गिन की चितराल संबंधी नीति और उस नगर से पेशावर तक प्रसिद्ध मार्ग के निर्माण का योग्यतापूर्ण समर्थन माना था। साधारण रूप में वह अग्रगामी विचारों का योग्यतम समर्थक माना जाता था। परन्तु भारत में उसने स्पष्ट रूप में यह दिखा दिया कि उसकी उग्र समर्थकों से सहानुभूति नहीं। अब चितराल, क्वेटा और अन्य अधिकृत दर्रों को खाली करना क्रियात्मक नीति का प्रश्न न रह गया था परन्तु ऐसा न होने पर भी लार्ड कर्जन ने जानबूझ कर उन वर्षों की सीमांतीय नीति को बदल दिया। खैबर दर्रे, कुर्रम घाटी, वजीरिस्तान और सामान्य रूप से कबाइली प्रदेश से ब्रिटिश सेनाएं धीरे-धीरे हटायी जाने लगीं, यद्यपि मलाकन्द और दरगई जैसी सीमा की एकाकी चौकियों को स्थिर रखा गया और उनकी किलेबन्दी कर दी गयी। उनके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थान पर कबाइली शिक्षित सैनिक ब्रिटिश अफसरों के अधीन रखे गये। उदाहरण के लिए, १९१४ से सारे खैबर दर्रे में खैबर रायफल्स सेना के अफ्रीकी सैनिकों की चौकसी थी। अपनी सीमाओं में हमने सेनाएं बढ़ा दी थीं और केंद्रित कर दी थीं। कुर्रम घाटी के द्वार खैबर दर्रे और थल के मुख पर दरगई और जमरूद तक सैनिक-महत्त्व का रेल-पथ बनाया गया। शस्त्र और गोला-बारूद रखने का कबाइलियों का अधिकार सीमित और नियमित करने के यत्न किये गये। और बाद में यह कहा गया कि जब हम उनकी स्वतन्त्रता का सम्मान करते हैं, तो हम अपनी सीमा पर उनके आक्रमणों को भी सहन न करेंगे। इस नीति का सही समर्थन इस तथ्य से हो जाता है कि १८९७–८ के भयंकर संघर्षों के बाद के दस वर्षों के शांति-काल में महसूद वजीरियों की १९०१ की नाकेबन्दी की ही एकमात्र घटना हुई। अवकाश प्राप्ति के बाद १९०८ में लार्ड कर्जन ने हाउस आफ लार्ड्स में कहा था : "यदि किसी को दस साल से विद्यमान सीमान्तीय नीति में संदेह हो तो वह निश्चय ही समाप्त हो गया होगा, और मैं आशा करता हूं कि हम कबाइली प्रदेशों में आगे बढ़ने, सीमा तक अधिकार करने और कबाइली प्रदेश में सड़कें बनाने की झगड़ालू योजना को छोड़ देंगे।"

अब तक उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के जिले पंजाब के गवर्नर के अधीन थे, और भारत सरकार उन पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती थी। यह प्रबंध उस पुराने समय में किया गया था जबकि पंजाब को भी सीमान्तीय प्रान्त समझा जाता था और उसका शासन-प्रबन्ध प्रसिद्ध जिला अफसरों द्वारा होता था, जिन्हें काफी छूट और किसी भी काम में पहल करने का अधिकार था। जनता के साथ उनके सम्बन्ध व्यक्तिगत और मित्रतापूर्ण थे और जब तक उनके उपाय अपनी सफलताओं द्वारा उचित सिद्ध होते रहे, तब तक उन्हें कलकत्ता अथवा शिमला के हस्तक्षेप का शिकार न होना पड़ा, परन्तु ज्यों-ज्यों ब्रिटिश सीमा-रेखा उत्तर-पश्चिम में आगे बढ़ती गई तो अधिकांश पंजाब में पुराने और स्थिर प्रान्तों की तरह कानून और नियम लागू किये जाने लगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, लार्ड लिटन ने पहले ही यह सुझाव दिया था कि सीमान्तीय जिलों को सर्वोच्च सरकार द्वारा नियंत्रित अफसरों के अधीन कर देना चाहिए, परन्तु, यद्यपि इस सुधार पर लार्ड एल्गिन और लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने विचार किया तथापि यह विचाराधीन ही रहा और १९०१ में लार्ड कर्जन ने इसे प्रचलित किया। सिंधु से परे के पंजाब के जिलों को मलाकन्द, खैबर, कुर्रम, टोची और बना के साथ मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया गया। इसका नाम उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त रखा गया और इसका क्षेत्रफल ४० हजार वर्ग मील था, जो सीधा भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी चीफ कमिश्नर के अधीन था। इसी समय गड़बड़ से बचने के लिए पुराने उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों का नाम बदलकर संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध रखा गया। इस परिवर्तन का लगभग पूर्ण समर्थन हो चुका था, परन्तु इसे बहुत मतभेद और विरोध के साथ लागू किया जा सका। अपने अधिकारों के कम हो जाने पर पंजाब के कुछ अधिकारियों ने बुरा भी माना। वे लार्ड कर्जन द्वारा इस तिरस्कार से अप्रसन्न हुए, परन्तु यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वीकार करने की बात है कि यह तिरस्कार अनावश्यक रूप से कठोर था।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर शांति स्थापित होने से अब्दुर्रहमान से जो सम्बन्ध १८९७–८ की गड़बड़ी के कारण खराब हो गए थे, काफी सुधरे। वस्तुतः अमीर बड़ी कठिनाई में था। यद्यपि उस समय कुछ अंग्रेजों ने उस पर यह आरोप लगाया था कि वह गुप्त रूप से अपनी सीमा की ओर से संकट उत्पन्न कर रहा है परन्तु बहुत संभव था कि यह आरोप असत्य था। कबाइलियों ने इस बात के लिए उससे अपील की थी और उसकी दुर्दान्त प्रजा का बहुमत इस बात पर प्रसन्न भी होता यदि वह इस अशांति में स्वयं भाग लेता। परन्तु यह कोई कम बात न थी कि अब्दुर्रहमान उन्हें अपने वश में रखने में समर्थ हुआ। एक महत्त्वपूर्ण घोषणा में उसने शांति रखने की आज्ञा दी और इस बात का खण्डन किया कि यह आन्दोलन जिहाद या धर्म-युद्ध था। उसने कहा कि 'धर्म-युद्ध का जब उपयुक्त समय आएगा तो मैं स्वयं घोषणा करूंगा और अपने को जनता के हाथों सौप दूंगा'। १९०० में अमीर ने अपनी मनोरंजक आत्म-कथा प्रकाशित की। उसका दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप में हमसे भिन्न था। परन्तु ब्रिटिश नीति के विरुद्ध जो शिकायत उसने की, वह हमारे सहयोग के मूल्य का परीक्षण था। उसने कहा कि उसके देश के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति प्रायः असंबद्ध और डांवाडोल थी। ग्रेट ब्रिटेन को चाहिए कि रूसी आक्रमण के विरुद्ध वह अपने मित्र को अधिक सामान दे और उसकानैतिक समर्थन करे तथा उसे अपने अधिक विश्वास में ले। उसे कबाइलियों के प्रदेश पर अधिकार करने दिया जाय और उसे टर्की और ईरान के दो बड़े मुस्लिम राष्ट्रों से मेल रखने दिया जाए। यह योग्य और चतुर शासक सितम्बर १९०१ में मर गया। इसकी शक्ति का प्रमाण यह है कि अफगान इतिहास की पूर्व परम्पराओं के विरुद्ध, उसका पुत्र हबीबुल्ला शांतिपूर्वक उसका उत्तराधिकारी बन सका और उसके अनेक पुत्रों में गद्दी के लिए कोई घरेलू युद्ध न हुआ। पहले-पहले हबीबुल्ला से हमारे संबंन्ध इतने सुखकर नहीं थे जैसे उसके पिता के साथ थे। भारत सरकार अब्दुर्रहमान से सन्धि को व्यक्तिगत समझती थी और चाहती थी कि उसे फिर दोहराया जाए। नए अमीर का यह तर्क था कि संधि दो देशों में है और इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं, कुछ वर्ष तक अफगानिस्तान और भारत सरकार के सम्बन्ध समाप्त हो गये और हबीबुल्ला ने राजकीय सहायता न ली। इसमें संदेह नहीं कि उसकी कुछ अपनी आंतरिक कठिनाइयां थीं और यह उसके लिए लाभदायक हुआ कि वह अपनी बेकाबू प्रजा को सीमांत पर लूटमार करने से रोकने में समर्थ हुआ। तीन वर्ष बाद (नवम्बर १९०४) कार्यावधि बढ़ने के बाद पद संभालने से पहले जब लार्ड कर्जन इंग्लैण्ड में था तो स्थानापन्न वायसराय लार्ड एम्पथिल नें सर लुई डाने का एक मिशन काबुल भेजा। मिशन अफगान राजधानी में १२ दिसम्बर १९०४ से २९ मार्च १९०५ तक रहा और इतना सफल रहा कि अमीर से और भी अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये परन्तु यह सब कतिपय सुविधाओं के बदले में ही हुआ। इसके सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का कहना है कि इससे हमारी साख और सम्मान को बट्टा लगा। हबीबुल्ला ने दूत से अपेक्षाकृत अहंकारपूर्ण व्यवहार किया और अपने आप "राजाधिराज" की पदवी का

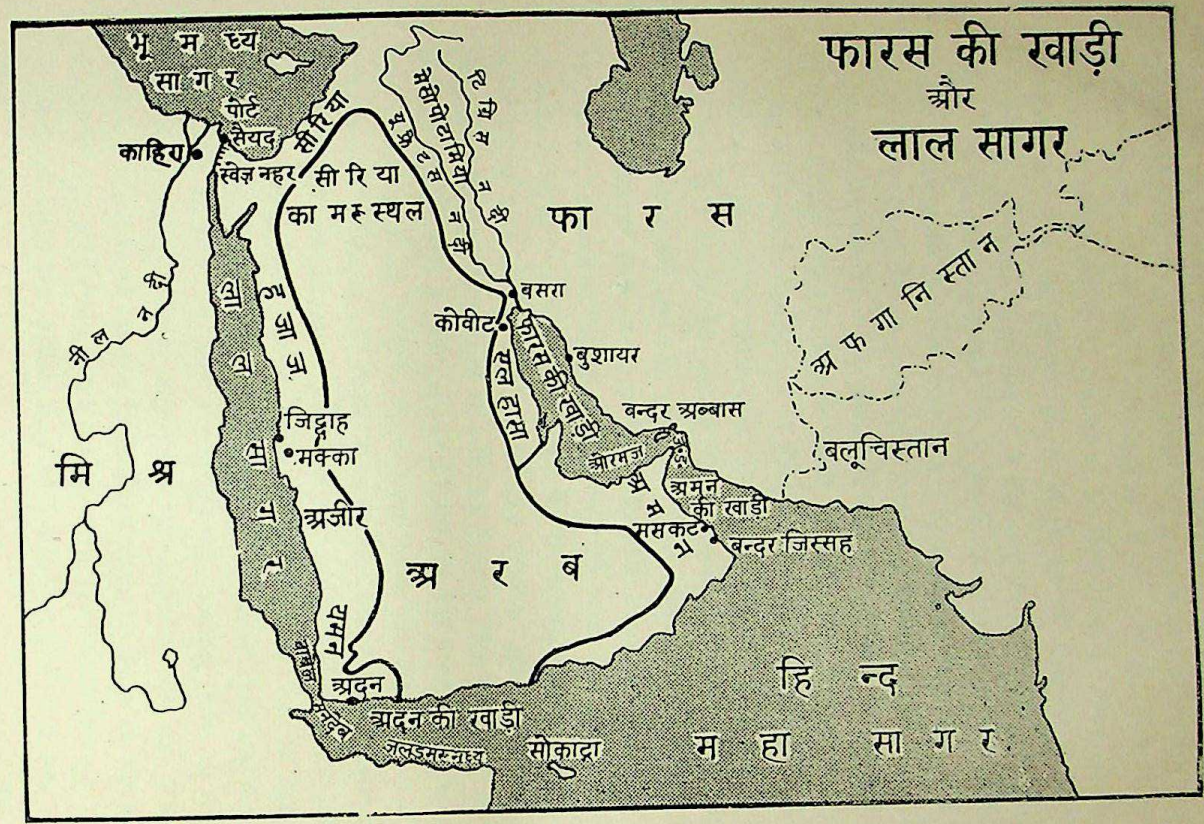

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri Foundation, Chandigarh

दावा किया। अन्त में यह दावा स्वीकार कर लिया गया और उसके सन्धि के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया, जिस पर उसने राज्य की सहायता का बकाया लेना स्वीकार कर लिया।

आगे के २० वर्षों में भारतीय विदेश नीति मध्यपूर्व और विशेष कर फारस की खाड़ी से अधिकाधिक सम्बन्धित रही। ग्रेट ब्रिटेन का प्रभाव भूमि से घिरे इस समुद्र में विशेष प्रकार का रहा है। धीरे-धीरे व्यवहार सिद्ध अधिकार यह बढ़ता गया और १९वीं शताब्दी के अन्त तक यह चुनौतीरहित था--क्योंकि ब्रिटिश नीतिज्ञों ने दीर्घदर्शिता से कभी इस पर अपना निश्चित दावा नहीं किया। १७वीं शताब्दी में यह खाड़ी ब्रिटेन-वासियों के लिए खोज और व्यापार का प्रमुख क्षेत्र रही थी। हमने इसे समुद्री लुटेरों से साफ किया था और इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था और १८५३ से इसे सब देशों के जलयानों के लिए खुला रखा। भारत के लिए समुद्री राह की आवश्यकता के कारण हमें पूर्व की ओर अदन से बलोचिस्तान तक सारी तटीय रेखा पर अपना सामान्य दावा करना पड़ा। यद्यपि हमने तटीय प्रदेशों, अरबी कबीलों, ओटोमान सरकार, अमन के सुलतान और ईरान के शाह की स्वतन्त्रता के बारे में कभी आपत्ति नहीं की। और इसी प्रकार हमने खाड़ी में समुद्र के दोनों ओर भूमि पर अधिकार का भी विचार नहीं किया परन्तु हमने यह भी नहीं चाहा कि कोई दूसरा यूरोपियन राष्ट्र वहां प्रदेशीय अड्डा बनाए। १८९२ में फ्रांसीसी संसद् में एक फ्रैंच नीतिज्ञ ने घोषणा की कि ईरान की खाड़ी में व्यवस्था रखने और अरब, ईरान तथा टर्किश सरदारों में झगड़े पर पंच होने का ब्रिटेन का दावा "यूरोपियन कूटनीति के रूप में है जो कभी स्वीकार नहीं किया गया।" यद्यपि वास्तविकता की उपेक्षा कर दी गयी थी तो भी उक्त वक्तव्य में शाब्दिक सत्य था। ऐसा प्रतीत होता था कि इस दिन से लेकर ११ वर्ष तक फ्रांस, रूस, जर्मनी और टर्की इस खाड़ी और पास के समुद्र में अपनी कूटनीतिक हलचलों से जानबूझकर हमारे इस दावे की सत्यता की जांच करते रहे। १८९८ में अमन के सुलतान ने ब्रिटेन से १८९१ की--किसी यूरोप के राष्ट्र को अपनी सल्तनत में प्रदेश न देने की गुप्त सन्धि को भंग करते हुए, मस्कट से पांच मील दक्षिण-पूर्व में जिस्सेह बंदर पर, किलेबन्दी के अधिकार के साथ फ्रांस सरकार को कोयला स्टेशन बनाने की अनुमति दी। १८९९ में जब इस सौदे का पता चला तो लार्ड कर्जन ने कलकत्ता से एक छोटा समुद्री बेड़ा भेजा और सुलतान के महल पर बमबारी की धमकी से यह सुविधा रद्द करवा दी गयी। इस कठोर कार्यवाही के बाद लन्दन और पैरिस में जो संधि-वार्ता आरम्भ हुई, उसमें फ्रांस ने हमारे १८६२ की संधि के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया कि किसी भी देश को अमन राज्य के किसी प्रदेश पर अधिकार न करने दिया जाएगा। १९०० में खाड़ी के द्वार के उत्तरी तट पर कोयला स्टेशन बनाने का रूस का भी ऐसा ही यत्न असफल किया गया। खाड़ी के ऊपरी सिरे पर कोवैत प्रदेश है। वहां के शासक की पदवी "शेख मुबारक" है। कोवैत एक नगर का नाम भी है और वह सुन्दर बन्दरगाह भी है। टर्की निरन्तर उसकी स्वतन्त्रता हड़पने का यत्न करता था और हम कोवैत का समर्थन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दावा किया। अन्त में यह दावा स्वीकार कर लिया गया और उसके सन्धि के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया, जिस पर उसने राज्य की सहायता का बकाया लेना स्वीकार कर लिया।

आगे के २० वर्षों में भारतीय विदेश नीति मध्यपूर्व और विशेष कर फारस की खाड़ी से अधिकाधिक सम्बन्धित रही। ग्रेट ब्रिटेन का प्रभाव भूमि से घिरे इस समुद्र में विशेष प्रकार का रहा है। धीरे-धीरे व्यवहार सिद्ध अधिकार यह बढ़ता गया और १९वीं शताब्दी के अन्त तक यह चुनौतीरहित था——क्योंकि ब्रिटिश नीतिज्ञों ने दीर्घदर्शिता से कभी इस पर अपना निश्चित दावा नहीं किया। १७वीं शताब्दी में यह खाड़ी ब्रिटेन-वासियों के लिए खोज और व्यापार का प्रमुख क्षेत्र रही थी। हमने इसे समुद्री लुटेरों से साफ किया था और इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था और १८५३ से इसे सब देशों के जलयानों के लिए खुला रखा। भारत के लिए समुद्री राह की आवश्यकता के कारण हमें पूर्व की ओर अदन से बलोचिस्तान तक सारी तटीय रेखा पर अपना सामान्य दावा करना पड़ा। यद्यपि हमने तटीय प्रदेशों, अरबी कबीलों, ओटोमान सरकार, अमन के सुलतान और ईरान के शाह की स्वतन्त्रता के बारे में कभी आपत्ति नहीं की। और इसी प्रकार हमने खाड़ी में समुद्र के दोनों ओर भूमि पर अधिकार का भी विचार नहीं किया परन्तु हमने यह भी नहीं चाहा कि कोई दूसरा यूरोपियन राष्ट्र वहां प्रदेशीय अड्डा बनाए। १८९२ में फ्रांसीसी संसद् में एक फ्रैंच नीतिज्ञ ने घोषणा की कि ईरान की खाड़ी में व्यवस्था रखने और अरब, ईरान तथा टर्किश सरदारों में झगड़े पर पंच होने का ब्रिटेन का दावा "यूरोपियन कूटनीति के रूप में है जो कभी स्वीकार नहीं किया गया।" यद्यपि वास्तविकता की उपेक्षा कर दी गयी थी तो भी उक्त वक्तव्य में शाब्दिक सत्य था। ऐसा प्रतीत होता था कि इस दिन से लेकर ११ वर्ष तक फ्रांस, रूस, जर्मनी और टर्की इस खाड़ी और पास के समुद्र में अपनी कूटनीतिक हलचलों से जानबूझकर हमारे इस दावे की सत्यता की जांच करते रहे। १८९८ में अमन के सुलतान ने ब्रिटेन से १८९१ की——किसी यूरोप के राष्ट्र को अपनी सल्तनत में प्रदेश न देने की गुप्त सन्धि को भंग करते हुए, मस्कट से पांच मील दक्षिण-पूर्व में जिस्सेह बंदर पर, किलेबन्दी के अधिकार के साथ फ्रांस सरकार को कोयला स्टेशन बनाने की अनुमति दी। १८९९ में जब इस सौदे का पता चला तो लार्ड कर्जन ने कलकत्ता से एक छोटा समुद्री बेड़ा भेजा और सुलतान के महल पर बमबारी की धमकी से यह सुविधा रद्द करवा दी गयी। इस कठोर कार्यवाही के बाद लन्दन और पैरिस में जो संधि-वार्ता आरम्भ हुई, उसमें फ्रांस ने हमारे १८६२ की संधि के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया कि किसी भी देश को अमन राज्य के किसी प्रदेश पर अधिकार न करने दिया जाएगा। १९०० में खाड़ी के द्वार के उत्तरी तट पर कोयला स्टेशन बनाने का रूस का भी ऐसा ही यत्न असफल किया गया। खाड़ी के ऊपरी सिरे पर कोवैत प्रदेश है। वहां के शासक की पदवी "शेख मुबारक" है। कोवैत एक नगर का नाम भी है और वह सुन्दर बन्दरगाह भी है। टर्की निरन्तर उसकी स्वतन्त्रता हड़पने का यत्न करता था और हम कोवैत का समर्थन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। ब्रिटेन ने किसी घटना की संभावना देख १८९९ में उससे सन्धि की कि वह अपने प्रदेश में किसी विदेशी राष्ट्र को कोई सुविधा नहीं देगा। इसीलिए बर्लिन से बगदाद तक रेलपथ का अन्तिम स्टेशन बनाने के लिए जर्मनो द्वारा स्थान की मांग को उसने नम्रता-पूर्वक अस्वीकृत कर दिया। इन प्रयोगात्मक लेखों का हमारी स्थिति पर यह प्रभाव हुआ कि हमें अपना दावा स्पष्ट रूप में सूत्रबद्ध करना पड़ा। मई १९०३ में ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड लैंसडाऊन ने संसार के नाम घोषणा की कि किसी दूसरे देश द्वारा ईरान की खाड़ी में नौ-अड्डा अथवा किलेबन्दीयुक्त चौकी बनाना ब्रिटेन के हितों के प्रति भयंकर खतरा माना जाएगा और हम अपने सब साधनों से उसका विरोध करेंगे।

इस प्रसिद्ध घोषणा से, केवल उन्हीं घटनाओं से नहीं जिनका हमने वर्णन किया है, परन्तु विश्व की महान् हलचल से ईरानी राज्य का खण्ड-खण्ड होना आवश्यक हो गया। यद्यपि दक्षिणी ईरान में अधिक व्यापार ब्रिटेन के हाथ में था परन्तु सम्पूर्ण रूप में हाल ही के वर्षों में उसका प्रभाव धीरे-धीरे वहां कम हो गया था। १८८७ में सर हेनरी ड्रमण्ड वुल्फ की तेहरान में मंत्री के रूप में नियुक्ति से समाप्त होते हुए हमारे सम्मान को पुनः स्थापित करने में भारी सहायता मिली परन्तु ईरानी साम्राज्य के उत्तरी प्रान्त में हम रूस की प्रतियोगिता न कर सके। खीवा और बुखारा के तुर्कमानों के पतन के बाद से रूस की सीमा ईरान के साथ एक हजार मील तक लगने लगी थी। ट्रांसकैस्पियन रेलपथ के निर्माण और वोल्गा में नौ-वहन में उन्नति से, १९१४ के यूरोपियन युद्ध के आरम्भ तक, उत्तरी और केन्द्रीय ईरान का अधिकांश व्यापार रूसी हाथों में जा चुका था। परन्तु इस समय की रूसी व्यापार नीति पर एकाधिकार और निरोध के विचारों का प्रभुत्व था। ईरानी क्षेत्र में रेलों के निर्माण पर रोक लगा दी गई थी और देश को उन्नत करने के अन्य उपायों को प्रोत्साहन न दिया जाता था। व्यापारिक और राजनीतिक विचार से उत्तरी ईरान पर रूसी नियन्त्रण होता जा रहा था। उत्तरी सीमाएं गलत ढंग से निर्धारित थीं और किसी एक या दूसरे ढंग से इनका अतिक्रमण सहज था। राजधानी तेहरान रूसी सीमा से एक सौ मील के अन्दर थी और अदम्य सेना ईरानी कज़ाकों की थी। इन्हें रूसी अफसरों ने ही शिक्षित किया था और वही उनकी सेना के नायक थे। उस समय इसमें अधिक संदेह की बात न थी कि यदि दक्षिणी ईरान पर ब्रिटिश प्रभाव न होता तो शाह का सारा राज्य ज़ार के विशाल अधिराज्य में समा जाता। लार्ड कर्जन कई वर्षों से इस बात की प्रेरणा कर रहा था कि इस प्रभाव को उन्नत और विस्तृत किया जाए। लार्ड लैंसडाऊन की प्रसिद्ध घोषणा के फलस्वरूप उसी वर्ष बंदरगाहों और आन्तरिक व्यापार-केन्द्रों में वाणिज्य दूत के कार्यालयों की स्थापना, सर हेनरी मैकमहोन के अधीन १९०३–५ के सिस्तान मिशन द्वारा सर फ्रैडरिक गोल्ड-स्मिथ के १८७२ के सीमा निर्धारण काम की पूर्ति और सिस्तान को व्यापार खोलने के लिए क्वेटा से नुशकी रेलपथ की योजनाओं को १९०३ में लार्ड कर्जन की ईरानी खाड़ी की यात्रा से बहुत लाभ पहुंचा, जो इंग्लैण्ड की सरकार के अनुसार ही, लार्ड कर्जन की नीति को भी बहुत उत्तेजक कहा गया परंतु खाड़ी में शांति रखने, पर्यक्षण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने, उसे आलोकित करने और यात्रा के उपयुक्त बनाने और समुद्री डाकुओं से भरे इन समुद्रों में हमारे गश्त आदि सेवाकृत्यों को देखते हुए यह आलोचना अनुपयुक्त थी । लार्ड कर्जन ने अनुभव किया कि श्रेष्ठ राष्ट्र के रूप में हमारे सम्मान के लिए भय उत्पन्न हो गया है जो यदि यूरोप की औपचारिक कूटनीति में पहचाना तक नहीं गया था और जो रीत्यागत अधिकारों से खोखला हो चुका था, उसके अविलम्ब और सजगतापूर्ण कार्य से दूसरों के अपने दावे खड़े करने के छलयुक्त प्रयत्न असफल हो गये । उसने धैर्य और बिना भूल के संसार को तथा खाड़ी के तटों पर रहने वालों को यह स्पष्ट प्रमाण दिया कि ब्रिटेन दूर और एकांत समुद्रों में अपना सुरक्षात्मक और आश्रयपूर्ण हाथ बढ़ा रहा है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १४

तिब्बत पर अभियान, १९०४

जैसा कि हम देख चुके हैं लार्ड कर्जन की उत्तर-पश्चिमी सीमान्त, अफगानिस्तान और ईरान की खाड़ी से सम्बन्धित नीति प्रशंसा के योग्य है। उसकी नीति से जो परिणाम हासिल हुए, वह उसकी कार्यप्रणाली के औचित्य को सिद्ध करते हैं। तिब्बत की समस्या का उसका निरूपण आलोचना के लिए खुला है। इस सम्बन्ध में उसके कार्यों का परिणाम पूर्णतया संतोषजनक नहीं माना जा सकता।

मध्य एशियाई तिब्बत का पठार हिमालय से उत्तर की ओर फैला हुआ है। इसकी एक हजार मील की पश्चिमी और दक्षिणी सीमा काश्मीर, पंजाब, गढ़वाल, उत्तर-प्रदेश, नैपाल, सिक्किम, भूटान, पूर्वी बंगाल और उत्तरीय बर्मा के साथ-साथ गयी है। यह पूर्व में चीनी राज्य और उत्तर में पूर्वी तुर्किस्तान से सम्बद्ध है और क्षेत्रफल में फ्रांस तथा जर्मनी के संयुक्त प्रदेशों के बराबर होने पर इसकी जनसंख्या संभवतः आधे लन्दन के बराबर है। इसकी कम से कम ऊंचाई संसार के सभी ऊंचे देशों से अधिक है। राजधानी लासा समुद्र की सतह से १२९०० फुट ऊंचाई पर है। फारी नगर माऊण्ट ब्लैंक की चोटी से केवल ८०० फुट नीचा अर्थात् १५००० फुट की ऊंचाई पर बसा है। यंग हसबैंड के अभियान के समय कारो ला में जो युद्ध हुआ वह १८ और १९ हजार फुट की सीधी ऊंचाइयों पर था। तिब्बत का पठार प्याले की गहराई के समान मध्य में से गहरा है और संकरी घाटियां कलगी की तरह २४ से २५ हजार फुट की ऊंचाई के पहाड़ों में अपना सिर निकाले खड़ी हैं। देश के अधिकांश भाग में वृक्ष नहीं और बंजर मैदान ग्लेशियर और सदा पड़ी रहने वाली बरफ से ढके रहते हैं। धूल उड़ाती हुई तेज आंधियां चलती रहती हैं परन्तु इसके ढाल और घाटियां बहुत उपजाऊ हैं और बढ़िया फसलों से लदी रहती हैं। संचार साधनों की बहुत ही कठिनाई है। पहिए वाली गाड़ियां वहां पूर्णतया अज्ञात हैं। व्यापार मार्ग ऐसी ऊंचाइयों में से होकर जाते हैं जहां कम घनत्व के वातावरण में व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है और पहाड़ी बीमारी से आदमी घबरा-सा जाता है। तिब्बत के लोगों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक योग्यता उन बंधनों को और भी दृढ़ करने में लगी हुई हैं जो प्रकृति ने उनके देश के चारों ओर बना रखे हैं।

तिब्बत निवासी बौद्ध धर्म में विश्वास रखते हैं। वहां श्रेष्ठ वर्ग की तानाशाहीपूर्ण महन्ती सरकार है। उसके मुखिया दो धर्म गुरु लामा हैं जिन्हें ल्हासा का लामा और शिगात्से के निकट ताशिलहुन पो के बड़े मठ का ताशी लामा कहा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह दोनों बुद्ध के अनेक रूपों में से उनके अवतार समझे जाते हैं। इन दोनों में से ज्योंही कोई मरता है उसी समय किसी नवजात शिशु को लामा नियुक्त कर दिया जाता है। उसके वयस्क होने तक रीजेन्सी कौंसिल उसकी ओर से शासन करती है। धार्मिक मामलों में ताशी लामा बड़ा माना जाता है परन्तु राजनीतिक शक्ति कुछ वर्ष से दलाई लामा अथवा उसकी अल्पवयस्कता के समय कौंसिल के हाथ में केंद्रित हो रही है। यह एक भद्दी बात रही है कि भूतकाल में कुछ दलाई लामा अल्पवयस्क रहे और निरंतर धार्मिक रीजेन्सी स्थिर रही। दलाई लामा अथवा उसका प्रतिनिधित्व करने वालों को सोंग-डू नामक राष्ट्रीय सभा परामर्श देती है। इस पर मुख्य रूप से लासा के तीन बड़ों के परम्परागत सरदारों अथवा धर्म गुरुओं का नियंत्रण है। परन्तु १८वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों से उसने चीन की सत्ता को स्वीकार कर लिया है और दो चीनी अधिकारी, जिन्हें अम्बान कहते हैं—जो रैजीडेन्ट, राजदूत अथवा वायसराय के समान हैं क्योंकि उनमें इन तीनों का अंश रहता है, लासा में रहते हैं और तिब्बत की सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं।

यद्यपि देश विकसित नहीं तथा पश्चिमी आदर्शों के उन्नत प्रभाव से रहित हैं और अभियान में साथ जाने वाले कैप्टन ओ' कोनर के शब्दों में, धर्म गुरुओं के पाखण्ड से दबा पड़ा है, तथापि वहां के निवासियों के कथनानुसार कुछ विशेषताएं भी हैं, इसी प्रेक्षक का कहना है कि "देश में सरदारों और अधिकारियों के निरंकुश शासन होने पर भी, देश उचित रूप से शासित है और जनता से अच्छा व्यवहार होता है। वे वंशानुगत प्रभुत्व के अधीन सादगी और प्रसन्नता से रहते हैं।" यद्यपि मठ पृथ्वी के बोझ के समान सभी जगह खड़े हैं और भूमि के सब साधनों को समाप्त कर देते हैं जबकि तिब्बत का उपजाऊ भाग बहुत कम है। इसके सम्बन्ध में ओ' कोनर ने कहा है "किसान आराम से समय काटता है और उसे अधिक चिन्ता नहीं होती। अत्यधिक निर्धन के सुख का स्तर भी बहुत ऊंचा है और उसकी तुलना आयर्लैण्ड से की जा सकती है।"

तिब्बत से ब्रिटिश-सम्बन्धों का इतिहास १७७४–५ से आरम्भ होता है जब वारेन हेस्टिंग्ज ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के युवक और योग्य लेखक जार्ज बोगले को उस समय के ताशी लामा के पास भेजा था। उसका उदारतापूर्वक स्वागत हुआ और उसकी यात्रा का विवरण तिब्बत की जानकारी के लिए मूल्यवान् साधन है। दूसरे दूत सैम्युअल टर्नर को १७८३ में भेजा गया परन्तु उसका अनुत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। और तिब्बत का शासक भारत से व्यापार नहीं करना चाहता था। १८११–१२ में मैनिंग नाम का एक स्वतन्त्र पत्रकार लासा में प्रविष्ट होने और उस समय के दलाई लामा से भेंट करने में सफल हुआ। जैसाकि हमने देखा १८८५–६ में चीन ने अनिच्छा से तिब्बत में ब्रिटिश व्यापार मिशन भेजने की स्वीकृति दे दी थी परन्तु अन्त में उस देश में हमें अपना लाभ, बर्मा पर हमारे अधिकार की चीन द्वारा स्वीकृति के लिए बलिदान करना पड़ा। १८८७ में तिब्बतियों ने अल्प-संरक्षित राज्य सिक्किम पर आक्रमण किया और अगले वर्ष जनरल ग्राहम ने उन्हें वहां से खदेड दिया। १८९० में ब्रिटेन और चीन में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक सम्मेलन हुआ जिसमें सिक्किम और तिब्बत की सीमा निश्चित की गई और व्यापार की सुविधाओं की संभावना और सीमा पर पशुओं को चराने के प्रश्न पर विचार के लिए संयुक्त कमिश्नर नियत किये गए। तिब्बत और सिक्किम के लोग वर्ष के कुछ भाग में सीमा पर अपने पशुओं को चराने आते थे। १८९३ में इन कमिश्नरों ने एक अधिक स्पष्ट संधि की और तिब्बत-सिक्किम की सीमा से थोड़ा ऊपर यातुंग में एक मंडी बनायी। परन्तु क्रियात्मक रूप में न तो व्यापार हुआ और न कोई संबंध बने। जैसाकि एक ब्रिटिश सीमा अधिकारी ने घोषित किया—"सत्य यह था कि भारत से कभी मुक्त सम्बन्ध स्थापित करने की न चीनी और न तिब्बती शासकों ने आज्ञा दी क्योंकि वे इसे भय से देखते थे और एक बड़ा संकट समझते थे। उन्हें अलग-अलग रखने के लिए दोनों दलों ने द्वैध-शासन से काम लिया। चीनी नरमी से यह पश्चात्ताप प्रकट कर देते थे कि तिब्बती लोग अपनी "संकीर्ण भावनाओं" के कारण अंग्रेजों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। दूसरी ओर, तिब्बत के लोग यह घोषणा करते कि हम चीनियों की आज्ञा बिना कुछ नहीं कर सकते। उनका कहना था कि चीनियों ने तो उन्हें सम्मेलन समाप्ति की भी सूचना नहीं दी।

कुछ समय के लिए ऐसी ही असंतोषप्रद स्थिति रही और लार्ड कर्जन के कार्य संभालने के आसपास तिब्बत की राजनीतिक दिशा में दो और बातें हुईं। पहली तो यह कि सरकार पर अंबानों का नियन्त्रण ढीला हो रहा था। तिब्बत के लोगों ने चीन के प्रभाव से मुक्त होने और उसके स्थान पर रूसी प्रभाव ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। दूसरे, दलाई लामा ने वयस्क होते ही रीजेंसी सरकार का तख्ता पलट दिया और उस पर शक्तिपूर्ण अधिकार करके दृढ़ धारणा और योग्यता से अपने आपको शासक के रूप में प्रकट किया। वह तिब्बत के शासन में ऊंचे पद पर पहुंचने वाले मंगोलियन ब्यूरैत और जन्म के रूसी दारजिफ से बहुत प्रभावित हुआ। इस व्यक्ति को १८९८ में ज़ार की बहुत-सी बौद्ध प्रजा से धार्मिक कार्यों के लिए धन एकत्र करने के लिए भेजा गया। वह अगले वर्षों में कई बार रूस गया और १९०० तथा १९०१ में राज्य सरकार में उपस्थित हुआ। रूसी पत्रों ने तिब्बत में अपने देश के प्रभाव विस्तृत होने के रूप में इन घटनाओं का स्वागत किया। यह बहुत संभव है कि इस प्रकार के समझौते का उपक्रम रूस की अपेक्षा तिब्बत की ओर से ही हुआ। रूसी विदेश मंत्री ने सैण्ट पीटर्सबर्ग-स्थित ब्रिटिश राजदूत को यह विश्वास दिलाया कि दारजिफ की इन यात्राओं में कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं। और ज़ार के लिए यह कठिन है कि धार्मिक संदेश पर आये हुए किसी दूत को आने से रोके। परन्तु भारत सरकार बेचैन होती गयी। उसका विश्वास था कि दारजिफ की यात्राओं का मूल ध्येय कुछ भी हो, उसे राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए अवश्य प्रयुक्त किया जाएगा और इनकी समाप्ति क्रियात्मक रूप से तिब्बत में उसके रूसी एजेन्ट बनते ही हो जाएगी। वस्तुतः यह प्रकट होता था कि स्वयं दलाई लामा नीति के रूसीकरण की ओर प्रवृत्त हुआ है। ऐसा प्रतीत होता था कि दारजिफ ने उसे प्रेरित किया कि चीन से सम्बन्ध समाप्त करने के बाद यह आवश्यक होगा कि किसी दूसरे शक्तिशाली राज्य से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाए। ब्रिटेन की अपेक्षा

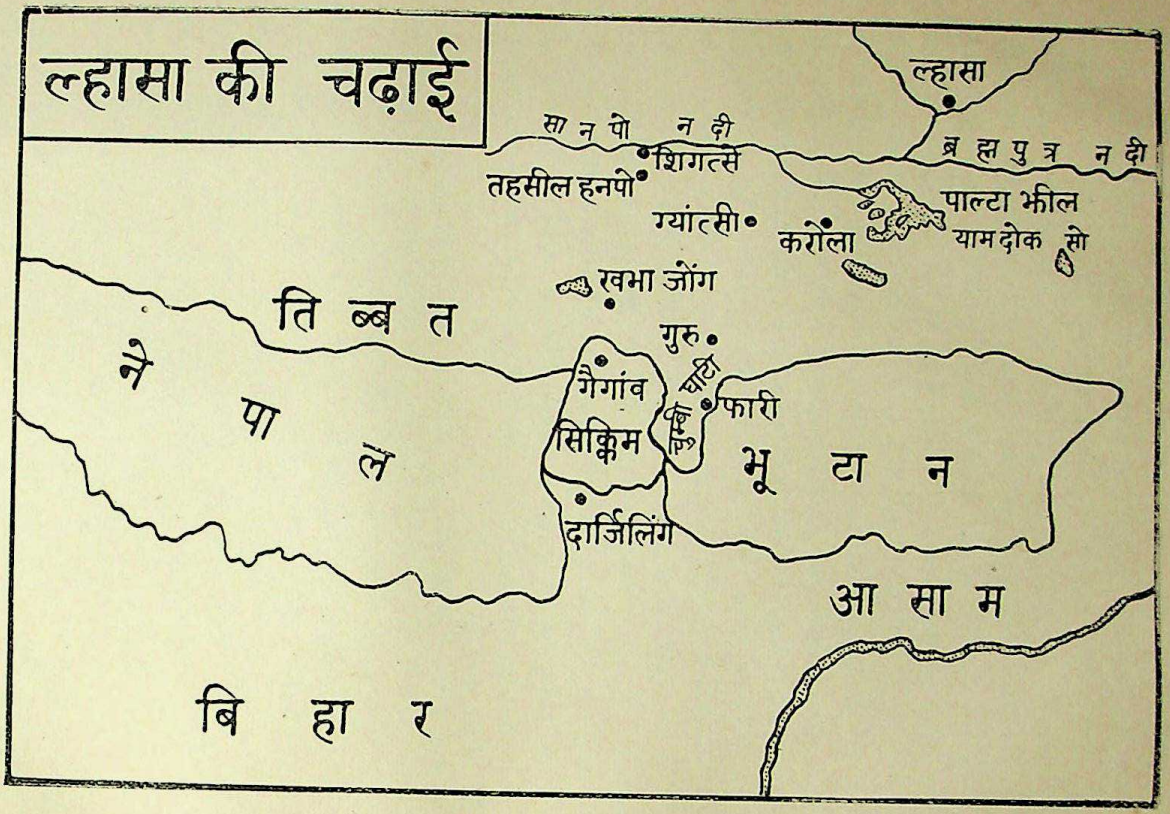

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्तिशाली रूस—जिसकी बहुत-सी प्रजा बौद्ध थी—निकट सम्पर्क के अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ब्रिटेन इसके दक्षिणी द्वार के निकट आ बसा है और उसके दूत व्यापार के लिए घुसपैठ का यत्न करते रहे हैं। सोंग डू ने लामा की नीति का विरोध किया और एक सिद्धान्त के अनुसार उसने जान-बूझकर भारत से झगड़ा मोल लिया तथा नैशनल कौंसिल को रूस के साथ संधि करने को विवश किया।

लार्ड कर्जन ने इंग्लैण्ड की सरकार पर तिब्बत मिशन भेजने के लिए दबाव डाला। यह शिकायत की जाती थी कि तिब्बत वालों ने सिक्किम के सीमा-प्रदेश पर अधिकार कर लिया है, ग्यागांग में एक चुंगी चौकी बना ली है, सीमा के कुछ स्तम्भों को गिरा दिया है और तिब्बत से यातुंग जाने वाले केवल-मात्र मार्ग को भी बन्द कर दिया है। इन व्यापक शिकायतों का समर्थन एक वक्तव्य द्वारा भी किया गया कि "तिब्बत सरकार का अलगाव इस बात के भी अनुकूल नहीं कि उसके देश के निकट एक सुसभ्य राष्ट्र के प्रदेश हैं और जिनके हाथों तिब्बत सरकार को पारस्परिक सम्बन्धों, व्यापार अथवा उन संधियों की दृढ़ता—से जिनके लिए उसकी ओर से चीन ने भाग लिया है, पूरा लाभ उठाने का पूरा अवसर है।" परन्तु मिशन भेजने के लिए उपस्थित किये गये कारण बोदे थे अतः दारजिफ की रूसी यात्राओं के अतिरिक्त इन शिकायतों के सम्बन्ध में कुछ सुनाई न दिया।

इंग्लैण्ड की सरकार तिब्बत में किसी उन्नत गति के पक्ष में न थी। उसने कहा कि वह देश राजनीतिक रूप में चीन के अधीन है इसलिए उपयुक्त मार्ग यही है कि पेकिंग पर दबाव डाला जाए कि वह तिब्बत को युक्तिसंगत मार्ग पर लाए। तदनुसार इस समाचार पर कि तिब्बत के सम्बन्ध में रूस और चीन में कोई समझौता हुआ है, १९०२ में लार्ड लैंसडाऊन ने रूसी राजदूत को सूचित किया कि "लासा एक हजार मील के दूरी के रूसी एशियाई साम्राज्य की अपेक्षा भारत की उत्तरी सीमा के अधिक निकट है। रूस की अपेक्षा तिब्बत में हमारी अधिक रुचि है।" और यदि उस देश में रूस की हलचल दिखायी दी तो हम उसके समान ही नहीं उससे भी अधिक जोर से वहां हलचल करेंगे।" पेकिंग स्थित ब्रिटिश मंत्री ने चीनी सरकार को पहले ही सूचित कर दिया था कि यदि तिब्बत की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करने वाला कोई समझौता किसी अन्य राष्ट्र से किया जाएगा तो ब्रिटेन की सरकार अपने हितों को सुरक्षा के लिए कोई पग उठाने को बाध्य होगी। परन्तु लार्ड कर्जन का अब भी यह विश्वास था कि सेंट पीटर्सबर्ग और लामा में कोई समझौता हुआ है। उसने इंग्लैण्ड की सरकार से कहा कि एक मिशन सीधा तिब्बत भेजा जाए। तिब्बत पर चीनी आधिपत्य एक "राजनीतिक नाता" है, और दोनों देशों द्वारा द्वैध शासन "पूर्ण ढोंग" है। इससे इस बात की संभावना है कि वे इसके आकर्षण अथवा अपनी इच्छाओं को उस पर न लादेंगे। लार्ड कर्जन और इंग्लैण्ड में उसके समर्थक रूस के तिब्बत से सम्बन्ध और रूस द्वारा उसकी नीति का नियन्त्रण नहीं देख सकते थे। तिब्बत की राह भारत पर रूसी आक्रमण की संभावना नहीं थी परन्तु एशिया में उसका दूसरे देशों पर अधिकार और उन्हें अपने राज्य में मिलाना उस समय चरम-सीमा पर था। तिब्बत में उसका रहना पूर्व में ब्रिटिश सम्मान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को नष्ट करना था। राज्य-सचिव की इस घोषणा से, कि जब ब्रिटेन और रूस में इन प्रश्नों पर विचार हो रहा था तिब्बत के लिए अभियान सेना भेजना अनुचित होगा, देरी हो गई। इसी बीच रूसी राजदूत ने इंग्लैण्ड की सरकार को विश्वास दिलाया कि तिब्बत के सम्बन्ध में कोई बातचीत नहीं हो रही और न कोई रूसी एजेन्ट वहां है, यद्यपि रूसी लोग तिब्बत को चीनी साम्राज्य का भाग समझते थे और उसकी अखंडता में उनकी रुचि थी।

सारी स्थिति बहुत जटिल और कठिन थी। भारत सरकार इंग्लैण्ड के मंत्रि-मंडल पर आगे बढ़ने की नीति के सम्बन्ध में दबाव डाल रही थी। मंत्रिमंडल वायसराय की उतावली को रोकने और रूस की भावनाओं पर चोट करने से बचना चाहता था, पेकिंग स्थित ब्रिटिश मंत्री चीनी सरकार पर दबाव डालने का यत्न कर रहा था, चीनी लोग हमारे हस्तक्षेप से घृणा करते हुए तिब्बती लोगों को बाध्य करने में असमर्थ थे और ब्रिटिश सरकार से अपनी इस अयोग्यता को छिपाना चाहते थे। और रूस यह कहता था कि उसका तिब्बत में कोई राजनीतिक स्वार्थ नहीं परन्तु तिब्बत में ब्रिटेन के हस्तक्षेप की संभावना से स्पष्ट रूप से बेचैन था।

लार्ड कर्जन ने सुझाव रखा कि सिक्किम की सीमा से १५ मील उत्तर में खांबा-जोंग नामक स्थान पर चीन और तिब्बत से बातचीत की जाए और उन दोनों सरकारों पर संधि-दायित्वों को पूरा करने की आवश्यकता पर बल दिया जाए, और यदि दूत वहां न पहुंचें तो ब्रिटिश कमिश्नर ही शिगातसे या ग्यांत्से पहुंचें। इंगलैण्ड की सरकार अपने ही दृष्टिकोण की निर्बलता के कारण संकोच में आ गई। उसने अनिच्छा से कर्नल (अब सर) एफ० ई० यंगहसबैंड के अधीन एक मिशन खांबा जोंग भेजने की स्वीकृति दे दी, यद्यपि उसने ग्यांत्से या लासा में ब्रिटिश एजेन्ट रखने की लार्ड कर्जन की योजना को अस्वीकार कर दिया, परन्तु वस्तुतः वह ऐसे मार्ग पर उतर आई, जिसका परिणाम अधिकाधिक मांगों के अधीन उत्तरोत्तर लासा पर अधिकार करना था।

कर्नल यंग हसबैण्ड जुलाई में खांबा जोंग पहुंचा, किन्तु यद्यपि चीनी अधिकारी वहां पहुंच गये, तथापि तिब्बत वालों ने सम्मेलन में आने से तब तक के लिए इन्कार कर दिया जब तक कि मिशन सीमा तक वापस न लौट जाए। कर्नल हसबैंड स्वयं स्वीकार करता है कि उनके इस तर्क में कुछ बल था कि यदि बातचीत तिब्बत की सीमा पर, और अन्दर नहीं, होनी है तो हमारे लिए उनकी मांग स्वीकार करना उचित था। निश्चय ही इस पर विवाद करना कठिन प्रतीत होता है और कर्नल यंग हसबैंड का ऐसा करने के विरुद्ध अपना तर्क था कि तिब्बतियों की प्रार्थना विशुद्ध स्वच्छन्द वक्तव्य था जिसे घटनाएं सत्य सिद्ध करतीं या नहीं भी करतीं कि, "ऐसी समझौता-वार्ताएं वस्तुतः किसी परिणाम पर नहीं पहुंचातीं," यह केवल विचारणीय प्रश्न द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता था और हमें पहले-पहल सीमा को पार किये बिना ही समझौता वार्ता करने का यत्न करना चाहिए था। इससे गत्यवरोध उत्पन्न हो गया और इसी मध्य तिब्बत वालों ने खांबा-जोंग के निकट सेनाएं एकत्र करना आरम्भ कर दिया। भारतीय अधिकारियों के दबाव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से इंग्लैण्ड की सरकार ने ६ नवम्बर को इस शर्त पर कि ज्योंही क्षतिपूर्ति हो जाए, त्योंही सेनाएं वापस लौट जाएंगी, अपनी सेनाओं कोग्यांत्से की ओर बढ़ने की स्वीकृति दी। इस निर्णय के पश्चात् शीघ्र ही रूसी राजदूत ने ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड लैंसडाऊन से विरोध प्रकट किया। तिब्बत के सम्बन्ध में बार-बार के ब्रिटिश आश्वासनों के कारण इस विरोध अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। रूसी आक्षेपों के प्रत्युत्तर में लार्ड लैंसडाऊन ने कहा कि ब्रिटिश सरकार ने असाधारण संयम रखा है और हमारा विश्वास है कि ऐसी ही उत्तेजनाओं के होने पर रूस बहुत पहले ही लासा पहुंच गया होता। उसी समय उसने यह आश्वासन भी दिया कि तिब्बती प्रदेश पर स्थायी रूप से न तो अधिकार किया जाएगा, न ही उसे अपने राज्य में मिलाया जाएगा।

मार्च १९०४ में ग्यांत्से की ओर सेनाएं बढ़ीं, और महीने के अन्तिम दिन गुरु नामक स्थान पर उनकी तिब्बती सेनाओं से टक्कर हुई। तिब्बती सेनाओं के पास न तो शस्त्र ठीक ढंग के थे और न ही नेतृत्व अच्छा था। इससे संसार के सामने एक दयनीय दृश्य उपस्थित हो गया और इंग्लैण्ड में कर्जन की नीति के विरोधियों में रोष उत्पन्न हो गया। तिब्बती लोग अभियान मार्ग को रोक कर खड़े हो गये और आज्ञा देने पर भी उन्होंने मार्ग छोड़ने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन के आधुनिक शस्त्रों के कुछ ही रौदों से मैदान में ७०० सैनिक मरे और हताहत हुए, जबकि हमारी सेना के बहुत कम सैनिक घायल हुए और मरा कोई भी नहीं। ११ अप्रैल को ग्यांत्से पर अधिकार कर लिया गया, परन्तु इतने पर भी दलाई लामा ने संधि-वार्ता से इन्कार कर दिया। अब मन्त्रिमंडल ने लासा पर धावे की आज्ञा दे दी। अधिक कठिन संघर्ष की आवश्यकता हुई, अग्रगामी दस्ते ने बहादुरी से तिब्बतियों को पराजित किया और कारो ला दर्रे की चोटियों पर अधिकार कर लिया। इसके अलावा ५ मई को मिशन कैम्प पर पीछे से किया गया अचानक आक्रमण असफल कर दिया गया। दलाई लामा भयभीत हो गया और उसने संधि-वार्ता के लिए संदेश पर संदेश भेजे परन्तु यंग हसबैंड ने लासा पहुंचने तक कोई भी बात करने से इन्कार कर दिया। ३ अगस्त को अभियान सेना प्रसिद्ध द्वार में से बढ़ती और शेष नगर से ऊंची चट्टान पर बने ऊँचे और धूप में चमकते हुए सुनहरी छत वाले पटोला महल को आश्चर्य से देखते हुई लासा नगर में प्रवष्ट हुई। रूस से कोई सहायता न आने के कारण दलाई लामा बहुत बुरी तरह निराश हो गया था और उसे विश्वास हो गया था कि वह जिन लोगों को इतने दिन तक मूर्ख बनाता रहा, उनकी बे-रोक-टोक प्रगति अब नहीं रोकी जा सकती। इसलिए वह तीन सप्ताह पूर्व ही राजधानी से भाग गया।

यंग हसबैंड ने अब रीजेन्ट से सन्धि-वार्ता की जिसे दलाई लामा भागने से पहले अपने अधिकार दे गया था। चीनी रैजीडेण्ट अपनी सरकार की रुचि से भी अधिक सभ्य और दयालु सिद्ध हुआ। मिशन की अत्यधिक आज्ञा मानने के कारण बाद में उसकी सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया। भूटान के टोंगापेंनलोप (अथवा प्रधान मंत्री) और लासा स्थित नैपाली प्रतिनिधि ने ब्रिटिश लोगों की बहुमूल्य सहायता की और सन्धि करने के लिए रीजेन्ट को प्रेरित किया। ७ सितम्बर को संधि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए और १६ दिन बाद अभियान सेना ने लौटना आरम्भ किया। संधि द्वारा यातुंग, ग्यांत्से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और गार्टोक में व्यापार मण्डियाँ बनाने और भारत तथा तिब्बत में व्यापार को प्रोत्साहन देने और उसे बढ़ाने की शर्तें रखी गयीं। एक ब्रिटिश व्यापार एजेन्ट ग्यांत्से में रखने का निश्चय हुआ और उसे यह अधिकार दिया गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर लासा जा सकता है। ७५ लाख रुपया क्षतिपूर्ति के रूप में नियत किया गया, और १ लाख की वार्षिक किश्तों में भुगतान करना नियत हुआ। क्षतिपूर्ति की सारी राशि के भुगतान तक भूटान और सिक्किम के बीच की चुंबी घाटी में ब्रिटिश सेनाओं का रहना निश्चित किया गया। दूसरी शर्तों के अनुसार ब्रिटेन को तिब्बत की विदेश नीति पर प्रभाव रखने का सीधा अधिकार मिला; इसके अनुसार तिब्बत का कोई भी भाग किसी विदेशी राष्ट्र को नहीं दिया जा सकता था और न किसी राष्ट्र का एजेन्ट उस देश में प्रविष्ट हो सकता था। किसी देश या वहां के किसी प्रजाजन को तिब्बत में रेलपथ, सड़कें, टेलीग्राफ और खानों के अधिकारों के सम्बन्ध में सुविधाएं नहीं दी जा सकती थीं। निश्चय हुआ कि यदि ऐसी सुविधाएं दी गईं तो ब्रिटिश सरकार भी शीघ्र ही उनको मांग कर सकेगी।

किंतु, ऐसी शर्तें तय करने में निश्चय ही यंग हसबैंड अपनी अधिकार-सीमा को लांघ गया था। विदेश मंत्री ने निर्णय दिया था कि क्षतिपूर्ति की राशि इससे अधिक नहीं होनी चाहिए जितनी तिब्बती तीन वर्ष की किश्तों में अपनी सामर्थ्यानुसार दे सकें, यद्यपि 'इस सम्बन्ध में यंग हसबैंड अवस्थाओं के अनुसार प्रेरित था।' ग्यात्से, लासा और अन्य स्थानों पर रेजीडेन्ट रखने की भी मांग नहीं करनी थी। इंग्लैण्ड की सरकार तिब्बत के प्रश्न को शाही नीति के व्यापक दृष्टिकोण से विचारती थी और रूस से किये हुए वायदों से बंधी हुई थी कि जब तक कोई दूसरा राष्ट्र तिब्बत के मामलों में हस्तक्षेप न करेगा तब तक ब्रिटेन इसको छीनने, इस पर संरक्षण स्थापित करने और आन्तरिक शासन पर नियन्त्रण का यत्न नहीं करेगा। कर्नल यंग हसबैंड ने समस्या को भारतीय नीति के संकुचित और सामान्य दृष्टिकोण से देखा था और इन आदेशों से पथभ्रष्ट हो गया। यह सच है कि यह उपयुक्त संदेश, जिसमें इंग्लैण्ड की सरकार की नीति का आधार स्पष्ट था, समझौते पर हस्ताक्षर होने तक उसे नहीं मिला। जबकि सन्धि वार्ता को फिर से जारी करना, यदि असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन अवश्य था, लेकिन तार द्वारा उसे जो संदेश पूर्वतः मिल चुके थे, वह निश्चित् और स्पष्ट थे। इतने पर भी कुछ विचित्र युक्तियों से उसने धारणा यह बनाई कि उसे अपने विवेकानुसार काम करने का जो अधिकार दिया गया है उसके अनुसार तीन वर्ष के स्थान पर७५ वर्ष तक चुम्बी घाटी पर अधिकार और ग्यांत्से में एजेन्ट रखने का औचित्य सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि एजेन्ट तो व्यापार कार्यों के लिए रखा गया है, न कि राजनीतिक कार्यों के लिए। भारत सरकार ने यह प्रकट करते हुए कि अपने किसी प्रतिनिधि को अनुत्साहित करना एक भयंकर गलती होगी, यंग हसबैंड के कार्य का समर्थन किया। उसके दृष्टिकोण से सहानुभूति रखना संभवतः अवज्ञा का समानार्थक है क्योंकि यह मानना होगा कि लार्ड कर्जन की सरकार ने अपने अधीन कार्य करने वालों की इस प्रकार की स्वतन्त्रता का अब तक स्वागत नहीं किया था। दूसरी ओर राज्य मंत्री मि० सेण्ट जान ब्राड-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रिक अपने आदेशों के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा से बहुत क्रुद्ध था। चुंबीघाटी पर ७५ वर्ष अधिकार रखने की योजना से संसार के सम्मुख यह स्पष्ट प्रकट होगया था कि यह निश्चय रूस से की गई प्रतिज्ञाओं को भंग करना है। इसलिए उसने सन्धि पर पुनर्विचार के लिए दबाव डाला। क्षतिपूर्ति की राशि ७५ लाख से कम करके २५ लाख कर दी गयी। यह निश्चय हुआ कि अन्य शर्तों की पूर्ति के साथ तीन वार्षिक किश्तों की अदायगी के बाद चुंबीघाटी खाली कर दी जाएगी। अंततः उस शर्त को भी हटा दिया गया जिसके अनुसार ग्यांत्से स्थित ब्रिटिश एजेन्ट लासा जा सकता था।

लार्ड कर्जन की नीति के औचित्य का जहां तक संबंध है, लार्ड रोज़बरी ने १९०४ में लार्ड सभा में प्रकट किया था कि १९०३ में तिब्बत की स्थिति १८७८ की अफगानिस्तान की स्थिति की समता में कुछ अधिक अशुभ प्रश्न उपस्थित करने वाली थी। दोनों ही अवसरों पर हमारी सीमा के स्वतन्त्र राज्य ने रूस से सम्बन्ध स्थापित करने का झुकाव दिखाया था। दोनों अवस्थाओं में हस्तक्षेप का हमारा कर्त्तव्य और वैधानिक अधिकार संदेहपरक था, परन्तु इन दोनों अवसरों पर यह दृढ़ भावना पायी जाती थी और इसके औचित्य में कोई संदेह भी नहीं कि यदि हमारी उपेक्षा कर दी जाती और रूसके प्रतिनिधियों को उन देशों में आने दिया जाता तो हमारे सम्मान को भारी हानि पहुंचती। एक बार फिर भारत सरकार ने इंग्लैण्ड के अनिच्छुक अधिकारियों पर आगे बढ़ने की नीति के सम्बन्ध में जोरदार दबाव डाला। जिस प्रकार लार्ड लिटन काबुल में ब्रिटिश एजेन्ट रखने का इच्छुक था, उसी प्रकार लार्ड कर्जन लासा या ग्यांत्से में प्रतिनिधि रखना चाहता था। दोनों वायसरायों के योग्यतापूर्वक तैयार किये हुए संदेशों में बहुत कुछ सादृश्य है। १९०३ में विपक्षी के कार्यों में विरोध को स्पष्ट देखने की ऐसी ही प्रवृत्ति थी जैसी १८७८ में। उदाहरण के लिए यह कहा गया था कि सिक्किम की सीमा की ओर तिब्बत वालों ने पशुओं को चराने के अधिकार छीन लिये हैं। परन्तु बाद में पता चला कि सिक्किम के लोगों को ऐसे ही अधिकार देकर वे संतुलित कर दिये गये थे, और यह आपसी समझौता दोनों के लिए सुविधाजनक था।

एक विचारधारा के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि लार्ड कर्जन ने "अपनी हठपूर्ण नीति से शाही ब्रिटिश हितों के लिए हानिकर धूर्ततापूर्ण उद्देश्य को चूर-चूरकर दिया।" दूसरों को ऐसा दीखता है कि वह निर्बल और स्वतन्त्र राज्यों में अनावश्यक और हानिकर हस्तक्षेप की नीति पर उतर आया था। घटनाचक्र पर दृष्टिपात करने के बाद जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके आधार पर इतिहासज्ञ के लिए यह निर्दिष्ट करना सरल है कि यदि दोनों नीतियों को मिलाया न जाता तो राजनीतिक परिणाम अधिक प्रभावोत्पादक होते। या तो लार्ड कर्जन को बे-रोकटोक अपने मार्ग पर चलने दिया जाता अथवा मंत्रि मंडल किसी हस्तक्षेप को स्वीकार न करता। पूर्व से अच्छी तरह परिचित व्यक्तियों को कुछ वर्ष बाद अनुभव हुआ कि 'चीन ही अकेला राष्ट्र था जिसे तिब्बत मिशन से ठोस लाभ हुआ।' चीनी दावे स्पष्ट रूप से आधिपत्य में परिणत हो गये। "जैसी हमें आशा थी, हम उस प्रकार अपना व्यापार भी विस्तृत न कर सके और हमने अपने लिए भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर नयी और विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर ली।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस सम्बन्ध में राजनीतिक अथवा नैतिक अधिकार कुछ भी हों, अभियान संबंधी वास्तविक भावना और कार्य बहुत सफल रहे । यह ठीक ही वर्णन किया गया कि "यह साहस और संगठन की विजय थी ;" और ईर्ष्यापूर्वक रक्षित एकांत तथा बरफ से ढके रहस्यपूर्ण तिब्बत में हमारी थोड़ी-सी सेना का अचानक घुस पड़ना, आधुनिक भारत के रोमांचरहित इतिहास में निश्चय ही एक चित्ताकर्षक उपाख्यान है[1] ।

1. इस अध्याय के लिए प्रमाण निम्न हैं जिनसे सहायता ली गयी:—The Tibet Blue Book, i. e. Papers relating to Tibet. 1904, and Further Papers relating to Tibet. 1904 and 1905; Lhasa and its Mysteries. by L. A. Waddell, London, 1905; Central Asia and Tibet, by Sven Hedin, two vols., London 1903; Lhasa, by Percival London, two vols., London, 1905; India and Tibet. by Sir Francis E. Younghusband K. C. I. E, London, 1910, The Unveiling of Lhasa, by Edmund Candler.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १५

लार्ड कर्जन के अधीन आंतरिक शासन-प्रबन्ध

आंतरिक मामलों में लार्ड कर्जन को विरासत में अकाल और प्लेग का सामना करना पड़ा। १८९९-१९०० की अनावृष्टि बहुत भयंकर थी। १८९६ के विनाशकारी अकाल से देश के पूर्णतया मुक्त होने से पूर्व ही अकाल पीड़ित जनता की कठिनाइयों को हैजा और मलेरिया के एक साथ ही फूटने ने अत्यधिक बढ़ा दिया। यह दुर्लभता ६ करोड़ जनसंख्या वाले ४७५००० वर्ग मील क्षेत्र में फैल गई। पंजाब, राजपूताना, बड़ोदा, बम्बई, मध्यप्रदेश, बरार, हैदराबाद, और गुजरात के प्रान्त इससे प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अकेले ब्रिटिश क्षेत्र में १० लाख आदमी मरे और ६० लाख पौंड सहायता-कार्यों पर व्यय हुआ। बाद में सर ए० मैक्डानल की अध्यक्षता में एक कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि जो सहायता दी गई वह बहुत अधिक थी। इस आधिक्य के कारण थे—"सहायता और परीक्षण कार्यों का अपूर्ण परीक्षण, सहायता के दान को ग्रहण करने की प्रबल इच्छा और अकालों के कारण लोगों के नैतिक पतन का प्रभाव।"

१९०० के पश्चात् भारत में कुछ काल तक भयंकर अकाल नहीं पड़े। जो भी हो, लार्ड कर्जन के सारे वायसराय काल में प्लेग रही और इसकी भयंकरता भी बढ़ी। इसके कोप को समाप्त करने के सभी यत्न असफल रहे और उसकी अवधि के अन्तिम वर्ष में ९ लाख से अधिक व्यक्ति मरे। अप्रैल १९०० में प्लेग के नियमों के विरुद्ध कानपुर में भयंकर दंगे हुए। जांच पर पता चला कि यह जान बूझकर और पहले से ही आयोजित थे। इसके सात मुखियाओं को फांसी का दण्ड दिया गया।

१९वीं शताब्दी के अन्त में भारत की वित्त अवस्थाओं में स्पष्ट प्रगति हुई। टकसालों द्वारा चांदी के सिक्कों का मुक्त निर्माण बन्द कर देने का फल इस समय प्रकट हो रहा था। अस्थिर विनिमय के कारण जो मन्दी आ रही थी वह समाप्त हो चुकी थी। भयंकर घाटों के स्थान पर १८९९ से भारतीय बजटों में अच्छी खासी बचत होने लगी थी। १८९३ में आरम्भ की गयी नीति का यह युक्तियुक्त परिणाम था। मई १८९८ में इण्डिया आफिस में नियुक्त कमीशन ने उचित परीक्षण के बाद १५ रुपये के मूल्य पर पौंड को भारत की वैधानिक मुद्रा स्वीकार करने के पक्ष में रिपोर्ट दी। इस सुधार को लागू करने के लिए सितम्बर १८९९ में एक अधिनियम पास किया गया। भारत में सोने का आगमन होने लगा और स्वर्णरक्षित निधि के रूप में चांदी के सिक्कों का लाभ पृथक् रखना आरम्भ किया गया। लार्ड कर्जन के कार्यकाल की समाप्ति तक यह फण्ड ९०००,००० पौंड हो गया।

यहां ऐसे अनेक विचारणीय तथ्य भी हैं कि इस प्रकार की आर्थिक समस्याओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर साधारण रूप में कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती परन्तु विशेषज्ञ सामान्य रूप से सहमत (महान् युद्ध के कारण असाधारण स्थितियां उत्पन्न हो जाने का विचार किये बिना) प्रतीत होते हैं कि इस परिवर्तन से क्रियात्मक रूप से परिणाम अच्छे हुए और सिक्कों का निर्माण बन्द करने के विरुद्ध जो विषादपूर्ण भविष्यवाणियां की गयी थीं, पूरी नहीं हुई। परन्तु इसके साथ ही भारत की इस समय की स्थिति को सैद्धान्तिक रूप में उचित ठहराना भी सरल नहीं। जबकि मूल्य का मान सोना था और चांदी का स्वाभाविक मूल्य उसके विनिमय से बहुत अधिक नीचे गिर गया था तो भी वह वैधानिक मुद्रा थी, और तिसपर भी अब तक भारतीय टकसालों से स्वर्ण मुद्रा प्रचलित नहीं हुई। वित्त-स्थिति में सुधार होने से यह संभव हो सका कि १८९९–१९०० के अकालों के बाद टेक्सों में काफ़ी कमी करके लोगों को राहत पहुंचायी जा सकी। जिन प्रान्तों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था, उनके लगान का सवा दस लाख रुपया उन्हें लौटा दिया गया और आगामी दो वर्षों में नमक-कर इतना कम कर दिया गया जितना कि यह गदर के समय था। लार्ड कर्जन का राजकोषीय एक और कार्य वर्णन करने योग्य है। लार्ड मेयो द्वारा अपनायी हुई केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार की वित्त-व्यवस्था पर पुनर्विचार हुआ, पंचवार्षिक पद्धति हटा दी गयी और व्यवस्था स्थायी कर दी गयी।

लार्ड कर्जन का कार्यकाल आंतरिकरूप में सारे शासन-यंत्र के सुधार के कारण बड़े महत्त्व का है। लार्ड कर्जन ने स्वयं कहा है—'शासन के प्रति तिरस्कार समाप्त हो गया, अव्यवस्थाएं ठीक हो गयीं, प्रगति तेज और स्तर ऊंचा कर दिया गया।' अनेक विभागों का सूक्ष्म परीक्षण किया गया। जो ढंग अपनाया गया वह कमेटी द्वारा की गयी प्रारम्भिक जांच थी। बाद में रिपोर्ट की सिफारिशों को ध्यान में रखकर नियम बनाया गया। लार्ड कर्जन ने पुराने शासन-यंत्र का नया उपयोग खोज निकाला। पहले कमीशनों का उपयोग असुविधापूर्ण प्रश्नों से बचने के लिए होता था, किन्तु अब उनसे आधार-पर्यवेक्षण और कार्य के लिए मार्ग स्पष्ट करने का कार्य लिया जाने लगा। बदलती हुई परिस्थितियों और समय परिवर्तन के साथ असैनिक सेवा के परम्परागत ढंग प्रभावरहित और कभी-कभी धूर्ततापूर्ण प्रतीत होते थे। परन्तु सुधार का ढंग, वह चाहे कितना हितकारी क्यों न हो, सदा प्रिय नहीं होता। कुछ भूलें आवश्यक रूप में हुईं, अनेक ग्राह्य बातें ग्रहण न की गयीं और अनेकों के स्वार्थों को हानि पहुंची। कुल मिलाकर जो परिणाम निकला वह मूल्यवान था और सुधार की आवश्यकता स्वीकार कर ली गयी। शासन का सबसे कम प्रशंसा योग्य भाग पुलिस-विभाग था जो अधिकतया अधीन विभागों में बंटा था और जिसका प्रबन्ध भारतीयों के अधीन था। जिस कमीशन ने इसकी जांच की, इस विभाग की जोरदार निन्दा की। उसने कहा था कि "इसमें कार्यकुशलता का सर्वथा अभाव है, शिक्षण और संगठन में दोषपूर्ण है, और यह अपूर्ण रूप से निरीक्षित और साधारणतया दमन और भ्रष्टाचारपूर्ण ख्याल किया जाता है।" कमिश्नरों का गुण-दोष-प्रकाशन इतना कठोर था कि इसका प्रकाशन १९०५ तक रोक रखा गया जबकि इस पर उनके हस्ताक्षर १९०३ में हो गये थे। उस वर्ष इस विभाग में सुधार आरम्भ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया गया और उन्नति के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये परन्तु अब भी यह स्वीकार किया जाता है कि भारतीय पुलिस पद्धति संतोषपूर्ण नहीं ।

भूराजस्व की सदैव की समस्या के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए । इसके सम्बन्ध में भारत सरकार के विरोधी समय-समय पर आलोचना करते रहते थे । जैसा कि प्रथम अध्याय में वर्णन किया गया है, विरोधियों का आरोप यह था कि बार-बार पड़ने वाले अकालों का कारण इतना वर्षा की कमी नहीं, जितना कि सरकार की किसानों से मांगें, जिससे वे निर्धन हो जाते हैं और सूखे के समय उनके पास कोई साधन नहीं बचता । कोई निष्पक्ष और उत्तरदायी विचारक इस अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य को स्वीकार नहीं कर सकता । भूराजस्वनीति सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध प्रस्ताव में लार्ड कर्जन की सरकार ने इंगित किया था कि सात वर्ष के सूखे में अकेले मध्यप्रदेश को के ५० वर्ष के संपूर्ण भूमि-लगान जितनी हानि हुई है । इसलिए लगान की छूट से विशेष अन्तर नहीं पड़ सका । यद्यपि इन वर्षों कर-निर्धारण कम होता गया परन्तु अनकूल ऋतुओं के क्रम के कारण अकालों की संख्या बढ़ती गयी । सूखे और अकाल का प्रभाव कई बार उन क्षेत्रों पर बहुत कम पड़ा जहां कर-निर्धारण बहुत ऊंचे दर पर हुआ था जबकि जिन जिलों से बहुत नरमी का व्यवहार हुआ था वहां भयंकर अकाल पड़ा । परन्तु भारत सरकार के सभी विरोधी ऐसी चरम स्थिति को स्वीकार नहीं करते और न ही हम इस आरोप का सहज खण्डन करते हैं कि भूराजस्व के कारण अकाल पड़ते हैं, जिससे सरकार सारी आलोचना से ही बच सकती है । निश्चय ही अन्य अनेक निंदनीय त्रुटियां और भूलें थीं जिनका सुधार हो सकता था । सरकार के अन्य अनेक कार्यों की तरह भूराजस्व सम्बन्धी प्रबन्ध भी व्यवहार में अत्यधिक औपचारिक और यंत्रवत् हो जाता है । अतीत में अनेक प्रान्तों में लगान इतनी कठोरता से वसूल किया गया था कि खेतिहर के पास कुछ न रह गया था । स्वभावतः बन्दोबस्त अधिकारी, यदि उनसे संभव हो सके तो राज्य की आय बढ़ाने के लिए सदा अधिक कर-निर्धारण के लिए उत्सुक रहते हैं । और कई बार तो प्रान्तीय सरकारों ने अपने ही अधिकारियों द्वारा किये भू-प्रबंध को और बढ़ा दिया । कोई भी निष्पक्ष निर्णायक इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि बहुत ही अधिक कर-निर्धारण हुआ और सरकार द्वारा अत्यधिक कठोरता के साथ वसूली संग्रह करने की घटनाएं हुई ।

दिसम्बर १९०० में ११ अवकाशप्राप्त भारतीय असैनिक-अधिकारियों ने, जिनकी सेवा का अच्छा रिकार्ड था, और जिनमें दस अंग्रेज और एक भारतीय था, राज्य-सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन को एक स्मरण-पत्र पेश किया । उन्होंने १८७५ में लार्ड सालिसबरी द्वारा लिखे निम्न शब्दों का उद्धरण उसकी सहमति से किया कि "जहां तक भारतीय अर्थ-पद्धति में परिवर्तन सम्भव है, यह वांछनीय होगा कि सारी राष्ट्रीय वसूली में खेतिहर किसान को बहुत कम देना पड़े । यह नगरों को छोड़, जहां कि धन की कमी नहीं और जहाँ व्यर्थ और भोगविलास में व्यय होता है, ग्रामीण क्षेत्रों से अधिक राजस्व वसूली की नीति ठीक नहीं ।" उन्होंने सुझाव दिये कि (१) जहां लगान सीधा खेतिहर से वसूल किया जाता है, वहां उसकी खेती का व्यय निकाल कर उसकी कुल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आय के आधे से अधिक न हो। (२) जहां इसकी वसूली जमींदार से होती है वह कुल मालगुजारी के आधे से अधिक न बढ़े। (३) बंदोबस्त ३० वर्ष के लिए हो। (४) खेतिहर के लगान में वृद्धि केवल सरकारी सिंचाई कार्यों के कारण अथवा दूसरे कारणों से भूमि के मूल्य में वृद्धि पर ही हो और (५) किसी भी अवस्था में भूमि पर प्रांतीय कर वर्तमान करों से दस प्रतिशत से अधिक न बढ़े। इस स्मरण-पत्र और अन्य स्थानों पर जो आलोचना हुई, उसका उत्तर भारत सरकार ने यह स्वीकार करते हुए कि यह प्रश्न राष्ट्रीय महत्व का है, १६ जनवरी १९०२ के भूमि सम्बन्धी प्रस्ताव में दिया। स्मरण-पत्र के सम्बन्ध में सरकारी उत्तर का निर्बल भाग उनकी पहली दोनों मांगों को पूरा करने का यत्न था। यह दोनों मांगें, जो बहुत परिमित थीं, स्वीकार कर ली गयीं। लार्ड कर्जन और उसके परामर्शदाताओं ने इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम बनाने से इंकार कर दिया यद्यपि उन्होंने यह प्रकट किया कि खेतिहर किसान अथवा जमींदार के कुल उत्पादन में से ५० प्रतिशत और कई मामलों में इससे कम राज्य का भाग स्वीकार करने की भावना बढ़ रही है। तीसरी मांग के सम्बन्ध में उत्तर एक सावधानी पूर्ण प्रतिज्ञा थी कि ३० वर्ष के स्थान पर कुछ कम वर्षों की अवधि नियत कर दी जाएगी। चौथी मांग स्वीकार न की गयी। अन्तिम सुझाव का उत्तर था कि १० प्रतिशत से अधिक कर कहीं भी नहीं बढ़े।

समग्र रूप से भारत सरकार ने स्मरण-पत्र देने वालों की संतुष्टि का काफी यत्न किया। यह भारतीय प्रतिनिधि श्री आर० सी० दत्त के शब्दों में स्पष्ट प्रकट है। उन्होंने प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, "लार्ड कर्जन ने विषय की महत्ता एक नीतिज्ञ के रूप में स्वीकार की। वस्तुतः उसने हमारे सिद्धान्त का समर्थन किया कि जमींदारों की ऐसी जागीरें जिनका बंदोबस्त अस्थायी है, वहां सरकारी लगान कुल मालगुजारी के आधे से अधिक न हो। उसने हमें यह आशा दिलायी कि ३० वर्ष के लिए बन्दोबस्त का नियम पंजाब और मध्य प्रदेश में लागू कर दिया जाएगा। उसने यह आशा भी दी कि प्रान्तीय करों का बोझ समाप्त कर दिया जाएगा और यदि वायसराय रैयतवारी भूखण्डों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट और उपयोग में आने वाली सीमा निर्धारित करते और लगान बढ़ाने का कोई उचित आधार देते तो लाखों खेतिहरों को आश्वासन और सुरक्षा मिलती, जिसकी उन्हें आवश्यकता है।"

भूमि-सम्बन्धी प्रस्ताव में यह वचन भी दिया गया कि जब सरकार को यह विश्वास हो जाएगा कि लगान की पूरी रकम अदा करने के लिए जनता को बहुत कष्ट हुए और उस समय तक लगान न कम किया गया तो सरकार इन अधिक वसूलियों के सम्बन्ध में आगे कदम उठाएगी। नयी भूमि नीति का ध्येय लगान संग्रह में अधिक लचीलापन और प्रान्तीय अवस्था के बिगड़ने की अवस्था में वसूली में कमी करना भी था।

संक्षेप में लार्ड कर्जन ने भूराजस्व के सब दोषों को दूर करने और भारतीय किसानों की चार प्रकार से स्थिति सुधारने का यत्न किया। उसने किसान को साहूकारों द्वारा बेदखली से बचाने की लिए १९०० में पंजाब भूमि हस्तांतरण अधिनियम बनाया था कि जिनके पास उनकी जमींदारियां रहन रखी हुई थीं। किसान को उत्तराधिकार में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिली भूमि को डिग्री की वसूली के लिए बेचा नहीं जा सकता था। यह कहा जाता है कि अधिनियम से पंजाब के खेतिहरों की पूर्ण बेदखली रुक गयी परन्तु संकुचित विचारों वाले अर्थशास्त्री को यह उपाय सिद्धान्तरूप में दोषपूर्ण और प्रयोग में कठिन प्रतीत हो सकते हैं। यह बात भी हो सकती है कि इसका प्रभाव बिलकुल ही उस आशय के विपरीत हो जिससे यह लागू किया गया था। लार्ड कर्जन के अन्य उपायों की कम आलोचना हुई। जैसा कि हम देख चुके हैं १९०२ के भूमि सम्बन्धी प्रस्ताव में आज्ञा दी गयी थी कि यदि बन्दोबस्त के अधीन लगान में अत्यधिक वृद्धि की गई हो तो वह खंडों में होगी, और इससे अधिक १९०५ के छूट और माफी के प्रस्ताव में नियम बनाए गए थे कि मौसमी अवस्था के अनुसार सरकारी मांग भी बदलती रहेगी। तृतीयावस्था में किसानों को थोड़े ब्याज पर पूँजी देने के लिए सहकारिता साख समितियों की स्थापना की गई, और अंततः कृषि के लिए एक इन्स्पैक्टर-जनरल की नियुक्ति की गई, और एक सरकारी कृषि-विभाग स्थापित किया गया। इस विभाग से संबंधित अनुसंधान शाला, प्रयोगशालाओं और प्रयोगात्मक कृषिशालाओं की स्थापना की गई, जिससे भारतीय कृषिकारिता में वैज्ञानिक विधियों को पचलित किया जा सके।

लार्ड किचनर के सेनापति काल में सेना में भी सुधार हुए। देशी रेजीमेण्टों को नये हथियार दिये गये, तोपखाने को अच्छी तोपें दी गयीं और सारे संचरण विभाग को पुनर्गठित किया गया। १९०१ में राजसी और उच्च परिवारों के युवकों की इम्पीरियल केडेट कोर बनायी गयी, भारतीय सेना को भारत की रक्षा के अतिरिक्त अधिक विस्तृत कार्यों पर लगाया गया। चीन में बोक्सर विद्रोहियों और सोमालिलैण्ड में मुल्ला के विरुद्ध भारतीय सेना का प्रयोग किया गया। दक्षिणी अफ्रीका में लेडी स्मिथ और नैटाल को बचाने में भारतीय सेना ने सहायता की।

रेलों पर किये अधिक व्यय को स्वीकार किया गया और ६ हजार मील लम्बा नया रेलपथ बनाया गया। लार्ड कर्जन की सिंचाई नीति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जो उसके पहले अधिकारियों ने काम किया था लार्ड कर्जन ने उसे चालू रखा। परन्तु इस दिशा में उसके प्रयत्नों की विशेषता यह थी कि उसने इस सारे कार्य को नियमित कर दिया और भारतीय सिंचाई के ढंग में सम्भव विस्तार के लिए स्पष्ट और अन्तिम कार्यक्रम बना दिया। उसने इसकी निरन्तर पूर्ति के लिए धन का प्रबन्ध कर दिया और वर्षों से चली आ रही आलोचना को समाप्त कर दिया।[1]

वायसराय की कौंसिल के छठे सदस्य की अध्यक्षता में व्यापार और उद्योग का नया विभाग स्थापित किया गया। लार्ड कर्जन के अन्य कार्यों में प्राचीन भवनों और स्मारकों की सुरक्षा तथा सरकारी विवरण और रिपोर्टों को लिखने के ढंग में नियन्त्रण के यत्न भी सम्मिलित हैं।

अन्त में शिक्षा के जटिल प्रश्न की जांच एक कमीशन ने की। दुर्भाग्य से संभवतः इसमें कोई भी भारतीय न था और केवल एक ही गैर सरकारी सदस्य था। भारतीय

1 Lovat Fraser, India under Lord Curzon and After, 1911, p 304.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा स्थिति के सम्बन्ध में यद्यपि इसकी रिपोर्ट की शब्द-रचना बहुत सावधानीपूर्ण थी तथापि अत्यधिक निराशाजनक थी, १८५४ में मार्ग-दर्शकों का सिद्धान्त यह था कि विश्व-विद्यालयों द्वारा उच्च वर्ग को दी गयी शिक्षा जनता के निम्न सामाजिक वर्ग तक भी पहुंच जाएगी। कमिश्नरों का विचार था कि यह आशा असत्य सिद्ध हुई है। निश्चय ही यदि ऐसा हुआ है तो इसमें आश्चर्य की भी कोई बात नहीं। हम जानते हैं कि पश्चिमी देशों तक में भी शिक्षा के उच्च आदर्श को स्थिर रखना कितना कठिन रहा है और अधिकांश देश जिस पद्धति को एक बार पूर्ण समझते थे, कितने निराश रहे। विश्वविद्यालय की डिग्री संस्कृति का परीक्षण समझी जाती है और एक चतुर बंगाली उसे केवल प्रान्तीय असैनिक सेवा में कोई नौकरी पाने का साधनमात्र समझता है। परंतु यह स्पष्ट करना भी उचित होगा कि जो लोग ऐसी आलोचना करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि शिक्षण सम्बन्धी सफलताओं का काम-धन्धे के लिए उपयोग इस सौभाग्यपूर्ण देश में भी पूर्णतया अज्ञात नहीं है। भारतीय विश्वविद्यालय केवल परीक्षाएं लेने वाले बोर्ड थे। उन्होंने राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होने का प्रयत्न किया और उनसे परीक्षाओं के लिए "तोता-रटंत" की पद्धति को प्रोत्साहन मिला, जिसका पूर्व की जनता पर मानसिक दासता और अनुकरण की प्रवृत्ति के रूप में शोचनीय प्रभाव पड़ा। एक योग्य आलोचक का कहना है कि भारत में माध्यमिक शिक्षा पद्धति यन्त्रवत्, निर्जीव और भ्रष्ट है और लार्ड कर्जन ने स्वतः भी बहुत अंश तक सत्य कहा है कि इस शिक्षा पद्धति ने भारतीयों में पश्चिमी सभ्यता के प्रति प्रेम तो उत्पन्न कर दिया परन्तु इसके संयम अथवा इसकी भावना का बीज वपन नहीं किया। तदनुसार, १९०४ में विश्वविद्यालयों की प्रबन्धक कमेटियों का पुनर्गठन इस आशा से किया गया कि वे केवल परीक्षाएं लेने वाली संस्थाएँ न रह कर ट्रेनिंग देने वाली संस्थाएं बन जाएंगी, अध्यापकों को अधिक अधिकार दिये जायेंगे जो यंत्रवत् भारी संख्या में ग्रेजुएट पैदा करने को कम करेंगे और शिक्षण की सुदृढ़ पद्धति को स्थापित करेंगे। परन्तु भारतीय सुधारक दल को यह परिवर्तन बहुत अप्रिय लगे और उन्होंने सोचा कि यह उनके प्रभाव को हानि पहुंचाने के लिए किये गये हैं। कुछ सीमा तक यह कहना उचित है कि अब तक यह दल लार्ड कर्जन का समर्थन करता आया था, अब वह उसके विरुद्ध हो गया। निश्चय ही प्रथम तो शिक्षा समस्या और दूसरे बंगभंग ने वायसराय और शिक्षित वर्ग के दृष्टि-कोण में मूल मतभेद को प्रकट किया। लार्ड कर्जन का ध्येय क्रियात्मक सामाजिक सुधार, सुव्यवस्थित शासन-प्रबन्ध और सबसे अधिक कार्य में सुचारुता लाना था। वह अयोग्यता और देरी के प्रति आतुर और कभी-कभी अत्यधिक बेचैन हो जाता था।

नेशनल कांग्रेस पार्टी की दिलचस्पी वैधानिक परीक्षणों के मनोरंजक मार्ग पर चलने और पश्चिमी प्रजातन्त्र के नियमों को भारतीय राजनीति में लागू करने की थी। वायसराय और नेशनलिस्ट पार्टी में मतभेद इसलिए अधिक चिन्तापूर्ण थे क्योंकि लार्ड कर्जन निस्संदेह जनता का कल्याण चाहता था। यहां पर यह कह देना उचित है कि उसने आरम्भ से यूरोपियनों द्वारा भारतीयों से अपमानजनक व्यवहार का विरोध किया, और इस बात के लिए वह सेना और भारत में रहने वाले गैर सरकारी अंग्रेजों की सर्वप्रियता खोने के लिए भी तैयार था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१९०३ के नव वर्ष के दिन १८७७ से भी अधिक शानशौकत वाले दरबार में लार्ड कर्जन ने एडवर्ड सप्तम को भारत सम्राट् घोषित किया। वायसराय काल की नियमित अवधि के समाप्त होने पर लार्ड कर्जन को पुनः नियुक्त किया गया और वह कुछ महीने विश्राम के लिए इंग्लैण्ड गया। मद्रास का गवर्नर उसकी अनुपस्थिति में वायसराय बना। दिसम्बर १९०४ को लार्ड कर्जन दो महान् समस्याओं से जूझने के लिए भारत लौटा परन्तु बढ़ाया गया कार्यकाल उत्तेजक विवाद और कटु आलोचनाओं के मध्य एकदम समाप्त हो गया।

पहली समस्या बंगाल के विभाजन की थी। बहुत देर से बंगाल के लैफ्टी० गवर्नर के कार्य को हल्का करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। उसके काम का भार एक आदमी की शक्ति से बाहर था। प्रान्त की जनसंख्या इंग्लैण्ड से लगभग दुगनी ७८० लाख थी। लैफ्टी० गवर्नर पर अधिक कार्यभार का एक परिणाम यह हुआ कि गंगा से पूर्व के जिले अपरिहार्य रूप से अलग-अलग हो गये थे। इस भाग की दुर्भाग्यपूर्ण उपेक्षा हो गयी और ब्रिटिश शासनरूपी नदी की नियमित धारा के मुकाबिले में वह गंदे स्थिर पानी के समान हो गया। किसान अनुपस्थित जमींदार के बलात् ग्रहण के जुल्मों से तंग आ गया और पुलिस विभाग भारत के अन्य भागों की अपेक्षा भी खराब हो गया। आन्तरिक संचार साधन भी ठीक न थे, और एक जांच कमीशन ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि सुदूर जिलों में अत्याचार और अपराधों की ऐसी भयंकर स्थिति थी कि नदियों के किनारे जीवन और धन इस सीमा तक अरक्षित थे कि जिसे किसी सभ्य देश की सरकार सहन न कर सकती थी।

प्रान्तों के उपखंड करने के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण थे। बंगाल की मूल फोर्ट विलियम प्रेजीडेन्सी १८६५ में उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के निर्माण (१९०१ से संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध) और १८७४ में आसाम को पृथक् चीफ कमिश्नर के अधीन कर देने से छोटी हो गई थी। भारत सरकार ने अब यह निश्चय कर लिया था कि अब प्रान्त के और विभाजन का समय आ गया है, जैसाकि दोषारोपण किया जाता है, न कोई जल्दी की गई और न दमनपूर्ण पग उठाये गये। इस नीति पर पूर्ण विचार हो चुका था, अनेक विकल्प सोचे गये, और योजनाएं समय-समय पर आलोचना के अनुसार संशोधित की गईं। अन्त में आसाम और चटगांव तथा पुराने बंगाल के १५ जिले मिलाकर पूर्वी बंगाल और आसाम नामक नया प्रान्त बना दिया गया। यह नया प्रान्त १ लाख ६ हजार वर्गमील क्षेत्रफल और ३ करोड़ १ लाख के लगभग जनसंख्या का था।

इस सुधार की पूर्ति से पहले प्रस्तुत परिवर्तन के विरुद्ध एक भयंकर आन्दोलन भड़क उठा। कुछ भावनाएं आंशिक रूप में उचित परन्तु विचाराधीन प्रश्न के सम्बन्ध में अधिकांश संदेह पर आधारित थीं। लेकिन इस सम्बन्ध में एक निष्पक्ष दृष्टिकोण से सन्देह नहीं किया जा सकता कि यह आंदोलन उस साहित्यिक और कानूनी वर्ग ने चतुराई से आरम्भ किया था जिनके भारतीय समाचार पत्रों और कलकत्ता अदालतों से सम्बन्धित हितों को हानि पहुंचती थी। ऐसी चीख पुकार पर कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निन्दाजनक बात कहना अथवा यह कहना, जैसा कि कई बार जल्दी में यह धारणा बनाई गयी कि भारतीय राष्ट्रीय-चरित्र से हीन और यूरोपियन लोगों की अपेक्षा प्रजातन्त्र सरकार के अयोग्य हैं, उचित न था। हमारे अपने इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे, वालपोल की १७३३ की उत्पादन-कर-सम्बन्धी योजना, जो जनता के विरोध के कारण सफल न हुई। संसार में सर्वत्र राजनीतिक आंदोलन किसी सुधार के प्रति भयंकर अनियमित धारणा बना लेते हैं और तर्क का नीरस प्रकाश विवाद की भयंकर चमक और दल की हानिकारक भावनाओं के बवंडर में धीमा पड़ जाता है। सरकार के लिए बंगाल का विभाजन, लार्ड कर्जन के शब्दों में, सीमाओं का केवल पुनर्व्यवस्थापन था और इसकी योजना शासन-यन्त्र में अधिक क्षमता उत्पन्न करने के लिए की गयी थी। कलकत्ता के उत्तेजक वक्ताओं के लिए यह राष्ट्र का विभाजन, जनता में फूट डालने का यत्न, परम्पराओं, इतिहास और बंगालियों की भाषा पर एक अपमानपूर्ण आक्रमण था। निश्चय ही सारे विरोध का स्वर एक था। इंगलैंड के कुछ उदारवादियों और असैनिक सेवा के कुछ अल्पमत द्वारा समर्थित अधिक नरम दल का तर्क यह था कि इस योजना में कुछ भी अच्छाई हो, यदि यह राष्ट्रीय भावनाओं के विरुद्ध है तो इसका त्याग कर देना चाहिए। वे किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता से इन्कार न कर सकते थे, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से असम्भव था, जो सुझाव उन्होंने रखा वह यह था कि मद्रास और बंबई की तरह बंगाल गवर्नर द्वारा शासित हो और कार्यकारिणी कौंसिल इस कार्य में उसकी सहायता करे। ऐतिहासिक रूप में इस विवाद पर बहुत कहा जा सकता है। १८३३ और १८५३ के चार्टर अधिनियमों में वस्तुतः ऐसी सरकार का अधिकार दिया गया था और १८५३ के अधिनियम में तो, जब तक यह परिवर्तन सरलता से नहीं हो जाता, लैफ्टी० गवर्नरों की नियुक्ति को केवल कानूनी रूप दिया गया था।

परन्तु सरकार इस हल के पक्ष में न थी। उसने उत्तर दिया कि बम्बई और मद्रास की कौंसिलें इन प्रेजीडेंसियों के गवर्नरों को कार्यभार से मुक्त करने के लिए नहीं वरन् असैनिक सेवा के उच्च पदों पर नियुक्त होने वाले बाहर के अधिकारियों को भारत के सम्बन्ध में विशेष प्रकार का परिचय देने के लिए हैं। बंगाल एक ऐसा प्रान्त है जहां विविध जातियां और अनेक समस्याएं हैं और जिन्हें दृढ़ता से हल करने और अनुभव की आवश्यकता है, उसके नियन्त्रण के लिए लैफ्टीनेन्ट गवर्नर ही उपयुक्त हैं जो भारतीय शासन-प्रबन्ध की प्रत्येक श्रेणी में से गुजर कर वहां तक पहुंचा है। कार्यकारिणी कौंसिल उसके अधिकार सीमित कर देगी और उत्तरदायित्व बंट जाएगा। संक्षेप में लार्ड कर्जन जितना कम-से-कम संभव हो, कार्यकारिणी को कमजोर न करना चाहता था, जबकि उसके विरोधी विकेन्द्रीकरण के परीक्षण के लिए उत्सुक थे। परन्तु वायसराय वालपोल के असमान जन-आन्दोलन के सामने न झुकने का निश्चय कर चुका था। इस बात को वह सिद्धान्त-विरुद्ध और अनुपयुक्त समझता था। १९०५ में विभाजन कर दिया गया। क्या उसने भूल की? सब तथ्यों पर ध्यान करते हुए मैं ऐसा नहीं कह सकता। ऐसा सोचने के लिए कम आधार है कि विरोध का तूफान, जो भूमि से घिरे हुए समुद्र में अचानक तूफान की तरह से पैदा हुआ, पहले इसे देख लिया गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब इस तूफान का प्रथम चिह्न प्रकट हुआ तो सरकार पीछे हटने को तैयार न थी। सरकार के लिए इससे अधिक घातक और कोई बात नहीं हो सकती कि वह ऐसा विचार उत्पन्न होने दे कि वह दबाव के सामने झुक जायेगी। ऐसा करने से उसे न तो विरोधियों से ही सम्मान मिलता और न अपने लिए शान्ति ही। सदा ही घटनाओं को गुजर जाने देने की नीति से सफल शासन-प्रबन्ध नहीं चल सकता। किसी हद तक पहुंचे हुए कार्यों को पूर्ण करना चाहिए अथवा उन कार्यों के रचयिता अपनी साख और भविष्य को खो बैठते हैं।

दूसरी समस्या, जो लार्ड कर्जन के कार्यकाल की समाप्ति का कारण हुई, वह थी सैन्यशासन के प्रश्न पर लार्ड किचनर से मतभेद। विवाद का विषय टेकनिकल और वर्णन में कठिन है परन्तु इसका संक्षेप में वर्णन भी आवश्यक है। जो पद्धति चालू थी, वह निम्न है:—भारत में सेना का प्रधान कार्यवाहक मुखिया सेनापति था। वह वायसराय की कौंसिल का असाधारण सदस्य हो सकता था, और क्रियात्मक रूप में ऐसा होता भी आया था, इसके अतिरिक्त सेना का एक प्रबन्ध-विभाग भी था, जो कौंसिल के एक साधारण सदस्य के अधीन था। वह सर्वोच्च सरकार को इस सम्बन्ध में संपर्क में रखता था, क्योंकि अन्य अनेकविध प्रबन्ध-कार्यों में लगे रहने के कारण सेनापति के लिए ऐसा करना असम्भव था। कौंसिल का यह सदस्य एक सैनिक होता था, परन्तु अपने कार्य-काल में उसे सेना के नेतृत्व का अधिकार न था। वह सैनिक मामलों में वायसराय का वैधानिक सलाहकार था। उसका एक कर्त्तव्य यह भी था कि सेनापति द्वारा सैन्य-प्रबन्ध की सब योजनाओं को अपने विचार सहित गवर्नर-जनरल के पास पहुंचाये। लार्ड किचनर ने सैनिकक्षेत्र में बहुत कुछ वैसे ही हितकर और कठोर सुधार किये, जैसे लार्ड कर्जन ने नागरिक शासन में। अब तक उसे वायसराय का समर्थन प्राप्त था। उपरांत उसने अपेक्षाकृत इस भद्दी विभागीय मशीनरी पर आपत्ति की। उसने कहा कि, "इस विभाग से अत्यधिक देरी और असीमित विवाद उत्पन्न हो जाता है।" सेनापति ने कहा कि केवल एक सैन्य विभाग हो और उसका मुखिया सेनापति हो और सैन्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा कार्यभार उसे सौंप दिया जाए। इस सुझाव का विरोध लार्ड कर्जन और सारी कौंसिल ने एक मत होकर किया और कहा कि "यह नागरिक सत्ता के सैन्य-मामलों में स्वतन्त्र परामर्श देने के अधिकार को छीन कर और उसकी सर्वोच्च शक्ति को कम करके सेनापति के हाथ में पूर्ण सैनिक अधिकार केंद्रीभूत कर देना था।"

प्रस्तुत वस्तु-स्थिति से जान पड़ता है कि लार्ड किचनर के असंतोष का कुछ कारण था। यद्यपि उस समय की कौंसिल का साधारण सदस्य सर एडमंड एलिस लार्ड किचनर की निंदात्मक व्याख्या से असहमत था तथापि कार्य पूर्ति में देरी और अव्यवस्था के कारण जो इतनी उलझनपूर्ण पद्धति में आवश्यक थी, योग्य और दृढ़ निश्चयी सेनापति को और भी क्रोध हो आया होगा। लार्ड किचनर का कहना था कि उसने जो योजना सुझायी है उसमें असैनिक शक्ति की सर्वोच्चता को छुआ नहीं गया क्योंकि इतने पर भी रखी गयी योजनाओं को स्वीकारना अथवा रद्द करना वायसराय के लिए सम्भव होगा। परंतु उसने यह मांग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कि सर्वोच्च सरकार का मुखिया सेना के मुखिया के निकट सम्पर्क में होना चाहिए। उसने इस बात को बहुत ही अवांछनीय समझा कि कौंसिल का सैन्य-सदस्य पद में छोटा और सेनापति से सैनिक अनुभव में हीन होते हुए भी सेनापति की योजनाओं की आलोचना करे। लार्ड कर्जन का उत्तर था कि जब तक उसके परामर्श के लिए योग्य सैनिक अधिकारी नहीं मिलता, क्रियात्मक रूप में दृढ़ धारणा वाले सेनापति का विरोध करना असैनिक वायसराय के लिए कठिन होगा, और इस प्रकार नागरिक शासन सेना के मुखिया का अत्यधिक आश्रित हो जाएगा। उसने यह इंगित किया कि यह प्रश्न पूर्ण रूप में नया नहीं और इस पर पहले भी वायसराय और सेनापतियों ने विचार किया है परन्तु ४० वर्ष का अनुभव और समयांतर समस्या के परीक्षण से पुरानी पद्धति को ही चालू रखने का सदा निश्चय हुआ। भारत में उच्च अधिकारियों की सम्मति पूर्ण रूप से लार्ड कर्जन के पक्ष में थी।

भारत के दो उच्च अधिकारियों में गतिरोध की समस्या का हल इंग्लैण्ड की सरकार को करना था। संभवतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संतोषजनक मार्ग यह होता कि एक या दूसरे पक्ष के हक में निर्णय होता परन्तु यूनियनिस्ट सरकार ऐसा न कर सकी। साधारणतया यह विचार किया जाता कि वह न तो योग्य गवर्नर-जनरल और न ही महान् लोकप्रिय सैनिक का त्यागपत्र चाहते थे। इसलिए उसने समझौते का यत्न किया। जो अत्यधिक सुखपूर्वक अनुप्राणित नहीं था। इससे लार्ड किचनर को नगण्य रूप में संतुष्टि हुई, और लार्ड कर्जन को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपने प्रतिपक्षी के समक्ष आत्म-समर्पण कर रहा है और निश्चय ही साधारण व्यक्ति के लिए पहले की उलझनपूर्ण स्थिति स्पष्ट होने की अपेक्षा और भी अस्पष्ट हो गयी। मंत्रिमंडल का सुझाव यह था कि सेनापति सैनिक शासन के फौजी विभाग पर पूर्ण अधिकार रखे और वायसराय की कौंसिल में सैन्य समस्याओं पर एक अनुभवी के रूप में बोलने का उसे ही अधिकार हो, और सहायक विभाग, जो कि पूर्णतया सैनिक नहीं, कौंसिल के दूसरे सदस्य के अधिकार में दिये जांय, जो सैन्य सप्लाई सदस्य के रूप में हों। यह सुझाव दिया गया कि पुरानी पद्धति से सम्बद्ध सर एडमंड एलिस अवकाश ग्रहण कर लें और लार्ड कर्जन कम अधिकारयुक्त एक उत्तराधिकारी का चुनाव करें। राज्य सचिव ब्रॉड्रिक ने हाउस आफ कामंस में एक घोषणा की कि दोनों पक्षों ने समझौता स्वीकार कर लिया है, परंतु दुर्भाग्य से शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि लार्ड कर्जन और लार्ड किचनर ने सरकार के संदेश के विभिन्न अर्थ लगाए और यह संभवतः पूर्णतया आश्चर्य की बात भी न थी। लार्ड कर्जन ने सर एडमंड बरो का नाम प्रस्तावित किया, परन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने उसकी नामजदगी इस आधार पर अस्वीकृत कर दी कि यह बात उस विशिष्ट अधिकारी पर ही छोड़ दी जाए। तब मि० ब्रॉड्रिक ने लार्ड कर्जन को सुझाव दिया कि अधिकारी के चुनाव के लिए लार्ड किचनर से परामर्श करें। यह काम बहुत चातुर्यपूर्ण न था। जो संदेश लार्ड कर्जन को भेजा गया उसकी शब्द-रचना इतनी अप्रिय थी जिसके सम्बन्ध में भारतीय नीति में उससे विभिन्न विचारधारा वाले लार्ड रिपन ने एक निष्पक्ष साक्षी के रूप में कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि अवध के प्रश्न पर लार्ड एलिनबरा द्वारा लार्ड केनिंग को भेजे गये प्रसिद्ध पत्र के पश्चात् भारत सरकार को ऐसा कभी नहीं लिखा गया था। लार्ड कर्जन को यह विश्वास हो गया कि सरकार उसे अपनी इच्छा का सैन्य सलाहकार नहीं देगी, फलतः उसने अगस्त १९०५ में त्याग-पत्र दे दिया। मंत्रिमंडल ने उसे अपना त्याग-पत्र वापिस लेने को कहा परन्तु उसने इस बात को अस्वीकार कर दिया।

लार्ड कर्जन का उत्तराधिकारी लार्ड मिंटो बना। वह प्रथम लार्ड का परपोता था जो १८०७ से १८१३ तक गवर्नर-जनरल रह चुका था। नये वायसराय ने लार्ड राबर्ट्स के अधीन १८७८ में अफगानिस्तान के युद्ध में भाग लिया था और १८९८ से १९०४ तक कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था।

इतिहास में लार्ड कर्जन का स्थान अनुमान से निश्चित करना निस्संदेह समय से पूर्व की बात है। वर्तमान लेखक ने जहां आवश्यकता पड़ी है उसकी आलोचना करने में संकोच नहीं किया। बहुत से विचारक––जिनकी सम्मति सम्मान के योग्य है–इस आलोचना को और भी आगे तक ले जाएंगे। यह बहुत संभव है कि भारत की अधिक अशांति उसकी उत्साहपूर्ण भावना की सतत जागरूक शक्ति की अपेक्षा सब पर छा जाने की वैसी ही भावना के कारण थी जैसा कि महान् गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी की गदर से सम्बद्ध थी। निश्चय ही यह विचारणीय स्थिति है कि अत्यधिक सफल शासक लार्ड नार्थब्रुक और लार्ड डफरिन जैसे शांत, स्पष्ट दृष्टा और वास्तविकता को पहचानने वाले होते हैं। वे राज्य रूपी जहाज का मार्ग दर्शन बड़ी चौकसी से करते हैं। उनका दमन नीति में विश्वास नहीं होता। वह यह सम्भव और उचित नहीं समझते कि एक ही व्यक्ति भारत सरकार जैसे विशाल अवयवी को अपनी इच्छा के अनुसार ढाल ले। परन्तु राजनीति में जहां तक वैयक्तिक प्रभाव, अगुआपन, इच्छा और वक्तृत्व शक्ति का मूल्य है लार्ड कर्जन सदा महान व्यक्ति रहेगा। कोई भी व्यक्ति इतनी ओजपूर्ण भाषा में ब्रिटिश शासन के अच्छे पहलू को प्रकट न कर सका। उसने कहा है, "मैं उनमें से नहीं जो केवल यह समझते हैं कि हमने पूर्व और पश्चिम के बीच एक कोमल तख्ते का पुल बनाया है ...जिसे एशिया की गम्भीर गर्जन करती हुई लहरें बहा ले जाएंगी ....ज्यों ज्यों वर्ष व्यतीत हो रहे हैं, कर्त्तव्य की पुकार मुझे अधिक स्पष्ट, कर्त्तव्य अधिक आवश्यक, कार्य बहुत शानदार और लक्ष्य अधिक स्पष्ट प्रतीत होता जा रहा है। मेरे लिए यह संदेश स्फटिक शिला पर अंकित है––यह भाग्य की चट्टान पर अंकित है कि हमारा कार्य उचित है और यह स्थिर रहेगा।" उसकी सामान्य नीति का उसके द्वारा शासित लोगों पर क्या प्रभाव हुआ, इसके कारण बहुत से उसकी नीतिमत्ता से मतभेद रख सकते हैं परन्तु उसके उच्च आदर्शों और कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं कर सकता, जिनके कारण वह भयंकर अस्वास्थ्य, घरेलू संताप और शारीरिक कष्टों के होने पर भी अपने लक्ष्य के किनारे तक बढ़ता गया। भारत में उसका अन्तिम भाषण, जो कि आधुनिक वक्तृत्वकला की सुन्दर वाक्यवली के साथ समाप्त हुआ था, भारत में एक अंग्रेज के कार्य के सम्बन्ध में उसकी धारणा को स्पष्ट करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"सैकड़ों बार मैंने आपसे कहा है कि भारत में जो भी अंग्रेज अपना कार्य समाप्त करता है उस पर सचाई से यह बात लागू हो : "तुमने न्याय से प्रेम किया है और अन्याय से घृणा।" जिस व्यक्ति ने ईमानदारी से भारत की सेवा की हो, ऐसा कोई नहीं जिसके लिए ऐसा न कहा जा सके। अन्य सब बातें दिखावा और ढोंग हैं। संभवतः हममें से बहुत कम ही ऐसे होंगे जो उस ध्येय के निकट तक गये होंगे परन्तु सदा हमारा यह ध्येय तो होना ही चाहिए। भारत में अंग्रेज के रहने का यह औचित्य है कि वह सदा सत्य के लिए संघर्ष करता रहा : सदा अयोग्यता, अन्याय अथवा नीचता से घृणा करता रहा। वह अपने पथ से न दायें को, न बायें को विचलित हुआ। उससे प्रशंसा अथवा साधुवाद और आलोचना अथवा दुर्वचनों की चिन्ता नहीं की क्योंकि इनमें से कोई सी भी चीज भारत में सरलता से मिल सकती है, जिसने कभी अपना उत्साह गिरने अथवा मंद नहीं होने दिया परन्तु सदा यह स्मरण करता रहा कि उस सर्वशक्तिमान ने अपना एक महान हल तुम्हारे हाथ में दिया है जिसकी रेखाओं में भविष्य के राष्ट्र पनप रहे हैं। अपने हल के फाल को अपने काल में और आगे ले जाओ, जिससे यह अनुभव हो कि इन लाखों व्यक्तियों में तुमने न्याय, प्रसन्नता अथवा समृद्धि, मानवता अथवा नैतिक महत्ता, देशभक्ति की लहर, बौद्धिक चातुर्य का उदय अथवा कर्त्तव्य के प्रति प्रेरणा छोड़ी है या नहीं, जहां यह पहले नहीं थी। जब तक वह यहां है उसका ध्येय यही होना चाहिए और जब वह इह-लीला समाप्त कर जाए तब उसकी समाधि पर यह अंकित हो कि मैंने इन ध्येयों को छोड़ किसी और के लिए कार्य नहीं किया। । भारत ही मेरे कार्यों का निर्णायक हो।"

इन गर्वपूर्ण और भद्र शब्दों द्वारा एक महान् वायसराय-काल की उपयुक्त समाप्ति होती है। यह केवल भारतीयों के प्रति ही क्षमालेख नहीं परन्तु संसार के और भी उच्च न्यायालय और समय के सम्मुख है। कुछ भी भूलें अथवा असफलताएं--जोकि मनुष्य से पृथक् नहीं हो सकतीं--आलोचक उसके ६ वर्ष के काल में निकालें, इसमें संदेह नहीं कि जब दूसरी ओर ध्यान परिवर्तित कर देने वाली घटाएं दूर हट जाएंगीं तो लार्ड कर्जन का नाम उनमें होगा, जिनका भारत में वायसराय-काल बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १६

मार्ले-मिण्टो सुधार, आँग्ल-रूसी सम्मेलन

लार्ड कर्जन का प्रयाण भारतीय इतिहास में एक वास्तविक युग को अंकित करता है। इसके साथ ही इंगलैंड में अत्यधिक शक्तिशाली उदार और सुधारवादी सरकार का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे चुनावों में कभी सफलता नहीं मिली थी। इस घटना का भारत में ब्रिटिश राज्य की सारी समस्या पर दूरगामी प्रभाव पड़ना आवश्यक था। वास्तव में का भाग्य यह कठोर व्यंग ही प्रतीत होता है कि भारतीय शासन-यन्त्र को लार्ड कर्जन द्वारा अत्यधिक श्रम से दृढ़ बना देने के बाद सत्ता में एक ऐसा दल आये जिसका अधिक सम्बन्ध निरंकुश नौकरशाही द्वारा कठोर सुधारवादी उपाय करने की बजाय हमारे पूर्वी साम्राज्य में वैधानिक और प्रिय सरकार का सिद्धान्त लागू करने से था और जिसका विश्वास नियंत्रण की अपेक्षा स्वतन्त्रता और योग्यता के स्थान पर स्वायत्त शासन था। नया राज्य-सचिव जान मार्ले दृढ़ व्यक्तित्व वाला था। यद्यपि वह अब तक के संकुचित उदारवाद में विश्वास रखने वाला "अधीर आदर्शवादी" प्रतीत होता था परन्तु वह अपने कार्यालय में यथार्थ और भारत में वैधानिक सुधार लागू करने का दृढ़ निश्चयी था। अब तक के कुछ राज्य-सचिव मंत्रिमंडल और वायसराय में केवल एक आवश्यक कड़ी समझे जाते थे। अपनी स्थिति के सम्बन्ध में मि० मार्ले की ऐसी धारणा न थी और यद्यपि वह गवर्नर-जनरल को अपना 'एलची' मानने की अवस्था तक नहीं पहुंचा (यद्यपि यह पदवी उसके सहायक सचिव ने उपयोग की थी) तो भी निस्संदेह उसने भारत के शासन-प्रबन्ध में अधिक प्रत्यक्ष भाग लिया। अब तक के राज्य-सचिवों ने ऐसा न किया था। यह आवश्यक ही था कि लार्ड मिण्टों के वायसराय पद और मि०मार्ले के शासन में निकट सहयोग होता। वे एक दूसरे के आगे पीछे कुछ सप्ताहों के अन्तर से नियुक्त हुए थे। ब्लैक बर्न के लार्ड मार्ले (१९०८ में सामंत सभा का सदस्य बनाया गया) ने अक्तूबर १९१० को त्यागपत्र दिया और मिण्टो एक माह बाद भारत से गया। अपने देश के हानि-लाभ का विचार किये बिना भारत मंत्री और वायसराय आपसी सहयोग के लिए अपने पूर्वाधिकारियों की तरह स्थायी अधिकारियों के अनुभव और उनके द्वारा मार्ग प्रदर्शन पर अधिक आश्रित नहीं रहे। यह निश्चय ही सत्य है कि प्रसिद्ध मार्ले-मिण्टो सुधार दो नीतिज्ञों, जिनका भारत के प्रति ज्ञान सीमित था, के आपसी विचार-परिवर्तन के ही फल थे।[1]

---

१. सर वेलेण्टाइन चिरोल ने "टाइम्स" में लिखा है मि० लोवाट फ्रेज़र ने जनवरी १९१८ के एडिनबरा रिव्यू नामक पत्र में लिखा था : "लार्ड मार्ले की जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लार्ड कर्जन के प्रस्थान-काल और प्रकार ने अपने उत्तराधिकारी के लिए कुछ कठिन प्रश्न छोड़े। लार्ड मिण्टो के सामने इस तथ्य के कारण बाधाएँ थीं कि, यद्यपि यूनियनिस्ट सरकार ने उसे लार्ड किचनर का समर्थन करने के लिए भेजा था, तथापि उसे उस लिबरल मंत्रिमंडल के साथ काम करने के लिए कहा गया, जिसके समर्थकों की सहानुभूति यद्यपि लार्ड कर्जन के बंग-भंग के विषय में विपरीत थी, तथापि प्रधान सेनापति के साथ कर्जन की असहमति के बारे में पूर्णतया उसके साथ थी। विभिन्न कारणों से ऐसा ही कठिनाईपूर्ण प्रश्न भारत मंत्री के सामने भी था। अंग्रेजी पार्टी पद्धति, जो एक स्वतन्त्र विरोधी को भी शीघ्र ही सम्राट् के उत्तरदायी मंत्री के रूप में परिवर्तित कर देती है, प्रायः मनुष्य की राजनीतिक एकरूपता रखने के यत्नों के साथ अनोखा खेल खेलती है। मि० मार्ले कर्जन-किचनर विवाद के सम्बन्ध में पद संभालने के पहले ही अपने विचारों की घोषणा द्वारा स्थिति स्पष्ट कर चुका था। उसने कहा कि, "सेना ने लार्ड कर्जन को उसके पद से बाहर धकेल दिया है। और राज्य सचिव (ब्राड्रिक) ने उस कार्य की स्वीकृति दी। यदि चार्ल्स प्रथम की मृत्यु के बाद से इस देश में कोई सिद्धान्त अपनाया गया है तो वह यही है कि: नागरिक सत्ता सैन्य सत्ता से उच्च रहेगी। इण्डिया आफिस में आप यह देख सकते हैं कि वे इस नियम भंग के अपराधी हैं। यह शासन के उन उच्च नियमों से हटना है जो गृह-युद्ध के बाद से इन द्वीपों के लिए क्रियात्मक रूप में मान्य रहे हैं।" इन प्रतिध्वनित कालों की लम्बी गूंज स्थिति को सरल न बना सकी और मि० मार्ले के विरोधी कुटिल प्रसन्नता और आश्चर्य से देख रहे थे कि वह स्थिति का सामना कैसे करता है। विशुद्ध तर्क यदि उसे अपने पूर्वाधिकारी के निर्णय को बदलने को प्रेरित करता तो इसका फल वायसराय और सेनापति के त्यागपत्र होते और इस कठिन स्थिति का सामना नये मंत्रिमंडल के लिए कठिन होता। इसलिए मि० मार्ले लम्बे, निष्फल और हानिकारक विवाद का संकट मोल लेने के स्थान पर सिद्ध वस्तु को ही स्वीकार करने के लिए न जाने किस महत्ता से तैयार हो गया। इसके पश्चात् सेनापति वायसराय की कौंसिल का साधारण सदस्य हो गया और सैनिक विभाग उसके अधीन कर दिया गया। सेना के लिए सप्लाई विभाग बनाया गया और एक दूसरे सदस्य के अधीन यह विभाग रखा गया। लार्ड मार्ले के शब्दों में "यह प्रबन्ध न तो शासन के लिए और न बचत के हिसाब से अच्छा सिद्ध हुआ।" महान् व्यक्तियों के सम्मान को स्थिर रखने का काम पूरा करने के बाद १९०७ में यह विभाग समाप्त कर दिया गया। अंततः लार्ड किचनर की बात रह गयी। परन्तु १२वर्ष बाद भयंकर स्थितियों और संकट के समय इस विवाद के संबन्ध में लार्ड कर्जन की स्थिति निर्दोष सिद्ध हुई। इस मध्यकाल में सैनिक नीति के सम्बन्ध में भारत सरकार का नियंत्रण बहुत ढीला हो गया। अत्यधिक कार्यभार से दबे सेनापति के हाथ में महायुद्ध के समय में मेसोपोटामिया में कार्यवाहक और प्रबन्ध के दोनों अधिकार इकट्ठे देने का फल यह हुआ कि यातायात और चिकित्सा-

---

भी विशेषताएँ हों परन्तु वह निश्चय ही ह्वाइट हाल के सचिवों में अत्यधिक निरंकुश और बहुत ही कम वैधानिक था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सेवा के कार्य ठप्प हो गये । इसके बाद जांच आयोग ने किचनर पद्धति का जोरदार खण्डन किया और कहा कि युद्ध के समय सेनापति और सैनिक सदस्य का कार्य एक व्यक्ति द्वारा भली प्रकार होना असंभव है ।

मि० मार्ले ने बंगाल-विभाजन के निर्णय में परिवर्तन से भी इन्कार कर दिया। उसने अपना मत व्यक्त किया कि उसके पूर्वाधिकारियों की नीति में पद्धति विषयक भूल थी परन्तु जहां तक मेरा सम्बन्ध है इस प्रश्न का तो निर्णय हो चुका । आंदोलन अभी चल रहा था और एक ऐसी घटना हुई जिससे भारत सरकार की स्थिति और उलझ गयी तथा उसकी अधिक आलोचना हुई। इस आन्दोलन की आपत्तिजनक बात यह थी कि बंगाली छात्रों ने राजनीतिक सभाओं में भाग लेना आरम्भ कर दिया। अध्यापक इस ओर से आंख मूंदे थे। पूर्वी बंगाल और आसाम के प्रथम लैफ्टिनेन्ट गवर्नर सर जे० बैम्पफील्ड फुलर ने शिक्षा विभाग को विज्ञप्ति भेजी, जिसमें इस काम की निन्दा की और इस बात का भय दिखाया कि सरकार उन स्कूलों को सहायता देना बन्द कर देगी जो इन आदेशों का पालन न करेंगे तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय को सिफारिश करेगी कि वह उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले । पटना जिले के दो स्कूलों ने इन आज्ञाओं की अवहेलना की और आन्दोलन के नायकों को आश्रय दिया। सर जे० वैम्पफील्ड फुलर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रार्थना की कि वह संबंधित स्कूलों से सम्बन्ध समाप्त कर दे, परन्तु भारत सरकार ने उसे इस आधार पर प्रार्थना-पत्र लौटाने के लिए कहा कि इससे जनता की उत्तेजित भावनाओं के फलस्वरूप विश्वविद्यालय की सीनेट में अवांछनीय कटु विवाद छिड़ जायेगा। इस पर लैफ्टिनेंट गवर्नर ने त्याग-पत्र दे दिया और वह स्वीकृत हो गया। यह घटना विभाजन के विरोधियों की विजय समझी गई और सामन्त सभा में लार्ड कर्जन ने घोषणा की कि फुलर इस भ्रमपूर्ण विश्वास पर बलिदान कर दिया गया कि इससे आन्दोलनकारियों को शान्ति मिलेगी। भारत सरकार का उत्तर था कि वह अपने अधिकारियों में से किसी एक के आदेशों के सामने नहीं झुक सकती, परन्तु यह इस आरोप का उत्तर न था कि वह स्कूलों को लैफ्टीनेंट गवर्नर की आज्ञाओं का उल्लंघन करने की छूट देने को तैयार है, और सर बैम्पफील्ड फुलर से सहानुभूति रखने वाले भी बहुत से व्यक्ति थे।

विदेश नीति के सम्बन्ध में नयी लिबरल सरकार का महत्त्वपूर्ण कार्य ब्रिटेन और रूस के मध्य सम्मेलन था। यह तिब्बत, अफगानिस्तान और ईरान के सम्बन्ध में था और इससे एशिया की नीति से सम्बन्धित तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुलझे। लार्ड मिण्टो की सरकार के अधीन भारत के विदेश सम्बन्धों पर विचार करते समय, हमें इस मध्य-वर्ती तथ्य को ध्यान में रखना पड़ेगा कि इन तीनों देशों से पृथक्-पृथक् हमारे क्या सम्बन्ध थे और रूस से हुए समझौते का उन पर क्या प्रभाव पड़ा।

मि० मार्ले व लार्ड मिण्टो ने तिब्बत के प्रश्न को वहां से आरम्भ किया जहां उनके पूर्व अधिकारियों ने उसे छोड़ा था। तिब्बत के अधिपति के रूप में १९०४ कीलासा सन्धि पर चीन की औपचारिक स्वीकृति अब भी आवश्यक थी। मूल धारणा यह थी कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह इस "स्वीकारात्मक समझौते" पर हस्ताक्षर कर दे, परन्तु इसने सम्मेलन का रूप धारण कर लिया। इसमें लासा सन्धि की स्वीकृति के साथ दो और धाराएं जोड़ दी गईं। यह सम्मेलन अप्रैल १९०६ में पेकिंग में हुआ। पहली धारा के अनुसार ब्रिटेन इस बात से बंध गया कि वह न तो उसको अपने राज्य में मिलाएगा और न उसके आंतरिक शासन में हस्तक्षेप करेगा। दूसरी में चीन को अन्य सब विदेशी राष्ट्रों पर समान प्रतिबन्ध लगाने का भार दिया गया। यद्यपि ब्रिटेन को मौखिक सुविधाएं दी गई थीं,परन्तु असल में दूसरी धारा चीनियों के लिए उतनी ही लाभप्रद थी जितनी हमारे लिए। और निश्चय ही उन लोगों के विश्वास को कुछ दृढ़ता मिली जो यह कहते थे कि तिब्बती मामलों में हमारे हस्तक्षेप से चीन को ही सब लाभ प्राप्त हुए। संधि-वार्ता के मध्य भारतीय सरकार लार्ड कर्जन की नीति से पूरा लाभ प्राप्त करना चाहती थी और इस बात पर जोर डालती रही कि लासा की सन्धि स्वीकार कर ली जाए। दूसरी ओर राज्य-सचिव इस बात का दृढ़ निश्चय किये था कि जितनी जल्दी हो सके इस उलझन से बाहर निकला जाए, और अन्त में वह सफल हुआ। इसीलिए उसने भारत सरकार से प्रतिनिधित्व पर भी इस बात को स्वीकार कर लिया कि तिब्बत वालों के स्थान पर चीनी सरकार क्षतिपूर्ति करे और यह २५ किश्तों के बदले तीन किश्तों में हो। १९०८ में क्षतिपूर्ति के बाद चीनी सरकार ने हमें हमारी प्रतिज्ञा के अनुसार चुम्बी घाटी खाली करने के लिए कहा। भारत सरकार ने इस आधार पर इस मांग का विरोध किया कि मंडियां बनाने के सम्बन्ध में तिब्बत वालों ने इस सन्धि का पूरी तरह से पालन नहीं किया और वहां से हमारा हटना संधिपूर्ति के लिए दिये वचन का त्याग होगा। परन्तु राज्य सचिव ने अपनी नीति और उसके प्रयोगी कारणों पर विश्वास के आधार पर विरोध की उपेक्षा करते हुए घाटी को एकदम खाली कर देना उपयुक्त समझा और हमारी सेनाएं फरवरी १९०८ में वहां से हटा ली गयीं। इसी बीच रूस और ब्रिटेन में अगस्त १९०७ के सम्मेलन ने यूरोपियनों के तिब्बत में बलात् प्रवेश के द्वार दुहरे रूप में बन्द कर दिये। दोनों राष्ट्र तिब्बत की अखण्डता और आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने और केवल चीन द्वारा ही वहां की सरकार से व्यवहार करने तथा लासा को कोई एलची न भेजने पर सहमत हुए। वस्तुतः ब्रिटेन और रूस इस सम्मेलन द्वारा तिब्बत के सम्बन्ध में स्वयं लागू किये गये नियम में बंधे गए। इसके दो परिणाम हुए, जिनकी कोई आशा न थी, परन्तु यह अनिवार्य थे। दलाई लामा गद्दी से उतार दिया गया और देश का सारा नियंत्रण चीनी रेजीडेंटों के हाथ में चला गया। उन्होंने ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का प्रदर्शन किया। जुलाई १९०८ में दलाई लामा पेकिंग बुलाया गया और उससे ऐसा व्यवहार हुआ कि उसने अपनी निम्नावस्था को इतना महसूस किया कि १९१० में तिब्बत लौटने के बाद उसने लासा पर चीनी सेनाओं की प्रगति को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार से सहायता की प्रार्थना की। उसी वर्ष के फरवरी मास में वह एक बार फिर अपनी राजधानी से भागा और भारतीय सीमा पार कर दार्जिलिंग पहुंच गया। चक्र पूरी तेजी से घूम रहा था, और तिब्बत का परम्परागत पृथक्त्व पूर्णतया भंग हो चुका था। तासी लामा पहले ही १९०५–६ में भारतीय सीमा में आ चुका था और प्रिन्स आफ वेल्स तथा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वायसराय के दरबार में शामिल हो चुका था। और अब स्वतः वह दलाई लामा भारत की राजधानी में आया और लार्ड मिण्टो से उसने भेंट की, कि जो १९०४ में भयभीत होकर लासा से इस लिए भागा था कि उसे योरोपियनों का भी आश्रय न लेना पड़े। तब उसने उस चीनी सरकार के विरुद्ध सहायता की व्यर्थ मांग की, जिसने उसे शाही आदेश द्वारा फरवरी में गद्दी से उतार दिया था। हम अपने ही कार्य के कारण चाहते हुए भी उसकी सहायता न कर सकते थे। हम चीनी सरकार से मृदु और प्रभाव-रहित विरोध-प्रदर्शन के अतिरिक्त कर भी क्या सकते थे। एक ऐसा नया दलाई लामा खोजा गया जो पूर्णतया चीनी रैजीडेंट के नियंत्रण के में था।

तिब्बत-सम्बन्धी मार्ले की नीति के विषय में कहा जा सकता है उससे एक कठिन प्रश्न सुलझा और उसने हमें संकटपूर्ण स्थिति में उलझने से बचा लिया। यंग हसबैंड के अभियान का मुख्य ध्येय यह था कि तिब्बत में रूसी प्रभाव न बढ़ने दिया जाए और जिसकी पूर्ति हमने १९०७ के सम्मेलन में कर ली थी। दुःख की बात यह है कि रूस और ब्रिटेन की सरकारें १९०३ तक कोई ऐसा हल न निकाल सकी थीं। यदि ऐसा होता तो सारा कष्ट और अभियान का व्यय बच जाता, शुरू में इतने तिब्बतवासियों का बलिदान न होता, न दलाई लामा गद्दी से उतारा जाता और न तिब्बत चीन के निरंकुश अधिकार में जाता।

जहां तक अफगानिस्तान से सम्बन्ध है, १९०७ के रूस और ब्रिटेन के सम्मेलन में यथापूर्व स्थिति को स्वीकार करने से अधिक कुछ न हो सका। ब्रिटेन ने वहां किसी राजनीतिक अवस्था के परिवर्तन का दावा नहीं किया और रूस ने भी स्वीकार कर लिया कि अफगानिस्तान उसके प्रभाव से बाहर का क्षेत्र है और वह अमीर से अपने सब राजनीतिक संबंध ब्रिटिश सरकार द्वारा ही रखेगा और न कोई एजेन्ट ही भेजेगा। रूसी तथा ब्रिटिश व्यापारियों को समान सुविधाएं दी गयीं। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन ने अपने मित्र की भावनाओं पर बल दिया कि जब तक अमीर की स्वीकृति रूस को बता न दी जाए तब तक इन्हें लागू नहीं किया जा सकता। वास्तविक बात यह है कि इस सावधानी के बावजूद भी अपने राज्य के प्रति दो देशों के इस समझौते को हबीबुल्ला ने स्वीकार न किया और इस संधि को औपचारिक मान्यता न दी। यह और भी दुःख की बात थी कि वह इसी वर्ष के आरम्भ में इंग्लैण्ड हो आया था और ऐसा प्रतीत होता था कि इंग्लैण्ड के विरुद्ध उसका क्रोध समाप्त हो चुका है।

यह सम्मेलन तिब्बत अथवा अफगानिस्तान की अपेक्षा ईरान के सम्बन्ध में अधिक महत्त्वपूर्ण था। इससे ब्रिटेन और रूस में सम्भव युद्ध रुक गया और यह उस समय की स्मरणीय कूटनीतिक सफलता कही जा सकती है। जैसाकि अध्याय १३ में निर्देश किया गया है, ईरानी साम्राज्य के टुकड़े होने आरम्भ हो गये थे। १९०५–१० के मध्य काल में देश अन्धकार की ओर बढ़ रहा था। ईरान की स्थिति इसलिए भी दयनीय होती गयी कि वहां की जनता में विधानवाद और जनता की सरकार की भावनाएं पनप रही थीं। पूर्वी स्वेच्छाचार की पुरानी विचारधारा की बजाय प्रजातन्त्र का नया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मद अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो रहा था। इसलिए रूस और ब्रिटेन का रूसी क्षेत्र के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाकर अपनी स्थिति को सीमित करना और वहां की संकटपूर्ण स्थिति के सम्बन्ध में अपने रवैये को स्पष्ट करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था।

इस सम्मेलन द्वारा भले ही रूस और ब्रिटेन ने माना कि वे ईरान की अखंडता और राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे परन्तु उत्तरी ईरान रूसी प्रभाव और दक्षिण-पूर्वी जिले ब्रिटिश प्रभावक्षेत्र निश्चित किये गये। दोनों देश इस बात पर सहमत हो गये कि वे दूसरे के प्रभावक्षेत्र में अपने अथवा अपने देशवासियों के लिए कोई राजनीतिक अथवा व्यापारिक, यथा रेलगाड़ी, बैंक आदि बनाने, टैलीग्राफ, सड़कें यातायात और बीमे आदि की सुविधायें न मांगेंगे और किसी अन्य देश द्वारा इन सुविधाओं को प्राप्त करने के यत्न का विरोध करेंगे। दक्षिण में रूसी क्षेत्र की सीमा कैसरेशीरों, इस्फहान, यजद् और कल्क तथा ब्रिटिश क्षेत्र जो अब्बास बन्दर से करमान की राह बिरजंद पर उत्तरी सीमा तक था। विदेश मंत्री सर एडवर्ड ग्रे ने घोषणा की कि ईरान की खाड़ी सम्मेलन के कार्य-क्षेत्र से बाहर है। रूस ने भी संधि-वार्ता के समय कहा था कि खाड़ी में ब्रिटेन की विशेष रुचि से वह भी इन्कार नहीं कर सकता।

इस सम्मेलन की आलोचना हुई। यह आलोचना इसके सिद्धान्त से कम सम्बन्धित थी जितना कि इस सौदेबाजी के ब्योरे से। इसमें सत्य है कि "इसकी भावना में एक आश्चर्यपूर्ण रुखाई है जिसमें दूसरे राष्ट्रों की पैतृक परम्परा को समाप्त करने का यत्न है।" एक दल ने कहा कि रूसी प्रभावक्षेत्र बहुत बड़ा है और ब्रिटिश क्षेत्र बहुत छोटा। परन्तु जैसा कि अध्याय १३ में कहा गया है उत्तरी ईरान में रूसी घुसपैठ बढ़ती गयी। सर जे० डी० रीस के शब्दों में इस बात में संदेह नहीं कि इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीतिज्ञों को उतना लाभ नहीं मिला।

इस श्रेष्ठ नीतिमत्ता का वास्तविक औचित्य इस बात में है कि रूस और ब्रिटेन में कोई भयंकर संघर्ष नहीं हुआ कि जब १९०७ और १९१० में ईरान में विद्रोह और अव्यवस्था फैली हुई थी, और इस कारण दोनों देशों के लिए हस्तक्षेप के अनेक अवसर थे और न कोई पहिले का बन्धन ही था।

आंतरिक मामलों में बंगाल के विभाजन के विरुद्ध आंदोलन सारे भारत में सामान्य राजनीतिक क्षोभ के रूप में परिणत हो गया। इस भारतीय अशांति का ठीक से लक्षण भारत मंत्री के शब्दों में मिलता है "उस भयंकर समय में राजनीतिक बेचैनी धीरे-धीरे भारत में फैल रही थी। उसके अनेक कारण थे—जिनमें कुछ दिखाऊ और कुछ मूल थे। क्रान्तिपूर्ण ध्वनियां, जिनमें से कुछ नरम और कुछ उग्र थीं, स्पष्ट और तेज होती गयीं। अपनी सरकार में जनता के अधिक भाग के दावे अथवा लालसाएं अधिक संगठित रूप में आ गयीं। पूर्व और पश्चिम में संचार की यांत्रिक सुविधाएं दिन प्रतिदिन उन्नत हो रही थीं और सहानुभूतिपूर्ण राजनीतिक विचारधाराओं को पहुंचाने का कार्य अत्यधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा था।"[1] यह आंदोलन हमारे समय के भारतीय इतिहास में बहुत ही

1. Lord Morley's Recollections, Vol. II, p. 149.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महत्त्व का है। पूर्व में हमारी स्थिति सम्बन्धी सारी समस्या पर इसके प्रभाव और महत्त्व को बढ़ा चढ़ा कर कहना पूर्णतया असंभव है। इसके कारणों का संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक है।

यह आंदोलन एक बड़े आंदोलन का भाग था। एशिया महाद्वीप में राजनीतिक और विचारों की जागृति और यूरोपियनों की दासता से मुक्ति की प्रबल लालसा उत्पन्न हो रही थी। जापान ने रूस की शक्तिशाली सेनाओं को पराजित कर दिया था। लार्ड कर्जन ने कहा है कि, "उस विजय की गूंज सारे पूर्व में फैल गयी थी। यद्यपि क्रान्ति में भी पश्चिम पूर्व के लिए अनुकरणीय था तो भी पश्चिमी राष्ट्रों ने सोचा कि उनके भौतिक और आध्यात्मिक शस्त्र उन्हीं के विरुद्ध हो गये हैं। और जिस प्रकार जापान ने आधुनिक शस्त्रास्त्रों से रूस को पराजित कर दिया, उसी प्रकार ईरान, भारत और चीन में सुधारवादी दल ने राजनीतिक बल यूरोप के राजनीतिक दर्शन और साहित्य सें प्राप्त किया।"

सबसे प्रथम क्रियात्मक रूप से भारत से सम्बद्ध कारणों का संबंध उन उच्च आशाओं से है जो रैडिकल बहुमत के वैस्टमिस्टर में सत्ता प्राप्त करने पर प्रकट की गयी थी, जिसके अनेक सदस्यों के सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि उनकी भारत की "प्रोग्रैसिव" पार्टी से सहानुभूति है। दूसरा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभाव बढ़ रहा था और हिन्दू तथा मुस्लिम नेता एक दूसरे के अधिक निकट आ रहे थे—यद्यपि मूल रूप में मुस्लिमों ने आंदोलन का विरोध किया था जैसा कि १८९९ में उनके मुख्य प्रतिनिधियों ने सर अमीर हसन की अध्यक्षता में घोषणा की कि कांग्रेस की नीति देश की सच्ची राजनीतिक और नैतिक उन्नति में बाधा डालने वाली है। तीसरा कारण था लार्ड कर्जन के तानाशाही शासन के विरुद्ध बढ़ने वाला विद्रोह। जिसे राष्ट्रीय नेता, गलत या ठीक, अनेक पहलुओं सें प्रतिक्रियावादी समझते थे।

अनेक अत्यधिक उन्नत दलों की तरह भारतीय सुधारकों में नरम और गरम दो दल थे। श्री आर० सी० दत्त, श्री गोखले और सर सत्येन्द्र सिन्हा जैसे व्यक्ति नरम दल के थे। उनके विचार भले ही उन्नत थे, परन्तु बहुत ही उपयुक्त और तर्कसंगत थे। परन्तु गरम दल वाले क्रान्तिपूर्ण प्रचार और उत्तेजक भाषाओं द्वारा ऐसे संघर्ष पर उतर आये जिससे उपद्रव और राजनीतिक हत्याएं आरम्भ हो गयीं। अप्रैल में लाहौर और रावलपिंडी में भयंकर दंगे हुए। स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि सरकार को विवश हो आगामी मास एक ऐसा आर्डीनेंस (बाद में एक्ट बना) जारी करना पड़ा जिसके अधीन प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे जहां उपयुक्त समझे उन जिलों में दस दिन की सूचना के बिना की जाने वाली सभाओं पर पाबन्दी लगा दें और जो लोग आज्ञा की अवहेलना करें उन्हें १८१८ के नियम के अनुसार देश निकाला दें। दिसंबर में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में नरम और गरम दल वालों में अध्यक्षता के लिए मुकाबिला हुआ। गरम दल वालों का मनोनीत व्यक्ति पंजाब के दंगों में भाग लेने के कारण निर्वासित कर दिया गया था। मुकाबिला खुले संघर्ष में परिणत हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और अनियमित रीति से समाप्त हो गया। परन्तु नरम दल वालों ने उसके शीघ्र ही बाद यह घोषणा-पत्र निकाला कि साम्राज्य में भारत के लिए हमारा ध्येय वही स्थिति प्राप्त करना है जैसी कनाडा और स्वशासन युक्त उपनिवेशों की है। दुर्भाग्य से १९०८ के आगामी वर्ष भी द्रोहात्मक आंदोलन जारी रहा और यूरोपियनों तथा अन्य लोगों पर घातक आक्रमण होते रहे। भारत सरकार की और अपनी इच्छा के प्रतिकूल भारत मंत्री को इस हिंसात्मक आन्दोलन के विरुद्ध विशेष कानून की स्वीकृति देनी पड़ी। दो अधिनियम बनाये गये जिसमें विस्फोटक पदार्थों को रखने अथवा बनाने को घोर अपराध बताया गया और बाद में धारासभा ने एक अधिनियम पास किया जिसमें अदालतों को द्रोहात्मक हिंसापूर्ण मुकदमों की संक्षिप्त सुनवाई का अधिकार दिया गया।

इस प्रकार के राजनीतिक अपराध के फूट पड़ने से बढ़कर कोई दूसरी बात असामयिक न थी। यद्यपि नरम दल का घोषणा-पत्र भी उनके लिए दूर का आदर्श और अप्राप्त था तो भी लार्ड मार्ले और लार्ड मिण्टो भारतीय संस्थाओं को स्वतन्त्र करने की दिशा में अधिक उदार पग उठाने के इच्छुक थे। अब प्रश्न यह था कि जो कुछ हुआ है, क्या उसके कारण वे अपना हाथ रोक लेंगे। उन्होंने अपने निश्चित मार्ग से विचलित न होने का निश्चय किया। लार्ड मार्ले का विश्वास था कि गरम दल वालों के दांत खट्टे करने का ठीक रास्ता यही है कि उचित सुधारों को स्वीकार करके नरम दल वालों का समर्थन प्राप्त किया जाए। इसके साथ ही अव्यवस्था सहन नहीं की जा सकती थी। इसलिए भारत सरकार ने दमन और रियायत की मिश्रित नीति अपनायी, जिसके लिए विकल्प सुझाने के स्थान पर आपत्ति करना सरल था। दमन निश्चय ही अत्यधिक न था। एक उच्च अधिकारी ने घोषणा की है कि निस्संदेह लार्ड मिन्टो के शासन के पहले दो वर्षों की असाधारण बेचैनी में अनेक निर्दोष व्यक्तियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।[1] भारत मंत्री और वायसराय का उन्हीं राजनीतिज्ञों जैसा हाल हुआ जिन्होंने उदार मार्ग ग्रहण किया था। विरोधियों ने उन पर भी क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया। वे अपनी नीति पर दृढ़ रहे और इसका आरम्भ षड्यन्त्रों और हत्याओं से काले इसी वर्ष भारत के राजाओं और जनता के नाम, राज्य संभालने की पांचवीं वर्षगांठ के एडवर्ड सप्तम के संदेश और स्वीकृत सुधारों की प्राप्ति के प्रथम चरण के रूप में लार्ड मार्ले ने सामंत सभा में किया। दो नवम्बर का संदेश भारत में ब्रिटेन की सेवाओं की मान्यता के गर्वपूर्ण और उचित दावे से आरम्भ होता है। "आपके लम्बे इतिहास में आधी शताब्दी का समय बहुत थोड़ा है।' तो भी यह आधी शताब्दी जो आज समाप्त हो रही है, आपकी ऐतिहासिक पीढ़ियों के तूफान में उज्ज्वल चिह्न के रूप में स्मरणीय रहेगी। सम्राट् की प्रत्यक्ष सर्वोच्च प्रभुता की घोषणा भारत सरकार की एकता को पुष्ट करती है और नया युग आरम्भ करती है। यात्रा बहुत कठोर थी और कभी कभी प्रगति बहुत मन्द प्रतीत होती थी। परन्तु तीस

1. Indian Unrest, by Sir Valentine Cherol, 1910, P. 96.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करोड़ व्यक्तियों और अनेक संप्रदायों के संगठन का काम ब्रिटिश नियंत्रण और निरीक्षण में धीरे-धीरे अबाध रूप में आगे बढ़ा है। और शुद्ध अन्तःकरण और स्पष्ट दृष्टि से हम पिछली आधी शताब्दी के अपने श्रम की जांच करते हैं।" ब्रिटिश शासन के लाभों की गणना के बाद सन्देश में और अधिक वैधानिक-विकास की प्रतिज्ञा है। "पहिले से ही प्रतिनिधि संस्थाओं का सिद्धान्त धीरे-धीरे लागू किया गया और मेरे वायसराय, गवर्नर-जनरल तथा मेरे अन्य परामर्शदाताओं के विचार में वह समय आ गया है कि इस सिद्धान्त को बुद्धिमत्तापूर्वक और भी विस्तृत किया जाए।" इण्डियन कौंसिल्स एक्ट जो कि लार्ड क्रास के १८९२ के एक्ट का और विकास था १ फरवरी १९०९ में पास किया गया। इससे वायसराय को कौंसिल्स और प्रान्तीय धारासभाओं में संख्या-वृद्धि हुई। मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणी कौंसिलों का विस्तार और लैफ्टीनेंट गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्तों में ऐसी ही कौंसिलों के निर्माण का निश्चय हुआ। धारासभाओं के विधान में नामजदगी के साथ-साथ चुनाव का सिद्धान्त भी लागू किया गया। यह अधिनियम मुख्य रूप में प्रस्तावना के रूप में था. क्योंकि सब कुछ उन नियमों पर आश्रित था जो कि अभी बनाये जाने वाले थे। इसके सम्बन्ध में कहा गया कि "भारत मंत्री के हाथ में उसकी अन्तिम रूपरेखा और नियम निर्धारण करने का—जिन पर सब कुछ आश्रित है—एक कोरे चैक से भी अधिक है।"[1]

दुर्भाग्य से इस अधिनियम का विद्रोहियों पर प्रतिरोधात्मक प्रभाव न हुआ। फरवरी में बंगाल के सरकारी वकील को एक छात्र ने गोली मार दी। जुलाई में एक पंजाबी ने सर कर्जन विली को हत्या लंदन की इंपीरियल इंस्टीच्यूट में कर दी। दिसम्बर में बम्बई के एक नागरिक जैकसन का कत्ल मराठी ब्राह्मण ने एक भारतीय थियेटर में कर दिया। जबकि अगले माह अहमदाबाद में वायसराय की हत्या का असफल प्रयत्न किया गया।

एक्ट के कामों की व्याख्या के सम्बन्ध में नवम्बर में नियम प्रकाशित किये गये। उनका सुस्पष्ट और सरल विवेचन करना कठिन है क्योंकि वे बहुत लम्बे और सूक्ष्म हैं। धारासभाओं में अनेक श्रेणियों के प्रतिनिधित्व का उत्तम प्रबन्ध किया गया। केंद्रीय धारासभा की सदस्य संख्या २१ से बढ़ाकर अधिक से अधिक ६० कर दी गयी। दूसरी धारासभाओं में सदस्य संख्या दुगुनी से अधिक कर दी गयी। मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणी कौंसिलों में दो के स्थान पर चार-चार सदस्य कर दिये गये। भारत मंत्री ने वायसराय की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य, मद्रास और बम्बई की कौंसिलों में अन्य भारतीय सदस्यों और इण्डिया आफिस की कौंसिल में दो भारतीय सदस्यों की नियुक्ति के अद्भुत आविष्कार से इन सुधारों को और भी बल दिया। यद्यपि इस प्रकार स्पष्ट प्रगति हुई—विशेषकर इस रूप में कि वायसराय की कौंसिल के भारतीय सदस्यों को भी सरकार के अत्यधिक गुप्त परामर्शों की जानकारी हुई जिसके लिए लार्ड एल्गिन और लार्ड रिपन जैसे साहसी लिबरलों ने भी इन्कार कर दिया था, तो भी मार्ले-मिण्टो सुधार राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी को संतुष्ट न कर सके क्योंकि

1. The Annual Register, 1909.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे चाहते थे कि सारे भारत को जनता के बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों में बांट दिया जाए। उन्होंने विशेष रूप से श्रेणी प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का इस आधार पर विरोध किया कि इससे समुदाय की विभिन्न श्रेणियों में भेद उत्पन्न होता है। इससे उनका हित होना असंभव हो जाएगा। यह सत्य है कि इस अधिनियम के निर्माताओं का निश्चय इस ध्येय की पूर्ति कभी न था। लार्ड मार्ले ने सामन्त सभा में कहा था कि, "यदि मैं भारत में संसदीय पद्धति लागू करने का यत्न कर रहा हूँ अथवा यह कहा जाये कि सुधारों के इस अध्याय से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में भारत में संसदीय पद्धति की स्थापना होती है तो मैं इस सम्बन्ध में कुछ न करूंगा। यदि अधिकारी अथवा शारीरिक रूप में मेरे जीवन की अवधि अबसे २० गुणा अधिक बढ़ जाए तो भी मैं एक क्षण के लिए भी भारत में संसदीय पद्धति लागू करने की लालसा न करूंगा।"

१९०७ के अधिनियम पर आधारित शासन-क्रम की आयु दस वर्ष भी नहीं हुई कि इसकी आलोचना और संशोधन होने लगा। मार्ले-मिण्टो विधान मध्य मार्ग के रूप में रह गये। जुलाई १९१८ की मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में अधूरा कह इनका खण्डन किया गया। "केवल विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में, जिनका उपयोग अनुभव और प्रभाव के लिए किया गया, संकीर्ण मताधिकार और अप्रत्यक्ष निर्वाचन सदस्यों में जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को जागृत करने में असफल रहे, जबकि सरकार की आलोचना पहले की अपेक्षा अधिक होने लगी और वे प्रश्न तथा आलोचना उत्तरदायित्व से हीन थी। सामान्य परिणाम यह हुआ कि संसदीय पद्धति को कौंसिलों में वहां तक अपना लिया गया जहां तक उनसे अधिक मतभेद उत्पन्न न हो परन्तु उनसे जहां तक कि उनके प्रति वास्तविक अनुभूति थी, उनसे लाभ होना आरम्भ हुआ।" इन विचारों को भी चुनौती दी गयी और अनेक व्यक्तियों का विचार था कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, मार्ले-मिण्टो सुधारों के परिणाम और भविष्य में उनमें अविश्वास के प्रति भ्रम में डालने वाली है। हमारे समय में द्रुतगति से होने वाली वैधानिक भारतीय उन्नति का इससे बढ़ कर और कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं हो सकता कि वे वैधानिक सुधार जो सन् १९०९ में बहुत-से भारतीय राजनीतिज्ञों को भी आशातीत रूप में बहुत बड़े मालूम होते थे, १० साल बाद, उन्नति के पथ में केवल अस्थायी रुकने की जगह समझ गए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १७

राज्याभिषेक का दरबार, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार

लार्ड मिण्टो का उत्तराधिकारी, विदेश विभाग का स्थायी सहायक सचिव सर चार्ल्स हार्डिंग बना। सामन्त सभा का सदस्य बनने के समय उसने पैनशर्स्ट के लार्ड हार्डिंग की पदवी ग्रहण की। उसके कार्यकाल में चीन में क्रान्ति के कारण तिब्बत की राजनीतिक स्थिति में कुछ और परिवर्तन हुए। १९११ में लासा-स्थित चीनी रक्षक सेना से तिब्बतियों ने वेतन और पेकिंग से आने वाली सामग्री छीन ली और खजाना लूटने के बाद उसे लासा से खदेड़ दिया। दलाई लामा इस अवसर से लाभ उठा दो वर्ष के निर्वासन के पश्चात् राजधानी लौटा। चीनी रैजीडेन्ट से उसने यह समझौता किया कि वह केवल अपनी सुरक्षा के लिए ही अंगरक्षक रख सकेगा और तिब्बत के शासन पर अपने अधिकार का दावा न करेगा। इस पर पेकिंग से लामा को सब अधिकार और सब विशेषाधिकार लौटाने का नया आदेश जारी किया गया। १९१२ में निरन्तर यह अफवाह रही कि तिब्बत को जीतने के लिए चीन फिर तैयारी कर रहा है। ब्रिटिश सरकार ने चीनी अधिकारियों से यह स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि वे तिब्बत पर चीन का आधिपत्य स्वीकार करने को तैयार हैं परन्तु यदि उसे केवल चीनी साम्राज्य का प्रान्त बनाने का प्रयत्न किया गया तो वे उसका विरोध करेंगे। इस प्रश्न का निर्णय चीनी और तिब्बती प्रतिनिधियों की १९१३ और १९१४ में शिमला और दिल्ली में हुई एक कांफ्रेंस में हुआ। कांफ्रेंस का प्रधान भारत सरकार का विदेश सचिव था। तिब्बत और उसके शासन के साथ हमारे विचित्र संबंधों की कहानी १९१४ के महायुद्ध में दलाई लामा द्वारा हमें सहायता की पेशकश से समाप्त होती है।

लार्ड हार्डिंग के वायसराय काल में स्वशासन प्राप्त उपनिवेशों विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका के भारतीय प्रवासियों के प्रति रवयं का कठिन और सूक्ष्म प्रश्न सामने आया। दक्षिणी अफ्रीका वाले एशियावासियों को न चाहते थे और इसीलिए १९१३ में यूनियन सरकार ने प्रवास, व्यापार और खेती और आरेंज फ्री स्टेट में सम्पत्ति रखने के अधिकारों को सीमित करने के लिए एक कानून बनाया। इस नियम से स्वभावतः भारत में बहुत रोष फैला। सर चार्ल्स रो कहते हैं कि "जनता यह समझ न सकी कि जो राजनीतिक और नागरिक अधिकार उन्हें भारत और इंग्लैण्ड में प्राप्त हैं, साम्राज्य के दूसरे भागों में उनसे वंचित क्यों किया जाए। अथवा जो सरकार पूर्ण शक्तिमान समझी जाती है, ऐसी बातों को सहन क्यों करती है जो उसके अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध हो। उनके लिए यह अनुभव करना बहुत कठिन था कि स्वशासन युक्त उपनिवेशों के मामलों में सुझाव द्वारा हस्तक्षेप करना भी कितना कठिन और नाजुक काम है।"[1] दक्षिण

1. Annual Register.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अफ्रीका में भारतीय कुलियों ने निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति अपनायी। गांधी जी के नेतृत्व में २५०० व्यक्तियों ने अपने अधिकारों को मनवाने के लिए नैटाल से ट्रांसवाल में प्रवेश किया। गांधीजी तथा अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। देश के अनेक भागों में हड़तालें हुई और सेना के साथ संघर्ष में कुछ व्यक्ति मरे। दक्षिण अफ्रीका के मन्त्रिमंडल की आलोचना मद्रास में दिये एक भाषण द्वारा लार्ड हार्डिंग भारतीय जनता में प्रिय तो हो गया परन्तु साम्राज्यीय सरकार की स्थिति को उलझन में डाल दिया। उसने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति के प्रति विरोध किया और निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन से सहानुभूति प्रकट की तथा प्रवास अधिनियम की निन्दा "ईर्ष्यापूर्ण और अन्याययुक्त" कह कर की। उसने घोषणा की कि दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार जांच के लिए कमेटी नियुक्त करे और उसमें भारतीयों को भाग लेने का अधिकार देकर ही संसार के सामने अपना औचित्य सिद्ध कर सकती है। वैधानिक विशुद्धिवाद के समर्थकों ने कहा कि साम्राज्यीय सरकार ही साम्राज्य की किसी सरकार को संदेश देने का उचित साधन है परन्तु बहुत आलोचना होने पर भी भाषण का इच्छित प्रभाव न हुआ। अन्त में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने एक आयोग की नियुक्ति कर दी और भारतीय नेताओं को अपना पक्ष तैयार करने के लिए मुक्त कर दिया गया। पहले तो उन्होंने कमीशन के बहिष्कार की सोची परन्तु बाद में वे उसके सम्मुख उपस्थित हुए। एक अधिनियम पास हुआ, यद्यपि इससे भारतीय इच्छाओं की पूर्ति न हुई परन्तु गांधी जी ने इसे दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय स्वतंत्रता का राजकीय आज्ञापत्र (Magna Carta) घोषित किया।

दक्षिण अफ्रीका ने एशियावासियों को प्रतिबन्धों सहित उन्हें वहां घुसने तो दिया, चाहे वह प्रतिबन्ध कितने ही कड़े थे पर कनाडा और ब्रिटिश कोलम्बिया ने तो उन्हें ग्रहण करने से पूर्णतया इन्कार ही कर दिया। कुछ भारतीय नेताओं ने दृढ़विरोध के रूप में कोमागाटामारू नामक जहाज से ३०० भारतीय जिनमें अधिक सिख थे वानकोवर पहुंचे। उन्हें बस्ती में घुसने ही नहीं दिया गया और कुछ कष्ट के उपरान्त कलकत्ता लौट जाने दिया परन्तु जहाज से उतरने पर पुलिस से दुर्भाग्यपूर्ण टक्कर हो गयी।

मई १९१० में एडवर्ड सप्तम की मृत्यु पर जार्ज पंचम ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा। वैस्टमिस्टर गिरजे में उसका राज्याभिषेक २२ जून १९११ को हुआ। राजा ने अपने मंत्रियों के परामर्श पर वर्ष के अन्त में रानी के साथ भारत जाकर राज्याभिषेक दरबार करने और साम्राज्य के रक्षित राजाओं तथा अधिकारियों से सम्मान प्राप्त करने की नवीन परिपाटी डालने का निश्चय किया। राजा की अनुपस्थिति में उसका कार्य औपचारिक रूप में पूरा करने के लिए चार व्यक्ति 'राज्य के परामर्शदाता' नियुक्त किये गये। इनमें कनाट का युवराज आर्थर, कैण्टरबरी का लाट पादरी, लार्ड चांसलर और कौंसिल के लार्ड प्रेजीडैंट थे—जो उस समय ब्लैक बर्न का लार्ड मार्ले था। सब महत्त्वपूर्ण विषयों की सूचना राजा को प्रतिदिन तार द्वारा दी जाती थी। राजा के अनुगामियों में क्रीव का लार्ड और भारत मंत्री तथा वायसराय आदि के भारत में एकत्र होने से यहां

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

असाधारण दृश्य उपस्थित हो गया। १२ दिसम्बर को ८० हजार लोगों के विशाल जन-समूह के सम्मुख दिल्ली में शानदार दरबार लगा । भूमि के अनुदान, सैनिकों और सैनिक सेवा के आधीन कर्मचारियों को एक मास का अतिरिक्त वेतन और जनता की शिक्षा के लिए ५० लाख रुपया देने तथा भारतीयों को भी विक्टोरिया पदक ग्रहण करने की योग्यता आदि कुछ शाही घोषणाएं की गयीं । इसके बाद कुछ अधिक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तनों की घोषणा की गयी जिनको अभी तक पूर्णतया गुप्त रखा गया था। यह थीं––कलकत्ता से राजधानी बदल कर दिल्ली बनाना, बंगाल को गवर्नर का प्रान्त बनाना––जिसके साथ बंगाल के विभाजन को रद्द करने का सम्बन्ध था। बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर को लैफ्टीनेंट गवर्नर का प्रान्त तथा आसाम का चीफ कमिश्नर का प्रान्त बना देने की घोषणाएं थीं । यह परिवर्तन बहुत ही नाटकीय और महत्त्वपूर्ण थे। राजधानी परिवर्तन के निस्संदेह सैद्धान्तिक और तर्कसंगत लाभ थे। सरकार ने इसका समर्थन इस आधार पर किया कि भारत में ब्रिटिश राज्य के दृढ़ हो जाने और रेलपथ की उन्नति के कारण यह आवश्यक नहीं रह जाता कि सरकार किसी बंदरगाह वाले स्थान पर ही रहे। ऐसी अवस्था के पश्चात् वायसराय का अधिक सम्बन्ध शाही हित के प्रश्नों से था और प्रान्तीय गवर्नर अपने शासन में अधिक स्वाधीन थे। केन्द्र में स्थिर होने और ऐतिहासिक संबंधों के कारण दिल्ली एक अर्धसंघीय साम्राज्य की राजधानी के अधिक उपयुक्त थी। बंगाल को फिर से एक करने के सम्बन्ध में कहा गया कि "यह विभाजन को उलटना नहीं वरन् अनुभव के पश्चात् पुनर्व्यवस्थापन है।" यह वक्तव्य तथ्यों के अनुकूल नहीं। जैसाकि हम देखते हैं बंगाल के गवर्नर की नियुक्ति की बात उन्नत भारतीय दल का पोषित विचार था।

स्वाभाविक रूप से राजनीतिक परीक्षणों की आलोचना हुई और सबसे पहले उन्हें आरम्भ करने के ढंग पर विवाद हुआ। इन परिवर्तनों के लिए संसद् में कानून बनना आवश्यक था। परन्तु इनकी घोषणा राजा द्वारा कर दी गयी थी, इसलिए संसद् के लिए राजा के सम्मान को हानि पहुंचाये बिना उस पर विचार करना असम्भव था। पहले उन्हें संसद् में पेश करने का व्यापक विचार अकारण न था, यदि ऐसे महत्त्वपूर्ण सुधार कार्यपालक द्वारा अपने आप किये जायें तो ऐसी स्थिति में विधान निर्मात्री सभा से परामर्श की बात सोचना कठिन होगा। इस परमाधिकार की वृद्धि लिबरल सरकार का कार्य था, जो सामान्यतया संसदीय अधिकारों की कमी के सम्बन्ध में ईर्ष्यापूर्ण थी, इस प्रकार उसने अपने में समर्थकों और विरोधियों के लिए उलझन बढ़ा दी । अर्थ-विशेषज्ञों ने राजधानी के दिल्ली परिवर्तन के व्यय पर भी आपत्ति की। पहले व्यय का अनुमान ४० लाख पौंड आंका गया था, परन्तु दूसरी बार के तख्मीने में यह स्पष्ट हुआ कि संभवतः इससे आधा रुपया और खर्च हो। एक बड़े नगर से राजधानी हटाना एक ईर्ष्यापूर्ण कार्य है। कलकत्ता के चहुं दिश जाब कारनाक के समय से लेकर पवित्र ब्रिटिश परम्पराएं एकत्रित हो गयी थीं और हमारी राष्ट्रीय भावनाओं की ऐसे वैधानिक परीक्षणों से कम ही सहानुभूति थी। कुछ लोगों का विचार था कि विभाजन से उत्पन्न गड़बड़ शान्त हो चुकी है अब उसे फिर से उत्पन्न कर देना ठीक नहीं। अन्तिम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में सरकार ने आन्दोलन कारियों को सुविधा दी थी–जो कि एक संदेहपूर्ण नीति है, जबकि ऐसा करना किसी भी रूप में आवश्यक न था।

अगस्त १९१४ में यूरोपियन युद्ध में भारत की जनता और राजाओं की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति का पता चला, यद्यपि आगामी वर्ष बाल्कान युद्ध के समय मुस्लिम नेताओं ने घोषणा की कि तुर्की को अपने भाग्य पर छोड़कर ब्रिटेन भारी भूल कर रहा है और जब पोर्ट को जर्मनी ने अपने साथ मिला लिया तो भी अपने अधिपति में उनकी भक्ति कम न हुई। भारतीय सेनाएं फ्रांस, फ्लैण्डर्स, रूस, मकदूनिया, मिस्र, फिलस्तीन और मेसोपोटामिया के रणक्षेत्रों में स्वतन्त्र उपनिवेशों की सेनाओं के कंधे से कन्धा भिड़ा लड़ती रहीं। विश्वव्यापी संघर्ष की घटनाओं के सम्बन्ध में हम यहां विचार नहीं कर सकते। हम केवल युद्ध के कुछ राजनीतिक परिणामों के सम्बन्ध में ही संक्षेप में लिखेंगे और केवल उन परिवर्तनों की बाह्य रूपरेखा देंगे जो हमारे सारे पूर्वी साम्राज्य के विधान में प्रकट हो रही थीं। युद्ध में अनेक प्रमुख प्रश्नों के सन्निहित होने के कारण भूतकाल के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न गौण पड़ गये। युद्ध का एक उपाश्रित फल सूती कपड़े पर शुल्क की पुरानी शिकायत (जिसका इन पृष्ठों में कई स्थानों पर वर्णन है) दूर करना हुआ। युद्ध के वित्त संकट के कारण भारतीय मिलों के उत्पादन पर शुल्क बढ़ाये बिना, मूल्यानुसार कपड़े के आयात पर साढ़े सात प्रतिशत कर लगा दिया गया। मानचैस्टर से उसका भारी विरोध हुआ परन्तु युद्ध के कारण उस पर ध्यान न दिया गया। भारत के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण बात युद्ध कौंसिलों में स्थान मिलना था। बीकानेर के महाराजा और सर सत्येन्द्र सिन्हा ने १९१७ की बसन्त में लंदन में हुई, शाही युद्ध कौंसिल और बाद में शांति सम्मेलन में सर जेम्स मेस्टन के साथ भाग लिया। १९१८ में चुनावों के बाद जो संयुक्त सरकार बनी उसमें सर सत्येन्द्र सिन्हा को भारत का सहायक सचिव नियत किया गया और उन्हें रायपुर के लार्ड सिन्हा की पदवी देकर सामन्त सभा का सदस्य बना दिया गया।

यह परिणाम भले ही महत्त्वपूर्ण थे परन्तु दूसरे परिवर्तनों की तुलना में महत्त्वहीन से जंचते हैं। २० अगस्त १९१७ को राज्य सचिव मि० ई० एस० मांटेग्यू ने भारत के ब्रिटिश सम्राट् के नियंत्रण में आने के पश्चात् की ब्रिटिश नीति सम्बन्धी बहुत महत्त्वपूर्ण घोषणा की। भविष्य में पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने चार सिद्धान्त निश्चित किये। पहला था—"शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का अधिक सहयोग प्राप्त करना।" दूसरा था—"भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के विचार की पूर्ति के लिए स्वायत्त शासन को उत्तरोत्तर उन्नत करना।" तीसरे में यह निश्चय किया गया कि, "इस सम्बन्ध में प्रगति क्रमबद्ध अवस्था द्वारा होगी।" और चौथा यह था कि "प्रत्येक प्रगति के लिए समय और उपाय का निश्चय इंग्लैण्ड की सरकार जिस पर भारतीय जनता के कल्याण और उन्नति का उत्तरदायित्व है —भारत सरकार की सहमति से करेगी। तथा इस कार्य में वे उन व्यक्तियों के सहयोग से प्रेरित होगी जिन्हें सेवा का नवीन अवसर प्राप्त होगा और उनके उत्तरदायित्व के प्रति विश्वास प्रकट किया जा सकेगा।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस घोषणा को क्रियात्मक रूप में लागू करने में अनेक कठिनाइयां थीं। इसके लिए ३० करोड़ जनता के साम्राज्य पर प्रभाव डालने वाली, विकेन्द्रीकरण की व्यापक योजना की आवश्यकता थी। यह विशाल कार्य युद्ध की अन्तिम अवस्थाओं में आरम्भ किया जाने को था जबकि विजय की बात संदेहपूर्ण थी। उपायों के सम्बन्ध में विचार उन दो कार्यवाहक विभागों ने करना था, जिनमें समुद्र और पृथ्वी का हजारों मील का अंतर था, अभूतपूर्व उपाय किये गये। भारतमंत्री लार्ड हार्डिंग के उत्तराधिकारी वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड से परामर्श करने भारत गये। चैम्सफोर्ड १९१६ में गवर्नर बना था। उसके इंग्लैण्ड लौटने पर सुधारों की योजना के सम्बन्ध में विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई। यह सरकारी लेख्य परम्परा के विरुद्ध विचारों में नवीन और शैली में सुन्दर तथा अब तक के ब्रिटिश राज्य-पत्रों की परिचित तटस्थ ध्वनि के अनुकूल न था। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसका ध्येय भारतीयों में कुछ राजनीतिक और नैतिक चेतना जागृत करने का था।

भूतकाल की असफलताओं के विश्लेषण के पश्चात् रिपोर्ट में यह परामर्श दिया गया था कि विधान-मंडलों को उत्तरदायित्व दिया जाए, "उन्हें वास्तविक कार्य करने दिया जाए और उनके काम की जांच के लिए कुछ वास्तविक व्यक्ति हों।[1]" इसका भाव यह था कि उन्हें अपनी इच्छानुसार बुरी तरह अथवा भली प्रकार शासन करने का अधिकार दिया जा रहा था और यह तथ्य रिपोर्ट के निर्माताओं के सम्मुख था :—"हमारा विश्वास है कि वह राष्ट्रत्व अच्छा है जो ब्रिटिश साम्राज्य में भारत ने अब तक प्राप्त किया है। भारतीय जनता के स्थिर और निराशापूर्ण संतोष के कारण ऐसे भारतीय राष्ट्रत्व के अभ्युदय की आशा नहीं—इसीलिए हम जानबूझ कर उसकी भलाई के लिए हलचल पैदा कर रहे हैं।[2]" रिपोर्ट पर जनता से आलोचना के लिए कहा गया। यह स्वीकार करने योग्य न थी क्योंकि इसमें रिपोर्ट के वास्तविक ध्येय की ही कटु आलोचना थी।

लार्ड साउथबरो की अध्यक्षता में दो कमेटियां निर्वाचकों के निर्धारण और "सुरक्षित" और "परावर्तित" विषयों के विभेद करने के लिए भारत भेजी गयीं। एक विधेयक बनाया गया और दोनों समितियों की रिपोर्ट सहित, सामन्त और कामन्स सभा की संयुक्त समिति के समक्ष उपस्थित किया गया। समिति के प्रधान लार्ड सेलबोर्न थे। समिति ने संभवतः कुछ गर्व सहित, प्रान्तीय सरकारों के प्रधानों द्वारा रखी वैकल्पिक योजना को अस्वीकृत कर दिया। इसके प्रमुख प्रवर्तक सर माईकेल ओडायर के शब्दों में "इसका ध्येय एकात्मक सरकार की स्थापना था। इस सरकार का मुखिया, असेम्बलियों और सेवाओं से लिये गये एक समान भारतीय और ब्रिटिश सहयोगियों युक्त गवर्नर था। यह लोग सम्राट् के प्रति संयुक्त उत्तरदायित्व से बद्ध थे।[3]

1. Report of Indian Constitutional Reforms (cd 9109) p. 69.
2. Ibid. p 120.
3. Sir Michael O'Dwyer. Letter to The Times, July 18, 1925.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह नियम दिसम्बर १९१९ में पास किया गया । अधिनियम के अधीन बनाये गये नियम से पुष्ट इस योजना द्वारा इस प्रकार के विधान की स्थापना हुई :—

प्रान्तीय सरकारों में दो विभागों सहित (गैर सरकारी रूप की नौकरशाही) एक कार्यकारिणी बनायी गयी । दोनों विभागों का सम्बन्ध गवर्नर की अध्यक्षता के कारण ही सम्बन्धित था । एक विभाग में सम्राट् द्वारा नियुक्त कौंसिल के दो से चार तक सदस्य थे । साधारणतया इनमें आधे भारतीय रखे गये । यह विभाग राज्य सचिव के प्रति उत्तरदायी था और इसे "सुरक्षित विषयों" को ही हाथ में लेना था । दूसरा विभाग धारासभाओं के निर्वाचित सदस्यों में से गवर्नर द्वारा नियुक्त मंत्रियों का था और इसे "परावर्तित विषयों" को सम्हालना था । सुरक्षित और परावर्तित विषयों में मध्य रेखा सरकार के लिए कम या अधिक महत्त्व के क्षेत्र के कारण थी । नियम में कहा गया है कि—"परावर्तित विषय वे विभाग होंगे जिनमें स्थानीय ज्ञान और समाज सेवा का अधिक अवसर है और जिनमें भारतीय अधिक रुचि रखते हैं, जिनमें भयंकर भूल भी हो जाय तो उसका निराकरण हो सकता है और जिनमें अधिक उन्नति की आवश्यकता है ।" इन परावर्तित विषयों को सम्हालने वाले मंत्रियों का दर्जा ब्रिटिश मंत्रिमंडल के समान था । गवर्नर उन्हें नियुक्त करता था जैसा कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल को सम्राट्, परन्तु अपने पद पर तभी तक रह सकते थे जब तक कि उन्हें धारा सभा का विश्वास प्राप्त रहता था और उसके सदस्य रहते थे । सुरक्षित और परावर्तित विषयों में जो विभेद के लिए अन्तर किया गया वह निर्णयात्मक न था । यह आशा की गयी थी कि विषय पहली श्रेणी से उत्तरोत्तर दूसरी में परावर्तित कर दिये जाएंगे—यह काम जब तक जारी रहेगा जब तक दोनों का भेद समाप्त नहीं हो जाता और सारा काम धारा सभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में नहीं आ जाता ।

संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, और उड़ीसा और बाद में बर्मा (१९२३) तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त (१९३२) में कौंसिल बनायी गयी और गवर्नरों की नियुक्ति की गई । प्रान्तीय धारासभाओं में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई । बंगाल में १३९, मद्रास में १२७ और बम्बई में १११ तक सदस्य कर दिये गये । कम से कम ७० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित थे । मुसलमानों, पंजाब में सिक्खों, यूरोपियनों, एंग्लो इंडियनों, और भारतीय ईसाइयों के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचक मंडल बनाये । सप्लाई रोकने और स्वीकृत करने का अधिकार कौंसिलों को दिया गया । गवर्नर को आवश्यकता समझने पर सुरक्षित विषयों के लिए व्यय के लिए अनुदान स्वीकृत करने का अधिकार था । चार वर्ष बाद कौंसिलों को अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार था

सर्वोच्च सरकार में द्वैध शासन न था और गवर्नर-जनरल ही प्रत्यक्ष रूप में राज्य सचिव और संसद् के प्रति उत्तरदायी था । कार्यकारिणी कौंसिल अनिश्चित रूप से विस्तृत कर दी गयी । यह निश्चित था कि इसके आधे सदस्य जन्मजात भारतीय होंगे । भारतीय विधान-मंडल का पूरी तरह से पुनर्निर्माण कर दिया गया और द्विभवनात्मक बना दिया गया । अपर चैम्बर कौंसिल आफ स्टेट कहलाया, जो मुख्य रूप से पुनरावृत्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने वाली सभा थी। इसके ६१ सदस्यों में से बहुमत निर्वाचित रखा गया था जिससे पहले का सरकारी गुट न रह जाए। इसके लिए मताधिकार की योग्यता अधिक सम्पत्ति होना था। साधारण सभा (लोअर चैम्बर)--लैजिस्लेटिव असेम्बली में १०७ सदस्य निर्वाचित और ४० मनोनीत रखे गये जिनमें २५ सरकारी सदस्य थे। असेम्बली के लिए मताधिकार कौंसिल से अधिक व्यापक था, और महिलाओं को भी प्राप्त था। कौंसिल का कार्यकाल पांच वर्ष और असेम्बली का तीन वर्ष था। दोनों गृहों में गतिरोध उत्पन्न हो जाने पर गवर्नर-जनरल को दोनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाने का अधिकार दिया गया। असेम्बली का वित्त पर साधारण अधिकार था, परन्तु गवर्नर-जनरल को अपनी इच्छानुसार ब्रिटिश भारत की सुरक्षा और शान्ति स्थिर रखने के लिए व्यय करने का अधिकार था। इसी प्रकार अन्तिम आश्रय के रूप में उसे संकटकालीन विधेयक पास करने का अधिकार भी था।

दस वर्ष पश्चात् विधान के काम की जांच और यह बताने के लिए कि उत्तरदायी सरकार किस सीमा तक रखी जाये, विस्तृत की जाये, संशोधित अथवा नियंत्रित की जाए--एक कमीशन नियुक्त किया जाना था। सम्राट् की आज्ञा प्राप्त होते ही राजाओं की सभा बनाने की घोषणा की गई और राजनीतिक बन्दियों को क्षमा दान दिया गया।

विधायक और कार्यवाहक सुधारों के सामान्य परिणाम के सम्बन्ध में डा० ए० बी० कीथ ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है :-"धारा सभा आलोचना और सरकार को भारतीय भावना के अनुसार कार्यसीमा में रखने का प्रभावपूर्ण साधन बन गयी। कार्यवाहक शक्ति व्यवस्थापिका सभा की प्रत्यक्ष सत्ता से पूर्णतया मुक्त थी।[1] यह महत्त्व की बात है कि यह विधेयक सामन्त सभा में एक भारतीय लार्ड सिन्हा ने पारित किया।[2] जब यह पास हो गया तो वे बिहार और उड़ीसा के गवर्नर बनने के लिए भारत लौट आये। स्वास्थ्य गिर जाने पर १९२६ में इंग्लैण्ड की प्रिवीकौंसिल की न्याय समिति में इनकी नियुक्ति की गयी।

अनेक न्यायाधीशों ने जिनकी सम्मति आदरणीय है, विधेयक की नीति से दृढ़ मतभेद प्रकट किया। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि ब्रिटेन ने १८५८ से ही अपनी नीति के सम्पूर्ण झुकाव से इसे लागू करने की धारणा बना ली थी -- जबकि २० अगस्त १९१७ की ऐतिहासिक घोषणा द्वारा तो वह उनके लिए वचनबद्ध हो गया। यह नीति देश की सब पार्टियों के प्रतिनिधियों से बनी संयुक्त सरकार ने सोच-विचार कर निश्चित की थी। किसी प्रमुख राजनीतिज्ञ ने इसका गम्भीर विरोध न किया। जो घोषणा, नष्टप्राय होती हुई "हितंकर" निरंकुशता के महान् जीवित प्रतिनिधि लार्ड कर्जन की आलेखन कुशलता से युक्त थी। सर वेलेण्टाइन चिरोल ने लिखा कि, "इस नीति के विरुद्ध कुछ करना भारतीयों के लिए विश्वास भंग होगा और आलोचक इसके चालू रखने में

1. Dr. A. B. Keith, A Constibutional History of India, 1936, p. 263.
2. Supra, pp. 579-80.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो दुष्परिणाम देखते हैं, वह भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ें हिलाने से भी अधिक भयंकर होंगे।"[1] यह व्यापक रूप में अनुभव किया गया कि महायुद्ध के संकट में भारतीयों ने जिस उदार और महान् भक्ति का प्रदर्शन किया है उसी प्रकार अधिपति राष्ट्र उसका विश्वास करे। इस बात को अस्वीकार करना भी मूर्खता होगी कि अनेक व्यक्तियों को इसमें संकट दीखता था और वस्तुतः था भी बहुत बड़ा। दुहरे कार्यवाहक की द्वैध सत्ता पर राजनीतिक दर्शन द्वारा प्रत्येक सैद्धान्तिक आपत्ति की जा सकती है।

नयी विचारधारा के लिए भी अनुकूल वातावरण पूर्णतया तैयार न था। इसमें संदेह नहीं कि अनेक राजभक्त भारतीय नये विधान का उचित और ईमानदारी से परीक्षण करने के लिए तैयार थे। परन्तु समाज के स्तर के नीचे कुछ विनाशक शक्तियां भी काम कर रही थीं। रौलट रिपोर्ट[2] से जो कि जुलाई १९१८ में प्रकाशित की गई, यह सिद्ध होता है, कि भयंकर क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन व्यापक था, जिसे मूलरूप में फ्रांस और अमेरिका में रहने वाले कुछ उग्र विचारों के व्यक्तियों ने पोषित और चालित किया। माडरेट प्रोग्रेसिव दल भी इन सुधारों को अपूर्ण समझता था तो भी उसने भारतीय पद्धति में संसदीय सरकार की कलम लगा दी जिसके संबंध में केवल ९ वर्ष पहले कट्टर लिबरल लार्ड मार्ले ने कहा था कि कई पीढ़ियों के गुजरे बिना कठिनाई से ही इस आदर्श को ग्रहण किया जा सकता है। उसने लिखा है कि—"अनेक प्रकार के लोग जिन्हें हम भारत कहते हैं ५वीं शताब्दी से २० शताब्दी तक बहुत धीमे-धीमे ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर चलते आये हैं। जिस देश पर ऐसी बात लागू हो वह प्रजातन्त्र के सरल परीक्षण का विषय नहीं हो सकता। थोड़े से पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीयों, जो तेजी से बढ़ रहे हैं और स्वायत्त शासन की मांग करते हैं, के पीछे लाखों अशिक्षित और मूक किसान हैं, ऐसी अवस्था में स्वायत्त शासन देने से अनेक हितों को हानि पहुंच सकती है। द्वैध शासन ही ऐसी चीज थी जो भारत के शिक्षित वर्ग को दे सकते थे, तो भी सर रेजीनाल्ड क्रैडक ने काफी सच लिखा है कि "अगणित अशिक्षित जनता जिसमें अनेक जातीय भेद हैं, मजहब संबंधी शत्रुताएं हैं, सामाजिक और वर्ण के मतभेद हैं अनेक बोलियों और भयंकर साम्प्रदायिक विवादों के रहने पर यह सब इस विश्वास पर आधारित था कि थोड़े से मतदाता भी इस उन्नति को इसी प्रकार चालू कर सकेंगे जैसे कि इंग्लैण्ड के शिक्षित निर्वाचकों ने कई शताब्दियों में अपने आप को उन्नत किया और आज वे उस पर चल रहे हैं।"[3]

---

1. In the Quarterly Review, October 1918.
2. See Sir Verney Lovett, A History of the Indian Nationalist Movement, 1920 Chap. VII.
3. Sir Reginald Craddock, The Dilemma in India, London, 1929. P. 173.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १८

द्वैध शासन और असहयोग

इस पुस्तक के सीमित माप के अनुसार १९१६ के बाद के भारतीय इतिहास का संक्षेप में वर्णन करना सरल कार्य नहीं। यहां तो केवल विशाल वैधानिक आन्दोलन की उन प्रमुख घटनाओं और विचारधाराओं का ही वर्णन करना सम्भव है, जो इस युग के महत्वपूर्ण पहलू हैं। आलोचक तथ्यों से किन्हीं अन्य घटनाओं का संकलन कर सकता है और उनका विवरण भी अपने ही दृष्टिकोण से कर सकता है। तिस पर भी, इस आरोप का खतरा तो उठाना ही होगा और लेखक यथासम्भव निष्पक्ष भाव से ऐसी धारणाओं के प्रति झुके बिना कि जो स्वतः उसके समक्ष उपस्थित होती हैं, विकास के कारणों का क्रमागत परीक्षण एवं विश्लेषण करता है। इसके अतिरिक्त वह सदा यह भी याद रखता है कि उसे विद्यमान दबे हुए दुराग्रहपूर्ण विवादों के आघात के भीषण धुंधलके तथा संघर्ष की धूल के बोझल वातावरण में से ही अपना मार्ग निकालना होता है।

ये विवाद पर्याप्त रूप में सत्य एवं ईमानदारी के थे, क्योंकि जिस विचार-विभेद ने उन्हें उत्पन्न किया था, उनमें से एक ऐसा था, जो राजनीतिक विश्वास की गहनतम नीवों पर प्रहार करने वाला था। उनकी उपेक्षा या उन्हें दृष्टि ओझल करने का अर्थ यह होगा कि दुराग्रही एवं विभेदात्मक तथ्यों का भ्रम पूर्ण सपाट और अधूरा दृष्टिकोण उपस्थित किया जाय। कुछ लोग १९१९ के बाद के विकास को लार्ड जैटलैंड के शब्दों के अनुसार "राजनीति-क्षेत्र में एक ऐसा प्रयोग मानते हैं, जो मानव इतिहास में अद्वितीय है।"[1] उनकी दृष्टि में देसी प्रजाजनों को ऐसे अधिकार प्रदान करना किसी सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र का अपूर्व और परोपकारी यत्न था, जिनका वह उनके प्रतिनिधित्व द्वारा नहीं, प्रत्युत उनकी ही ओर से अब तक प्रयोग करते आए थे। अन्य इसे उस शाही कार्य का निरन्तर राजनैतिक दबाव के अधीन निन्दित आत्मसमर्पण मानते थे, जिसका अन्तर्निरीक्षण की स्थति में ग्रेट ब्रिटेन अपने लिए दावा करने की सामर्थ्य में नहीं रह गया था। इसके साथ ही उसने उस शाही कार्य के लिए निराशापूर्ण स्थिरताओं द्वारा असंतुष्ट को सन्तुष्ट करने और ऐसी राजनीतिक सद्भावना प्राप्त करने की व्यर्थ चेष्टा की, जो सदैव उससे परे ही रही।

कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि प्रगति बहुत तेजी से हुई। १९०९ से तीस वर्ष से कम काल में भारत ऐसी वैधानिक उन्नति के क्रम में आगे की

---

१. दी न्यू इण्डिया—टाइम्स पब्लिशिंग कम्पनी, १९३७, पृ०,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ओर बढ़ गया जिसमें ब्रिटेन ५–६ वर्षों में सफल हो सका। यहां तो उन चरणों का केवल क्रम उपस्थित करना ही पर्याप्त होगा––अर्थात्, मिण्टो-मार्ले सुधार (१९०९), दिल्ली दरबार की घोषणा (१९११), गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट (१९१२), उत्तरदायी सरकार की प्रतिज्ञा (१९१७) मांटेगू-चेम्फोर्ड (१९१८), गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट (१९१९), औपनिवेशिक दर्जे के सम्बन्ध में लार्ड इर्विन की घोषणा (१९२९), साइमन कमीशन की की रिपोर्ट (१९३०) गोलमेज परिषद् (१९३१–२) योजना पत्र (१९३३), संयुक्त, प्रवर समिति की रिपोर्ट (१९३४) गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट (१९३५) और अन्त में निर्वाचित धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी सरकारें, इस निरन्तर वैधानिक उन्नति का श्रेय ब्रिटेन को बहुत कम दिया गया है, और अग्र पक्ष के लोग अचल भाव से यह कहते हैं कि उन रियायतों के लिए कृतज्ञता प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जो चन्द ही वर्ष पहले की अत्यधिक अमितव्ययी आशाओं से दस हजार गुणा बढ़ गईं। उनका ऐसा करना उस प्रशंसा को तोड़-मरोड़ कर उपस्थित करने के समान है। वस्तुतः यह सत्य कहा गया है कि "भारतीय बुद्धिजीवी लोगों ने उस यात्री की प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया, जो कठोर और लम्बी यात्रा को पूर्ण कर लक्ष्य पर पहुँचने की इच्छा में ही मग्न हो। प्रत्येक स्थिति, भले ही वह कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, उनके लिए नयी शिकायत का अवसर थी। कोई भी कठिनाई, चाहे वह कितनी भी आवश्यक क्यों न हो, असह्य अत्याचार समझी गयी। प्रत्येक प्रगति, भले ही वह कितनी ही वर्णनीय क्यों न हो, उस दूरी की तुलना में भुला दी गयी और उसकी उपेक्षा कर दी गयी कि जिसे अभी बहुत कष्ट से पार करना बाकी था।[1]

जो भी हो, भारत में हमारे इतने ज्यादा मित्र हैं, जितनी हमें आशा भी नहीं थी। ये मित्र, और शुभ-चिन्तक ऐसे हैं, जो कदापि अपने को प्रकट नहीं करेंगे। ब्रिटिश आधिपत्य के न्यूनतम विरोधी दलों को यह स्वीकृत परम्परा बन गई है, कि यदि आरम्भ में ही वे लोक-समर्थन नहीं खो देते तो वे राजनीतिक कृतज्ञता की अभिव्यक्ति स्वतः कदापि नहीं करते, और वे सुधार कार्यों को केवल इस अन्तिम मुद्दे से करने पर सहमत हो सकते हैं कि वे उस विधान को नष्ट कर देंगे, जिसके कि वे अंग हैं। निःसन्देह, इसका यह अर्थ नहीं कि यह प्रवृत्ति केवल पूर्वी मनोविज्ञान में परम्परा तौर पर एक विशिष्ट दोष है। यह पाश्चात्य अग्रदूतों की मानसिक स्थिति में भी समानतया चरित्रित होती है। अनुदारवाद की सुदृढ़ता को नष्ट करने के लिए जनतन्त्री दलों में प्रतिष्ठा का स्थान सदा अत्यधिक विपरीत दिशा में माना जाता है, और नेता की जितनी ज्यादा जिम्मेदारियां और जितनी ज्यादा महत्व की सेनाएं हों उतना ही केन्द्र ख्याति के उस सूर्य प्रकाश से दूर रहता है, जो दूरस्थ चौकियों के शिखरों पर चमकता है। न केवल स्वतन्त्रता में हमारे विश्वास बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए बहुधा हमने जो आपत्ति-

1. See Moral and Material Progress and Condition of India 1923–4, p. 3.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनक उपाय ग्रहण किये, भारतीय वस्तुतः उनके प्रति अत्यधिक ईमानदारी से अध्ययन-शील रहे हैं ।

जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं कि १९१९ के अधिनियम ने द्वैध शासन की स्थापना की । यह एक ऐसी सरल रूप की योजना थी, जिसके द्वारा प्रगतिशील विद्वान् विधानवाद के क्षेत्र में क्रमशः उत्तरदायी सरकार की शिक्षा ग्रहण कर सकें । इनमें प्रथम चरण अधिक महत्वपूर्ण विभागों का था, और अनन्तर प्रान्तीय विभागों के बाद प्रशासन विषयक केन्द्रीय क्षेत्र । जो भी हो, इस प्रकार की सरकार का सम्भवतः उसके एकमात्र पिता मि० लायनल कर्टिस के सिवा कोई वास्तविक मित्र नहीं था । मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के रचयिताओं ने इसे केवल इन रूपों में में ही ग्रहण किया—'दो दलीय प्रबन्धकारिता, सीमित उत्तरदायित्व, आंशिक निर्वाचन और आंशिक मनोनीत विधान सभाएं, कृत्यकों का विभाजन, सामान्य या विशिष्ट संरक्षण ऐसी विधियां हैं, जिनपर दृढ़तापूर्वक स्थिर नहीं रहा जा सकता ।' यह विधि सर्वोत्तम संक्रान्तिकाल की यान्त्रिकता थी, जो अनेक विकल्पों का सुदीर्घ परीक्षण करने के बाद प्रकट हुई थी ।[1]" वस्तुतः इसी में नष्ट के बीज छुपे हुए थे ।

इतिहास में संक्रमण कालों की विद्यमानता के बारे में सन्देह नहीं किया जा सकता, लेकिन इतिहासज्ञों द्वारा अतीत के पर्यवेक्षण के कारण ही वे इस रूप के जान पड़े । राष्ट्रीय विकास के उत्तरोत्तर चरणों को इसके विपरीत प्रत्येक सन्तति ने सामान्यतः अन्तिम माना था । १९१९–२९ की दशाब्दि भी विलक्षणता यह है कि यह एक ऐसा काल था, जिसमें अनुविध्यात्मक अधिनियमन द्वारा इस प्रत्यक्ष परिणाम के साथ इसके निजी क्षणिक स्वरूप की आत्म-जागरूकतापूर्वक कल्पना करने की आवश्यकता थी कि यह चिरकाल से पूर्व कल्पित विनाश तक सदा निराशापूर्वक बढ़ना होता था ।

इससे सर्वथा जुदा, यह मानना होगा कि उस समय के वातावरणों ने अधि-नियम की कार्यकारिता को अत्यधिक कठिन बना दिया होगा । युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव ने विश्व के अन्य देशों के समान सामान्य अशान्ति और असन्तोष उत्पन्न कर दिया था, और वे राजनीतिक प्रयोगों के लिए सर्वथा प्रतिकूल थे । तिस पर, भारतीय जीवन में साम्प्रदायिक कटुता ने घर कर लिया हुआ था । और लार्ड इरविन के शब्दों में : "यह साम्प्रदायिक कटुता स्वभाव और कानून के सन्निकट ही बहुधा वास करती है ।"

गांधीजी ने अनेक भारतीय दलों और यहां तक कि विश्व लोकमत को सरकार के विरुद्ध खड़ा कर दिया । गांधीजी ने निजी व्यक्तित्व में पूर्व की जातीय और धार्मिक भावना को पश्चिमी संस्कृति के साथ मिला दिया । उनकी सचाई या आकर्षणशक्ति में कोई सन्देह नहीं कर सकता । श्री जवाहरलाल नेहरू का यद्यपि उनके साथ अनेक विषयों पर मतभेद रहा तथापि उनके प्रति गांधीजी का असीम स्नेह था । वे लिखते

१. भारतीय वैधानिक सुधारों सम्बन्धी रिपोर्ट, Cd. 9109, p. 281.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं—"उन्हें प्रतिक्रियावादी अथवा क्रान्तिकारी कुछ भी कहिए, परन्तु उन्होंने हीन भावनाओं वाले व्यक्तियों में गर्व, जनता में जागृति और शक्ति उत्पन्न करके तथा भारतीय समस्याओं को संसार की समस्यायें बनाकर भारत का नक्शा ही बदल दिया।" गांधीजी को उनके चरित्र और उनकी सेवाओं के तईं सम्मान के ही कारण सहायता प्राप्त नहीं हुई, प्रत्युत उन्हें उनकी राजनीतिक धारणाओं और चतुर तथा योग्य संगठन से भी सहायता प्राप्त हुई थी। इस रहस्यमय और आयोजक के गुणों के मिश्रण का शायद ही कोई सरकार मुकाबला कर सकती थी। उस समय से लेकर अब तक (१९३५) यद्यपि उनका भीषण मतभेद रहा तो भी भारत सरकार उनकी उपेक्षा न कर सकी। परन्तु उनकी दिशा इतनी अनिर्णीत थी कि वह जिस प्रकार उनके विरोधियों के लिए समस्या थी, वैसे ही उनकी समर्थकों के लिए भी। क्योंकि जहां उनकी असहयोग, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, बहिष्कार और हड़तालों की नीति, सार्वजनिक शोक के समय दुकानें बन्द करने का चलन सरकार के विरुद्ध निर्दिष्ट थीं, वहाँ उनकी वित्तनीति का हिन्दू व्यापारी वर्ग ने विरोध किया; अछूतों के प्रति उनके धर्म-युद्ध का कट्टर हिन्दुओं (महासभा) ने विरोध किया और उनके विरोधी हो गये और यह कितने आश्चर्य की बात है कि उन्हीं वर्गों ने उनका विरोध किया, जिनके लिए वे कार्य करते थे। दूसरी ओर प्रत्येक कांग्रेस-सदस्य के लिए प्रति माह दो सौ गज सूत बनाने के विषय में उनकी दृढ़ता ने कांग्रेस दल के राजनीतिज्ञों के हृदयों में नवीन उत्साह उत्पन्न कर दिया। समय व्यतीत होने के साथ-साथ जहां उनकी दृढ़ता और उनके व्यक्तित्व के दबाव के कारण राष्ट्रीय लोगों में मत-भेद बढ़ गये तहां उनके उपवासों की बाधाएं सही और गलत दोनों के लिए समान रूप में अवतरित होती थीं।

१९१९ में गांधीजी ने असहयोग आरम्भ किया और उन्हें इससे दक्षिणी-अफ्रीका में सफलता और यश मिला था। इस आन्दोलन को आरम्भ करने का बहाना वह अधिनियम था, जिसके द्वारा पत्रों पर नियन्त्रण, राजनीतिक अपराधियों पर बिना ज्यूरियों के जजों को मुकदमा चलाने और विनाशकारी ध्येयों के कारण सन्देह किये जाने वाले व्यक्तियों को देश-निकाला देने का अधिकार सरकार को प्राप्त हो गया। क्रान्तिकारी प्रचार पर रौलट कमेटी की सिफारिशों को लागू करने के लिए ही यह उपाय किया गया था। इस अधिनियम की आवश्यकता इसलिए हुई थी कि सरकार को भारतीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन जो शक्ति प्राप्त थी वह स्थिर रखी जा सके क्योंकि अधिनियम का समय समाप्त होने को था। विरोध तर्क की बजाय भावनाओं पर आश्रित था जबकि उनकी कठोर धारायें सीमित कर दी गयी थीं और भारतीय सुरक्षा अधिनियम की अपेक्षा इसके द्वारा सरकार को कम अधिकार प्राप्त थे और उनका भी उपयोग बहुत ही संकट के समय करने का निश्चय किया गया था।

१९१९ के मार्च और अप्रैल मास में दिल्ली, गुजरात और पंजाब में व्यापक अशान्ति फैल गई। उसी समय अफगानिस्तान में उत्पन्न संकट के कारण स्थिति और भी भयंकर हो गई। १० अप्रैल को अमृतसर में जनता भड़क उठी—उसने निर्दयता-

CC-0. Agamnigam Foundation. In Public Domain. Digitized by eGangotri Research Foundation, Chandigarh

पूर्वक यूरोपियनों की हत्या की, एक प्रचारक महिला से दुर्व्यवहार किया गया। और उसकी हत्या कर दी गई। बैंको और सरकारी भवनों को जलाकर धूल में मिला दिया गया। सारे यूरोपियनों के लिए संकट उत्पन्न हो गया था, और नागरिक अधिकारियों ने शासन सेना को सौंप दिया। १३ अप्रैल को भारी भीड़ सभाओं के प्रतिबन्ध की आज्ञा को भंग करती हुई जलियांवाला बाग में एकत्र हो गई। जनरल डायर ५० बन्दूकधारी और ४० दूसरे शस्त्रों से सज्जित भारतीय सेना की टुकड़ी के साथ उधर आ निकला। उसने दस मिनट तक भीड़ पर गोली चलाई, और २७९ आदमी मारे तथा १२०८ व्यक्ति घायल किये। इस बात में सन्देह नहीं कि उसने यह कार्य अपने-आप में ठीक समझ कर किया था। उसे विश्वास हो गया था कि सब योरोपियनों को समाप्त कर देने का आन्दोलन तेजी से बढ़ रहा है और यह सारे पंजाब में फैल रहा है।" अमृतसर में यह आम विचार था कि उसके कार्य ने वहां के वासियों को अकथनीय संकट से बचा लिया। परन्तु मरने और घायल होने वालों की अधिक संख्या के कारण स्वभावतः जोरदार आलोचना होने लगी। इस कारण के लिए मि० एस्क्विथ ने संसद में कहा कि "हमारे सारे इतिहास में यह एक निकृष्टतम अत्याचार है।" इस सम्बन्ध में एक उचित दृष्टिकोण यह है कि जब उसे निश्चय हो गया था कि भयंकर खतरा है, डायर ने निर्णय करने में तीन भयंकर भूलें कीं—एक यह, उसने गोली चलाने से पहले भीड़ को तितर-बितर होने को नहीं कहा, दूसरे, अधिक देर तक गोली चलाना और तीसरी—आठ दिन बाद एक विशेष सड़क पर से हाथ और घुटनों के बल रेंगकर चलने की भारतीयों को दी गयी आज्ञा। परन्तु एक भयंकर समय उत्पन्न होगया था और पहली दो बातों के बचाव का उसके पास तर्क था।

इस घटना के सम्बन्ध में उससे जो व्यवहार हुआ उसके प्रति शिकायत का भी उसके पास उचित कारण था। पहले भारत स्थित उच्च सैनिक अधिकारियों और पंजाब के लैफ्टीनेंट गवर्नर ने उसके काम का समर्थन किया। अफगान युद्ध में उसे उच्च पद दिया गया था और उसने वहां अच्छा कार्य किया। छः महीने के बाद स्काटिश जज लार्ड हंटर के आधीन उत्तर पश्चिमी भारत की उलझन पूर्ण स्थिति की जांच के लिए एक कमेटी नियत की गयी। कमेटी ने इस आधार पर जनरल डायर के काम के विरुद्ध रिपोर्ट दी कि ऐसे अवसर पर अधिकारी का कर्त्तव्य केवल जन-धन को विनाश से बचाने के उपाय करने का होता है। ऐसा काम करने का नहीं, जिससे सारे प्रान्त में ही भय की लहर उत्पन्न हो जाए। भारत सरकार ने उसके विचार को स्वीकार कर लिया। उसका विचार था कि "जनरल डायर ने स्थिति की आवश्यकता से अधिक बढ़कर कार्य किया, जिसे कोई भी विचारवान व्यक्ति आवश्यक न समझेगा, और उसने अमानवतापूर्ण कार्य किया।" राज्य सचिव ने भी उसकी निन्दा की, और सेनापति ने उसे त्याग-पत्र देने को कहा और सेना कौंसिल ने इसका समर्थन किया। अनेकों का विचार था कि उससे कठोरता पूर्ण व्यवहार हुआ और फलस्वरूप सामन्त सभा और मि० जस्टिस मेकार्थी ने ओडायर बनाम नायर के प्रसिद्ध मुकदमे में कहा कि जलियांवाला का उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कठोर कार्य उचित था, और उससे उत्तर भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षा हुई। इतिहास का अन्तिम निर्णय कुछ भी हो, इस काण्ड से यह प्रतीत होता है कि इससे भारतीयों और अंग्रेजों में न पाटी जा सकने वाली खाई उत्पन्न हो गई।

इसी मध्य, जातीय शत्रुता-युक्त वातावरण में, नये विधान के अनुसार अक्तूबर १९२० में पहले निर्वाचन हुए। कांग्रेस पार्टी ने उनका बहिष्कार किया। परन्तु कुल निर्वाचकों के दो-तिहाई—२० लाख के लगभग मतदाताओं ने चुनावों में भाग लिया। प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बने परन्तु मद्रास में न बन सका क्योंकि वहां ग़ैर ब्राह्मणों ने सजातीय मन्त्रिमण्डल बनाने योग्य काफी अधिक स्थान प्राप्त किये थे, जबकि उसके लिए प्रतिनिधि विभिन्न राजनीतिक दलों से लिये जाने थे। कनाट के ड्यूक ने ९ फरवरी १९२१ को दिल्ली में केन्द्रीय विधान सभा का उद्घाटन किया और सम्राट् का सन्देश पढ़ा—"देश-भक्त और राज्य-भक्त भारतीय वर्षों से अपनी मातृभूमि में स्वराज्य (होम रूल) की कामना करते रहे हैं। आज मेरे साम्राज्य में स्वराज्य का प्रादुर्भाव और मेरे अन्य उपनिवेशों की तरह स्वतन्त्रता की उन्नति का सुअवसर प्राप्त हो रहा है।" लार्ड चेम्स फोर्ड ने घोषणा की कि अब से निरंकुशता का स्थान पथ-निर्देशन अधिकार-शक्ति ने ले लिया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि नये विधान ने आशा से अधिक अच्छा कार्य किया। आंशिक रूप में इसका कारण यह था कि गरम दल वाले तटस्थ रहे और नरम दल वालों का बहुमत था। जैसा कि मुडीमान कमेटी ने रिपोर्ट में कहा कि स्थायी अधिकारियों ने रक्षित और परावर्तित विभागों की सफलता के लिए सब यत्न किये। ऐसी ही क्रियात्मक सद्भावना भारत सरकार ने ब्रिटिश श्रेष्ठता के अधिकार सौंपने में तत्परता दिखाई। इससे संरक्षण की प्रणाली चली जिसे भारतीय उपभोक्ताओं के कल्याण के विपरीत न भी सही पर दिखायी। कुछ वर्ष पूर्व ब्रिटिश हितों के लिए हानिकारक तो समझा ही जाता। भारतीय अदालतों में उपस्थित होते समय यूरोपियनों को अब तक जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे समाप्त कर दिये गये। सेना की आठ यूनिटों का भारतीयकरण कर दिया गया।

१९२३ में स्वराज्य दल (पण्डित मोतीलाल नेहरू के अधीन कांग्रेस होम-रूल पार्टी) धारासभाओं के चुनावों के लिए खड़ा हुआ। उसकी विशाल सफलता से द्वैध शासन, जो कि अब तक भारतीयों को वैधानिक सरकार की ट्रेनिंग देने का काम करता हुआ जान पड़ता था, अन्धकार में पड़ गया। १९१९ के अधिनियम के निर्माताओं की आशाओं के विपरीत जो घटनाएं और धारणाएं फैलीं, वह यह थीं:—गवर्नर जनरल लार्ड रीडिंग को सर बेसिल ब्लैंकेट के नमक-कर को दोगुना करने के अधिनियमों की मंजूरी देनी पड़ी। लगातार के वार्षिक घाटों को दूर करने का यही एक सम्भव उपाय था: योग्य भारतीय युवकों की कमीशन प्राप्त करने की अनिच्छा के साथ सेना के भारतीयकरण की इच्छा बढ़ती गयी। लीग आफ नेशन्स में भारत को प्रतिनिधित्व मिला और १९२१ तथा १९२३ के साम्राज्य के सम्मेलनों में भारत को भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्मिलित किया गया। यह ऐसा विशेषाधिकार था जिससे उसका सम्मान उसकी अपनी और संसार की दृष्टि में बढ़ा। परन्तु जब उसे पता चला कि साम्राज्य के दूसरे भागों में भारतीय प्रवासियों को सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं तो उसने अन्य उपनिवेशों की अपेक्षा अपनी हीनता अनुभव की। इसके साथ ही गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के कारण हुए दंगों से नवम्बर १९२१ में प्रिंस आफ वेला के बम्बई आने का मजा किर-किरा हो गया और फरवरी १९२२ में चौरीचौरा में २१ पुलिस अफसरों की गांधीजी के अनुयायियों द्वारा हत्या के बाद उन्हें को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकदमा चला। बंगाल और संयुक्त प्रान्त में गरम दल वालों ने द्वैध शासन समाप्त कर दिया जिसके कारण इन प्रान्तों के गवर्नरों ने शासन अपने हाथ में ले लिया। १९२३ में ली कमीशन की भारतीय नौकरियों के विषय में रिपोर्ट का अच्छा स्वागत न हुआ जब कि उसमें यह स्पष्ट था कि प्रतिज्ञा युक्त सिविल सर्विस पुलिस और स्वायत्त शासन के विभागों में इन्जीनियरिंग तथा सिंचाई आदि की कुछ टैक्नीकल नौकरियों को छोड़ क्रमशः सब नौकरियों के भारतीयकरण को स्वीकार किया गया था, जिससे पुरानी पीढ़ी के सिविल सर्विस वालों को निश्चय ही हानि पहुँचती थी :—अन्त में सर ए. मुडी-मान कमेटी के अल्पमत ने घोषणा की कि द्वैध शासन पर अमल नहीं किया जा सकता

खिलाफत के भविष्य और ओटोमन पोर्ट की कठोर नीति के कारण इस्लामी धर्म-स्थानों की सुरक्षा संकट में पड़ जाने के कारण भारतीय मुसलमानों ने पहले-पहल १९१९ में बेचैनी प्रकट की और यह बात सरकार के लिए संकट का कारण थी। मुस्लिम पार्टी बहुत बुरी तरह से उन कुछ ब्रिटिश और अमेरिकनों के विचारों का विरोध कर रही थी, जो तुर्कों को यूरोप से निकाल देने का यत्न करते थे। गांधीजी ने विरोध की इस भावना का विचार किये बिना कि यह सरकार का भी विरोध होगा, उग्रवादी मुस्लिम भाइयों मुहम्मदअली और शौकत अली की मित्रता में सन्देह नहीं किया। कट्टर मुसलमानों के भारत से अफगानिस्तान को हिजरत या निष्क्रमण करने की योजना बनायी गयी, जो पूर्णतया असफल रही। पेशावर से काबुल जाने वाली सड़क इन निस्सहाय और गलत मार्ग पर प्रेरित तीर्थ-यात्रियों की कब्रों से अंकित थी। अन्त में, अली भाइयों ने सब मुस्लिम सिपाहियों को नौकरी छोड़ देने के लिए कहा और वे गिरफ्तार कर लिये गये। खिलाफत आन्दोलन की वेदना इस तथ्य से और बढ़ गई कि टर्की अपने पुराने बन्दरगाहों से हट गया और अंगोरा असेम्बली ने १९२४ में अंतिम खलीफा को निर्वासित कर दिया, और उसका कार्यालय समाप्त कर दिया। खिलाफत आंदोलन के हिन्दुओं द्वारा धर्म-विरुद्ध समर्थन से अरब-वंश के कबीले मलाबार के मोपला भड़क उठे और उन्होंने निर्दयता से हजारों हिन्दुओं की हत्यायें कीं और उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बनाया। भारतीय राजनीति रूपी समुद्र में बेचैन करने वाली विरोधी लहरें इस बात से और भी बढ़ गईं कि गांधीजी ने उन मोपलों का समर्थन किया, जो उनके धर्म वालों की हत्या कर रहे थे। गांधी जी ने इस समर्थन के लिए शर्त यह रखी थी कि वे स्वराज्य-सिद्धान्त की घोषणा करें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वैध शासन के दोषों को जान लेने पर भी विशेष रूप से उन प्रान्तों में विधान के नये अनुभव हुए जहां सुरक्षित और परावर्तित विषयों में भेद मिटाने का और दोहरे प्रवन्ध को शासन के प्रति उत्तरदायी बनाने का यत्न किया गया था। इस बारे में सन्देह नहीं किया जा सकता कि केन्द्रीय सरकार में गैर सरकारी बहुमत वाली विधान सभा का बहुत प्रभाव हो गया था, क्योंकि सरकारी अल्प संख्या ने धारणा या अवसर-वश अत्यधिक महत्वपूर्ण विषयों के सिवा उसका कभी विरोध नहीं किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : १९

साइमन कमीशन और गोलमेज़ सम्मेलन

वैधानिक समस्याओं का आगामी चरण उस समय आया जब १९२६ तें लार्ड इर्विन गवर्नर-जनरल बन कर आया। वह उच्च आदर्श, श्रेष्ठ विद्वत्ता और दृढ़ धार्मिक धारणायुक्त व्यक्ति था। उसने भारतीयों के स्वशासन के ध्येय से अधिक सहानुभूति दिखाई, जिसका सदा उसकी राजनीतिक पार्टी (कंजरवेटिव) ने विरोध किया, जिससे उसका नाममात्र का संबंध था, ।

यह स्मरणीय है कि १९१८ के अधिनियम में दस वर्ष पश्चात् इस बात की जांच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की बात थी कि जो यह निश्चय करे कि उत्तरोत्तर अवस्थाओं में उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति का अवसर आ गया है या नहीं और इसकी निर्णायक भारतीय और ब्रिटिश सरकारें होंगी। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि प्रगति के सम्बन्ध में भारतीयों के सहयोग की शर्त थी और वहां तक बढ़ने की अवस्था बिलकुल पैदा नहीं हुई। और उनका यह कहना अकारण भी न था।

इसके बावजूद भी निरन्तर दबाव के कारण, पूरी अवधि से दो वर्ष पहले ही, नवम्बर १९२७ में, सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसके कुल सात अंग्रेज सदस्य थे। सर तेज बहादुर सप्रू के नरम दल और पंडित मोतीलाल नेहरू के गरम दल दोनों के लिए ही यह बात आपत्तिजनक थी। डा० ए० बी० कीथ जैसे उच्च विधान शास्त्री का भी ऐसा ही विचार था कि एक भयंकर परिहार्य भूल हुई, परन्तु भारत से बाहर के लोग ही यह उचित निश्चय कर सकते थे कि वह स्वशासन की ओर आगे पग बढ़ाने के योग्य है या नहीं। और वह अभी स्वतन्त्र भी न था, इसलिए इसमें औचित्य भी नहीं कि वह अपने ही मामले पर स्वतः विचार करता। बाद में यह घोषणा की गयी कि भारतीय धारा-सभाओं के सात सदस्य कमीशन को सहयोग दें और साथ-ही-साथ वे भी रिपोर्ट प्रकाशित करें। ३ फरवरी १९२८ को जब कमीशन बम्बई पहुंचा तो हड़तालें और प्रदर्शन किये गये। केन्द्रीय धारा-सभा तो अपने हठ पर दृढ़ रही परन्तु अन्त में प्रान्तीय असैम्बिलियों ने सहयोग दिया और दलित वर्गों तथा दूसरे अल्पमतों ने कमीशन के सामने अपने कष्ट रखे।

बंगाल और पंजाब में उपद्रव और हत्या आरम्भ हो गयीं। भयंकर औद्योगिक हड़तालों से भारी आर्थिक क्षति हुई। सरकार को विवश होकर जनसुरक्षा और श्रम-विवाद अधिनियम पास करना पड़ा और २९ आन्दोलनकारियों पर अदालत में मुकदमे चले। इनमें ३ अंग्रेज थे। परन्तु यह काम निष्प्रभाव सिद्ध हुआ क्योंकि पांच वर्ष तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुकदमे का निर्णयन हुआ और बाद में जो दण्ड दिया गया वह या तो अपील पर समाप्त हो गया अथवा कम कर दिया गया।

लार्ड इर्विन को यह विश्वास हो गया कि केन्द्र में अनुत्तरदायी सरकार को और अधिक देर तक रखना उचित नहीं--जिसकी विरोधी दल सदा आलोचना करता और उसे आलोचना को कभी उत्तरदायी कसौटी पर ठीक दिखाने का अवसर नहीं मिलता था। वह नयी मजदूर सरकार से परामर्श करने तत्काल इंग्लैण्ड गये और ३१ अक्तूबर १९२९को महत्त्वपूर्ण घोषणा की गई कि भारत में वैधानिक प्रगति का ध्येय साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना है तथा साइमन कमीशन की रिपोर्ट के बाद और संसद में इस सम्बन्ध में विधेयक उपस्थित होने से पूर्व लन्दन में गोलमेज परिषद् होगा, जिसमें भारतीय प्रतिनिधियों के विचार सुने जायेंगे। इस घोषणा की नीतिमत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी सोचा जाए परन्तु यह आलोचना उचित थी कि कमीशन के काम की समाप्ति तक यह घोषणा न होनी चाहिए थी। इससे कमीशन का काम मझधार में रह गया और उसका महत्व नष्ट हो गया। इसके साथ ही "साम्राज्यान्तर्गत स्वतन्त्रता" की बात इतनी अस्पष्ट थी और इसके विभिन्न अर्थ लगाये जा सकते थे। लार्ड इर्विन और मंत्रिमंडल ने ऐसा प्रतीत होता था इसे उस अर्थ में प्रयोग किया जो १९१९ के अधिनियम की प्रस्तावना में उल्लिखित है और जैसा उन पराधीन देशों के विधान में लागू है, जिन्हें उत्तरदायी अथवा स्वायत्त सरकार प्राप्त है। परन्तु भारतीय तो स्पष्ट अभिधान की शर्त के रूप में चाहते थे, जैसा कि १९२६ की औपनिवेशिक कांफ्रेंस में वर्णित था कि "ब्रिटिश साम्राज्य में स्वायत्त देशों को समानता का दर्जा प्राप्त है और वे घरेलू अथवा विदेशी मामलों में किसी प्रकार अधीन नहीं परन्तु सम्राट् को द्वैध शासन के प्रति एक सामान्य सम्बन्ध प्राप्त हैं और ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह के स्वतन्त्र रूप में संबद्ध सदस्य हैं।" निश्चय ही अनेक भाषाओं, विभिन्न विश्वासों और दृढ़ साम्प्रदायिक विभेदपूर्ण देश में, जहां बहुमत का शासन असम्भव है और जहां बाह्य सुरक्षा के लिए अधिपति राष्ट्र आवश्यक है, इस प्रकार के दर्जे की आशा करना व्यर्थ है।

जब यह स्पष्ट हो गया कि इंग्लैण्ड का कोई भी दल साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य देने के पक्ष में नहीं तो कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अवज्ञान्दोलन का नया संघर्ष आरम्भ करने का निश्चय किया गया। भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय का प्रस्ताव श्री जवाहरलाल नेहरू ने उपस्थित किया और पास हुआ।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट मई १९३० में प्रकाशित हुई। यह सदैव भारत के राज्य-लेखों में महान् समझी जाएगी। कमीशन के सदस्य अपने पूर्ववर्तियों के समान एकता से इसकी प्राप्ति के विश्वास को भी समाप्त कर देते परन्तु उन्होंने सद्भावनापूर्ण व्यक्तियों के लिए विलक्षण शब्द-रचना में कुछ निर्णय प्रस्तुत किये। परन्तु भारतीय गरम दल वालों ने इसकी निन्दा की। यदि कमीशन कोई स्वीकरणीय स्थिति भी उपस्थित करता तो भी वे उसका खण्डन ही करते। ब्रिटिश सरकार ने पहले तो इसके कुछ अंशों को माना पर अन्त में इसकी उपेक्षा कर दी गयी--यद्यपि बाद में इसकी कुछ सिफारिशें स्वीकार कर ली गयीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षेप में कमीशन के सदस्यों ने सिफारिश की कि प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त करके उत्तरदायी सरकारों को वास्तविक रूप दिया जाए। अन्य सब परवर्तित विषयों के साथ नियम और व्यवस्था को स्थिर रखना भी धारा-सभाओं के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को सौंप दिया जाए। केन्द्रीय सरकार को इस प्रकार का उत्तरदायित्व देने का परामर्श न दिया गया। स्वायत्त शासन के ध्येय के प्रति सहानुभूति की कमी के कारण नहीं परन्तु कुछ वास्तविक कठिनाइयों के कारण ऐसा किया गया—जिन्हें भारतीय देशभक्त नेता और ब्रिटिश नीतिज्ञ समझते थे। साम्प्रदायिक मतभेद के कारण बहुमत का शासन असम्भव था क्योंकि बहुमत प्रजातंत्री सरकार के लिए आवश्यक शर्त है। देश की प्रतिरक्षा का प्रश्न भी था और उग्र देशभक्त नेता भी विशाल ब्रिटिश सेना के सीमान्त की सुदूर चौकियों से यूरोप प्रस्थान के लिए बन्दरगाहों तक कूच के कार्य की कठिनाइयों से पूर्णतया इन्कार नहीं कर सकते थे। अखिल भारतीय विधान सभा में राजाओं के लिए भी स्थान ढूंढ़ना आवश्यक था क्योंकि उनका दृष्टिकोण भी अब तक उपेक्षित था। वे जनता द्वारा निर्वाचित और धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों के आधिपत्य को स्वीकार न करने का निश्चय कर चुके थे। निरंकुश अधिकारों सहित वे अपने-आपको राजकीय समर्थक और इंग्लैण्ड की सरकार की किलेबंदी मानने को भी तैयार न थे। वे अपने आन्तरिक मामलों में निरीक्षण के अपने पूर्णाधिकार के संधि अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे। १९२५ की लार्ड रीडिंग की महत्वपूर्ण घोषणा के समय से यह रवैया चला आ रहा था—जबकि बरार के संबंध में निजाम ने कहा था, अपनी रियासत के आन्तरिक कार्यों के सम्बन्ध में उसे वैसा ही अधिकार है जैसा ब्रिटिश सरकार को ब्रिटिश भारत के आन्तरिक कार्यों के संबन्ध में। लार्ड रीडिंग ने घोषणा की कि, "भारत में ब्रिटिश सम्राट् की सत्ता सर्वोपरि है और इसीलिए किसी रियासत का कोई राजा समान स्तर पर ब्रिटिश सरकार से बात करने का अधिकार नहीं रखता। इसकी सर्वोच्चता का आधार संधियां नहीं वरन् वह उनसे स्वतन्त्र है। यह उसके विदेशी राष्ट्रों और नीति के प्रश्नों के सम्बन्ध में परमाधिकार से पृथक् है। ब्रिटिश सरकार का यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वह भारतीय रियासतों से सब सन्धियों और वायदों का मान करती हुई सम्पूर्ण भारत में शान्ति और सुव्यवस्था रखे।" और आगे कहा है कि, "राजाओं की विभिन्न प्रकार की आंतरिक स्वतन्त्रता सर्वोच्च सरकार द्वारा इस उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के अधीन है।" वित्त-सम्बन्धी प्रश्न से भी रियासतों और ब्रिटिश सरकार के सम्बन्धों में उलझन पैदा हो गई। यह अनुमान लगाया गया है कि १९२१ में संरक्षण देने के बाद से केन्द्रीय सरकार भारतीय रियासतों से एक करोड़ पौंड वार्षिक आगम शुल्क के रूप में लेती थी, जबकि उसके पास क्रियात्मक रूप में कोई बन्दरगाह न था। यह केवल ब्रिटिश भारत की जनता के हित के लिए किया गया था।

साइमन कमीशन के सदस्यों ने यह अनुभव किया कि राज्य-साचव के प्रांत उत्तरदायी सरकार सदा नहीं चल सकती। इसलिए उनके सामने संघ का विचार आया; यद्यपि यह उनकी सिफारिशों की सीमा से बाहर की बात थी। उनका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचार था कि परम्परागत भारतीय रियासतों के आधिपत्य के साथ आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त ब्रिटिश भारत के प्रान्त सम्राट् के संरक्षणात्मक और सहानुभूतिपूर्ण नियंत्रण में संयुक्त हो सकेंगे। साइमन कमीशन की रिपोर्ट का कुछ विरोध भारतीय नेता इसलिए भी करते थे, जैसा कि डा० कीथ ने कहा है कि, कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में ऐसा संकेत किया था कि प्राच्य वातावरण में स्वायत्त सरकार पूर्ण रूप से पाश्चात्य ढंग के समान होनी आवश्यक नहीं। उनके पास ऐसा कोई सिद्धान्त भी नहीं और "इन विषयों पर जो विचार प्रकट भी किये गये हैं उनमें न तो कल्पना शक्ति है तथा न दृढ़ धारणा ही। दासतापूर्वक पश्चिमी आदर्श को अपनाना उनकी राष्ट्रीय भावना के अनुकूल भी नहीं।"[1]

साइमन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने से कांग्रेस-आंदोलन द्वारा भड़काया हुआ हिंसापूर्ण आन्दोलन कम नहीं हुआ, वरन् और भी तेज हो गया। कानून विरुद्ध नमक बनाने का आन्दोलन गांधीजी ने चालू किया और उन्होंने अप्रैल १९३० को अपने अनुयायियों सहित अहमदाबाद से दांडी प्रस्थान किया। नगरों में व्यापारिक बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरने आरम्भ हुए। देहातों में लगान न देने के लिए कहा गया। अनेक भयंकर दंगे हुए और आंदोलन में महिलाओं द्वारा भाग लेने से उनको शान्त करने के पुलिस के काम में रुकावट पड़ी। कांग्रेसी विचार और इस्लामी धारणाओं के अनोखे सम्मिश्रिण पठान-नेता अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में उत्तर पश्चिमी सीमा-प्रान्त में लाल कुर्ती आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसने इस पुरातन खूंख्वार कबायली सीमा प्रदेश में राजद्रोह का आधुनिक रंग चढ़ाया:—

भारत सरकार ने अपने सम्मान को स्थिर रखने के लिए समाचारों पर पाबन्दियां लगायीं और संदिग्ध व्यक्तियों पर मुकदमा चलाये बिना बंदीगृह में रखने के उपाय काम में लाये गये। परन्तु उसने शान्ति और सुधारों की योजना को चालू रखने के दृढ़ प्रयत्न से अपनी नीति को संतुलित किया। लंदन में सब ब्रिटिश राजनीतिक दलों और कांग्रेस पार्टी के अतिरिक्त अन्य भारतीय दलों में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए। अधिवेशन १६ नवम्बर १९३० से १९ जनवरी १९३१, ६ सितम्बर से १ दिसम्बर १९३१, और १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ को हुए। दूसरे सम्मेलन के समय मजदूर सरकार का पतन हुआ और राष्ट्रीय सरकार बनी। परन्तु नये मंत्रिमंडल ने अपने पूर्वाधिकारियों की भारतीय नीति को स्वीकार कर लिया।

गोलमेज सम्मेलनों का आश्चर्यप्रद परिणाम यह हुआ कि भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों ने पहले सम्मेलन में यह घोषणा की कि वे संघ शासन के पक्ष में हैं, बशर्ते कि यह उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही कार्यों में इस नयी प्रेरणा से सम्मेलन के ब्रिटिश और भारतीय दलों पर प्रभाव पड़ा। भारतीय राष्ट्रवादियों ने केन्द्र में अनुत्तरदायी ब्रिटिश नियंत्रण के विरुद्ध नरेशों का समर्थन किया। उन्हें यह बाद में ज्ञात

1. Dr. A. B. Keeth, A Constitutional History of India 1936, p. 294.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुआ कि नरेशों का मुख्य ध्येय अपने राज्यों से प्रजातन्त्र के विष को दूर रखना था। ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि संघ को स्वशासन देने से उसमें कुछ संयम और परम्परा अवश्य आ जायेगी, परन्तु अधीर आदर्शवादियों के लिए जनता द्वारा निर्वाचित असेम्बलियों की स्वीकृति बिल्कुल भिन्न चीज होगी। प्रथम अधिवेशन के अन्तिम दिन १९ जनवरी को प्रधान मंत्री ने घोषणा की कि "संघीय आधार पर बनी धारा-सभाओं को सरकार कार्यकारिणी का उत्तरदायित्व देने का सिद्धान्त मानने को तैयार है।"

इस घोषणा से भारत सरकार ने कांग्रेस दल के साथ सौहार्द स्थापित करने के अनेक यत्न किये। कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को जेल से मुक्त कर दिया गया और लार्ड इरविन तथा महात्मा गांधी जी में १७ फरवरी और पांच मार्च के मध्य अनेक भेटें हुईं। यद्यपि परम्परा विरुद्ध मार्ग की प्रतिक्रिया कुछ अधिक अच्छी नहीं हुई, तथापि उनकी परीक्षा से मुस्लिम पार्टी वालों को हिन्दुओं की प्रमुखता काभय उपस्थित हो गया और अनेक उग्र विचारकों ने सोचा कि सरकार दबाव के सामने झुक गई है। तो भी, वायसराय और महात्मा गांधी में ४ मार्च को समझौता हुआ। अवज्ञा आन्दोलन समाप्त करने और दंगाइयों को छोड़ राजनीतिक वन्दियों को क्षमा करने तथा लन्दन में कांफ्रेंस के अगले अधिवेशन में कांग्रेस के प्रतिनिधि रूप में गांधी जी के जाने का निश्चय हुआ।

दूसरा अधिवेशन निराशाजनक सिद्ध हुआ क्योंकि गांधीजी असमर्थ थे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर भारतीय सदस्यों में कोई समझौता न हो सका।

जब गांधीजी भारत लौटे तो उन्होंने नये गवर्नर जनरल लार्ड विलिंगडन के अधीन कार्यों पर वही नियंत्रण पाया जो लार्ड इरविन के समय आवश्यक और ढीला कर दिया गया था। गांधीजी फिर बन्दी बना लिये गये और कांग्रेस अवैध घोषित कर दी गयी। सरकार का यह कार्य इतना सफल रहा कि जब अवज्ञान्दोलन में ३४४५८ व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे तो इस बार केवल ४६८३ ही रह गये। भारतीय विरोधी दलों ने अपना काम ब्रिटिश सरकार पर छोड़ दिया था, अतः उसने धारा सभाओं के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित साम्प्रदायिक प्रश्न के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय दे दिया। इस निर्णय का अनुपूरण और संशोधन सरकार की सहमति से सितम्बर १९३२ के गांधी-जी और अछूतों के नेताओं में हुए पूना समझौते से हुआ। गांधीजी ने यह बात अनिच्छुक हिन्दुओं से आमरण अनशन की धमकी दे कर मनवायी--गांधीजी यह शस्त्र सरकार के विरुद्ध भी कई बार प्रयोग कर चुके थे।

१७ नवम्बर से २४ दिसम्बर के तीसरे सम्मेलन के बाद गोलमेज सम्मेलनों के परिणामों के आधार पर भारत सरकार के लिए सुधार-योजनाएँ बनायी गयीं। इनका समर्थन उदार दल और राष्ट्रीय सरकार के समर्थकों के बहुमत ने किया। उनको विश्वास हो गया था कि साहसपूर्ण उदार पग उठाने की आवश्यकता है। परन्तु अनुदार दल के एक भाग ने उसका विरोध किया। उनका कहना था कि भारत की जनता प्रजातन्त्री सरकार से पूर्णतया परिचित और उसके अयोग्य है, तथा जो कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता मांगती है, उसको संतुष्ट करना निराशाजनक कार्य है। भारतीय अधि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारियों के अधीन जन-सेवा कार्यों का स्तर पहले ही बिगड़ चुका था, और जब पुलिस आदि विभाग स्वतन्त्र प्रान्तीय मन्त्रिमंडलों को सौंप दिये जाएंगे, तो और भी अधिक अव्यवस्था बढ़ने का भय उपस्थित हो जाएगा।

मि० विन्स्टन चर्चिल इस असहमत दल के मुखिया थे। उनका विश्वास था कि यह योजनाएं भारत में ब्रिटेन के अपने परम्परागत कार्य से पीछे हटना है। यह बहुत संभव है कि वे अपने कार्य में जागरूक रहे हों और, जैसा कि उनके अधिकांश अनुयायी थे, उनमें संसदीय तथा विवाद करने की योग्यता निस्संदेह अन्य बातों से अधिक था परन्तु उन्होंने अपने प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व और अपमानपूर्ण प्रचुर वाग्प्रहारों से सारी स्थिति की दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। इसमें उन्हें लाभ न हुआ और सर रेजीनाल्ड क्रैडक जैसे अनुभवी और प्रभावपूर्ण समर्थक को भी तटस्थ होना पड़ा।

सरकारी योजना-पत्र संसद के दोनों भवनों की संयुक्त प्रवर समिति के सामने उपस्थित किया गया। मि० चर्चिल और लार्ड लायल ने इस आधार पर इस समिति में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया कि इसमें पहले सरकारी नीति को मानने वाले प्रचुर व्यक्ति हैं। आम विचार यह था कि यदि वे समिति में सम्मिलित होते तो उपयुक्त ही रहता।

संयुक्त प्रवर समिति ने सरकारी योजना पत्र को स्वीकार कर लिया परन्तु कुछ सुरक्षाओं की आवश्यकता पर बल दिया। २९ दिसम्बर १९३५ को गवर्नमैण्ट आफ इण्डिया एक्ट पास किया गया। संसद में पारित होते समय आश्चर्यपूर्ण और अपेक्षाकृत दुर्भाग्यपूर्ण संशोधन सामंत सभा में कर दिया गया। इससे केन्द्रीय सरकार के अपर हाउस के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष के स्थान पर प्रत्यक्ष और प्रान्तीय असेम्बलियों की बजाय प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से करना निश्चित हुआ। इस प्रकार नियम विरुद्ध बात हुई कि अपर हाउस में चुनाव सीधा और प्रत्यक्ष हुआ और सैद्धान्तिक रूप में अधिक प्रिय और उत्तरदायी भवन में चुनाव अप्रत्यक्ष हो गया।

सरकार ने लिबरल और मजदूर दलों की इस इच्छा को स्वीकार न किया कि इस अधिनियम में साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य के ध्येय की घोषणा कर १९१९ के अधिनियम की प्रसिद्ध भूमिका की पुष्टि करनी चाहिए।

इस काल में न तो दंगे बन्द हुए और न सरकारी अधिकारियों पर घातक आक्रमण ही रुके। हिन्दू-मुसलमानों का अत्यधिक भयंकर दंगा मार्च १९३१ में हुआ। १९३०–३ का काल विशेषकर पंजाब में आतंकपूर्ण हत्याओं के कारण काला है। तीन वर्ष में अकेले मिदनापुर में तीन जिला मैजिस्ट्रेटों की हत्या कर दी गयी। विशेष आर्डीनेंस के अनुसार यह आवश्यक समझा गया कि संदिग्ध व्यक्तियों को बिना मुकदमा चलाये जेल में नजरबन्द अथवा देखरेख में रखा जाए। अधिक संदिग्ध व्यक्तियों में अल्पायु के विद्यार्थी भी थे। निश्चय ही ऐसा काम प्रतिनिधि सरकार के साधारण सिद्धान्तों के ही विरुद्ध था—इससे राष्ट्रवादी वक्ताओं को अपमानपूर्ण आक्रमण करने का अवसर मिल गया। परन्तु स्वतन्त्रता की संरक्षक के रूप में प्रजातन्त्री-सरकारों का भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्त्तव्य है वे बम अथवा पिस्तौल से स्वतन्त्रता को आघात पहुंचाने वाले विनाशक और धर्मान्ध लोगों से अपने अस्तित्व की रक्षा करें । मई ८, १९३४ को दो युवक आतंकवादियों ने लीबांग रेस मीटिंग में बंगाल के गवर्नर सर जान एण्डरसन पर घातक आक्रमण किया परन्तु सौभाग्य से वह बच गया । उसने हत्यारों का सामना बड़ी शान्ति और शानदार साहस से किया । उसने प्रभावपूर्ण उदारता और राजनीतिज्ञोचित्त उपाय से नजरबन्दों की समस्या को सुलझा दिया । उन्हें औद्योगिक कैम्पों और खेतों में काम देकर तथा उनकी मुक्ति के दिनों उन्हें शान्तिपूर्वक किसी धंधे को अपनाने की शिक्षा से उनकी समस्या सुलझा दी गई ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २०

विदेश-संबंध, १९१७-३७

१९१७ के पश्चात् कुछ वर्ष सारे पश्चिम और मध्य एशिया को सोवियत रूस से महान भय बना रहा। १९०७[1] में रूसी साम्राज्य से हुए तीसरे समझौते से सब प्रश्न सुलझ गये थे, और महायुद्ध में रूस हमारा मित्र-देश था, परन्तु जार-शासन के पतन के साथ वहां निरंकुशता फैल गयी। ज्योंही सोवियत शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, उसने भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के उन हिस्सों को ही जीतना चाहा, जिन्होंने अपने-आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था, परन्तु उसने खीवा और बुखारा के प्रान्तों को भी जीत लिया। इन छोटे-छोटे खान राज्यों के पतन से सोवियत-राज्यों और भारत के मध्य ईरान और अफगानिस्तान ही रुकावट रह गये और उसने बोलशेविक प्रचार द्वारा उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर भारत सरकार के लिए संकट पैदा करने का यत्न किया।

सौभाग्य से ईरान के साथ हमारे सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे, और सदैव की भांति अफगानिस्तान के शासकों ने अपनी सीमाओं के दोनों ओर के महान साम्राज्यों से स्वतन्त्र रहने का यत्न किया। अमीर हबीबुल्ला, जिसने युद्ध में भयंकर कठिनाई के होते हुए भी मित्रतापूर्ण तटस्थता रखकर हमारी बहुमूल्य सेवा की थी, २० फरवरी १९१९ को कत्ल कर दिया गया। उसके बाद राजगद्दी के लिए जो संघर्ष हुआ उसमें उसका छोटा पुत्र अमानुल्ला सफल रहा। कुछ आन्तरिक संकट टालने और कुछ लड़ाकू दलों को शान्त करने के लिए मई १९१९ में तीसरे अफगान युद्ध में कूद पड़ा। विमानों, बेतार यंत्रों और भयंकर बम-वर्षा के कारण कबाइली योद्धा गुरिल्ला युद्ध करने में असमर्थ रहे और वह जल्दी ही पराजित हुआ। जलालाबाद और काबुल पर भी बम-वर्षा की गयी। ८ अगस्त को शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर हुए और ब्रिटिश सरकार ने इसके पश्चात् भारत की राह अफगानों को शस्त्र और गोला-बारूद आयात करने से रोक दिया, भूतपूर्व अमीर को दी जाने वाली सहायता का बकाया जब्त कर लिया गया, और नये अमीर को कोई सहायता न दी गयी। ब्रिटेन ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह दूसरे देशों से अफगानिस्तान के सम्बन्धों पर नियंत्रण नहीं रखेगा। २२ नवम्बर १९२१ को नई संधि द्वारा शान्ति स्थापित हुई। इससे दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की स्वतन्त्रता के सम्मान के लिए सहमत हुए। इससे बढ़कर अमीर को वह विशेषाधिकार दिया गया जिसके लिए अब्दुलरहमान व्यर्थ यत्न करता रहा। काबुल में एक ब्रिटिश मंत्री और सैन्ट जेम्स के दरबार में उसका प्रतिनिधि रखने की बात निश्चित हुई।

---

1. Supra pp 564—7.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस शांति-संधि के अगले वर्ष अमानुल्ला ने बड़ी तेजी से सुधारों का कार्य-क्रम अपनाया । दुर्भाग्य से उसका देश उसके लिए तैयार न था, धर्म निरपेक्ष शिक्षा और ऐसा ही कानून लागू करने से मुल्ला अथवा पुरोहितों का दल भड़क उठा । मार्च २९२४ में दक्षिणी प्रान्तों में विद्रोह फूट पड़ा और उन्हें शान्त करने के लिए अनेक नए कार्य स्थगित कर दिये । उसने फिर नीति के पश्चिमी कारण का दबाव दिया और १९२७ में यूरोप गया। वहां उसका सब जगह स्वागत और सम्मान हुआ । परन्तु उसके प्रजा के बहुमत की सहानुभूति उससे न रही और मई १९२९ में उसे राजगद्दी-त्याग के लिए विवश होना पड़ा ।

दिसम्बर १९२८ और फरवरी १९२९ के मध्य संकट काल में काबुल का सम्बन्ध शेष संसार से कट गया । परन्तु शाही वायुसेना बहुत वीरतापूर्वक भारतीयों, विदेशियों और अन्त में २५ फरवरी को दूतावास के अधिकारियों, महिलाओं और बच्चों को वहां से निकाल लायी। कुल मिलाकर उन्होंने पेशावर से काबुल और वहां से फिर वापस उड़ानें भरीं और सब २८ हजार मील की हवाई यात्रा की, यह खाली करने का काम १० हजार फुट ऊंची और भयंकर सर्दी वाले कठिन जलवायु में हुआ।[1]

अफगान गृहयुद्ध में ब्रिटिश सरकार तटस्थ रही । थोड़े से काल के लिए एक अशिक्षित हठधर्मी बच्चा-ए-सक्का ने राज्य पर अधिकार कर लिया, परन्तु अन्ततः नादिरशाह ने उसे पराजित किया, और व्यवस्थित सरकार स्थापित की । नये अमीर ने अमानुल्ला खान की नीति का त्याग कर दिया, परन्तु बुद्धिमानी से मुल्ला पार्टी को शान्त कर सावधानीपूर्वक सुधार किये । इसका फल अच्छा हुआ । हमसे उसके सम्बन्ध बहुत मित्रतापूर्ण थे । ८ नवम्बर १९३३ को एक अज्ञानी धर्मान्ध द्वारा उसकी हत्या दोनों देशों के लिए संकट थी। उसके १९ वर्षीय पुत्र द्वारा शान्ति से गद्दी संभाल लेना देश की स्थिर अवस्था का उत्तम प्रमाण है ।

भूचाल की हलचल के समान तृतीय अफगान युद्ध ने बलोचिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा के कबाइली प्रदेश में भयंकर झटके दिये । स्थिति पहले से ही संकटपूर्ण थी क्योंकि जो कर्जन पद्धति १९१४ तक सफल रही थी, अब विश्व-युद्ध के प्रभाव और दबाव के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी । सीमा के पठानों में उत्तेजनापूर्ण अशांति फैली हुई थी और उन्होंने घातक आधुनिक शस्त्रों का भण्डार भर लिया लिया था। भारतीय राष्ट्रवादी दल के कष्टों को अपना मानने की बात उनमें नयी थी। १९१८ के पश्चात् कबाइलियों में निरंतर संकट रहा परन्तु उसका विस्तृत इतिहास यहां देना असंभव है । १९१९ में वजीरियों के विरुद्ध भयंकर युद्ध हुआ । १९२५ में शाही वायु सेना ने महसूदों पर आक्रमण किया और १९०३०–१ में वजीरी, मोहमद और अफ्रीदियों में भयंकर बलवा हो गया । १९३१ के जून में अफ्रीदियों ने पेशावर की वाह्य बस्तियों तक आक्रमण किया और उन्होंने गांधी जी को रिहा करने तथा विशेष

1. Moral & Material Progress and Condition of India, 1928-9, p. 276.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आर्डीनेन्स को समाप्त करने की मांग की। इस मांग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कांग्रेस के षड्यन्त्र का प्रभाव कहां तक पहुंच चुका था।

कर्जन की सीमान्त नीति अवक्रमित हो चुकी थी अथवा यह कहना उचित होगा कि यह नयी उन्नत नीति[1] सैनिक विजय नहीं वरन् सभ्यता की विजय की थी। कबाइली गड़बड़ के मुख्य केन्द्र वजीरिस्तान की पहाड़ियों में से बड़ी सड़कें बनायी गयीं, कबाइली स्वयं पुलिस में भरती हुए और देश के नियंत्रण में भाग लिया। वहां के निवासियों को यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि नियम और व्यवस्था तथा व्यापार और शांतिपूर्ण व्यवसायों के क्या लाभ हैं।

---

1. Moral & Material Progress and Condition of India, 1930-1, p. 14.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २१

१९३५ का अधिनियम और उसके पश्चात्

सम्राट् की ओर से भारत सरकार के नये अधिनियम की स्वीकृति ४ अगस्त १९३५ को प्राप्त हुई। भारत में अंग्रेजों की यह अन्तिम और सबसे बड़ी रचनात्मक सफलता थी। इसकी प्रतिष्ठा, इसकी विशालता और इसकी तैयार करने की विचारशीलता के ही समान है। आगामी वैधानिक चरण के सम्बन्ध में विचार १० वर्ष पूर्व मुडीमैन समिति की रिपोर्ट के साथ आरम्भ हो गया था, अभागा साइमन कमीशन सात वर्ष पूर्व भारत आ चुका था और उसकी १९३० की रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट के कांग्रेसी प्रत्याक्रमण के द्वारा प्रत्याशित हो चुकी थी। भारत सरकार के १९३९ के प्रस्ताव के बाद (जिसमें केन्द्र के लिए उत्तरदायित्व के लिए पहला सरकारी प्रस्ताव भी था।) गोलमेज परिषद के तीन अधिवेशन हो चुके थे। लोथियन रिपोर्ट के आधार पर अधिनियम की निर्वाचन सम्बन्धी योजना का निर्णय हो चुका था। भारतीय दलों के बीच निष्फल साम्प्रदायिक वाद-विवाद के पश्चात् अगस्त १९३२ के साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा प्रान्तों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का निश्चय हो चुका था। और गांधी जी के आमरण अनशन करने पर २४ सितम्बर १९३२ के पूना-पैक्ट ने इसे अन्तिम रूप दे दिया था। इसके अनुसार परिगणित अथवा दलित जातियों के लिए सामान्य और विशेष प्रतिनिधित्व भी सुरक्षित थे। १९३३ के सरकारी घोषणा-पत्र में उन प्रस्तावों का प्रथम मस्विदा उपस्थित किया गया जिन्हें लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में दोनों गृहों की प्रवर समिति के विचार विनिमय के बाद थोड़े से फेर-बदल के साथ अन्ततः अधिनियम में सम्मिलित कर लिया गया। यह बिल पार्लियामैण्ट में अनुदार विरोधियों द्वारा अभिव्यक्त ब्रिटिश संकोच एवं उस भारतीय अधीरता के मध्य सफलतापूर्वक गतिशील हुआ, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती थी। यह बिल उस समय का यथासम्भव समझौते का महानतम कार्य कहा जा सकता है। यद्यपि स्वतः भारत के अन्तर्गत नहीं, तथापि किसी सीमा तक क्रमशः भारत और ब्रिटेन में प्रचलित लोकमत के बीच तो यह महानतम कार्य था।

भारतीय विधान के सब विद्यमान रूपों को इस अधिनियम ने प्रचलित रखा और विस्तार प्रदान किया १८९२ से प्रचलित लोकप्रिय प्रतिनिधित्व; १९२२ का द्वैध एवं मन्त्रि मण्डलीय उत्तरदायित्व; प्रांतीय स्वायत्तता (जिसका विभिन्न रूपों का इतिहास १८ वीं शती की प्रैसिडैंसियों से प्रवाहित था), साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, जिसे सर्व प्रथम स्वीकृति १९०९ में प्राप्त हुई थी, और १९१९ में निर्धारित संरक्षण—ये सब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचलित रहे और अधिकांश अवस्थाओं में इनको व्यापक कर दिया गया। लेकिन इसके साथ ही नये सिद्धान्तों को भी जारी किया गया। ये थे संघीय सिद्धान्त, जिनमें प्रान्तीय स्वायत्तता का उप-सिद्धान्त, तथा प्रान्तों में लोक-प्रिय उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त भी सम्मिलित था।

आगे बढ़ने से पूर्व कतिपय प्रशासनिक परिवर्तनों का अध्ययन कर लेना चाहिए। एक नया प्रान्त बनाने के लिए सिन्ध को बम्बई से जुदा कर दिया गया। पूर्ववर्ती बिहार और उड़ीसा के प्रान्त के उड़ीसा डिवीजन को लेकर उड़ीसा का एक नया प्रान्त बनाया गया, जिसमें मद्रास और मध्य प्रान्तों के पड़ोसी हिस्सों को भी मिला दिया गया। इन्हें उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत सहित गवर्नरी प्रान्त करार दे दिया गया। सीमान्त प्रान्त को १९३२ में इस दर्जे तक उन्नत किया गया था। इसी काल में बर्मा को भारत से जुदा कर दिया गया और मांटफोर्ड सुधारों के आधार पर इसके लिए जुदा विधान प्रचलित किया गया। इस प्रकार ब्रिटिश भारत का अन्तिम प्रशासनात्मक रूप इस तरह बन गया : ११गवर्नरी प्रान्त, और दिल्ली, अजमेर–मेरवाड़ा, कुर्ग और अण्डेमान द्वीप तथा ब्रिटिश बलूचिस्तान में चीफ कमिश्नर। किसी विशिष्ट योजना के बजाय ये परिवर्तन भारत में बढ़ती हुई प्रान्तीय जागरूकता विषयक रियायतों का प्रतिनिधित्व करते थे। गुजरात और महाराष्ट्र के निश्चित खण्ड बम्बई प्रान्त के साथ जुड़े रहे, और तामिल, तेलुगू और मलयाली लोग मदरास में संयुक्त रूप में रहे। बर्मा के पृथक्करण को ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की मान्यता तथा ऐतिहासिक घटना की शुद्धि माना गया।

सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना संघीय सिद्धान्त को प्रचलित करना था। भारतीय संघ दोहरी विधि समझा गया, जिससे एक ओर तो अधीन प्रान्तों को स्वराज्य दिया गया और दूसरी ओर पृथक् नरेशीय रियासतें जो पहले संयुक्त रूप में राजाओं को परामर्शदात्री नरेश-मण्डल से व्यक्तिगत और संयुक्त रूप में सम्राट् के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्धों में बंधी थीं, शेष भारत के साथ सम्बद्ध हो गईं। प्रांतों में संघ का विषय व्यवस्थापिक सभा द्वारा कानून बनाना था। परन्तु चूंकि नरेशों की स्थिति पृथक् समझौतों से नियमित कर दी गयी थी, इसलिए उनका लगाव स्वीकृति द्वारा हो सकता था। तदनुसार यह निश्चय किया गया कि जब देशी रियासतों को सारी जनता के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करने वाले नरेश संघ स्वीकार करते हैं, तो योजना का केवल मध्य भाग ही कार्य रूप में आये। नरेशों को लोअर फैडरल चैम्बर के एक-तिहाई और अपर चैम्बर के पांच में से दो प्रतिनिधियों को नामजद करना था, और उनके द्वारा समर्पित अधिकारों का नियमन हर हालत में समायोजन विलेखों द्वारा करना था। उनके समायोजन तक पुरानी केन्द्रीय सरकार को काम करना था।

यद्यपि नयी केन्द्रीय कार्यकारिणी नरेशों के समायोजन पर आश्रित थी, तथापि संघीय सिद्धान्त स्वतन्त्र था और उनके बिना लागू कर दिया गया। अवशिष्ट अधिकार का प्रश्न संघीय, प्रान्तीय और समकालिक तीन विस्तृत सूचियाँ बनाकर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हल किया गया। अधिकारों का बंटवारा, जिसके विषय में अभी तक कोई निश्चय न था, और यह अनुमान नहीं लगाया गया था कि यह हिन्दू मुस्लिम मतभेद का कारण होगा, सरकार के किसी भी विभाग तक सीमित न होकर गवर्नर-जनरल की इच्छा पर छोड़ दिया गया। १९१९ के अधिनियम के पश्चात् प्रबन्धकारी और वित्तीय अधिकारों के वितरण का प्रश्न व्यापक रूप में आया। मुख्य मतभेद आयकर की प्राप्ति में से प्रान्तों के भाग के विषय में था। विधान सम्बन्धी विषयों की समकालिक सूची का महत्व उस समय स्पष्ट हुआ जब दूसरे विश्व-युद्ध ने केन्द्रीय सरकार को एक सीमा तक राष्ट्रीय नियंत्रण अपने हाथ में लेने को बाध्य कर दिया, कि जिसकी लड़ाई से पूर्व-वर्षों में कभी कल्पना नहीं की गई थी। संघ की विशेषता प्रान्तीय स्वराज्य था। इस प्रयाण की वास्तविकता युद्ध के अनुभव और विशेष रूप से १९४३ के बंगाल के अकाल-संकट द्वारा प्रमाणित भी हो गई। संघीय ढांचा विवादों की व्याख्या और निश्चय के लिए एक फैडरल कोर्ट और संघीय रिजर्व बैंक की स्थापना द्वारा पूर्ण कर दिया गया।

इससे अगली नयी बात प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार बनाना थी। द्वैध-शासन समाप्त कर दिया गया था और उसका स्थान गवर्नर द्वारा नियुक्त परन्तु जनता द्वारा निर्वाचित असेम्बली के प्रति उत्तरदायी जनता की सरकार की पद्धति ने लिया। मुख्य मन्त्री अथवा प्रधान मन्त्री प्रान्तीय शासन के प्रमुख बने और गवर्नर उनके परामर्श के अनुसार वहां तक सहमत हुए, जहां तक उनके सुरक्षित अधिकारों पर आंच नहीं आती थी। द्वैध शासन, जो प्रान्तों में समाप्त हो गया था, केन्द्र में पुनः प्रगट हुआ, जहां मन्त्री जनता के समर्थन द्वारा वित्त, सुरक्षा, और विदेश सम्बन्धी कार्यों को छोड़कर सारे शासन पर नियन्त्रण रखते थे। इन विषयों के लिए गवर्नर-जनरल परामर्शदाता नियुक्त करता था, जो गवर्नर की पूर्व कार्यकारिणी कौन्सिल के मनोनीत सदस्यों के समान थे।

विधान की अन्य बातें नयी न थीं, किन्तु पहले अनुभव से विशेष प्रगति झलकती थी। प्रान्तीय असैम्बलियों का पुनर्निर्माण किया गया और ११ प्रान्तों में से ६ में दूसरे सदस्य जोड़ दिये गये। इन जन-प्रिय असैम्बलियों को जनता के निर्वाचक-समह का समर्थन प्राप्त था, जिसे लोथियन कमेटी की सिफारिश के आधार पर तीन करोड़ से अधिक मतदाता सम्मिलित करके बढ़ाया गया था। यद्यपि थोड़ी सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता भी स्थिर रखी गयी थी, तथापि भारत की कुल वयस्क जनता के $\frac{1}{6}$ भाग के लगभग मतदान का अधिकारी हुआ। महिलाओं को भी पुरुषों के समान ही मतदान के अधिकार मिले। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त, जो १९०९ में मुसलमानों की कोमल भावनाओं को शान्त रखने के लिए स्वीकार किया गया था, और जिसे ११९९ में मानव की निर्बलता की सुविधा के रूप में अधिक व्यापक किया गया था, १९३५ में एक निश्चित योजना के रूप में स्वीकार कर लिया गया। सभी प्रान्तों के मुसलमानों को, पंजाब में सिक्खों को, मद्रास और अन्य स्थानों में ईसाइयों को और बंगाल में विशेष रूप से यूरोपियनों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। यद्यपि यह सिद्धान्त खुले रूप में स्वीकार कर लिया गया था तथापि बहुल समाज की युक्तियुक्त मान्यता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के अंश-रूप में इसका प्रयोग नहीं किया गया था। जैसा कि सिन्ध और उड़ीसा के नए प्रान्तों का निर्माण प्रशासन सुविधाओं और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर जनता की मांग का अतिक्रमण था उसी प्रकार यह कार्य पश्चिमी प्रजातन्त्र के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का जान-बूझकर किया गया अतिक्रमण था।

सुरक्षाओं और विशेषाधिकारों का अस्तित्व भी पूर्ण अनुष्ठान को ही चालू रखना था। केन्द्र में गवर्नर-जनरल के हाथ में सुरक्षित विभागों का शासन, गवर्नर-जनरल के अधिनियम के रूप में विधान स्वीकारने और एक समय में ६ मास के लिए कानून के जोर पर अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। गवर्नरों को अपने विशेष उत्तर-दायित्वों को अधिकार था। इनमें से मुख्य भेद-भाव को रोकने, अल्प-मतों के कानूनी हितों की सुरक्षा और मन्त्रिमण्डलों के भंग हो जाने पर शासन-व्यवस्था को चालू रखने के अधिकार थे। इस उत्तर-कथित व्यवस्था के लिए उन्हें स्थायी और अस्थायी वैधानिक अधिकार दिये गये और सारे शासन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार भी दिया गया। इन अधिकारों का नये वैधानिक यन्त्र के भंग हो जाने अथवा इसके नये संचालकों के काम छोड़ देने पर सुरक्षित इन्जन की योजना के रूप में वर्णन किया जा सकता है। अन्य संरक्षण अखिल भारतीय सेवाओं और राज्य-सचिव द्वारा उनके नियन्त्रण के अधिकार को सुरक्षित रखते हैं।

भारतीय कार्यकारिणी के स्थान पर कुछ परामर्शदाताओं सहित राज्य-सचिव का पद स्थिर रखा गया। वह संसद के अन्तिम जीवित नियन्त्रण का प्रतीक मात्र रह गया। वैधानिक रूप के संरक्षक और शिशु को सम्बद्ध करने वाले सूत्र अभी भंग नहीं हुए थे।

यह विशाल वैधानिक अभिलेख अपने व्यापक निर्देशों और गहन धाराओं सहित साम्राज्यान्तर्गत स्वायत्त शासन के ध्येय की ओर एक बड़ा पग लक्षित करता था; परन्तु वह अपने आप में साम्राज्यान्तर्गत स्वायत्त शासन का दर्जा नहीं था। इसका संक्षेप में वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। यह केन्द्रीय सरकार की कार्यकारिणी के साथ-साथ विधायक सभा में भी भाग लेने के साथ केन्द्रीय की अपेक्षा प्रान्तों को स्वतन्त्रता देने और स्थानीय शासन में स्वायत्त सरकार की स्थापना थी। इसके साथ संघ सिद्धान्त और शेष भारत से नरेशों का आयोजित सम्बन्ध भी जोड़ा जा सकता है। ब्रिटिश शासन उन प्रान्तों से अधिकांशतः हटा लिया गया जहां सुरक्षित अधिकार सम्पन्न अंग्रेजों द्वारा नियुक्त गवर्नर तथा अंग्रेजों द्वारा नियन्त्रित आई. सी. एस. और पुलिस के अवशेष थे और जिन्हें आदेश दिया जा सकता था किन्तु पदच्युत नहीं किया जा सकता था। कोई भी शाही अधिकारी राज्य-सचिव की स्वीकृति के बिना स्थानान्तरित तो किया जा सकता था ओर यहां तक कि बेकारों की सूची में भी उसे रखा जा सकता था, पर वह बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता था, और ना ही पद से गिराया जा सकता था। यद्यपि वे निश्चित रूप से अधीनस्थ थे, तथापि उन्हें प्रान्तीय शासन में कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता थी।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुछ महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों से नया विधान साम्राज्यान्तर्गत स्वाधीनता से कम जंचता था। इसका पहला कारण केन्द्र में द्वैध शासन का प्रस्तावित अस्तित्व था। शासन के संरक्षित भाग में जो विदेश सम्बन्धी कार्यों और सुरक्षा का नियन्त्रण करता था, उसमें अब भी ऐसी कार्यकारिणी थी जो भारतीयों द्वारा हटाई नहीं जा सकती थी, और जो ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थी। वायसराय राज्य के प्रमुख और प्रधानमंत्री दोनों के रूप में काम करता था और ब्रिटिश-मन्त्रि-मण्डल पर आश्रित था। १८४५ में कनाडा में जिस संक्रान्ति का पालन लार्ड एल्गिन ने किया था और केवल रूढ़ि रूप में जिसे भारत में आना था उसे अभी कुछ काल के लिए वैधानिक अधिनियमन द्वारा रोक दिया गया। द्वितीय बाधा सुरक्षाओं का अस्तित्व था, जो प्रा० कूपलैंड के अनुसार साम्राज्यान्तर्गत राज्यों में समानान्तर चीज न थी। उनकी उपेक्षा की जा सकती है, कार्य रूप में उन्हें छोड़ा भी जा सकता है, अथवा संशोधक कानून निर्माण द्वारा उन्हें हटाया जा सकता था, किन्तु वर्तमान समय में तो यह आलोचकों के लिए अवशिष्ट अधीनता का प्रदर्शन और घोषित ब्रिटिश इरादों की सचाई के प्रति सन्देह के जीवित प्रमाण थे। तीसरी रुकावट प्रस्तावित संघीय धारा सभा की ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति अवशिष्ट अधीनता थी। यह केवल संसद के ब्रिटिश अधिनियम की आश्रित ही न थी कि जिसके द्वारा दूसरे उपनिवेशों का विधान बनाया जाता था, बल्कि इसके नियम-निर्माण राज्य सचिव के नियन्त्रण के अधीन काम करने वाले गवर्नर-जनरल की "अस्वीकृति, स्वीकृति और रोके जाने तथा राज्य सचिव के परामर्श पर सम्राट् के निषेध के अधीन थे।"[1] इसे अन्य प्रतिबन्धों के समान सम्पूर्ण योजना को हानि पहुँचाये बिना उन्नति के क्रमिक विकास के दौरान में हटाया जा सकता था। जब तक यह विद्यमान थी यह भारतीयों की स्वातन्त्र्य कामनाओं में तथा अन्य राज्यों के दर्जे की तुलना में रुकावट थी।

नये विधान के मुख्य आधार थे नरेशों के सहयोग सहित संघ, जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व, वह साम्प्रदायिक सिद्धान्त, जिससे उस प्रतिनिधित्व के रूप का नियमन होता था और संरक्षणों का अस्तित्व। ये ही वे बातें थीं जिनके गिर्द वैधानिक वाद-विवाद और राजनीतिक दांव-पेंच ब्रिटिश शासन के शेष बारह वर्षों तक चक्कर लगाते रहे।

हम सम्पूर्ण रूप में नये विधान की सफलता को देखकर उसके पश्चात् होने वाली प्रगति का भी कुछ हद तक अनुमान कर सकते हैं। केन्द्रीय संघीय ढांचे की असफलता और अन्ततः भारतीय गण राज्य की स्थापना से यह परिणाम निकालना सरल है कि नया विधान असफल रहा। किन्तु यह बात सत्य से बहुत दूर होगी। १९३५ के अधिनियम के द्वारा नवीन और प्राचीन में आवयविक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसमें स्वतन्त्रता के बीज थे। अनुत्तरदायित्व इस प्रणाली के मूल न थे। वे अब भारतीय राजनीति रूपी वृक्ष के मूल या तने नहीं रहे थे, वरन् केवल उन टहनियों के समान थे, जिन्हें सारे वृक्ष को हानि पहुँचाये बिना छांटा जा सकता था। अथवा नये तत्त्वों

1. Sir R. Coupland, Constitutional Problem of India. i, 146.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की तुलना भारत के उस वट वृक्ष की शाखाओं से हो सकती है, जो भूमि में जड़ें पकड़ लेती है, ताकि तने को काटने पर भी सारे वृक्ष को हानि न पहुँचे। द्वितीयतः, स्थिरता का तत्व अथवा प्रगति में शक्ति को भारत में हिंसात्मक क्रान्ति के परित्याग के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। तिस पर, भारत में अग्रणी राजनीतिक-दल विधान के विषय में निरन्तर असन्तुष्ट था और उसने अवैधानिक उपायों द्वारा एक से अधिक बार बलपूर्वक प्रगति करने की चेष्टा की। किन्तु इस बात की सदैव आशा थी कि हिंसा के बिना स्वतन्त्रता-लक्ष्य की प्राप्ति की जाएगी। यही वह विचार था, जिसने कांग्रेस को खुले तौर पर हिंसात्मक उपायों से रोके रखा। यदि यह महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति का हेतु नहीं था, तो भी यह महत्वपूर्ण अंश था, जो उन्हें बहुधा अनिच्छुक अनुयायियों की भारी संख्या पर उस नीति को लागू करने के योग्य बनाता था। अगस्त १९४२ का 'विद्रोह' और १९४६ का नौसेना का ग़दर प्रकट करते हैं कि हिंसा के समर्थकों की संख्या न्यून हो गई थी, यद्यपि यह संकट विन्दु से नीचे नहीं गई तथापि यह उस शक्ति से नीचे चली गई थी, जो सफल क्रान्ति के लिए आवश्यक होती है। परिस्थितियों का दबाव मौजूद था, परिवर्तनशील अवस्थाओं के साथ उत्कर्ष और अपकर्ष हो रहा था, लेकिन विस्फोट के स्तर तक यह कभी न पहुँचा। प्रस्तुत अधिनियम न केवल राजनीतिक संक्रमण के दबाव के लिए पर्याप्त था, प्रत्युत युद्ध के अतिरिक्त संकटों और विश्व-संकटों के लिए भी उचित था।

तृतीयतः, प्रस्तुत अधिनियम घोषित ब्रिटिश इच्छाओं की सत्यता का प्रतीक था। यह विश्व-युद्ध के बाद दुर्बलता से नहीं (जैसा कि मांटफोर्ड सुधारों की दशा में देखा जा सकता है) शक्ति से राष्ट्रीय-सिद्धान्त के प्रति रियायतों का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी रचना का विचार विनिमय तत्विषयक धारणा की सुदृढ़ता का प्रमाण है। अनेक पक्षों ने इस भावना को उस समय स्वीकार नहीं किया था, और लार्ड माउंटबेटन की घोषणा के पूर्व के अशान्त महीनों में तो और भी कम ख्याल किया जाता था। लेकिन जब स्वतन्त्रता के तथ्य ने अधीरता द्वारा निर्मित सन्देह के धुंधलके और अविश्वास की भावना को छिन्न-भिन्न कर दिया तो यह देखा गया कि नवीन स्वाधीनता ही एकमात्र १९३५ को धारणा थी, कि जिसे विकसित एवं पूर्ण किया गया। इस प्रकार इस अधिनियम ने अहिंसा का आश्रय लिये बिना न केवल यह कि संक्रमण-काल पर विजय पाई, प्रत्युत भारतीय और ब्रिटिश जनता के बीच सदच्छिा की उन भावनाओं को जारी करने में सफल हुआ, जो १९४७ के उत्तरकालीन वातावरण की अमिट छाप हैं। अंग्रेजों को कोई पछतावा नहीं हुआ, उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार मिल गया, और उसका प्रलेख बारह वर्ष से भी पूर्व समय में लिखा गया था। इस अधिनियम को जिम्मेदार क्षेत्रों में जो प्रतिष्ठा मिली है, वह भारतीय गणतन्त्र के संविधान के रचयिताओं द्वारा इसके प्रति व्यवहार से प्रकट हो जाती है। लम्बी-लम्बी धाराओं को सम्पूर्ण रूप में ले लिया गया है, और समग्र रूप में नये संविधान तथा १९३५ के अधिनियम का वैसा ही नाता है, जैसा कि उत्तर-भारत में ब्रिटिश भू-प्रबन्ध का महान अकबर के काल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टोडरमल के बन्दोबस्त के साथ था। इसे यह प्रतिष्ठा इस कारण भी नहीं मिली थी कि भारत के प्रथम चीफ जस्टिस सर मारिस गायर ने इसका स्पष्टीकरण और व्याख्या की थी। अंग्रेजों ने अन्तिम रूप में वैधानिक प्रबन्धों का जो ढांचा उपस्थित किया, भारत में इससे अधिक उनकी ईमानदारी का प्रतिरूप नहीं हो सकता।

जो भी हो नया अधिनियम दोषों से मुक्त नहीं था, और उसके गुणों के समान ही उसके दोषों के भी नतीजे हासिल हुए। यह भारतीय नरेशों की इच्छा पर था कि वे इसके केन्द्रीय संघ विषयक निवेशों को प्रचलित करें; यह विभाजन को रोकता नहीं था। व्यवस्था यह थी कि केन्द्रीय धाराओं के कार्यकारी होने से पूर्व भारतीय नरेशों का आधा भाग, जो रियासती जन-संख्या के न्यूनतम आधे भाग का प्रतिनिधित्व करते हों, संघ शासन में सम्मिलित हो जायगा। किन्तु यह तथ्य घातक बाधा साबित हुई। कुलीन-तन्त्री सहयोग की क्षीण शक्तियां अत्यधिक तनी हुई थीं और केन्द्रीय शक्तियां अनुचित रूप में फैली हुई थीं। रियासती सहयोग के अभाव के कारण केन्द्रीय संघ में विधान और प्रबन्धकारी तथा उसके अनुत्तरदायी पूर्वाधिकारी की स्थिरता का समावेश था। इसके प्रतिफलस्वरूप साम्प्रदायिक शक्तियों का नियन्त्रण तथा राष्ट्रीय शक्तियों को शान्त करना अत्यधिक कठिन हो गया।

विभाजन को इस अधिनियम के एक अन्य दोष द्वारा निश्चय ही प्रोत्साहन (उत्तेजना नहीं) मिला। जबकि अल्प संख्यक प्रतिनिधित्व के लिए साम्प्रदायिक चुनावों और रियायतों तथा द्वितीय सदनों जैसी विधियों की व्यवस्था की गयी थी, तहां प्रभु-सत्ता का सिद्धान्त समान जनतान्त्रिक और राष्ट्रीय राज्य का है। सभी प्रश्नों का आखिरी प्रमाण (चाहे उनका रूप कुछ भी हो) बहुसंख्यक निर्णय था। नवीन राजनीतिक व्यवस्थाओं के अधीन भारत में गुणक समाज की मान्यता का अभाव था। इस तथ्य की उपेक्षा की गई कि भारत में दो संस्कृतियां और साथ ही दो धर्म साथ-साथ विद्यमान हैं और यह कल्पना की गई कि एक समाज भिन्न समाज की बहुसंख्या पर आधारित सरकार के आदेशों को स्वीकार करने का इच्छुक होगा। यह वस्तुतः १९वीं सदी में ब्रिटिश दृष्टिकोण से पीछे हटना था। विशुद्ध राजनीतिक क्षेत्र में अपनी उच्चता के कारण ब्रिटिश दृष्टिकोण यह मानता रहा था कि सामाजिक और सांस्कृतिक तथा साथ ही साथ विशुद्ध धार्मिक क्षेत्र होते हैं, जिनमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी। सांस्कृतिक अ-हस्तक्षेप राजनीतिक निरंकुशता की देन था। नये विधान ने किसी भी बहुमत को किसी भी अल्पमत पर सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभुत्व की शक्ति प्रदान कर दी। १९ वीं सदी के मध्य में अंग्रेजों की ऐसी प्रवृत्ति के सन्देह ने ऐसे वातावरण की रचना की, जिससे विद्रोह सम्भव हुआ; इसी प्रकार १९३५ के पश्चात् एक सम्प्रदाय द्वारा दूसरे पर प्रभुत्व जमाने के ऐसे भय ने उस वातावरण की रचना की, जिससे विभाजन अनिवार्य हो गया।

नये युग का आरम्भ नये व्यक्तियों और नयी संस्थाओं से हुआ। लार्ड विलिंग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डन के बाद १९३६ में लार्ड लिनलिथगो आये । उन्होंने अपना सारा व्यापक ज्ञान और महत्वाकांक्षा को संयुक्त कर इस अधिनियम को अपने कार्य-काल में ही पूरी तरह लागू कर देने का यत्न किया। उन्होंने शाही कृषि कमीशन के प्रधान के रूप में सारे भारत का भ्रमण किया था और वैधानिक योजनाओं के मसविदे पर विचार करने वाली संयुक्त संसदीय समिति की बैठकों की अध्यक्षता की थी। लार्ड जेटलैण्ड, जिन्होंने (लार्ड रोण्डशे के रूप में) बंगाल में मांट-फोर्ड-सुधारों का आरम्भ किया था, सर सैम्युअल होर के स्थान पर भारत मन्त्री बने । सर मॉरिस ग्वायर, जिन्होंने १९३५ के अधिनियम का मसविदा तैयार करने में महान योग दिया था, भारत के पहले प्रधान न्यायाधीश बने ।

भारत में अधिनियम का स्वागत आलोचनापूर्वक हुआ परन्तु फिर भी यह पूर्ण निराशाजनक समझा गया। लिबरल और दूसरे उग्र दल इन सुधारों को पूर्ण उत्तरदायी सरकार की ओर एक चरण समझकर अमल करना चाहते थे । मुस्लिम लीग की ओर से उसकी अधिक आलोचना हुई परन्तु वह भी अधिनियम के परीक्षण के लिए तैयार थी। कांग्रेस ने सम्पूर्ण अधिनियम की निन्दा की परन्तु इस बात का संकेत किया कि वह विरोध सहित इसके प्रान्तीय भाग पर अमल करने को तैयार हो सकती है । इस बात की कुछ आशा दिखाई दी कि १९१६ के लखनऊ पैक्ट के समय के समान हिन्दू और मुसलमान संयुक्त होकर काम करेंगे । केन्द्रीय असैम्बली के १९३५ के चुनावों ने यह प्रकट कर दिया कि हिन्दू-भारत में कांग्रेस ही प्रधान दल है ।

ऐसे वातावरण में लार्ड लिनलिथगो ने काम आरम्भ किया । प्रवेश की शर्तों पर विचार के लिए प्रमुख रियासतों में व्यक्तिगत प्रतिनिधि भेजे गये । इन वादविवादों और उनकी रिपोर्ट तैयार करने में १९३९ तक का समय लग गया । इस समय तक नरेशों को शंकित करने वाली अन्य घटनाएं हो गईं और युद्ध आरम्भ हो जाने से सरकार उसमें उलझ गई । स्वर्णावसर निकल गया था और वह फिर कभी हाथ आने वाला नहीं था । जो व्यक्ति नरेशीय भारत की समाप्ति को स्वागत योग्य सिद्धि नहीं समझते थे, उनके लिए यह समझना कठिन है । इस सम्बन्ध में जो धैर्य और धारणा प्रदर्शित की गयी वह अत्यधिक न थी । यहां तो गरम लोहे पर चोट करने वाली बात थी, परन्तु १९३९ में जब वायसराय के हथौड़े ने काम आरम्भ किया तो वह बिल्कुल ठंडा पड़ चुका था । आगामी पग प्रान्तीय चुनाव था। ये चुनाव फरवरी १९३७ में हुए और इनमें कांग्रेस को अद्भुत सफलता मिली । ११ प्रान्तों में से पांच में उसे भारी बहुमत मिला । अपने सहगामियों के सहयोग से वह बम्बई मन्त्रिमण्डल बना सकी, जबकि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में उसके साथी लाल कुर्ती पठानों को, जो सीमान्त गांधी खान अब्दुलगफ्फार खान के आधीन थे, बहुमत प्राप्त हुआ । बंगाल और पंजाब दो महत्वपूर्ण अपवाद थे । बंगाल में मि० फजलुल हक के अधीन संयुक्त मुस्लिम मन्त्रिमण्डल ने काम संभाला। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी को बहुमत मिला और उसने सर सिकन्दर हयात के अधीन सरकार बनायी। यह पार्टी सर फजलेहुसैन ने अपनी मृत्यु से कुछ ही पहले बनायी थी। देश में केवल यही एक मुख्य असाम्प्रदायिक पार्टी थी। यह शहरी हितों के विरुद्ध देहात का प्रतिनिधित्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करती थी। इसमें प्रमुख मुसलमान ही थे परन्तु लाला छोटूराम के अधीन हिन्दुओं का एक महत्वपूर्ण भाग और सिख किसानों का दल भी इसमें सम्मिलित था। सर-सिकन्दर और उनके उत्तराधिकारी सर खिजरहयात खान टिवाना के अधीन इस पार्टी ने ९ वर्ष पंजाब का शासन किया।

एकाएक एक संकट उत्पन्न हो गया। कांग्रेसी नेताओं ने गवर्नरों से यह आश्वासन मांगा था कि मन्त्रियों की वैधानिक हलचलों के सम्बन्ध में अपने विशेषाधिकारों का उपयोग कर उनका अतिक्रमण नहीं करेंगे। गवर्नर अधिकार-प्रयोग न करने की बात से अपने को बांध न सकते थे क्योंकि कुछ आवश्यक अवसरों पर वे उनके प्रयोग के लिए नियम द्वारा बद्ध थे। परन्तु प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये रखने की कांग्रेस दलों की प्रबल इच्छा थी। अतः संकट वायसराय की स्थिति स्पष्ट करने वाली घोषणा से टल गया। जुलाई में सात प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बन गये और उत्तरदायी सरकार ठीक ढंग से चल निकली।

दो वर्ष से कुछ अधिक, युद्ध के आरम्भ तक मन्त्रिमण्डल चले। एक या दो अपवादों के अतिरिक्त वे विशेष रूप से स्थायी सिद्ध हुए। उन्होंने यह प्रकट किया कि कांग्रेस में रचनात्मक नीतिमत्ता विद्यमान है। यदि मद्रास के श्री सी. राजगोपालाचार्य कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों में अत्यधिक लब्ध प्रतिष्ठित थे तो संयुक्त प्रांत के पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त और बम्बई के बी. जी. खेर जैसे योग्य सहयोगी भी थे। व्यवस्था स्थापित की गयी, साम्प्रदायिक दंगों को दबा दिया गया और प्रशासन-कार्य कुछ आरम्भिक कठिनाइयों के बाद शान्ति से चलने लगा।

कांग्रेस कमेटियों की अपने-आपको समानान्तर सरकार समझने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया गया। कांग्रेसी वैधानिक रूप में विचार करने लगे। गांधीजी की बेसिक शिक्षा जैसे विकास-कार्य अपनाये गये और शराब-बन्दी जैसे परीक्षण आरम्भ हुए। गवर्नरों और अधिकारियों से सम्बन्ध आश्चर्यपूर्ण रूप में अच्छे रहे और जब परीक्षण समाप्ति के निकट आया तो दोनों पक्षों ने पश्चाताप किया। परन्तु यह सम्पूर्ण चित्र नहीं। राष्ट्रीय नीति अभी समाप्त नहीं हुई क्योंकि संघीय केन्द्र अभी मूर्त रूप में नहीं आया था। पहली केन्द्रीय असैम्बली[1] में कांग्रेस का दृढ़ प्रतिनिधित्व था और उसने केन्द्रीय अनुत्तरदायी शासन के वि द्ध संघर्ष चालू रखा। सबसे अधिक इसने अपने को राष्ट्रीय संगठन बनाये रखा। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने पद न सम्हाले। वे कांग्रेस की 'हाई कमाण्ड' में आये और कांग्रेस कार्यकारिणी अथवा मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रमुख राष्ट्रीय नीति का निर्धारण और प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के कार्य का निरीक्षण करते रहे। इसी की आज्ञा पर उन्होंने पद सम्हाले और उसके ही कहने पर उन्होंने त्याग-पत्र दिये। प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों को तो समानान्तर पार्टी संगठनों का सामना नहीं करना पड़ा, परन्तु वे स्वयं अखिल भारतीय सत्ता, जो कि केन्द्रीय सरकार के समानान्तर थी,

१. १४४ सदस्यों के सदन में सौ निर्वाचित स्थानों में से ४४ स्थान कांग्रेस के पास थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अधीन थे। इस प्रकार कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता और प्रान्तीय उत्तर-दायित्व दोनों ही बातें अधूरी थीं क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में उन पर व्यवहृत वाह्य सत्ता का नियन्त्रण था।

राजनीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कांग्रेस कार्यकारिणी और उसके वार्षिक अधिवेशनों में विचार और निर्णय होता था। प्रमुख प्रभाव महात्मा गांधी का ही था यद्यपि वे न तो कांग्रेस के किसी अधिकारी पद पर थे और न दल के चन्दा देने वाले सदस्य। जन-साधारण के लिए गांधी जी ही कांग्रेस थे और कांग्रेस ही गांधी थी। नागरिक बुद्धि-जीवी वर्ग भले ही सदैव उनके सिद्धान्तों से पूर्णतया सहमत न रहा हो परन्तु उनके विश्व-व्यापी प्रभाव को स्वीकार करता था। उनके साथी उनकी सम्मति पर कितने ही उत्तेजित हों परन्तु वे उनके निर्णय का सम्मान करते और उनके चरित्र को पूज्य दृष्टि से देखते थे। उनके पश्चात् संयुक्त प्रान्त के भूमि रहित किसानों तथा पाश्चात्य ंग में रंगे युवकों के आदर्श पण्डित जवाहरलाल नेहरू रहे। एक समाजवादी और समाज सुधारक, एक अनीश्वरवादी और रूढ़ि विरोधी, राष्ट्रीय और प्रजा-तन्त्री के रूप में उनके उदार ध्येय और अटूट लगन पाश्चात्य रंग में रंगे लोगों की भावना के सर्वथा अनुकूल थे। ध्येय के लिए उनके बलिदान, उनकी विशिष्ट निस्वार्थ भावना, और भाषण में निर्भीकता के कारण यह पहले ही स्पष्ट हो गया था कि वे गांधी जी के सुनिश्चित उत्तराधिकारी हैं। कांग्रेस दल के अधिक कट्टर पक्ष का प्रतिनिधित्व चतुर परन्तु सीधे सादे राजन्द्रप्रसाद, पश्चिमी भारत के बड़े व्यापारियों और लड़ाकू ढ़ता का सरदार वल्लभभाई पटेल तथा अत्यन्त उग्र दल और उन्नत बंगालियों का प्रति-निधित्व सुभाषचन्द्र बोस करते थे।

कुछ समय से कांग्रेस-नेता धैर्य से घटनाक्रम को देख रहे थे परन्तु घटनाओं का यह अध्ययन निष्क्रिय न था; १९३६–९ के वर्षों में तीन बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय किय गय। कांग्रेसी नेताओं ने अप नेतृत्व का विश्लेषण 'हाई कमाण्ड' के रूप में दिया। प्रान्तीय मुख्य मन्त्री केन्द्र से मिले आदेश का पालन करने वाले नायक थे। मध्य प्रान्त में डा० खरे ने जब हठ किया तो प्रान्तीय राजनीतिक मतभेद के रहते ए भी तुरन्त उनके स्थान पर दूसरा व्यक्ति नियत कर दिया गया। केन्द्र में उग्र-वादियों से कठोरता से व्यवहार हो रहा था। १९३७ के पश्चात् सुभाषचन्द्र बोस को पंडित नेहरू के बाद कांग्रेस का प्रधान बना दिया गया परन्तु एक वर्ष पश्चात् महात्मा जी की इच्छा के वि द्ध वे फिर चुनाव के लिए खड़े हुए तो उनसे भी वसा ही कठोर व्यवहार नियन्त्रण में रखने के लिए हुआ जैसा डा० खरे से किया गया था। तीसरे, कांग्रेस ने निर्भय होकर यह घोषणा की कि वास्तव में भारतीय जनता की प्रतिनिधि वही है। दूसरे दल विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते रहें परन्तु सारे भारत का प्रतिनिधित्व कांग्रेस ही करती है। इसके पश्चात् यह धारणा दृढ़ होती गयी कि कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्तों में संयुक्त दलों की सरकार स्वीकार नहीं की जा सकती। वह तो केवल सहगामियों के लिए मन्त्रिमण्डल बनाने में सहायता के लिए साधनमात्र समझे गये। यह सिद्धान्त विशेष रूप से मुसलमानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए लागू हुआ। राष्ट्रीय-मुस्लिम कांग्रेस में मुसलमानों के प्रतिनिधि माने गये और सम्पूर्ण रूप में कांग्रेस, मुसलमानों का प्रतिनिधित्व भारतीय के रूप में करती थी। तदनुसार मुस्लिम प्रतिनिधित्व की आवश्यकता न थी और मुस्लिम लीग से संयुक्त होने की आवश्यकता न समझी गयी। इस प्रकार मुसलमानों की प्रतिक्रिया एक निश्चित कार्य रूप में बदली और अब हम इधर ध्यान देते हैं।

आधुनिक भारत के मुसलमान भी हिन्दुओं के समान ही स्वशासन चाहते थे परन्तु उसमें हिन्दुत्व से पृथकता की ऐसी सुनिश्चित धारणा थी जसा कि पुराण पंथी ब्राह्मण अन्य सबसे पृथक रहना चाहते ह। फलस्वरूप उनमें निस्सन्देह राष्ट्रीय परन्तु हिन्दू बाहुल्य पूर्ण कांग्रेस की ओर झुकाव और उससे विमुखता का उतार-चढ़ाव सा चल रहा था। मुसलमान स्वतन्त्रता में भाग लेना चाहते थे। परन्तु उन्हें जैसे अंग्रेजों से स्वतन्त्र होना था वैसा ही हिन्दुओं से। इस प्रकार मार्ले-मिण्टो सुधारों की ऊहा-पोह में साम्प्रदायिक निर्वाचन की मांग, युद्धकालीन लखनऊ समझौते का असन्तोष और १९२० के असहयोग आन्दोलन में युद्ध से पूर्व टर्की-सहयोग से सहानुभूति का प्रादुर्भाव हुआ। विशेषकर फजलेहुसैन के नेतृत्व में मार्ले-मिण्टो सुधारों के पंजाब में परीक्षण से हिन्दुओं से भी अधिक मुसलमानों को विश्वास हो गया था कि अंग्रेज बल के सामने झुकने लगे ह। जिस अनुपात से अंग्रेजों के भारत से विदा होने के लक्षण स्पष्ट होते जा रहे थे उसी प्रकार हिन्दू धारणाओं के प्रति सन्देह दृढ़ होता जा रहा था। इससे १९२२ के पश्चात् दोनों सम्प्रदायों के पृथक् होने में सहायता मिली और प्रस्तावित संघ में निर्बल केन्द्र के प्रति मुसलमानों का समर्थन समाप्त हो गया। १९३० में सर मुहम्मद-इकबाल ने मुस्लिम प्रान्तों के पृथक संघ का सुझाव रखा और एकयोजना, जिसे अनेक नीतिज्ञों ने काल्पनिक कहा, स्वप्न-द्रष्टा चौधरी रहमतअली ने १९३३ में पाकिस्तान शब्द के साथ रखी। मुसलमान बेचैन थे परन्तु संगठित न थे—परन्तु जब पुनरुज्जीवित मुस्लिम लीग में सम्मिलित हुए तो बम्बई का भूतपूर्व कांग्रेसी मुहम्मदअली जिन्ना उनका नेता था।

जिन्ना ने हिन्दू बहुमत वाले प्रान्त में संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के द्वारा कांग्रेस को स्वतन्त्र सहयोग देने के आधार पर १९३७ में चुनाव लड़े। इस नये नेता ने १९३७ में कहा कि "कांग्रेस और लीग में कुछ भी वास्तिविक भेद नहीं। रचनात्मककार्य क्रम में हम कांग्रेस का सहयोग देने के लिए सदैव तैयार हैं।[1] संयुक्त प्रान्त में सहयोग के स्थान पर कांग्रेस का अन्तर्निधान इस नीति पर कटु आघात था। एक ही झटके में इससे मित्रतापूर्ण स्वतन्त्र सहयोग की आशाएं नष्ट हो गयीं और हिन्दू अन्तर्निधान प्रवृत्ति के प्रति समाप्त होता हुआ मुसलमानों का सन्देह फिर जागृत हो गया। मध्य-वर्ग के मुसलमान के लिए अब कांग्रेस शासन का आशय हिन्दू प्रभुत्व था। पश्चिमी रंग में रंगे परिष्कृत मुस्लिम नीतिज्ञ के सम्मुख राजनीतिक अन्धकार था। उसने अपने समर्थन के लिए मुस्लिम जन-साधारण की भावनाओं का आश्रय लिया। उसे

1. R. A. Symonds, The Making of Pakistan, 53.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुभव हुआ कि उसे सरलता से उत्तेजित किया जा सकता है। इस प्रकार उसने मध्य वर्ग के मुस्लिम राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-साधारण मुस्लिम पुनरोद्गम में परिवर्तित कर दिया और इस प्रकार पाकिस्तान का राजनीतिक विश्लेषण किया। उसने घोषणा की कि "बहुमत वाले समुदाय ने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दू के लिए है।[1]" आरोपित कांग्रेस दमन की रिपोर्ट तैयार की गयी और अक्तूबर १९३९ में जब कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल ने पद-त्याग किये तो जिन्ना ने घोषित किया कि, "अन्ततः कांग्रेसी शासन समाप्त हो गया। अतः यह दिन मुक्ति और कृतज्ञता प्रकट करने का है।" इस प्रवृत्ति के कारण औपचारिक रूप में लीग ने १९४० से अपना ध्येय पाकिस्तान निश्चित किया। कांग्रेस इस परिवर्तन को पूरी तरह न आंक सकी। उसका रवैया था कि क्या बम्बई में से पैगम्बर प्रादुर्भूत हो सकता है? चुनावों में लीग को बहुत सफलता न मिली और वह पंजाब अथवा बंगाल का भी नियन्त्रण न कर सकी। इन भयंकर ध्वनियों को अपनी महत्वाकांक्षाओं में निराश राजनीतिज्ञों की साधारण शिकायत समझा गया। परन्तु यह गलत अन्दाज इतना भीषण और शोचनीय सिद्ध हुआ जैसा कि २० वर्ष पूर्व गांधी जी के विचारों को साधारण सनक समझकर अंग्रेजों ने उपेक्षा की थी।

---

1. Ibied, 55.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : २२

भारत और युद्ध, १९३९–४५

सितम्बर १९३९ में जब युद्ध आरम्भ हो गया तो भौतिक अर्थों में ब्रिटेन की अपेक्षा भारत तैयार न था और इस सम्बन्ध में वह कोई निश्चित धारणा भी नहीं बना सका था। भौतिक तैयारी का केवल मात्र चिह्न लार्ड जेटफील्ड के मिशन का आगमन था। जनता और सरकारी अधिकारी एक समान वैधानिक परीक्षणों में मग्न थे। उनका विचार था कि यूरोप अभी बहुत दूर है और यदि युद्ध फूट ही पड़ा तो भी भारत पर प्रत्यक्ष रूप में उसका कोई प्रभाव न पड़ेगा। जनता यूरोपियन घटनाओं से अपरिचित न थी और दिलचस्पी लेती थी। भारतीय देशभक्त अच्छे प्रजातन्त्रवादी के रूप में कट्टर फासिस्ट विरोधी थे। बिना किसी सहायता की पुकार के और आशा के बिना उन्होंने कठोर कार्यवाही करने की मांग की। इसी मध्य मुस्लिम लीग के प्रादुर्भाव, कांग्रेस के दक्षिण और वाम पक्षों में संघर्ष और प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल के अन्त आदि की घटनाएं अत्यधिक विचारणीय थीं। कांग्रेसी नेताओं में केवल जवाहरलाल नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के भारत पर पड़ने वाले प्रभाव से पूर्ण परिचित थे और उन्होंने जनता का ध्यान इन प्रश्नों की ओर खींचा। विदेश-कार्यों के सम्बन्ध में लोगों का यह विचार था कि यह तो सर्वोच्च सत्ता से सम्बन्धित काम है जबकि वे घरेलू नीति के सम्बन्ध में ऐसा न समझते थे। भारत तो स्वतन्त्र होने पर ही उसमें रुचि ले सकता था। यह पुरानी धारणा अधिक व्यापक हो रही थी कि सम्भवतः ब्रिटेन की व्यग्रता भारत के लिए सुअवसर सिद्ध हो सकती है। किसी को भी, केवल ब्रिटेन ही नहीं, भारत को भी यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि यह व्यग्रता ही घातक सिद्ध होगी।

इसीलिए जब युद्ध आरम्भ हो गया तो उसके ध्येय से तो उसकी साधारण सहमति थी परन्तु उसके प्रति कुछ करने की व्यापक अनिच्छा थी। यह ब्रिटेन का मामला है, भारत का नहीं। "बिना प्रतिनिधित्व के कर न दो" का नारा, "जनता तब तक युद्ध में सहयोग न देगी जब तक उत्तरदायी सरकार नहीं मिलती," में बदल लिया गया था। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने भारत सरकार के युद्ध में भाग लेने के ढंग पर त्याग-पत्र दे दिये। व्यक्तिगत और दलों के रूप में जनता सहायता देना चाहती थी परन्तु समग्र रूप में भारत पीछे हट कर यूरोपीय रंगमंच की महान घटनाएं यह विचार कर बैठा देखता रहा कि जो महान पग उसने उठाया है वह सुरक्षित और स्वस्थ था। यह वृत्ति डंकर्क और फ्रांस के पतन तक बनी रही। ब्रिटेन की दृढ़ता और जीवट के कारण शंकित क्षणों में भी एक बार उसके प्रति प्रशंसा की भावना उत्पन्न हुई। जब उस पर आक्रमण असफल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा तो यह अनुभव किया गया कि युद्ध लम्बा होगा और भारत उसमें महत्वपूर्ण भाग ले सकता है। अतः उसमें सहायता को प्रेरणा हुई। पर अभी मतभेद शेष था। भारत विदेश में स्वतन्त्रता के लक्ष्य में कैसे सहायता कर सकता है जब तक पहले उसे अपने घर में स्वतन्त्रता न मिले। जापान के युद्ध में कूद पड़ने से इस विचार में कुछ परिवर्तन आने के स्थान पर यह और भी दृढ़ हो गया। संकट अधिक स्पष्ट दीख रहा था और युद्ध में सहायता की इच्छा भी बलवती थी परन्तु अपने होनहार के नियन्त्रण की असमर्थता के कारण नैराश्य भावना गहरी होती जा रही थी।

अब युद्धकालीन भारत के अनेक पहलुओं पर क्रमशः विचार करना सुविधा-जनक होगा। वायसराय ने जनता के हठपूर्ण विचारों से ही नहीं सुलझना था वरन् ब्रिटिश साम्राज्य और विशेष रूप से ब्रिटिश राष्ट्र समूह के सदस्य के नाते भारत के युद्ध यत्नों को संगठित करना था। सेना-प्रसार का बड़ा कार्य आरम्भ किया गया। भारतीय सेनाओं का स्पष्ट कार्यक्षेत्र मध्य पूर्व था और मिश्र में सर आर्चीवाल्ड वावेल को सुरक्षा के काम में सहायता के लिए भारतीय सेना भेजी गयी। मध्य पूर्व में फ्रैन्च शक्ति के उन्मूलन तथा फ्रांस के पतन और इटली के युद्ध में भाग लेने के कारण एकाएक यह क्षेत्र ब्रिटेन से बाहर वास्तविक सैन्य-स्थल बन गया। भारतीय सेनाओं ने अपने को एक-दम घटनाओं से घिरे हुए पाया। उनका उत्साह और चातुर्य समयानुकूल था। १९४०-१ के रेगस्तानी युद्ध में भारतीय सेना ने महत्वपूर्ण भाग लिया। चौथी और सातवीं डिवीजनों के कार्यों से भारतीय सेना की बहुत प्रशंसा हुई और उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि रेगस्तानी युद्ध की कठिनाइयों और उलझनों के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार है। आधुनिक शस्त्र-सज्जा में वे संसार की किसी भी सेना से कम न थीं। भारतीय सेनाओं ने मांट-गुमरी के अन्तिम रेगिस्तानी युद्ध तक वावेल और आचिनलेक के नायकत्व में युद्ध में भाग लिया। इसमें ईराक, सीरिया और ईरानी युद्ध भी सम्मिलित हैं। ईराक में भारतीय हस्तक्षेप निर्णायक रहा।

अधिक समय बीतने से पहले ही भारतीय सेना के अधिक भाग को पूर्व की ओर युद्ध में लगा देना पड़ा। १९४१ के आरम्भ से ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान का भय स्पष्ट रूप में बढ़ रहा था। ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की सेना के साथ भारतीय सेना मलाया की रक्षा के लिए प्रयुक्त हुई। दिसम्बर १९४१ में जापान ने आक्रमण किया तो दक्षिण की ओर हटने और सिंगापुर के संकट में भारतीय सेना ने भी भाग लिया। इस युद्ध में ९ हजार सेना ने भाग लिया। भारतीय सेना ने बर्मा से आलेक्जेण्डर के पीछे हटते हुए युद्ध में सम्मान पूर्ण कार्य किया, और अब से उसका सम्बन्ध स्वयं भारत की रक्षा से था। अब उसके मोर्चे भारत और बर्मा की सीमा से अराकान के बरसाती भू-खण्डों तक जंगली पहाड़ और बुखार से भरी हुई घाटियों में थे। इस स्थिति में उसे बहुत महत्वपूर्ण दो समस्याओं को सुलझाना था। पहली रेगिस्तानी के स्थान पर वनों में युद्ध का बदल जाना और दूसरी युद्ध की जापानीय द्रुतिके कारण थी। १९४३ से युद्धरत भारतीय सेना माउण्टबेटन की दक्षिण पूर्वी एशिया कमाण्ड के अधीन हो गयी। और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर विलियम स्लिम की १४वीं सेना का भाग बन गयी। उसके परीक्षण और महान् विजय का समय १९४४ की बसन्त में जापानियों के आसाम पर आक्रमण के समय आया। सातवें दस्ते की कोहिमा पर स्थिरता के कारण जापानियों की प्रगति रुक गयी और उन में भगदड़ मच गई। इसके पश्चात् कठिन परिस्थितियों के रहते हुए भी रंगून पर पुनः अधिकार करने तक उसे बराबर सफलता प्राप्त होती रही। भारतीय सेना ने सब प्रकार के युद्धों से कठिन और सबसे अधिक परीक्षणात्मक युद्ध में जीवटपूर्ण उत्साह प्रदर्शित किया। एक प्रलेख में जापानियों ने अपने विरुद्ध लड़ने वाली सब जातियों में सबसे अधिक भयप्रद गोरखा लोगों को बताया है। जब अगस्त १९४५ में जापानी युद्ध समाप्त हो गया तो भारतीय सेना ने माउंटबेटन के नायकत्व में मलाया पर आक्रमण किया। भारतीय शाही वायु-सेना और नौ-सेना ने, जो कि युद्ध प्रारम्भ होने के समय नाम मात्र को थीं, स्थल-सेना सहित इसमें महत्वपूर्ण भाग लिया।

लार्ड लिनलिथगो का अपनी प्रसिद्धि का प्रमुख दावा भारतीय युद्ध यत्नों को संगठित करने का था। प्रथम प्रश्न सामग्री-पूर्ति और दूसरा सैन्य-प्रसार का था। पहले ऐसा विचार न था कि भारत का व्यापक युद्ध से निकट सम्बन्ध हो सकता है परन्तु मध्य-पूर्व से इसका आवश्यक सम्बन्ध बहुत शीघ्र ही अनुभव किया गया। युद्ध-पूर्व लार्ड चैटफील्ड समिति ने शस्त्र निर्माण करने वाले भारतीय कारखानों के प्रसार के लिए सात करोड़ रुपया (५५ लाख पौण्ड) व्यय करने की सिफारिश की थी। प्रारम्भ में यह राशि प्रचुर समझी गयी। फ्रांस के यत्न के बाद मध्य-पूर्व युद्ध-क्षेत्र को संभरण के लिए भारत को ब्रिटिश राष्ट्र समूह का केन्द्र समझा गया। १९४० की शरद में सर अलेक्जेण्डर-रोजर के सप्लाई मिशन के भारत आगमन के समय ईस्ट ग्रुप कांफ्रेंस हो रही थी जिसमें भारत के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, श्रीलंका, दक्षिण अफ्रीका, दक्षिणी एशिया, बर्मा, मलाया, हांगकाग, फिलस्तीन और पूर्वी अफ्रीका के प्रतिनिधि भी थे। इस कान्फ्रेंस से ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौन्सिल का निर्माण हुआ। इसने विभिन्न क्षेत्रों से सामान की सप्लाई को ठीक-ठाक किया। भारत सूती कपड़ा, जूट और उससे बना सामान, चमड़े का सामान और लकड़ी के फर्नीचर का मुख्य संस्भरणकर्ता बना। भारत ने कौंसिल के प्रथम वर्ष में कुल मांग का ६० प्रतिशत और बाद में ७५ प्रतिशत तक सामान दिया। जब जापान और अमेरिका युद्ध में प्रविष्ट हुए तो पहलू बदल गया। संभरण के कुछ साधन समाप्त हो गये और अपने देश के अधिक निकट कुछ नयी आवश्यकताएं उत्पन्न हो गयीं। अमेरिका के पास उत्पादनशील शक्ति का इतना संचय था कि वह अपने मित्र-देशों की कमी को पूर्ण कर सकता था। भारत की कुछ नयी आवश्यकताएं बनीं और वह उधार-पट्टे पर माल लेने का अधिकारी बन गया। १९४३ के आरम्भ में कौन्सिल समाप्त कर दी गयी। और पूर्ति विषयक आज्ञा देने का इसका अधिकार ब्रिटिश सैन्ट्रल प्रोविजन कार्यालय और ब्रिटेन के संभरण विभाग को दे दिया गया।

परन्तु औद्योगिक प्रसार का कार्य अधिक उत्साह के साथ चालू रहा। औद्योगिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसार भारत के परम्परागत कपड़ा उद्योग तक ही सीमित न था परन्तु इसमें बड़े-बड़े और नये उद्योग सम्मिलित किये गये। टाटा के पहले ही बहुत बड़े लोहे के कारखाने को और भी विस्तृत कर दिया गया और न्यूनता की पूर्ति बर्नपुर में बंगाल स्टील कारपोरेशन और कुमार धुति समूह से की गयी। सीमेण्ट उद्योग का काफी प्रसार किया गया। नये आलमोनियम उद्योग को उन्नत करने के लिए बक्साइट कारखानों की खोज की गयी, और अभ्रक उद्योग को, जिसका रूस और ब्राजील के अतिरिक्त पहले ही एकाधिकार था, बहुत विस्तृत किया गया।

संभरण संगठन के साथ-साथ सशस्त्र सेनाओं का प्रसार भी होता रहा। शांतिकालीन १७५००० सेना को धीरे-धीरे २० लाख तक बढ़ाया गया। सेनाओं का यन्त्रीकरण और उन्हें मोटरों से युक्त करने के काम साथ-साथ ही होता गया। इस का फल यह हुआ कि भारत को न केवल एक अद्वितीय सेना ही प्राप्त हुई बल्कि अनेक दिशाओं के प्रवीण शिल्पी भी प्राप्त हुए। अंग्रेज वाइस एडमिरल के अधीन नौ-सेना प्रवीण और प्रभावपूर्ण बनी जिसने बर्मा-युद्ध और जापानी पनडुब्बियों के संकट के विरुद्ध कार्य किया। वायु-सेना ने चुस्ती और कुशलता के कारण अपना सम्मान बढ़ाया और स्वतन्त्रता के नये युग में भी वह इन गुणों को अपने साथ लायी। यद्यपि सेना का बहुत थोड़ा भाग युद्ध-कार्यों में लगा था परन्तु इतनी विशाल संख्या में लोगों के प्रथागत जीवन में परिवर्तन, और उनके नये कौशल के कारण परिवर्तन की नयी भावना का उदय होना आवश्यक था।

युद्ध के सम्बन्ध में भारतीय अनुभव तीन अवस्थाओं में विभाजित हैं। पहली अवस्था "शाब्दिक" युद्ध की थी, जबकि जीवन-क्रम पूर्ववत ही चलता रहा है। युद्ध कौतुक पूर्ण था परन्तु बहुत दूर या और केवल बातों तथा समाचार-पत्रों का ही विषय था। यह दौर १९४० की शरद् तक रहा। दूसरी अवस्था थी मध्य-पूर्वी मोर्चे के रूप में सेना संगठन का काम। व्यापार और औद्योगिक विस्तार हुआ, हैडक्वार्टरों पर भीड़ लग गई और खाकी वर्दियां दिखाई देने लग गई।[1] नगरों में भीड़ हो गई तथा काम-धन्धे की चहल-पहल दृष्टिगोचर होने लगी। इतने पर भी यह भारत का अपना युद्ध न था, क्योंकि वह ऐसा युद्ध न था जिसमें वह भाग ले रहा हो। तीसरी अवस्था जापानी आक्रमण से आरम्भ हुई। १९४२ के बसन्त में भारत के सामने अन्य युद्धरत देशों के समान व्यग्रता और कठिनाइयां आईं और उसके पश्चात् तो उसे स्वयं परीक्षणों में से गुजरना पड़ा। युद्ध के बादल सारे देश में फैल गये; और यह एक दैनिक अनुभव की बात हो गयी। इस सारे परिवर्तन की अग्रदूत अप्रैल १९४२ में जापानियों द्वारा विजगापट्टम पर बमवर्षा थी।

इसका प्रथम प्रभाव यह हुआ कि दिल्ली और पूर्व में अमेरिकन लोग दिखाई देने लगे। उनके साथ ही अधिक संख्या में ब्रिटिश सेना भी पहुंची—इसका मध्य-पूर्व से

---

१. जनवरी १९४१ तक जनरल आचिनलेक के आने तक हैडक्वार्टरस्थित सैन्य अधिकारियों के लिए यह आवश्यक न था कि वह दोपहर बाद वर्दी पहनें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही नहीं वरन् वर्मा के युद्ध से भी सम्बन्ध था। परिणाम यह हुआ कि देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। संभरण रेखा देश के आन्तरिक भागों से बन्दरगाहों की ओर और बन्दरगाहों से पूर्वी भारत के आंतरिक भागों में बदल गई। इससे सारा बोझ रेलगाड़ियों पर पड़ा और इसके साथ ही जहाज के काम में कमी आ गयी। मध्य-पूर्व के लिए जहाजों द्वारा माल ले जाने के कारण भारतीय रेलें कुछ खाली हुई थीं। परन्तु अब उन्हें सारे युद्ध-यत्नों और देश के आर्थिक जीवन का भार वहन करना था। उन पर भार पड़ना आरम्भ हो गया और युद्ध की समाप्ति तक यह जारी रहा। युद्ध की स्थानीय तैयारियों और अंग्रेजों तथा अमेरिकनों द्वारा हवाई-अड्डों के निर्माण तथा अन्य कार्यों पर अत्यधिक व्यय के कारण, देश में चीजों के दाम बढ़ने लगे––अब तक भारत इस बात से बचा हुआ था। अन्न की कमी प्रकट होने लगी और १९४३ के बंगाल के अकाल के रूप में वह प्रकट हुई।

यह विचार किया जाता था कि भारत में अकाल तो अब अतीत की बात हो गयी। अकाल के सम्बन्ध में नियम बने हुए थे, और उन पर साठ वर्ष तक सफलतापूर्वक कार्य होता रहा था। इसका आधार भय-ग्रस्त क्षेत्रों में अन्न वितरण करने और किसानों को आगामी फसल तक उत्पादन-कार्य पर लगाये रखना था। परन्तु आवश्यकता होने पर खाद्यान्न का आयात भी किया जा सकता था। युद्ध के कारण बर्मा को छोड़ बाहर से संभरण-कार्य कट चुका था। सब स्थानों पर खाद्य की कमी थी। बर्मा की पराजय के कारण वहां से बंगाल और दक्षिण को चावल भेजा जा सकता था। इसी समय मूल्यों में वृद्धि के कारण किसानों के लिए यह आकर्षण उत्पन्न हुआ कि वे ऊंची कीमतों पर अपने अनाज के सुरक्षित-भण्डारों को बेचें। यह उनके लिए दैवी मूल्य थे परन्तु उस समय बाजार में चावल अदृश्य हो गया था और ऋण-ग्रस्तता की कमी के मुकाबले में खाद्य-सामग्री का अभाव निरर्थक सिद्ध हुआ। कुल कमी अनुमानतः ५ प्रतिशत थी। परन्तु वितरण और नियन्त्रण के दोषों के कारण यह बढ़ गई। व्यापक चोर-बाजारी आरम्भ हो गयी और भूखे किसान कलकत्ता में दृष्टिगोचर होने लगे। साथ में कठिनाई यह थी कि विदेश के अन्य भागों में चावल न था, इसीलिए चावल खाने वाले भूखों मरते लोगों को दूसरा अरुचिकर अन्न दिया गया। १९४३ की ग्रीष्म ऋतु में यह स्पष्ट हो गया कि बंगाल की सरकार स्थिति का सामना नहीं कर सकती। प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के प्रति अनुचित मृदुता के कारण केन्द्र की ओर से कोई पग उठाने में देर हुई और अक्तूबर १९४३ में लार्ड वेवल के आने पर ही स्थिति काबू में आ पाई। ब्रिटिश सेना को वितरण के सहायता-कार्य पर लगाया गया और बड़े-बड़े नगरों में राशन-पद्धति चालू की गयी। ब्रिटिश सेना पहले कभी इस प्रकार लोक-प्रिय नहीं हुई थी। इसके पश्चात् यद्यपि अन्न की कमी तो रही परन्तु कोई भूखा नहीं मरा और विश्वास की भावना पुनः जागृत हुई। खाद्य का प्रश्न केन्द्र से सम्बन्धित हो गया।

अब युद्ध-काल की वैधानिक समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। १९३९ की ग्रीष्म में राजाओं की हिचकिचाहट के कारण संघीय केन्द्र की स्थापना में देरी हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कांग्रेस घटनाओं का अध्ययन करती रही और प्रतीक्षा करती रही। गांधी जी युद्ध की घटाओं के कम होने तक शान्ति के यत्न करते रहे और उन्होंने इस सम्बन्ध में हिटलर के नाम व्यक्तिगत पत्र लिखा। युद्ध आरम्भ हो जाने पर लार्ड लिनलिथगो ने परामर्श के लिए उत्तरदायी सरकार और सम्राट् तथा जर्मनी में युद्ध आरम्भ होने की घोषणा करने के वैधानिक विकल्प की कमी को अनुभव किया। उसने यह कार्य महात्मा गांधी तथा देश के नेताओं के परामर्श और विधान निर्मातृ सभा के दोनों सदनों में भाषण द्वारा पूर्ण किया। यही उपाय वैधानिक और आवश्यक था परन्तु बढ़ती हुई भारतीय राजनीतिक जागृति के कारण यह उत्तेजक-सा प्रतीत हुआ—वस्तुतः कांग्रेस और लीग दोनों को ही ऐसा प्रतीत हुआ। बंगाल, पंजाब और सिन्ध के लीगी मन्त्रिमण्डलों के मुख्य मन्त्रियों ने असैम्बलियों के समर्थन से युद्ध में सहायता देने का वचन दिया। इसी प्रकार राजाओं ने व्यक्तिगत रूप में यह कार्य किया। परन्तु कांग्रेस ने युद्ध के ध्येय का स्पष्टीकरण और शीघ्र ही स्वतन्त्रता की घोषणा करने की मांग की। उसने कहा कि अधिक से अधिक जितनी सम्भव हो इस मांग को पूरा किया जाय। लीग ने इसका समर्थन इस प्रकार किया कि कांग्रेसी प्रान्तों में "मुसलमानों से न्याय हो", और लीग की अनुमति के बिना कोई भी वैधानिक प्रगति सम्भव न हो। वायसराय ने दूसरी स्थिति का सामना १७ अक्तूबर को इस बात की पुष्टि के द्वारा किया कि वैधानिक प्रगति का ध्येय साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य ही है। और इस सम्बन्ध में कार्यवाही अल्पमत का पूरा ध्यान रखते हुए युद्ध के पश्चात् होगी। इसी मध्य उसने यह सुझाव रखा कि सब दलों के प्रतिनिधियों की एक परामर्शदात्री समिति बनायी जाए जिससे युद्ध में जनता का सहयोग प्राप्त हो सके। कांग्रेस ने इसे अपूर्ण कहकर अस्वीकृत कर दिया और कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने उसी समय पद-त्याग कर दिये। लीग उस सीमा तक आगे न बढ़ सकी और अल्पमतों के अधिकारों के विषय पर बल देती रही। परन्तु उसने मांग की कि सारी संघीय योजना का परित्याग कर दिया जाए।

इस प्रकार उत्पन्न गत्यावरोध युद्ध के अन्त तक चला। इसके दो पहलू थे। जहां तक इसका अंग्रेजों से सम्बन्ध है, कांग्रेस ने युद्ध-यत्नों में सहयोग देने से पूर्व-पूर्ण उत्तरदायित्व मांगा। दूसरी ओर अंग्रेज वैधानिक कठिनाइयों के कारण इसे स्वीकार न कर सके और उन्होंने युद्ध की सीमा पर केवल स्वायत्त-शासन देने की बात की। कनाडा के उदाहरण को सम्मुख रखते हुए अंग्रेज स्थिति के अनुसार यही बुद्धिसंगत मार्ग समझते थे। कांग्रेस इसे कूटनीतिक देरी और न्यायसंगत मनोकामना को समाप्त करने का यत्न समझती थी। दूसरा पहलू अन्य दलों से कांग्रेस के सम्बन्ध विषयक था। कांग्रेस अपने को भारतीय जनता की केवल मात्र न्यायसंगत प्रतिनिधि मानने की १९३७ की नीति पर दृढ़ थी। सरकार और लीग को यह बात स्वीकार न थी। इससे प्रोत्साहित होकर लीग ने १९४० के आरंभिक मासों में पाकिस्तान सम्बन्धी कार्यक्रम को औपचारिक रूप में स्वीकार किया। लीग के इस रवैये से अंग्रेज कांग्रेस से एकपक्षीय समझौता न कर सके। इस प्रकार वैधानिक संघर्ष के तीनों दल एक दूसरे के यत्न को व्यर्थ बताते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहे। इस गत्यावरोध से एक ओर तो अंग्रेजों और कांग्रेस में बेचैनी बढ़ती गयी—दूसरी ओर लीग और कांग्रेस में सन्देह की भावना दृढ़ होती गयी।

फ्रांस के पतन से तनाव में कुछ अस्थायी नरमी आयी। प्रोफेसर कूपलैण्ड के शब्दों में "कांग्रेसी विरोध की ध्वनि कुछ मृदु हो गयी।" एक क्षण के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि ब्रिटेन की सम्भव पराजय कहीं नाजी-अधिकार की प्रस्तावना न बन जाय। पहली जून को महात्मा जी ने लिखा कि—"ब्रिटेन के सर्वनाश से हम अपनी स्वतन्त्रता नहीं चाहते।" कांग्रेस हाई कमान ने गांधी जी के शान्तिवाद को अत्यधिक स्पष्ट रूप में प्रकट किया। (उन्होंने पेतां-सन्धि की प्रशंसा की और प्रत्येक ब्रिटेनवासी को कहा कि वह हिटलर को सौम्यता और वीरतापूर्वक आत्मसमर्पण करे।) राष्ट्रीय सरकार और प्रतिरक्षा संगठन के लिए समानान्तर संस्थाओं की बात होने लगी। युद्धकालीन ब्रिटिश सरकार का उत्तर "अगस्त प्रस्ताव" था। उस प्रस्ताव में ब्रिटिश-दायित्व की अन्य शर्तों और अल्पमतों के अधिकारों के साथ एक महत्वपूर्ण बात थी। युद्धोत्तर विधान बनाने का कार्य भारतीय विधान सभा को दिया गया था और उसके नियमों की स्वीकृति का निश्चय भी था। इस प्रकार ब्रिटिश संसद ने भारत के लिए नियम बनाने के कार्य का परित्याग किया। यह अधिकार ऐसा था, जिसकी अब तक बहुत यत्न से सुरक्षा की गयी थी।

परन्तु अगस्त तक ब्रिटेन के सर्वनाश का प्रथम भय समाप्त हो चुका था। यद्यपि प्रश्न अभी अधर में ही था परन्तु यह स्पष्ट हो चुका था कि ब्रिटेन अन्त तक लड़ेगा और उसके नये इरादों से उसमें अपने सामर्थ्य के प्रति विश्वास उत्पन्न हो गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि कांग्रेस में आशा के स्थान पर ब्रिटिश-धारणाओं के प्रति सन्देह जागृत हो गया। अनेकों का विचार था कि ब्रिटेन अभी भारत से खिलवाड़ कर रहा है। कांग्रेस का कहना था कि स्वतन्त्रता और भारत का प्रतिनिधित्व केवल कांग्रेस करती है, इस आधार के बिना कोई समझौता नहीं हो सकता।[1] इस प्रस्ताव को रद्द करने के लिए पुनर्सदेह के साथ शक्ति-विषयक जागरूकता मिल गई। नये राज्य-सचिव (मि. एमरी) और वायसराय की अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। गत्यावरोध पहले की अपेक्षा अधिक पूर्ण था। लीग पाकिस्तान के ध्येय के साथ इस बात पर दृढ़ थी कि यदि कोई राष्ट्रीय सरकार बने नो उसमें आधे हिन्दू और आधे मुसलमान हों। यह विभाजन की ओर संकेत था। साम्प्रदायिक गत्यवरोध भारत और ब्रिटेन के गत्यवरोध के समान पूर्ण था।

कांग्रेस ने फिर गांधी जी के शांतिवाद और असहयोग का आश्रय लिया। गांधी-जी ने युद्ध के यत्नों का शान्तिपूर्ण विरोध और सविनय अविज्ञा-आन्दोलन के सम्बन्ध में बल देना आरम्भ किया। अत्यधिक असन्तोषपूर्ण और असफल सविनय अवज्ञा-

---

१. गांधी जी के शब्द थे कि उस भारत के बीच, जिसका कूप्रतिनिधित्व कांग्रेस और इंग्लैण्ड करते हैं देखें, आर. कूपलैण्ड की रिपोर्ट ऑफ इण्डिया २ ii, 202.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आन्दोलन उसके पश्चात् आरम्भ हुआ। १९४० की शरद के आरम्भ में यह संगठित किया गया और मई में यह पूर्ण तेजी पर था जब कि चौदह हजार कांग्रेसी जेलों में थे। इसकी १९३० के आन्दोलन से कोई तुलना नहीं और इसके पश्चात् आन्दोलन में भाग लेने वालों की संख्या घटती गयी। वास्तव में इस आन्दोलन को जनता का समथन प्राप्त न था और दिलचस्प बात यह थी कि महात्मा जी ने जो कुछ प्राप्त किया वह केवल अपने प्रभाव द्वारा ही वायसराय ने अपनी ओर से कौंसिल के विस्तार का जो वचन दे रखा था वह पूर्ण कर दिया। कुल १४ सदस्यों में से ११ भारतीय थे।

जापान और अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने तथा आक्रमण के सुनिश्चित भय के कारण नयी स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस समय गत्यवरोध को दूर करना बहुत आवश्यक था और ब्रिटेन की ओर से समझौते की इच्छा और अमेरिकनों की भारत की स्वतन्त्रता में दिलचस्पी स्पष्ट थी। पर्ल हार्बर की घटना के समय पण्डित नेहरू सहित सब कांग्रेसी नेता मुक्त कर दिये गये और समझौते के लिए यत्न होने लगे। प्रधान मन्त्री ने हाउस आफ कामन्स के नेता और युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल के सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने की घोषणा ११ मार्च १९४२ को की। भारत के लिए नया और मौलिक प्रस्ताव लेकर वे भारत आये। युद्ध के शेष समय क्रिप्स-योजना की ही चर्चा रही। इसमें सबसे प्रथम यह प्रकट किया गया कि जितना शीघ्र हो सके युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार एक ऐसा भारतीय संघ बनाए जो अधिराज्य के रूप में ब्रिटिश राष्ट्र-समूह में रहे। इस ध्येय को पूर्ण करने के लिए इसमें कुछ विशेष कार्यों की योजना थी कि विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय धारा सभाओं से होगा। ब्रिटिश सरकार से संधि-वार्ता के कार्य के लिए यही सभा नियत की गयी। भविष्य में राष्ट्र-समूह से पृथक् होने का अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया। रियासतें संघ में सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र थीं और नवीन स्थिति में उनकी संधियों पर विचार का निश्चय किया गया। केवल एक शर्त यह थी कि यदि कोई प्रान्त इस विधान से पृथक् रहना चाहता है तो वह ऐसा कर सकता.ह परन्तु उसे इस बात की भी सुविधा देनी होगी कि यदि वह चाहे तो उसमें सम्मिलित हो जाए। इस प्रस्ताव के अन्त में युद्धकालीन शासन-प्रबन्ध में सब दलों से सहयोग की मांग की गयी थी।

क्रिप्स-प्रस्ताव में स्पष्टवादिता और यथार्थता की ओर विशेष प्रगति स्पष्ट थी। १९३९ और १९४० की घोषणाओं की झिझक और व्यापकता समाप्त हो गयी। विधान सभा के निर्माण की बात तो पहले भी स्वीकार कर ली गयी थी। परन्तु अब स्पष्ट कर दिया गया कि केवल भारतीय ही विधान निर्माण का कार्य करेंगे। सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार स्वीकार किया गया। नये विधान को लागू करने के लिए द्विपक्षीय संधि और ब्रिटिश दायित्वों की पूर्ति की शर्तें लागू कर दी गयीं। अन्त में प्रजातन्त्री सिद्धान्तों के अधीन मुसलमानों के भय को दूर करने के लिए प्रान्तीय अनुबन्धत्व के साधन का प्रबन्ध कर दिया गया।

थोड़ी देर के लिए तो ऐसा प्रतीत हुआ कि समझौता होने ही वाला है परन्तु

CC-0. Agamnigam Foundation. Digitized by eGangotri

कांग्रेसी नेताओं ने इस बात का हठ किया कि नयी सरकार को शीघ्र ही औपनिवेशिक मन्त्रि मण्डल के पूर्ण अधिकार दिये जाएं। इस पर विचार समाप्त हो गया, और जो आशाएं उत्पन्न हो गयी थीं, निराशाओं में परिवर्तित हो गयीं और बेचैनी की भावना पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो गयी। लीग सब कुछ उदासीनता से देख रही थी और उसने इस गत्यवरोध को तिरस्कारपूर्ण सन्तोष से देखा।

वार्ता-भंग के कारणों का अनुमान लगाना अभी समय से पूर्व की बात है। यह निश्चित है कि महात्मा गांधी ने प्रतिकूल दृष्टिकोण अपनाया और नेहरू और राजगोपालाचार्य के अधिक उदार विचारों पर वे छा गये। एक विचार जापानी आक्रमण के सन्निकट भय का था, क्या दिवालिया बैंक का चैक लेने का कोई लाभ है? परन्तु यदि आक्रमण में देरी हो गई तो क्या स्थिति संकटपूर्ण नहीं हो जाएगी—जब वर्षा के पश्चात् सेना की हलचल सम्भव होगी? अंग्रेज जापानी-आक्रमण के भय के कारण उस सीमा तक बढ़ चुके थे कि वे इस आक्रमण के भय बने रहने और जीवित रहने तक और आगे बढ़ सकें। साम्प्रदायिक धारणाओं के कारण हिन्दुओं के विचार भी इसी दिशा की ओर प्रेरित हुए। यह प्रस्ताव प्रायः प्रतिनिधि तो था, किन्तु इसे कांग्रेस की शर्तों के आधार पर कांग्रेस के साथ समझौता नहीं कहा जा सकता था। जिस अनुबन्धिता के लिए गुंजाइश रखी गयी थी, यद्यपि उसका स्वरूप सर्वथा जनतांत्रिक था, तथापि उससे लीग को रियायत देनी पड़ती थी, और यह असन्तोषप्रद था। कांग्रेस अभी तक मुसलमानों पर लीग के प्रभाव को गलत समझ रही थी और उसे विश्वास था कि यदि उसे केन्द्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाएं तो उनके आन्दोलन को दबा दिया जाएगा। युद्ध प्रतीक्षा से सम्भवतः सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त हो जाती। हिन्दू नियन्त्रण के आधीन अखण्ड भारत का दांव लगाना उचित था, संयुक्त रूप में भारत को स्वतन्त्र करने का वास्तविक स्वर्ण अवसर हाथ से निकल गया। इस प्रस्ताव की अस्वीकृति विभाजन की प्रस्तावना थी।

यह निर्णय बिना आन्तरिक श्रम के नहीं हुआ और इसका मुख्य चिन्ह राजगोपालाचार्य का कांग्रेस से पृथक् किया जाना था। कांग्रेस पर गांधी जी का पूर्ण प्रभाव था। पहला स्वरूप महात्मा जी ने नयी स्थिति का सामना करने के लिए अपने शांतिवाद के सिद्धान्त और अहिंसा की प्रक्रिया को नये रूप में उपस्थित किया। उन्होंने घोषणा की कि भारत में अंग्रेजों की विद्यमानता जापानियों के आक्रमण के लिए उत्प्रेरक है। उन्होंने "भारत छोड़ो" का नारा लगाया और एक प्रस्ताव तैयार किया जिसमें यह मांग की कि अंग्रेज राज छोड़ दें अन्यथा सविनय अवज्ञा अन्दोलन का सामना करें। उन्होंने कहा—"एक और अवसर देने का कोई प्रश्न ही नहीं, अन्ततः यह एक स्पष्ट विद्रोह है।" सब चिन्हों से यह प्रकट होता था कि यदि अक्टूबर के आरम्भ में जापानी फिर आगे बढ़ने में समर्थ हुए तो अवश्य ही संकट उत्पन्न हो जाएगा। इसलिए अखिल भारतीय ब कांग्रेस महासमिति ने ७ अगस्त को प्रस्ताव पास किया तो वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी के पूर्ण समर्थन से निश्चय किया और कांग्रेस कार्यसमिति के सारे सदस्यों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को पूना में बन्दी बना लिया गया। उसके बाद भयंकर परन्तु संक्षिप्त हिंसात्मक आन्दोलन आरम्भ हो गया। इसमें नौ सौ व्यक्तियों की जान पर बीती और लाखों पौण्ड की हानि हुई। यद्यपि इसका उत्तरदायित्व नेतागण अपने पर नहीं लेते परन्तु इस बात में विश्वास करना भी कठिन है कि सभी उग्र-वादियों की व्यापक योजना से अपरिचित थे।

इस काल में वायसराय की चट्टान जैसी दृढ़ता और धैर्य के कारण भारत उसका कृतज्ञ है। इस विद्रोह की असफलता के कारण कांग्रेस की साख को बट्टा लगा और उन्नत सैन्य स्थिति ने इसमें और भी योग दिया। कांग्रेस ने गलत कार्य ही नहीं किया वरन् एक भूल भी की। उसने एक गलत बात का समर्थन किया। यह विश्वास फैला था कि युद्ध-काल में अंग्रेजों को भारत से नहीं निकाला जा सकता और इसकी पुष्टि वायसराय की उस दृढ़ता ने की जो १९४३ के आरम्भ में उन्होंने गांधी जी के अनशन के प्रति दिखायी। सेना की सफलता और अन्न-संकट के प्रति वायसराय के दृढ़ उपायों के कारण सरकार की स्थिति और भी दृढ़ हो गयी। ब्रिटेन से गत्यवरोध को समाप्त करने के लिए चतुर चाल चली गयी और लीग तथा कांग्रेस में निष्फल बातचीत हुई परन्तु यूरोप में युद्ध समाप्त हो जाने से भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। प्रकट रूप में ऐसा नहीं था परन्तु इस अन्तरिम काल में लीग ने अपनी स्थिति को बहुत दृढ़ बना लिया था। मुसलमानों के पृथक्कत्व की मांग अब सबके सम्मुख स्पष्ट थी। यदि अब कांग्रेस वभाजन को रोकने की आशा में क्रिप्स प्रस्ताव को स्वीकार भी करती तो लीग विभाजन की प्राप्ति की आशा में उसे अस्वीकृत कर देती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय :: २३

स्वतन्त्रता और विभाजन

जिस समय यूरोप में युद्ध-बन्दी की गूंज हुई, भारत सरकार की स्थिति १९४२ के बाद किसी भी समय से अधिक दृढ़ प्रतीत होती थी। उसे सफलता और प्रत्यक्ष गौरव प्राप्त हुआ था। कारवां विजय की ओर धीरे-धीरे बढ़ता रहा था। परन्तु भारतीय राजनीति में दृष्टिगोचर होने वाली शान्ति कृत्रिम और धोखा देने वाली थी।

यह ब्रिटिश काल में भारतीय विद्वानों की ऐसी दुःसाध्य स्थिति को, जो कि बदली नहीं जा सकती थी, मानने तथा उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने की अन्तिम अभिव्यक्ति थी। अन्दर ही अन्दर तनाव जारी था और वास्तव में वह बढ़ता ही जा रहा था। कांग्रेस विजय के समय अंग्रेजों के प्रति उससे भी अधिक संदिग्ध थी जितनी, वह उसके प्रति पराजय के समय थी। भारतीय नेता उस कथन से, जो कि युद्ध के बाद विजयी तक को पंगु बना देता है, अनभिज्ञ होने के कारण १९१९ में किये गये फैसले के बावजूद भी यह विश्वास नहीं कर सके कि अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रह सकेंगे और सत्ता हस्तान्तरित कर सकेंगे। क्या उनका सज्जनता का दिखावा अंग्रेज की कपट नीति का ही नमूना नहीं था और क्या उनका नित्य बजाये जाने वाला अल्पसंख्यकों के राग द्वारा मुसलमानों की क्रूरता को उकसाना स्वतन्त्र भारत के विचार की हत्या का एक धूर्ततापूर्ण साधन नहीं था ? प्रान्तीय चुनावों में लीग की एक के बाद एक होने वाली विजय पर भी कांग्रेसी नेता अभी तक यह विश्वास नहीं करते थे कि पाकिस्तान की मांग में कोई तथ्य है।

उनका विचार था कि दृढ़ रहने पर उन्हें अपनी शर्तों के अनुसार अखण्ड भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाएगी। दूसरी ओर जिन्ना और लीगी नेता कांग्रेसी इरादों में इतना ही सन्देह करते थे। वे अत्यधिक बढ़ी हुई शक्ति से भी भिज्ञ थे। उन्होंने अपनी सार्वजनिक घोषणाओं के बावजूद अभी तक पूर्ण विभाजन को, जितना कि १९२८ की अपनी स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेस ने किया था, अधिक अटलता से समर्पण नहीं किया था किन्तु वे यह विश्वास करते थे कि अपने दावे पर जोर देते रहना ही उनकी जाति के भविष्य को सुरक्षित बनाने का एकमात्र उपाय है। कांग्रेस का ब्रिटेन के प्रति तथा मुसलमानों का कांग्रेस के प्रति सन्देह तथा कांग्रेस द्वारा लीग की शक्ति को आंकने से भारतीय स्वशासन के ध्येय की ओर ब्रिटिश नीतिज्ञता का मार्ग कठोर और बाधापूर्ण होना अनिवार्य था।

१९४३ की शरद् ऋतु में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वेवल वायसराय बना। अब तक उसका शासन सफल रहा था। परन्तु कांग्रेस की ओर सान्त्वनापूर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु दृढ़ रहा, उसने बंगाल के अकाल का दृढ़ता से सामना किया और सम्पूर्ण खाद्य स्थिति पर धीरे-धीरे सुधार तथा नियन्त्रण कर लिया, उसने बढ़ते हुए सफलता के वातावरण में युद्ध यत्नों को उत्तरोत्तर उन्नत किया था, उसने मुद्रास्फीति को सीमित किया, उसकी अपनी स्थिति और गौरव से शक्ति और विश्वास झरता था। अब उसे पूर्णतया विभिन्न कार्य का सामना करना था। पहले तो उसे दो अत्यन्त चतुर दलों को अंग्रेजों की सचाई की वास्तविकता का विश्वास दिलाना था और उसके पश्चात् परस्पर शंकित दलों को इस बात के लिए प्रेरित करना था कि सहयोग, लेने और देने के साथ आवश्यक और शक्य होता है। इसमें असफलता का अर्थ अगण्य परिणामों के साथ विभाजन था। इतने थोड़े से समय में यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि भाग्य उसके पक्ष में न था। इतने पर भी वह वीरतापूर्वक अपने काम में जुट गया।

वेवल का पहला कदम राष्ट्रीय सरकार बनाने का था जैसा कि प्रस्ताव में (जिसे अभी वापस नहीं लिया गया था) विचारा गया था। ऐसा करने से जापान के साथ युद्ध (जिसके विषय में तब अनुमान लगाया जा सकता था कि वह एक और साल जारी रहेगा) समाप्त हो जाता और इसके बाद विधान-सभा का, जिसका वचन दिया गया था, प्रबन्ध किया जाता। जून १९४५में वार्ता आरम्भ हुई परन्तु कार्यकारिणी कौंसिल में स्थानों के बटवारे और कांग्रेस द्वारा लीग को मुसलमानों के मत की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होने के दावे की अस्वीकृति पर भंग हो गयी। अगस्त में जापानी युद्ध के एकाएक समाप्त हो जाने से स्थिति और भी आवश्यक हो गयी। वेवल ने लीग के प्रतिनिधित्व के दावे के विवाद का केन्द्रीय और प्रान्तीय आम चुनावों के द्वारा परीक्षण लिया। यह १९४५–६ की सारी शरद् ऋतु भर रहे, जबकि तनाव धीरे-धीरे बढ़ते रहे। अब यह स्पष्ट हो गया कि लीग मुस्लिम-मत पर वैसे ही पूरे तौर पर शासन करती थी जैसे कि कांग्रेस हिन्दू-मत पर। महत्वपूर्ण प्रान्त पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी समाप्त-सी हो चुकी थी और उसमें अधिकांश रूप में लीगी विचार आ गये थे। सर खिजरहयात खां टिवाना उस अवशेष के रूप में कांग्रेस की सहायता से सरकार सम्हाले रहे। सुचारु रूप में विचारित गुरु-भार पद्धति से भड़कती हुई भावनाओं के वातावरण में यहां अल्पमत सरकार थी।

नयी ब्रिटिश सरकार ने अब प्रत्यक्ष रूप में हस्तक्षेप किया। अप्रैल में एक कैबिनट मिशन, जिसके नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स थे, जो अब नयी सरकार के एक मुख्य सदस्य थे, मि. एम. वी. (बाद में बिसकाऊण्ट) अलेक्जेण्डर और लार्ड पैथिक लारेंस के साथ भारत आया। दोनों दलों में मध्यस्थता के कुछ और प्रयत्नों के पश्चात् मिशन ने मई में अपने निजी प्रस्ताव रखे। उसका ध्येय अब मुसलमानों के स्वराज्य के दावे को न्यायोचित रूप से सन्तुष्ट करते हुए भारत की अखण्डता को सुरक्षित रखना था। प्रस्तावित विधि पहली क्रिप्स-योजना का ही एक बुद्धिमत्ता पूर्ण संशोधन था। इसके अनुसार ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों का एक बनाया जाना था, जो कि रक्षा, विदेश और डाक विभाग का नियन्त्रण करे। रियासतों को संधिवार्ता के पश्चात् सम्मिलित करना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इसमें दो नयी बातें थीं। संघीय सरकार के अधिकार (मुसलमानों की इच्छा के अनुसार) कम कर दिये गये थे और प्रान्तों को व्यक्तिगत रूप में अपने-अपने अधीनस्थ बनाने की स्वतन्त्रता थी। इनमें से प्रत्येक को संघीय विषय की श्रेणी के बाहर अपने अधिकारों का निश्चय स्वयं करना था। इस आधार पर सब दलों के प्रतिनिधित्व करने वाली विधान सभा बुलाई जावेगी और एक बार फिर अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार बनाने की योजना रखी गयी। यह अप्रत्यक्ष रूप में पाकिस्तान था और ऐसा प्रतीत होता था कि मुसलमानों को स्वतन्त्रता के अधिकारों के साथ अखण्ड भारत के विषय में पुनः समाधान करने का अवसर मिल गया है।

एक क्षण के लिए आशा की झलक दिखाई दी। क्योंकि दोनों दलों ने कार्य के आधार के रूप में योजना को स्वीकार कर लिया। परन्तु सीटों के साम्प्रदायिक वितरण पर फिर वार्ता भंग हो गई। कांग्रेस इस बात पर दृढ़ थी कि पांच मुस्लिम सीटों में से एक पर ही मुस्लिम नियुक्त किया जाय--इस प्रकार लीग का प्रतिनिधित्व चार सीटों पर ही रह जाता था। लीग समानता चाहती थी और उसने राष्ट्रीय मुसलमानों के साथ काम करने से इन्कार कर दिया--जिन्हें वह अपने हेतु के प्रति गद्दार समझती थी। जब कांग्रेस ने इस बात को आगे बढ़ाने से इन्कार कर दिया तो लीग ने अकेले ही कार्य-भार सम्हालने का प्रस्ताव दिया, और एक पार्टी के साथ ही काम करने की वायसराय की अस्वीकृति पर रोष प्रकट किया। जब कुछ सप्ताह पश्चात् कांग्रेस ने पश्चाताप किया और वायसराय ने पण्डित नेहरू को कौंसिल का उपप्रधान बनाकर उसके नेताओं को कार्यभार दे दिया तो लीग ने उसको विश्वास-भंग का दोष दिया तथा "प्रत्यक्ष कार्य-वाही दिवस" का घोषणा की। तनाव शान्तपूर्ण बन्धनों द्वारा अधिक देर तक न रोका जा सका और बिहार (जहां मुसलमानों को हानि पहुँची) और बंगाल (जहां हिन्दू शिकार हुए) में साम्प्रदायिक उत्तेजना के कारण रक्त-पातपूर्ण दंगे हुए। अखण्ड स्वतन्त्र भारत की आशा १९४६ के रक्त और उत्तेजनापूर्ण भावनाओं के झोंकों में नष्ट हो गई। अब विभाजन ही केवल मात्र सम्भव हल रह गया था--यद्यपि सब दलों को यह तथ्य समझाने में अभी और नौ मास लग गये।

यह महीने भी कशमकश और भयंकर कष्टों में बीते। अक्टूबर में लीग कार्य-कारिणी कौंसिल में सम्मिलित हो गई। यह शीघ्र ही प्रकट हो गया कि वे मंगलकारक नहीं वरन् अभिशाप सिद्ध हुए। पण्डित नेहरू जब उसी मास सीमा प्रदेश गये तो उन्होंने अपने को एकदम खतरे में पाया--यह स्पष्ट हो गया कि "लाल कुर्ती" और सीमान्त गांधी को छोड़ सीमान्त हिन्दू-शासन को स्वीकार न करेगा। केवल लीग द्वारा बहिष्कृत होने के लिए ही दिसम्बर में विधान सभा का अधिवेशन हुआ। नव वर्ष के आरम्भ में नौसे-ना के विद्रोह ने उस अत्यल्प गणना को प्रकट कर दिया, जिसके द्वारा अंग्रेज व्यवस्था को स्थिर रख सकें। इसके पश्चात् ही पंजाब में खिजर मन्त्रि-मण्डल का पतन हुआ और उसके साथ ही वह संघर्ष हुआ कि जिसने अमृतसर और मुल्तान को नष्ट कर दिया। धारा ९३ के शासन तथा दबा दिये गये गृह-युद्ध के बाद अल्पमत मन्त्रि-मण्डल का निर्बल शासन आरम्भ हुआ। कुछ-न-कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया जाना चाहिए था और शीघ्र ही करना भी था ।

एक बार फिर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने प्रत्यक्ष रूप में हस्तक्षेप किया । पण्डित नेहरू, मि. जिन्ना, (अब कायदे आजम अथवा महान् नेता) और सरदार बलदेवसिंह (एक सिख नेता) को बातचीत के लिए लन्दन बुलाया गया परन्तु यह वार्ता भी पूर्व की तरह ही असफल रही । सन्देह को दूर करने के अन्तिम प्रयत्न में मार्च में यह घोषणा की गयी, कि जून १९४८ भारत से ब्रिटिश-सत्ता के हटने की तिथि नियत कर दी गयी है । इसी समय लार्ड वेवल को वापस बुला लिया गया और उनके स्थान पर लार्ड माऊण्ट-बेटन को वायसराय नियत किया गया और उन्हें कार्यविधि योजना तैयार करने का कार्य सौंपा गया । परन्तु कांग्रेस और लीग का गत्यवरोध न तो लन्दन की प्रेरणा से, न राजनीतिक शून्यता और नये व्यक्तित्व के प्रभाव से ही दूर हुआ । मि. जिन्ना को अपनी विजय स्पष्ट दिखाई दे रही थी । उन्होंने कहा "मुस्लिम लीग अपनी पाकिस्तान की मांग से एक इंच भी न हटेगी ।" उसने कांग्रेस की युक्तियों को उलटकर उनके द्वारा उसी पर इस प्रकार प्रत्याक्रमण किया कि कांग्रेस भी यह अनुभव करने लगी कि लम्बे गृह-युद्ध और भयंकर जन-हानि का विकल्प केवल विभाजन ही है । मई में उन्होंने स्वयं गृहयुद्ध के एक मात्र विकल्प के स्वरूप में पंजाब के विभाजन का प्रस्ताव किया ।

लार्ड माऊण्टबेटन को स्वयं भी यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब इस अराजकता का विकल्प केवल पाकिस्तान ही है । उन्होंने इंगलैण्ड जाकर मन्त्रिमण्डल से इस योजना की स्वीकृति प्राप्त कर ली । तीन जून को उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा विभाजन के सिद्धान्त की स्वीकृति, उसे पूरा करने की कार्यविधि की योजना और १४ अगस्त १९४७ अंग्रेजों के भारत छोड़ने की तिथि नियत होने की घोषणा की । कांग्रेस, लीग और सिखों ने योजना को उसी दिन स्वीकार किया । प्रत्येक दल ने असन्तोष प्रकट किया, किन्तु प्रत्येक को विश्वास था कि संघर्ष से कुछ अधिक लाभ न होगा । सिख सबसे कम सन्तुष्ट थे, और एक शक्तिशाली भाग ने किसी भी हालत में संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया परन्तु तीनों दलों में सबसे निर्बल उन्हीं का दल था और उसमें मतभेद था तथा उनका कोई योग्य नेता न थे । अन्ततः भारतीय सत्ता-नीति का कम से कम एक संयुक्त हल खोज लिया गया ।

योजना पर निर्विघ्न रूप से कार्य हुआ और वायसराय की विलक्षण चतुराई से वह सफल हुई । संक्षेप में यह १९४२ के क्रिप्स प्रस्ताव का ही संशोधित रूप था जो नीति निपुण सैनिक द्वारा पूर्ण किया गया । पंजाब और बंगाल का विभाजन स्वीकार कर लिया गया और यह शर्त रख दी गयी कि यदि लेजिस्लेटिव असेम्बलियां चाहें तो आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न समुदायों का मत लिया जा सकेगा । सीमा आयोग वास्तविक सीमा निर्धारण के लिए नियत किया गया । सिन्ध के विभाजन का निर्णय असैम्बली पर छोड़ दिया गया । सीमा प्रान्त में, जहां कि "लाल कुर्ती" मन्त्रि-मण्डल का अनिश्चित प्रभुत्व था, प्रान्त के भविष्य निर्णय के लिए मतसंग्रह का निश्चय किया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया। आसाम के सिलहट जिले के लिए भी ऐसा ही उचित समझा गया। इस प्रकार अपने पूर्वी और पश्चिमी पक्षों सहित पाकिस्तान अस्तित्व में आया और भारत सहित ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में दो नये अधिराज्यों की स्थापना हुई। दोनों की अपनी निजी विधान सभाएं बनीं और सम्पत्ति तथा दायित्व के आनुपातिक विभाग का प्रबन्ध कर दिया गया। भारतीय अधिराज्य के प्रथम गवर्नर-जनरल लार्ड माऊण्टबेटन और पाकिस्तान के केवल देशी राज्यों के स्थान का निश्चय शेष था। उनके साथ ब्रिटिश संधियां और सर्वोच्चता समाप्त हो गयी। सैद्धान्तिक रूप में प्रत्येक रियासत स्वतन्त्र हो गयी परन्तु जाते हुए अंग्रेजों ने इस बात का दृढ़ संकेत दिया कि वे दोनों अधिराज्यों में से किसी एक के साथ मिल जायें।

इस प्रकार भारत में साढ़े तीन सौ वर्ष के व्यापारिक, दो शताब्दि के राजनीतिक प्रभुत्व और एक सौ तीस वर्ष की सर्वोच्च सत्ता के ब्रिटिश काल का अन्त हुआ। मैकाले, एलफिन्सटन और उनके समकालीन लोगों का स्वप्न सत्य हुआ किन्तु ऐसे रूप में, जिसकी उन्हें कभी आशा न थी। कुछ लोगों ने भले ही इसका विरोध किया होगा परन्तु सम्पूर्णतः उन्होंने श्रम किया और सन्तोष प्राप्त किया। अंग्रेजों ने १९४७ में भारत को जिस रूप में छोड़ा, वह उस प्राचीन देश से बहुत भिन्न था, जिस पर डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उनकी कूटनीति और शस्त्रों का आधिपत्य था। यद्यपि भारतीय रक्त और वर्ण में अंग्रेजों के समान नहीं थे परन्तु जैसा मैकाले और मनरों चाहते थे वे रुचि, विचार, आचार और बौद्धिक रूप में उनके समान थे। यह वास्तव में एक मौलिक रूपांतर हो गया था। भारतीय जीवन की बाह्य अवस्थाओं में नहीं वरन् भारत के आन्तारिक रूप में भी महान् परिवर्तन हो गया था। पंजाब पक्ष के नागरिक अधिकारियों की निराशा भी झूठी सिद्ध हुई। यद्यपि आकस्मिक प्रेक्षक के लिए भारतीय समाज का ऊपरी ढांचा प्रभाव पूर्ण रहा परन्तु पश्चिम के नये आदर्शों और विचारों ने नये मूल्य और नई संस्थाओं के साथ देश में अपनी जड़ें जमा ली थीं। इसका प्रभाव प्राचीन घर तक ही सीमित सभ्यता के नीचे बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावनाओं के साथ बढ़ता रहा। कांग्रेस ने अंग्रेजों के विरुद्ध जो शस्त्र और प्रमाण प्रयुक्त किये थे उनकी उत्पत्ति पश्चिम में हुई है। भारत ने अंग्रेजी बेड़ियां पश्चिमी हथोड़ों से ही भंग कीं। और दोनों पक्षों के विचारों में यह महत्व की बात है कि यह बेड़ियां वास्तव में कभी बलपूर्वक भंग नहीं की गयीं बल्कि ज्योंही एक ओर से खनखनाने लगीं त्यों ही दूसरी ओर से ढीली पड़ने लगीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : : २४

आर्थिक और सांस्कृतिक विकास

ब्रिटिश काल की शताब्दि का अन्तिम चतुर्थांश भारतीय जीवन के सब विभागों में वेग पूर्ण उन्नति का समय था। सभी ओर जनता आने वाले नवीन भारत की ओर आंख लगाये थी। परन्तु वह नवीन भारत, जिसे दूरदर्शी देश-भक्त सामने देख रहे थे, उस प्राचीन भारत से बहुत भिन्न था जिसे उनके पूर्वजों ने ५० वर्ष पूर्व देखा था। लोग अपने भूत काल के गौरव को जागृत करने का प्रयत्न कम ही करते गये; वे समकालीन पश्चिमी सफलता की प्रतिस्पर्द्धा में अधिकाधिक प्रयत्न करने लगे। यह सत्य है कि प्राचीन भारत को छोड़ा नहीं जा सकता था। परन्तु वह कठोर प्रतिस्पर्द्धापूर्वक विश्व में, जिसमें नयी पीढ़ी ने बराबरी की ओर योग्य भाग लेने का निश्चय किया था, शानदार पृष्ठभूमि बनता गया। उसे सान्ध्य-सूर्य की चमक प्रदान करनी थी, जिसकी रोशनी में पाश्चात्य कारखानों की कठोर बाहरी रेखायें कोमल बन जातीं। उसे जनता को ऐसी शक्ति से अनुप्राणित करना था, जो जीवन और विचार के नये ढंगों से अधिकाधिक ओतप्रोत हो। विगत १९वीं सदी के देश-भक्तों ने अतीत के रजकणों द्वारा जिस प्रकार नये भारत के निर्माण की सोची थी, उस प्रकार वह नव-भारत नहीं बनता था। इसके स्थान पर उसका निर्माण समकालीन पश्चिम से निरन्तर प्राप्त होने वाली प्रेरणा के आधार पर होना था।

ये दो प्रवृत्तियां राममोहनराय के काल से भारत में विद्यमान थीं और बहुधा उन्हीं व्यक्तियों में साथ-साथ मौजूद थीं। ब्रिटिश-काल के अन्तिम वर्षों में ये दोनों धाराएं साथ साथ बहती रहीं, और ऐसा भी नहीं हुआ कि उनमें जाहिरा तौर पर संघर्ष हुआ हो, लेकिन इतना अवश्य है कि पश्चिमी धारा अधिकाधिक हावी हो रही थी। किसी सीमा तक इसकी प्रगति का बन्धन उस राष्ट्रवादी भावना द्वारा गोपनीय था, जो स्वभावतः राष्ट्रीय परम्परा को चमत्कृत करने की इच्छुक थी। यह राष्ट्रवादी भावना इस बात का अनुभव करती थी कि यदि पाश्चात्य विचारों को खुले तौर पर इतना सम्मान दिया गया तो वे आत्म-सम्मान की इस भावना के लिए घातक होंगे। तिस पर भी यह प्रवृत्ति मौजूद थी, जो अपनी शक्ति को उस समय प्रकट करने की प्रतीक्षा में थी। अब विदेशी शासन-शक्ति के हट जाने से आधुनिकता को देश-भक्तिहीनता का रूप देना समाप्त हो जाएगा। इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रभाव को राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पहलुओं में देखा जा सकता है।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् निरन्तर आर्थिक उन्नति हुई। १९२४ में कपड़े पर से आयात शुल्क को स्थगित करना और १९२५ में समाप्त कर देना,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्थिक पराधीनता के काल के अन्त का चिन्ह था। वित्तीय स्वायत्तता का नया सिद्धान्त, जैसा कि टैरिफ बोर्ड ने उसकी व्याख्या की थी, केवल शब्द-जाल नहीं वरन् जीवित सत्य प्रमाणित हुआ। टैरिफ बोर्ड ने अपने को विद्यमान उद्योगों की सुरक्षा और नवीन उद्योगों के पोषण में लगाया। इस प्रकार नये इस्पात उद्योग को संरक्षण मिला और वह तीस से पैंतीस वर्ष तक की मन्दी को सहन कर सका तथा सस्ते जापानी कपड़े की होड़ में भारतीय सूती कपड़ा उद्योग को बचा लिया गया। चीनी उद्योग को सहायता मिला और द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व भारत विदेशी संभरण से मुक्त हो गया तथा सीमेण्ट उद्योग ने अपना जीवन आरम्भ किया। इस बढ़ी हुई आर्थिक हलचल को युद्ध ने और भी बढ़ाया। भारतीय जूट, इस्पात, सूती कपड़ा और चमड़ा उद्यागों का तेजी से विस्तार हुआ। सीमेण्ट उत्पादन एक मुख्य उद्योग बन गया। नये आलमीनियम उद्योग को उन्नत करने के लिए भारतीय बाक्साइट कारखानों का उपयोग किया गया, और वह इन्जीनियरिंग नौकरी के आधार से औद्योगिक स्तर पर आ गया। युद्ध-कालीन सेना और औद्योगिक प्रसार के रूप में अनेक यन्त्र शिल्पियों को प्रशिक्षण दिया गया। भारत उस सामान के निर्माण की सब दिशाओं में अच्छी प्रगति करता था, जो पहले विदेशों से मंगाया जाता था। विश्व के औद्योगिक देशों में भारत छठे नम्बर पर आ गया और टाटा का इस्पात का सबसे बड़ा अकेला कारखाना भारत में बना।

यह सब विशुद्ध पाश्चात्यवाद था और यह स्वाभाविक था कि इस क्षेत्र में इसका दृढ़ प्रभाव होता। परन्तु अभी औद्योगिक रूप में भी प्राचीन भारत की समाप्ति नहीं हुई थी। इसके सबसे बड़े चैम्पियन स्वयं महात्मा गांधी थे जो खद्दर अथवा हाथ के बुने कपड़े का समर्थन करते थे। उन्होंने अखिल भारतीय खद्दर संघ का संचालन किया और दृढ़तापूर्वक मशीनों का विरोध उन्हें शैतान का इंन्जन कहकर किया। उनकी नीति आर्थिक स्तर के बजाय किसान के नैतिक कल्याण पर आधारित थी और इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता था। किन्तु उनका प्रभाव भी अधिकांश कांग्रेसियों को इस बात की प्रेरणा न कर सका कि कांग्रेस की सदस्यता के लिए नौ गज सूत प्रति-दिन कातने के नियम को गम्भीरता पूर्वक स्वीकार करें। स्पष्ट रूप से वह अपने संघर्ष में पराजित हो रहे थे यहां तक कि उन्हें कुछ निन्दित वस्तुओं की छूट देनी पड़ी। वे पश्चिमी औषध विज्ञान की शल्य चिकित्सा की उपादेयता स्वीकार करते थे, पश्चिमी रेलगाड़ियों में यात्रा करते थे, उनका बिड़ला जैसे बड़े भारतीय उद्योगपतियों से सम्बन्ध था और उनका धन अपने दल के लाभ के लिए व्यय करने में न हिचकते थे। उनका खादी का कार्यक्रम यद्यपि देश-भक्ति और नैतिकता से पूर्ण था तथापि औद्योगिक काल से पूर्व की चेष्टा थी। स्वतन्त्रता मिलते ही ब्रिटेन की ग्रामीण हस्तकला की तरह यह भी राष्ट्रीय जीवन की पृष्ठभूमि में चला गया। औद्योगिकवाद स्पष्ट रूप से स्थिर रहने को आया था।

सामाजिक जीवन में भी वही द्वैधता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यहां महात्मा गांधी कट्टर-पन्थी नहीं बल्कि क्रान्तिकारी शक्ति थे। उन्होंने खद्दर से भी अधिक उत्साह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से दलित जातियों के उद्धार का आन्दोलन उठाया। उन्होंने उन्हें केवल अन्य हिन्दुओं में मिलाने की प्रेरणा, और इसी हेतु के लिए १९३२ में अपने को आमरण अनशन के संकट में ही नहीं डाला वरन् एक मानव के नाते अन्य हिन्दुओं के समान बराबरी का दर्जा देने की भी पुष्टि की। अस्पृश्यता को दूर करना, मन्दिरों में सबका बे-रोक-टोक प्रवेश और कुओं पर से पानी लेने की आज्ञा आदि संघर्ष इसी विश्वास पर आधारित थे। उन्होंने अपने इसी सिद्धान्त पर बल देने के लिए उन्हें हरिजन (भगवान का पुत्र) नाम दिया और अपने उस पत्र का, जिसमें वे अपने विचार रखते थे, उनके सम्मानार्थ यही नाम रख दिया। इस काम में अकेले गांधी जी थे। ईसाई मिशन तथा गोखले जैसे निष्ठावान् हिन्दुओं की सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी ने उनसे पहले इस कार्य को किया था, परन्तु उन्होंने जिस प्रतिभा से इस का समर्थन किया और जनता से सहयोग की मांग की, उससे यह सारा प्रश्न राष्ट्रीय-स्तर पर आ गया। हरिजनों को अपनी जाति में से ही डा० अम्बेदकर जैसा अत्यन्त साहसी और योग्य नेता मिल गया। इस प्रकार नये विधान में नियमानुसार अस्पृश्यता को दूर करने का मार्ग तैयार हो गया। इसी दिशा में कुछ अन्य प्रभाव भी कार्य कर रहे थे। १९२९ का शारदा एक्ट, जिसके द्वारा विवाह की आयु में वृद्धि कर दी गयी थी, यद्यपि यह संकोच सहित लागू कर दिया गया था तो भी सुधारवादी भावनाओं का मार्ग सूचक स्तम्भ था। नये उत्साह के साथ महिलाओं के अधिकारों की आवाज उठायी गयी। (इसका एक परिणाम सिविल मैरेज एक्ट था जिससे विभिन्न जाति और समुदाय के लोगों के बीच विवाह की आज्ञा मिली) स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया गया और उनके अधिकारों के सम्बन्ध में स्वयं हिन्दूकोड ने हल्ला बोल दिया। शिक्षित महिलाएं बहुत ही अल्प-संख्या में थीं। परन्तु उनमें अभी भी कांग्रेस कवियित्री श्रीमती सरोजिनी नायडू और बेगम लियाकतअली खां जैसी महिलाएं थीं। हिन्दू घर के अन्दर हिन्दू विधवा के जीवन की कठोरता में कुछ नरमी आ गई थी और पर्दे के पीछे मुस्लिम नारी ने हलचल आरम्भ कर दी थी। इस आन्दोलन को १९३०–१ के सविनय आज्ञा आन्दोलन से बहुत प्रोत्साहन मिला, जबकि महिलाओं ने राजनीतिक हलचलों में प्रमुख भाग लिया। कठोर जाति बन्धन ढीले पड़ने लगे थे और समाज के सब भागों के बीच अधिक खुले रूप में सामाजिक सम्बन्धों के पक्ष में भावना दृढ़ होती गयी।

इन प्रवृत्तियों का आधार शास्त्रीय ज्ञान नहीं था बल्कि वे पश्चिम के व्यक्तिवाद और निजी महत्व, नैतिक आधार तथा कर्त्तव्य के विचारों से ली गयी थीं। कोई भी तब तक व्यक्तिगत समानता के सिद्धान्त के साथ जनतान्त्रिक राजनीतिक अधिकारों का दावा नहीं कर सकता जब तक वह उसकी सामाजिक धारणाओं से परिचित नहीं हो जाता। हिन्दू समाज पर परम्परागत हिन्दुत्व (अथवा ब्राह्मणत्व) का आदर्श सम्बन्धी आवरण, जो हिन्दू समाज पर बहुत समय से छाया हुआ था, पाश्चात्य रंग में रंगे और अग्र-सोची लोगों पर से हटता जा रहा था। ग्रामीण जीवन पर अब भी यह व्यापक रूप में तथा दृढ़ता से फैला हुआ था, परन्तु जबकि ग्रामीण भारत समाज का गुरुभार है, पर यह ऐसा भार है, जो स्थिरता रखने के लिए आवश्यक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किंतु अन्ततः उन्हें शहरी नेताओं का अनुकरण करना ही होगा। यह सभी कुछ बिना विरोध के ही नहीं हो गया। महासभा ने पुराण-पन्थी तत्वों को राजनीतिक रूप में संगठित करने का यत्न किया और सनातन धर्म दृढ़तापूर्वक परम्परागत विचारों का प्रतिनिधि बना। परन्तु पुराण-पन्थियों को पण्डित मदनमोहन मालवीय के समान योग्य उत्तराधिकारी न मिला। हिन्दुओं का बहुमत गांधी जी को ही हिन्दुत्व मानता था और गांधी जी पुराण पन्थियों के लिए अभिशाप थे। पश्चिम का प्रभाव कट्टर हिन्दू संस्थाओं तक पर अनुभव हो रहा था। इस प्रकार सुधारक आर्य समाज को, जिसका नारा "वेदों की ओर मुड़ो" था और जिसके यत्न में वैदिक मार्ग अपना और प्राचीन हिन्दू संस्थाओं को पुनर्जीवित करना था, विवश होकर अपने आश्रमों और गुरु-कुलों के साथ-साथ सरकारी नियम के अनुकूल आधुनिक शिक्षा-संस्थाएं बनानी पड़ीं।

शिक्षा में तेजी से प्रगति हुई। यह उन्नति मुख्य रूप से उच्च शिक्षा में हुई। परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार के अधिकाधिक यत्न किये गये। आरम्भिक शिक्षा स्तर में सर फजले हुसैन की प्रेरणा से विशेष उन्नति करने वाला पहला प्रान्त पंजाब था। यह आन्दोलन सरकारी सारजेण्ट योजना द्वारा पराकाष्ठा को पहुँच गया था, जिसकी सानी कांग्रेस की वर्धा-स्कीम थी। यह मनोरंजक बात है कि इन दोनों के ध्येय की अपेक्षा प्रकार में अन्तर था। दोनों का ध्येय कुछ ही लोगों के लिए शिक्षा का ब्राह्मण सिद्धान्त नहीं वरन् सबके लिए शिक्षा की प्रजातन्त्रीय धारणा थी। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ एकात्मक शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना में सैडलर कमीशन सफल हो रहा था, जिसके आदर्शभूत उदाहरण उत्तर में लखनऊ, पूर्व में पटना और दक्षिण में अन्नामलाई विश्वविद्यालय थे। इनमें से अन्तिम ने तो यह सिद्ध कर दिया कि जनता के मस्तिष्क में आधुनिक उच्च शिक्षा के प्रति अब यह बात अच्छी तरह घर कर गई है कि वह उसके व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त लाभकारी है। सर मारिसग्वायर के हाथों दिल्ली संघ कालिजों से युक्त और भी अच्छे ढंग का विश्वविद्यालय बना। नये विश्वविद्यालयों के साथ-साथ टैक्नीकल संस्थाओं और उच्च वैज्ञानिक अध्ययन में भी बहुत तेजी से उन्नति हुई। कलकत्ता में सर जगदीश बोस और बंगलौर इंस्टीच्यूट में डा० रमन वैज्ञानिक प्रयत्नों के उच्च स्तम्भ थे और उनसे भारत को संसार के वैज्ञानिक प्रमुख देशों की श्रेणी में स्थान मिला। अब अनेक क्षेत्रों में टैगोर के साथ अन्य भारतीयों का नाम भी संसार के ज्ञान-विज्ञान के अखाड़े में आने लगा—जैसे सर मुहम्मद इकबाल पंजाबी कवि और विचारक के रूप में, सर जदुनाथ सरकार इतिहासज्ञ के रूप में, सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन दार्शिनिक के रूप में।

सन् १९२० से ३० तक का वातावरण उदार मानवतावादी हेतुवाद का था। तिलक के ब्राह्मणों की पुराण पन्थी को क्रान्तिपूर्ण राष्ट्रीयता में मिलाने के प्रयत्न उनके साथ ही साथ समाप्त हो गये और उनके ब्राह्मण प्रतिद्वन्द्वी गोखले के हेतुवादी मानवतावाद को सफलता प्राप्त हुई। इस विचारधारा के विशिष्ट प्रतिनिधि दक्षिण में सम्भवतः श्री सी० आर० राजगोपालाचार्य तथा वाक्पटु श्री निवास शास्त्री और

CC-0. Agamnigam Foundation. Prof. Vasudev Vidyarthi Collection, Chandigarh

उत्तर में पण्डित मोतीलाल नेहरू थे। मि० जिन्ना १९३५ से पूर्व अपने पश्चिमी शिष्टता के दिनों में मुसलमानों के बीच इसी धारा का प्रतिनिधित्व करते थे। पण्डित मोतीलाल के पुत्र श्री जवाहरलाल लाल ने उदारवाद को समाजवाद की उन्नति के पहले पग के रूप में प्रयोग करने का पश्चिमी तरीका अपनाया। तीस-चालीस वर्ष की आयु के बीच वे कुछ समय के लिए मार्क्सवाद का आनन्द लेते रहे। बहुत कम व्यक्ति चालीस वर्ष की आयु से पहले इतनी दूर तक पहुँचे थे। परन्तु एक छोटा दल, सब स्थानों पर दिखाई देने वाली निर्धनता और धन के बीच अन्तर से भयभीत होकर कांग्रेस के साहूकार तथा उद्योगपतियों के रक्षण द्वारा पीछे धकेले जाकर और सीधे ढंग से उसमें सुधार की ओर से निराश होकर, नेहरू से भी आगे बढ़ गया और उसने मार्क्सवादी हेतु अधिक स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उसके सदस्यों में अधिक लोग इग्लैंड से शिक्षा-प्राप्त थे और उन्होंने अपने समकालीन साम्यवादी झुकाव के ब्रिटिश बुद्धिवादियों से प्रेरणा प्राप्त की थी।

इन विचारधाराओं को पश्चिम से प्रेरणा मिली थी परन्तु ऐसी बात नहीं कि इन्हें किसी ने चुनौती न दी हो। पाण्डिचेरी में श्री अरविन्दु घोष ने और सब कार्य छोड़ वेदान्ती विचार-धारा की आधुनिक रूप में सूक्ष्म व्याख्या करनी आरभ की। इसी प्रकार सर मुहम्मद इकबाल ने आधुनिक संसार के मुसलमानों के लिए इस्लाम में गतिशीलता की खोज आरम्भ की। सम्भवतः दोनों व्यक्ति अपने समय के महान विचारक थे। महात्मा गांधी अथक रूप में अहिंसा का प्रचार कर रहे थे और इस बात पर अत्यधिक जोर देते थे कि उनकी प्रस्तावित नैतिक क्रान्ति आवश्यक रूप में हिन्दू ही हो। परन्तु यहां तक कि उनकी अहिंसा का अधिक भाग भी टाल्स्टाय से लिया गया था और वे स्वयं ईसाई शान्तिवाद की लम्बी शृंखला की एक कड़ी थे। जबकि सर इकबाल का गतिवाद भी पश्चिमी बुद्धिवाद के प्रभाव से रहित न था। जैसे-जैसे यह भारतीय विचारक प्रयत्न करते गए, पश्चिम उनके बीच में आता गया। हो सकता है कि समय श्री घोष को आधुनिक हिन्दुत्व के निर्माता के रूप में प्रतिस्थापित कर दे, परन्तु साथ ही उन्हें आधुनिक-अफलातूनियों के बीच हीरे के समान एक मरणासन्न सम्प्रदाय के अन्तिम योद्धा के रूप में भी प्रकट करेगा। यह सब जैसा है, ठीक है, परन्तु यह निश्चित है कि यह इस काल में पश्चिमी धारा पूर्वी धारा की अपेक्षा अधिक बलवान् थी और अधिकाधिक बलवान होती दिखाई देती थी।

अन्य क्षेत्रों में दृश्य और अदृश्य कलाओं का भारतीय पुनरुद्धार कुछ पीछे था, परन्तु अब उसमें शक्ति के कुछ चिन्ह प्रकट हो रहे थे। अधिकांश रूप में प्रेरणा परम्परागत थीं परन्तु यहां भी पश्चिम का प्रभाव महसूस हुआ। देखने में कला लौकिक और प्रकृतिवादी थी परन्तु उसके विषय प्रायः धार्मिक होते थे, कलाकार वंशानुगत शिल्पी होने के स्थान पर पेशेवर कलाकार थे। मूर्ति कला का फिर लौकिक रूप में अभ्यास किया गया। संगीत की भी उन्नति हुई और पश्चिमी प्रभाव के कारण उसका चित्रित रूप हो गया। संगीत की प्रगति विशेष रूप से बंगाल में पश्चिम की ओर देखती थी, और उसमें पूर्वी और पश्चिमी संगीत को संयुक्त करने का यत्न किया गया। सबसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्चर्यजनक उन्नति चित्रकला में हुई। हावैल, रोयन्सटीन और कुमार स्वामी के प्रयत्नों ने भारतीय कला और मूर्ति कला के कोष को नया भाव दिया, और उसका शुभ परिणाम भारतीय चित्र-कला के आधुनिक रूप में प्रकट हुआ। अत्यधिक सुखकर कार्य-सम्पन्न हुआ और अनवींद्रनाथ टैगोर ने बहुत ऊँचे दर्जे का कार्य कर दिखाया। यहां भी पश्चिमी परिष्कृत प्रभावों का बोलबाला था। जब कि बंगाली कलाकार प्रेरणा के लिए अजंता की ओर देखते थे और लाहौर के कलाकारों ने मुगलकाल की ओर ध्यान दिया, तो बम्बई वालों ने पश्चिमी वास्तविकतावाद का अभ्यास शुरू कर दिया। समग्र रूप में प्रारम्भिक वचन बड़ी कठिनाई से पूर्ण किया गया; भारतीय कलाकार एक नवीन दृष्टिकोण की रचना करने जा रहे हैं, जिसे स्वाधीनता सम्भवतः प्रदान करेगी।

बंगाल में चिरकाल से साहित्यिक कार्य-कलाप आरम्भ हो चुके थे और १९१२ में रवींद्रनाथ टैगोर को 'नोबल प्राइज' मिलने से उन्हें विश्व-ख्याति प्राप्त हो गई थी। अन्य भारतीय भाषाओं ने कहानी कला को पकड़ा और युद्धों के दर्मियान निबन्ध-लेखकों और उपन्यास लेखकों की अधिकाधिक संख्या हो गई, जो अंग्रेजी में भी लिखने का अभ्यास कर रहे थे। धनगोपाल मुकर्जी, मुल्खराज आनन्द, आर० के० नारायण और मुहम्मद अली जैसे व्यक्तियों की रचनाएं ग्राहीं एवं जीवित थीं। उनमें अधिकांश सामाजिक समस्याओं का समावेश था और उनमे वास्तविकता का अंश था; उनकी रचनाओं में विचार-विमर्श के लिए एक नयी धारा थी, जो पूर्वतः मासिक पत्रों में मुख्यतः देखने को मिलती थी। भविष्य में उनकी रचनाओं से महान हित की आशा की जाती है। लेकिन इतना तो यहां कहा जा सकता है कि उन्होंने आधुनिक भारत का विश्व और अपने-आपको दिग्दर्शन कराने के लिए ई. एम. फार्स्टर, और एडवर्ड थॉमसन जैसे अंग्रेजी लेखकों का अनुसरण किया है। इस काल की सांस्कृतिक मूल धारणाएं स्वायत्तता और पश्चिमी प्रभाव की थीं। नकल या आलोचनाहीन प्रतिष्ठा के दिन बीत चुके थे। सब कार्य-कलापों की प्रत्येक दिशा में भारत अपने निजी पांवों पर खड़ा हो रहा था और अपने निजी निर्णय करने जा रहा था। वह अपने ही बल पर ज्ञान उपार्जन, और उससे उज्ज्वल करने के लिए, तथा बदले में ज्ञान दान के लिए पश्चिम का अधिकाधिक मुकाबला करने को तैयार हो रहा था। प्रस्तुत भावना के राज्य-क्षेत्र में और साथ ही साथ राजनीति में भारत अपना निजी भविष्य निर्माण करने की तैयारी कर रहा था। और चाहे जो भो भविष्य बने, यह तो निश्चय ही है कि उसमें पश्चिम का महान अंश होगा। तिस पर भी यह कहना तो उचित ही होगा कि भारत में राजनीतिक दृष्टि से मरते हुए पश्चिम ने आध्यात्मिक विजय के लिए उसे अन्तिम नमस्कार किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

G1
118
Lucknow

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh